गाँधीवाद को विनोबा की देन

लेखक

डॉ० दशरथ सिंह

दर्शन विभाग, एच० डी० जैन कॉलिज,

(मगध विश्वविद्यालय)

आरा (बिहार)

पुनरीक्षक

प्रो० हरिमोहन झा

भूतपूर्व दर्शन विभागाध्यक्ष

तथा

यू० जी० सी० प्रोफेसर, पटना विश्वविद्यालय, पटना



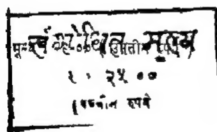
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

सम्मेलन भवन, कदमकुआँ, पटना-3

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत सरकार (शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय) के शत प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या १४०

प्रथम संस्करण मार्च, १९७५
२०००



प्रकाशक
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, कदमकुआँ,
पटना ८००००३

प्रस्तावना

शिक्षा-सबधी राष्ट्रिय नीति-सकल्प के अनुपालन के रूप मे विश्वविद्यालयो मे उच्चतम स्तरो तक भारतीय भाषाओ के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य मे भारत सरकार ने इन भाषाओ मे विभिन्न विषयो के मानक ग्रथो के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अतर्गत अग्रेजी तथा अन्य भाषाओ के प्रामाणिक ग्रथो का अनुवाद किया जा रहा है और मौलिक ग्रथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारो के माध्यम से तथा अशत केद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यो मे इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायो की स्थापना हुई है। बिहार मे इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रथ अकादमी के तत्वावधान म हो रहा है।

योजना के अतर्गत प्रकाश्य ग्रथो मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक सस्थाओ मे समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रथ **गांधीवाद को विनोबा की देन** डा० दशरथ सिंह की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज कल्याण मत्रालय के शत प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रथ विश्वविद्यालय-स्तर के दर्शन के विद्यार्थियो के लिए महत्वपूर्ण होगा, ऐसा विश्वास है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रथो के प्रकाशन-सबधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रो मे स्वागत किया जायगा।

रामराज सिंह

पटना,
२१/३/७५

अध्यक्ष,
बिहार हिंदी अकादमी
तथा
शिक्षामंत्री, बिहार

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक **गांधीवाद को विनोबा की देन** गाँधी-दर्शन की सांगोपांग मीमासा के साथ देश के आधुनिकतम राजनीतिक चिन्तन पर भी पर्याप्त प्रकाश डालती है। गाँधी-चिंतन-धारा के साथ ही उनके शिष्यों और समर्थकों—जैसे विनोबा और प० नेहरू आदि—के विचारों को भी पुस्तक में उचित स्थान प्राप्त हुआ है। विनोबा के संबंध में तो विद्वान लेखक ने इतनी सारी सामग्री एकत्र कर ली है कि इसपर एक पृथक ग्रंथ का प्रणयन हो सकता है। गाँधी-दर्शन के दो विशेष तत्त्वों—सत्य और अहिंसा—का जो सूक्ष्म-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, वह प्रभावशाली होने के साथ-साथ विचार-प्रेरक भी है। सर्व-धर्म-समन्वय तथा सर्वोदय आदि जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर गाँधी और विनोबा के विचारों का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण-विषय पर लेखक की गहरी पकड़ का द्योतक है।

निश्चय ही यह पुस्तक गांधी-साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायक होगी और विश्वविद्यालय के छात्रों एवं सामान्य पाठकों में लोकप्रियता प्राप्त करेगी।

पुस्तक के मुद्रण-प्रकाशन में जिनका सहयोग उपलब्ध हुआ है, अकादमी उनके प्रति कृतज्ञ है।

पटना,
२१/३/७५

निदेशक
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर डॉ० रामजी सिंह,
भागलपुर विश्वविद्यालय
की
पुनीत सेवा मे,
सादर समर्पित

—दशरथ

आमुख

दशन की मूल समस्या जीवन और श्रेयष्कर-जीवन के परिप्रेक्ष्य म जगत और इसकी अनुभूतियो की व्याख्या करना है। जिस ज्ञान विज्ञान, कला, साहित्य और दशन का सबध जीवन मे नही है वह सब कुछ होते हुए भी तुच्छ है। वास्तविकता को उपेक्षित कर केवल सत्व और ज्ञान के सच्चे स्वरूप की खोज करना सचमुच गगनविहार है। बौद्धिकता और भाषा विश्लेषण का निश्चित रूप से दशन मे महत्त्वपूण स्थान है, परतु जीवन म परे बौद्धिकता भी निरर्थक है। भाषा विश्लेषण का भी महत्व इसीलिए है कि जीवन के सबध म हमारी दृष्टि निर्भ्रा त हो सके। *गाँधी और विनोबा न दशन को वस्तुत* जीवन-दशन के रूप मे लिया। उन्होने दशन को केवल चिंतन और मनन के स्तर पर ही नही स्वीकारा, अपितु इसे अपने जीवन के व्यापक सदर्भो म प्रयोग का विषय बनाया। इसीलिए सच कहा जाय तो उनका जीवन ही मानव के लिए अमृतमय सदेश और दशन है।

गाधी और विनोबा पर अनेक ग्रथ लिखे गए हैं। परतु हिन्दी म तो क्या, अग्रेजी म भी मेरी जानकारी म कोई एसी पुस्तक नही आई है जिसमे गाँधी और विनोबा के विचारो का एक साथ लगभग सभी पहलुओ पर सुव्यव स्थित और तुलनात्मक रूप से विचार किया गया हो। समाज शास्त्र के प्राय सभी निकायो म स्नातकोत्तर कक्षाओ म गाधीवाद का किसी-न किसी रूप म अध्ययन किया-कराया जाता है। शोध की दृष्टि से भी गाँधीवाद आज का महत्त्वपूर्ण विषय है। आम जनता और समाज सुधारक भी गाँधोवादी वाङ मय को अधिक रुचि और आकषण के साथ ग्रहण करते है। प्रस्तुत ग्रथ म *उनकी आवश्यकताओ एव आकाक्षाओ को तुष्ट करने का प्रयास किया गया* है। यदि इससे पाठको का कुछ भी लाभ हुआ तो लेखक अपना प्रयत्न सार्थक मानेगा।

गाँधी और विनोबा का दशन वस्तुत समग्र दशन है। अत प्रस्तुत ग्रथ मे न केवल उनके आचार, धम और समाजशास्त्रीय विचारो को ही लिया गया है, अपितु उनके तत्त्व शास्त्र और ज्ञान सिद्धात का भी समुचित विवचन किया गया है। चू कि 'गाँधीवाद एक विवादास्पद पद है अत प्रथम अध्याय म ही इस प्रश्न पर गहराइ से विचार कर लिया गया है कि गाँधीवाद

है अथवा नहीं यदि है भी तो किस अंश में ? आदि आदि। सभी अध्यायों की दृष्टियों में विषय-सामग्री के अनुरूप थोड़ा बहुत हेर-फेर करना पड़ा है। निष्कर्ष प्रत्येक अध्याय में प्रत्येक विचार के साथ दे दिया गया है, अतः अलग में इसके लिए स्थान नहीं लिया गया। विषयों के विवेचन में विशेषकर मूल स्रोतों का ही सहारा लिया गया है। ग्रंथ की रचना में यद्यपि अनेक पुस्तकों से सहायता ली गई है जिनके लिए मैं उनके लेखकों एवं प्रकाशकों का ऋणी हूं। गांधी और विनोबा के विपुल वाङ्मय को देखते हुए पूर्णता का दावा नहीं किया जा सकता। अतः आलोचनाओं तथा सुझावों का सहर्ष स्वागत है।

ग्रंथ के प्रकाशन के लिए बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी के अध्यक्ष डा० रामराज सिंह, निदेशक डा० भगवती शरण मिश्र, प्रकाशन अधिकारी श्री वैजनाथ सिंह विनोद तथा श्री रामनरेश सिंह, बाल्मीकि प्रेस धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रंथ के संपादक प्रो० हरिमोहन झा जी ने इसके संपादन का कार्य भार स्वीकार कर मुझे कृतार्थ किया है। श्री आर० आर० दिवाकर भूतपूर्व राज्यपाल बिहार ने इस ग्रंथ के लिए दो शब्द लिखे हैं। उनके ऋण से मैं कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। अन्त में वे सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अपने अमूल्य सुझावों एवं सम्मतियों से मुझे कृतार्थ किया है। वे भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस कार्य के लिए मुझे अनुप्रेरित किया है। स्थानाभाव में अलग-अलग नाम से कृतज्ञता ज्ञापित करने में असमर्थ हूं अतः इसके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूं।

महावीर जयंती
२४-४-७५
[भ० महावीर २५०० वां निर्वाण महोत्सव वर्ष]

दशरथ सिंह
दर्शन विभाग
एच० डी० जैन कालेज आरा
(बिहार)

एक दर्शन

यह विद्वत्तापूर्ण अध्ययन अत्याधुनिक काल के हमारे दो महान समाज-दार्शनिक और कर्मयोगी गाँधी और भावे के शिक्षण दीक्षण को समाविष्ट करता है। इस महत् आयाम के विद्वत्तापूर्ण अध्ययन के आमुख या भूमिका या प्रवेश लिखने के बारे में सोचना मेरे लिए बहुत बड़ा का काम होगा। भारतीय परिस्थितियों और आचारों से भी ऊपर उठकर इन कर्मयोगियों ने विश्वव्यापी मस्तिष्क को अपनी ओर आकृष्ट किया है। इसलिए मैं उक्त विषय के कुछेक बिन्दुओं पर ही आलोचनात्मक दृष्टि डालकर सन्तोष कर लूँगा।

लेखक ने स्वयं विनम्रतापूर्वक अपने ग्रंथ को गाँधी दर्शन को विनोबा जी की देन कहा है। वस्तुतः यह कहना सत्य होगा कि विनोबाजी भारत और विश्व को गाँधीजी की ही देन हैं। अगर विनोबाजी गाँधी और उनके महान अभियान में सौभाग्यवश आकृष्ट नहीं होते तो वे कुछ दूसरा ही हो जाते। यह इतिहास की बहुत सारी अच्छी घटनाओं में से एक है।

जीवन के प्रति गाँधी का दृष्टिकोण न केवल समझने योग्य था अपितु अखण्ड था—यह स्पष्ट है। अतः उन्होंने मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष और क्षेत्र पर लिखा है, जो मनुष्य को उदात्त बना सकता है और उसकी दृष्टि में पशु-प्रवृत्ति से दिव्यता तक उन्नत कर सकता है। यह नितान्त स्वाभाविक था कि उन्होंने दूसरों के द्वारा अपनाये गये विभिन्न विचारों को छोड़ते हुए सतर्कता से कुछ कार्य-पद्धतियों पर ध्यान केन्द्रित किया था। विस्तार में कहता हूँ, जैसा कि लार्ड माउण्टबेटन ने कहा था—"वे भारत की स्वतंत्रता के विधाता थे, लेकिन वे सामाजिक, आर्थिक क्रान्ति, सर्वोदय-सिद्धान्त के अनुसार आदर्श समाज वाञ्छित वर्गहीन और जातिहीन समाज, सर्वोदय-सिद्धांत के अनुसार आदर्श समाज और ट्रस्टीशिप की धारणा का अनुसन्धान नहीं कर सके।

इस प्रकार गाँधीवादी पद्धति में सम्पादन करने के लिए बहुत कुछ था, यद्यपि नए आदर्शों की रचना करने के लिए कोई चिन्तन प्राप्त नहीं था।

सौभाग्यवश, भारत और विश्व के लिए विनोबा उपस्थित थे और अभी भी हमारे बीच हैं, जिनमें गांधी के प्रसंग में विवरण के दृष्टिकोण से न केवल योग्यता थी अपितु विचारणाओं को सुदृढ रूप में सम्पादित करने में समर्थ भी थे, जिनका प्रयोग उनके बिना शिथिल हो जाता ।

गांधीजी के विषय में केवल अंगरेजी में करीब ६०० ग्रंथो की एक सूची है । विनोबाजी के ऊपर भी अनेक ग्रंथ हैं । लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि दोनों के जीवन चिन्तन और क्रियाओं को जोड़ने वाले ग्रंथ नही के बराबर हैं ।

यहाँ पहली बार हिंदी में एक समृद्ध ग्रंथ प्रस्तुत है, जो भारत में युगल व्यक्तित्व को समझने में सहायक है । वे एक अर्थ में दो में एक और दूसरे अर्थ में एक में दो कहे जा सकते हैं । वस्तुतः यह एक मोहक अध्ययन ग्रंथ है ।

उदाहरण के लिए श्री विनोबा तत्त्व विज्ञान, दर्शन शास्त्र, धर्म, आध्यात्मिकता, रहस्यवाद और उस प्रकार के विभिन्न विषयों पर लिखने में सक्षम रहे हैं । उनके गंभीर अध्ययन, अगाध विद्वत्ता और अनेक भाषाओं की दक्षता ने उन्हें ऐसे लेखों के लिए विस्तृत अवसर दिया । उनका भूदान आन्दोलन करुणा और भ्रातृत्व भाव से निःसृत कहा जायगा लेकिन उनका ग्रामदान और ग्रामराज्य-आन्दोलन मूल रूप में जनतन्त्र-निर्माण के लिए थे ।

मैं प्रसन्न हूं कि लेखक ने आधुनिक भारत के इन दोनों महान् सपूतों के तुलनात्मक-सश्लेषणात्मक दृष्टिकोण के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को प्रस्तुत करने में कष्टसाध्य श्रम किया है । इस सम्पूर्ण अध्ययन के साथ हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह तुलनात्मक अध्ययन दोनों के अध्ययन अभिनंदन के अत्याधुनिक दृष्टिकोण से सन्तुष्ट करता है । ये दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं ।

हमलोग यह जानकर प्रसन्न हैं कि भारत की सांस्कृतिक धरोहर न केवल निरन्तरतापूर्ण है, अपितु जीवन्त है, इससे भी अधिक कहा जा सकता है कि यह रचनात्मक और परिणाममय है, क्योंकि गांधी और विनोबा दोनों के चिन्तन और उपलब्धियों ने विश्वजनीन चिन्तकों को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी एक साथ बैठने और भारतीय मनीषा के गंभीर स्तरों पर सोचने को बाध्य किया है । अन्ततोगत्वा मनुष्य की चेतना में परिवर्तन ही मनुष्य की वर्तमान दुःखद स्थिति में परिवर्तन की कुंजी है । और यही वह वस्तु है जिसको गांधी और विनोबा दोनों ने बतलाया है—ये हृदय का परिवर्तन चाहते हैं ।

मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नही है कि यह ग्रथ गाँधी-दशन की दिशा में न केवल एक उलपब्धि है अपितु महान् एव जीवित गाधीवादियो में से एक गांधीवादी के चितन और कर्म के आलोक में गाँधीवादी-चिन्तन पर एव नवीन और ऐतिहासिक विचार-दर्शन भी प्रस्तुत करता है।

मूल-अँगरेजी
अनु० प्रो० कृष्ण जीवन भट्ट
मुजफ्फरपुर (बिहार)

आर० आर० दिवाकर
श्री अरविंद कुम्पा
२३३ सदाशिव नगर
बगलौर-६ (कर्नाटक)

विषय-सूची

○

प्रथम अध्याय



गाँधीवाद और नव्य-गाँधीवाद

गाँधीवाद और नव्य-गाँधीवाद

१ विषय प्रवेश

गाँधीवाद' एक ऐसा प्रत्यय है जिसके उपयोग एव व्यवहार के विषय म गाँधीवादी विचारक भी एक-मत नहा है। अनेक विचारका न ता इस प्रत्यय के व्यवहार के प्रति भी आपत्तिया उठायी हैं। गाधीवाद के सबध म भी लागा के अलग अलग मत है। प्रस्तुत पुस्तक म गाधीवाद को विनोबा की देन पर विचार करने का प्रयास किया गया है। अत शुरू म ही इस विवाद का निर्णय कर लेना आवश्यक है कि गाँधीवाद नाम की कोई चीज है या नहा? लेकिन उसके भी पहले हम वाद के अर्थ को समझना होगा।

२ वाद व्युत्पत्ति और अर्थ

वाद' अंग्रेजी के इज्म शब्द का पर्याय है। अग्रजी का इज्म' एक ऐसा प्रत्यय (Suffix) है जो फ्रेंच 'इस्मे' (isme) एव लैटिन इस्मस (ismus) का पर्यायवाची है। यह प्रत्यय एक क्रिया-सूचक सज्ञा है जो गोता लगाने या डुबकी लगाने (To dip) की क्रिया स बना है। इसका प्रयोग मुख्यत पाँच अर्थों म होता आया है।[1] इसका पहला प्रयोग किसी प्रक्रिया या समाप्त कार्य (Completed action) अथवा उसके परिणाम के अर्थ म होना है जैसे एगोनिज्म बैपटिज्म (दीक्षा) ऑरगनिजम (शरीर) सिलाजिज्म (न्याय वाक्य), आदि। दूसरा किसी वर्ग विशेष के आचरण या कार्य के रूप म होता है जैसे बारबरिज्म (बबरता) आरफेनिज्म (अनाथत्व) पारलिज्म (समानान्तरवाद) इत्यादि। तीसरा प्रयोग किसी धार्मिक दार्शनिक सामाजिक राजनैतिक, अथवा नैतिक सिद्धांतो या विचारतन्त्र के अर्थ म होता है। यथा पर हम किसी विषय या विचारक के नाम के अनुरूप नामकरण करते हैं जैसे हिन्दूइज्म (हिन्दुत्व) बुद्धिज्म (बौद्ध धर्म) थाइस्थियलिज्म (प्रत्ययवाद) मैटिरियलिज्म (भौतिकवाद) प्रैगमटिज्म (अर्थक्रियावाद) इत्यादि। चौथा प्रयोग किसी सिद्धात

1 Murry, J A H (Ed) *A New English Dictionary* (Oxford 1901 2 vols), Vol No I pp 504 505

वाद के द्वारा तत्त्व का निर्णय होता है।[1] सर्वदर्शन-संग्रह में तत्त्वनिर्णय के लिए तटस्थतापूर्वक की गयी चर्चा को वाद कहा गया है।[2] न्याय-कोश में अपने अभिप्राय या अपनी विशिष्ट विचारधारा का प्रभावोत्पादक शैली में वर्णन करने को वाद कहा गया है।[3] न्याय विनिश्चय में बताया गया है कि जय-पराजय के अभिप्राय से रहित तत्त्व जिज्ञासा में की गयी चर्चा वीतराग कथा है।[4] न्यायसार के अनुसार वक्ता जहाँ पर वीतराग होकर निष्पक्ष रूप से ही तत्त्व निर्णय के लिए अन्वय और व्यतिरेक रूप साधन का प्रयोग कर वीतराग चर्चा करता है वह वाद है।[5]

जैन तार्किकों के अनुसार भी वाद का प्रयोग चर्चा विशय के रूप में किया गया है। इसका दूसरा अर्थ 'कथा' भी माना गया है जिसके दो भेद बतलाये गये हैं—वीतरागकथा एवं विजिगीषु कथा। वीतरागकथा वह कथा है जो गुरु शिष्य अथवा विशिष्ट विद्वानों के मध्य राग द्वेष से रहित होकर तत्त्व निर्णय के लिए की जाती है और इसी को वाद कहा गया है।[6] इस प्रकार, अंग्रेजी, हिंदी, संस्कृत एवं न्यायशास्त्र तथा जैन दर्शन में वाद के भिन्न भिन्न अर्थों को देखने के बाद हम यह विचार करेंगे कि गांधीवाद किन किन अर्थों में वाद नहीं है एवं किन किन अर्थों में वाद है।

---

१ 'प्रमाण तर्काभ्यां साधनोपालम्भवती वीतरागकथा वादः तत्त्व निर्णयः''—वरदराज, तार्किक-रक्षा (पाण्डुलिपि श्लोक) (पूना, डेक्कन कालेज।)

२ 'तत्त्वनिर्णय फल कथा विशेष वादः'', —माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह, (सायणाचार्य की टीका सहित) (कलकत्ता वि० कालेज १८१८), पृ० २३९।

३ ''स्वाभिमतार्थ कथन वादः''—भीमाचार्य, (सम्पा०) न्याय कोश, (पूना, प्राच्य-विद्या-संशोधन मंदिर), १९२८, पृ० ७३८।

४ ''जयपराजयाभिप्राय रहिता तत्त्व जिज्ञासया क्रियमाणा तत्त्वचर्चा वीतराग कथा।'' ''प्रत्यनीकव्यवच्छेद प्रकारेणैव सिद्धये।—वचन साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतो।'' अकलंक देव भट्ट, न्यायविनिश्चय (सम्पा०) पं० महेन्द्र कुमार (काशी, भारतीय ज्ञानपीठ, १९४९) पृ० ३८२।

५ भासर्वज्ञ न्यायसार पदपंचिका सहित, (वाराणसी चौखम्भा संस्कृत सीरिज), पृ० १५।

६ ''गुरुशिष्याणां विशिष्ट विदुषां वा राग-द्वेष रहितानां तत्त्वनिर्णय पर्यन्तं परस्पर प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो वीतराग कथा इति वादः'',—धर्म भूषण, न्यायदीपिका, दरबारी लाल कोठिया (सम्पा०) (दिल्ली, वीरसेवा मंदिर, १९४५), पृ० ७९–८०।

३ गांधीवाद किन अर्थों मे 'वाद' नही है ?

(क) गांधी का विचार 'गांधीवाद नहीं है', 'गांधीवाद अमर रहेगा' गांधी ने स्वत 'गांधीवाद' का निषेध करते हुए कहा है — गाधीवाद नाम की कोई चीज नही है। मैं अपने पीछे कोई सम्प्रदाय नही छोडना चाहता, मैंने किसी नवीन सिद्धात को उत्पन्न नहो किया है, मैंने केवल शाश्वत सत्य को दैनिक समस्याओं के समाधान म प्रयुक्त किया है। सत्य और अहिंसा उतने ही पुरातन है जितनी पुरानी पहाड़ियाँ है। मैंने केवल उनका विस्तृत क्षेत्र म प्रयोग करने का प्रयास किया है। यदि कोई मेरा दर्शन है, जिस वाद को सज्ञा दी जा सकती है, तो वह मरे कथनो या उक्तियो म सन्निहित है। परतु आप उसे वाद नही कह सकते। इसके सबध म कोई वाद नही है।[1] यह बात सही है कि एक दूसरे सदर्भ मे इस कथन म बिलकुल भिन्न भी कथन मिलता है। कराँची काग्रेस के मौके पर २५ मार्च, १९३१ को अपने कार्यक्रमो का विरोध करने वालो को उत्तर देते हुए गांधी ने कहा था गांधी मर सकता है किंतु गाधीवाद अमर रहेगा।"[2] इसपर हम आगे विचार करगे। अभी केवल इसका सकेत मात्र कर दिया गया है।

(ख) आचार्य कृपलानी का मत गांधी-मार्ग गांधी विचार के प्रकाड पण्डित एव गांधी के सहकर्मी आचार्य कृपलानी का यह दृढ विश्वास है कि गांधीवाद नाम की कोई चीज नही है। अत उन्होंने गाधीवाद के स्थान पर गांधी मार्ग (Gandhian way) का व्यवहार करना उचित समझा है। उन्होंने कहा है 'मुझे गांधीवाद पर लिखने को कहा गया है परतु मैंने इस शीर्षक के स्थान पर गांधी मार्ग का प्रयोग शुद्ध समझा है, जिसका प्रयोग राजनैतिक एव सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए किया जाता है। मैं विश्वास करता हूँ कि गाधीवाद नाम की कोई चीज नहीं है।[3] अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने बतलाया है कि किसी भी प्रकार के वाद की सत्ता उस वाद के

---

1 Gandhi M K My Sarvodaya Philosophy *All Men are Brothers*, (Ed) Krishna Kripalani, (Ahmedabad Navajivan Trust 1960), pp 61 62

२ सोनारमैया बी० पट्टाभि **कांग्रेस का इतिहास** हिन्दी सम्पा० श्रीहरिभाऊ उपाध्याय, (नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल, १९४८), खण्ड १, पृ० ३६३।

3 Kripalani J B 'The Gandhian way', *Gandhian Thought*, (New Delhi Gandhi Smarak Nidhi, 1961) p 112

विचारक की प्रेरणा से नहीं आती है। उसकी सत्ता उस वाद के अनुयायियों की मूल विचार के प्रति आग्रहपूर्ण सीमा के परिणामस्वरूप आती है। सजनात्मक प्रतिभा के अभाव में अनुयायीगण मूल विचारों को सबद्ध तथा सामंजस्यपूर्ण बनाने का प्रयास करते हैं। ऐसा करने में मूल विचारों में अनम्यता, जड़ता एवं रूढ़ता आ जाती है तथा इस मूल विचार की प्रगतिशीलता, नवीनता एवं स्फूर्ति में वंचित रह जाते हैं। गांधी के विचारों में स्फूर्ति है नवीनता है तथा विकासशीलता है। अतः इस वाद कैसे कहा जा सकता है ?[1] फिर गांधी कोई संसदीय दार्शनिक या विचारक नहीं रहे। उन्होंने किसी प्रकार की दर्शन व्यवस्था का सर्जन नहीं किया है। वे आरम्भ में ही एक समाज-सुधारक तथा व्यावहारिक पुरुष रहे हैं। अतः व्यक्ति एवं समाज के दैनिक जीवन में उठने वाली समस्याओं से ही वे अपना संबंध रखते हैं तथा उन पर कुछ लिखते हैं। उनके लेखन में कठोर तार्किक एवं दार्शनिक व्यवस्था का अभाव भी स्वाभाविक है। मूलतः वे पण्डित और शास्त्रकार नहीं बल्कि कर्मयोगी एवं पैगंबर हैं। विभिन्न दार्शनिक विधियां, मतवादों एवं परंपराओं में आबद्ध होकर चिंतन विद्वत्ता का शृंगार भले ही हो, इसमें दृष्टि की उदारता व्यापकता एवं सजनात्मकता का अभाव रहता है।[2]

गांधी के विचारों की यह विशेषता है कि उसका कहीं पूर्ण विराम नहीं होता और उसमें निरपेक्ष निर्णय भी नहीं होते हैं। इसीलिए तो उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' को "सत्य के प्रयोग" माना है।[3] किसी विचार को उन्होंने अंतिम निष्कर्ष के रूप में स्वीकार नहीं किया है। सत्य नित्य नूतन होता है। जीवन भर

---

1 "All isms come into existence not at the initiative of those names they are preached and promulgated, but as the result of the limitations imposed upon the original ideas by the followers lacking the creative genius the followers try to systematize and organise In so doing they make the original doctrines rigid inelastic, often dogmatic and fanatical "—Kripalani J, B Ibid, 112

2 Ibid, p 112

3 Gandhi, M K *Autobiography* Sub title *My Experiments with Truth* (Ahmedabad Navajivan Trust 1948)

सत्य के साथ ही हमारा प्रयोग चलना चाहिये। इसीलिए गाँधी ने अपने को किसी मतवाद से बाँधा नहीं, वे सर्वथा मुक्त रहे। जब-जब गल्तियाँ होती थीं, गाँधी उसे सहर्ष स्वीकार करते थे तथा उसे दूर करने की कोशिश करते थे और उससे पाठ भी लेते थे। गाँधी-विचार केवल एक जीवन-पद्धति या जीवन का एक दृष्टिकोण है जिसमें न तो अनम्यता है न आकारिकता और न तो अतिमहत्पता ही। यह हमें केवल दिशा सूचित करता है।[1] इसलिए इसे वाद की संज्ञा नहीं दी जा सकती। आचार्य कृपलानी की ही भाँति प्रसिद्ध सर्वोदय विचारक दादा धर्माधिकारी[2] एवं श्री धीरेन्द्र मजुमदार[3] भी यह मानते हैं कि गाँधीवाद नाम की कोई चीज नहीं है। वे भी 'गाँधीवाद' के स्थान पर 'गाँधी-मार्ग' का प्रयोग करना उचित मानते हैं।

(ग) संत विनोबा का मत : निर्विचारवाद — आचार्य संत विनोबा भावे गाँधी-विचार को सर्वोदय-दर्शन के रूप में मानते हैं। उनके अनुसार 'वाद' की उत्पत्ति का कारण खंडित-दर्शन है। पूर्ण दृष्टि में वाद क्षीण पड़ जाता है।[4] वाद की उत्पत्ति किसी दूसरे वाद की प्रतिक्रियास्वरूप होती है। अतः उसका मूल्य किसी विशेष देशकाल तक ही सीमित है। उसमें शाश्वत मूल्य का अभाव रहता है। इस अर्थ में सर्वोदय-दर्शन को वाद की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। गाँधी का दर्शन सर्वोदय-दर्शन है, अतः इसमें कोई वाद नहीं

---

1 Kripalani, J. B., *Gandhian Thought*, p. 113

२ इन पंक्तियों के लेखक ने २१-१०-१९६७ को लक्ष्मी नारायण पुरी, पूसारोड (दरभंगा) में दादा धर्माधिकारी से पूछा था "क्या गाँधीवाद है?" इसके उत्तर में उन्होंने कहा "सत्यनिष्ठ सत्य की देखना है, उसका कोई वाद नहीं होता। सत्य की खोज करनेवालों का कोई वाद नहीं होता। गाँधी ने जीवन में सत्य की खोज की है, विचार में नहीं, अतः उनका कोई वाद नहीं है।

३ लेखक ने २९-६-१९६९ को शांतिकुटीर, सर्वसेवा संघ, वाराणसी में यही प्रश्न धीरेन्द्र मजुमदार से भी किया। उन्होंने उत्तर दिया "वाद किसी विशिष्ट दर्शन को कहते हैं। गाँधी ने कोई दर्शन नहीं दिया है। उन्होंने एक मार्ग दिया है, परन्तु यह मार्ग नवीनता रखता है। रूसो, लॉक आदि विचारकों ने सिद्धान्त या आइडियोलोजी दिया, लेकिन उसे कारगर करने का कोई तरीका नहीं दिया। लॉक ने प्रजातन्त्र का दर्शन दिया, बहुत चिन्तन के बाद परन्तु कैसे उसे समाज में उतारा जाय, इस पर विचार नहीं किया। गाँधी ने इसकी पद्धति खोज निकाला है।"

४ भावे, विनोबा, 'ज्ञान निष्ठा और कर्मयोग', सर्वोदय, (वर्धा, अगस्त १९४९), पृ० १०।

है।[1] तथापि विनोबा गांधी विचार की नवीनता एवं आधुनिक युग में उसकी सार्थकता को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने कहा है गांधीजी एक सत्पुरुष थे, यह तो सभी मानते हैं लेकिन सत्पुरुष होने के अलावा वे एक नये विचार के प्रवर्तक भी थे। उन्होंने एक नया जीवन विचार दिया। ऐसा नया विचार सभी सत्पुरुषों द्वारा प्रकट नहीं होता हृदय तो सभी सत्पुरुषों का एक सा होता है लेकिन हरएक की बुद्धि और प्रतिभा अलग-अलग होती है। जिसकी प्रतिभा की जिस काल में अधिक आवश्यकता होती है वह सत्पुरुष उस काल का युग प्रवर्तक बन जाता है। गांधी ऐसे ही युग प्रवर्तक सत्पुरुष थे।[2]

फिर वे गांधी को रामकृष्ण एवं श्री अरविंद की कोटि में रखते हुए सत्याग्रह के रूप में उनकी महत्त्वपूर्ण देन को स्वीकार करते हैं।[3] उन्हीं के शब्दों में गांधी की अहिंसा या सत्याग्रह की विशेषता यह कही जा सकती है कि उन्होंने इस विचार का सामूहिक प्रयोग किया जबकि आज तक दूसरों के प्रयोग बहुत कुछ व्यक्तिगत थे।[4] वर्धा के गांधी-ज्ञान मन्दिर के उद्घाटन के अवसर पर २४ १२ १९५३ को भी विनोबा ने गांधी ज्ञान का अर्थ वस्तुतः आत्मज्ञान और विज्ञान का समन्वय ही माना। उनके अनुसार आत्मज्ञान और विज्ञान के संयोग में ही सामूहिक अहिंसा का जन्म हुआ है। उसी को गांधी ज्ञान कहते हैं।[5] इन कथनों में यह स्पष्ट है कि विनोबा गांधी विचार को एक नवीन स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण विचार मानते हैं परन्तु उसे वाद की कोटि में रख कर सीमित करना नहीं चाहते हैं।

इसी प्रकार विनोबा अपने विचार को भी वाद में मुक्त मानते हैं। उन्होंने कहा है जितने ग्रंथ हमने लिखे हैं उसमें वाद समाप्ति है —गीता रहस्य

---

1 Narayan Jayaprakash *From Socialism To Sarvodaya*, (Varanasi Sarvaseva Sangh Prakashan 1965) Vinoba's introduction p 9

२ राधाकृष्ण (सम्पा०) गांधी जैसा देखा समझा-विनोबा ने (वाराणसी सर्वसेवासंघ प्रकाशन १९७०) पृ० ६।

३ उपरिवत् पृ० ४८।

४ उपरिवत् पृ० ५०।

५ बजाज रामकृष्ण (सम्पा०) विनोबा के पत्र (वाराणसी सर्वसेवा संघ प्रकाशन १९६२) पृ० ४८।

एवं शंकराचार्य के गीता भाष्य में वाद हैं और एक पक्ष में वजन ज्यादा है, ऐसा दीखता है। परन्तु गीता प्रवचन में यह दिखलाया गया है कि जिनका 'वाद' है, उनका समन्वय हो सकता है।[१] विनोबा अपने विचार को भी एक प्रकार से स्वतंत्र एवं नवीन विचार मानते हैं। यह श्रीमन्नारायण को हरिजन के बारे में लिखे गये उनके १७.११.५३ के पत्र से प्रकट होता है। उन्होंने लिखा है "मेरे अपने विचार हैं। मुझे विश्वास नहीं कि वे मेरे सर्वोदय भाइयों को हजम हो ही सकेंगे।"[२] उन्होंने अपने विचार को साम्ययोग का त्रिकोण शीर्षक निबंध में स्पष्ट किया है। उनके अनुसार उनकी विचारधारा के चार अंग हैं। एक है उनका उद्देश्य जिसे वे साम्ययोग कहते हैं। यह विचार उन्होंने गीता में लिया है। दूसरा है तत्त्वज्ञान जिसमें समन्वय चाहते हैं। इसका आधार वेदांत है। तीसरा है आर्थिक और सामाजिक लक्ष्य और वह है सर्वोदय। इसका आधार आधुनिक विज्ञान और बाइबिल है। चौथा है सर्वोदय को अमल में लाने की पद्धति और वह है सत्याग्रह। इसे विनोबा ने अनेक संतों की जीवन-पद्धति में ग्रहण किया है।[३]

परन्तु तात्त्विक प्रश्नों के संबंध में वे किसी भी प्रकार के वाद का निषेध करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार इस संबंध में जितने भी वाद बनते हैं, उनमें एक प्रकार के अलगाव एवं मालिकता के दंभ की भावना रहती है जिसमें केवल तार्किक समाधान ही मिलता है। अतः उसमें समन्वय का बहुत कम मौका मिलता है।[४] इसलिए वे एक स्वतंत्र वाद का ही निर्माण करते हैं, जिसे उन्होंने "निर्विचारवाद" की संज्ञा दी है। इसका अर्थ है किसी तात्त्विकवाद का विचार नहीं करना।[५]

तत्त्व के संबंध में पश्चिमी भाषा विश्लेषणवादियों की भी निर्विचार की मान्यता है। परन्तु विनोबा का निर्विचारवाद उससे भिन्न है। भाषा विश्लेषण

---

१ भावे विनोबा प्रेरणाप्रवाह (वाराणसी सर्वसेवासंघ प्रकाशन, १९६८), पृ० १९४।

२ बजाज, रामकृष्ण (सम्पा०) विनोबा के पत्र पूर्ववत् पृ० ५७।

३ राममूर्ति, (सम्पा०) भूदान यज्ञ (हिंदी साप्ताहिक), (वाराणसी नव-सेवासंघ प्रकाशन १९६७) पृ० २१।

४ भावे, बालकोबा श्री ब्रह्म सूत्र शंकरभाष्य (हिन्दी विवेचन) (तीन खंड) (वर्धा, परमधाम प्रकाशन, सं० २ २०) विनोबा जी द्वारा लिखित प्रस्तावना खंड २, पृ० ६।

५ उपरिवत् पृ० ६।

वादी तत्त्व के मामले में कोई विचार नहीं करना चाहते, क्योंकि उसका इंद्रियानुभव के द्वारा प्रमाणीकरण नहीं होता। अतः उनके लिए तत्त्व-संबंधी वाक्य अर्थहीन हैं। विनोबा तत्त्व की अवक्तव्यता का स्वीकार करते हैं। उन्होंने तत्त्व-विचार पर जोर देते हुए कहा है — केवल विशिष्ट आचार रख कर काम नहीं चलेगा। उस मजबूत नाव की जरूरत है। हम कोई तात्कालिक काम नहीं करना है बल्कि दुनिया में आज चल रहे विचार प्रवाह के विरुद्ध विचार प्रणाली कायम करनी है। उसमें उत्तम तत्त्वज्ञान भी चाहिये। वे कहते हैं तत्त्वज्ञान का अभ्यास और कर्मयोग दोनों मिलकर परिपूर्ण दर्शन बनता है।[1] इसलिए वे तात्त्विक सिद्धांत का निरूपण भी करते हैं। परन्तु वे तात्त्विक सिद्धांत में अनेक विचारों का समन्वय करते हैं। अतः उनका निर्विचारवाद तत्त्व की अवहेलना न कर, उनके समन्वय पर बल देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी के अनुसार गांधीवाद नहीं है क्योंकि इसमें कोई नवीनता नहीं है आचार्य कृपलानी के अनुसार भी गांधीवाद नहीं है क्योंकि गांधी विचार में स्थिरता, जड़ता एवं अनम्यता का अभाव है विनोबा के अनुसार भी गांधीवाद नहीं है, क्योंकि इसमें खण्डित दर्शन का अभाव है और वाद खण्डित दर्शन का द्योतक है।

(घ) गांधीवाद का विरोध क्यों? अंग्रेजी शब्द-कोश को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि गांधीवाद न तो किसी क्रिया की समाप्ति का नाम है और न इसमें परिणाम का ही बोध होता है। यह किसी वर्ग विशेष के आचरण या किसी वस्तु या व्यक्ति की अवस्था के रूप में भी सत्य नहीं है। हिन्दी शब्द-कोश को ध्यान में रखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि गांधीवाद किसी तरह शास्त्रार्थ विवदता एवं न्यायालय में किये गये अभियोग के अर्थ में भी वाद नहीं है। न्यायशास्त्र को भी सामने रखते हुए यह कहा जा सकता है कि गांधीवाद शास्त्रार्थ के अर्थ में 'वाद' नहीं है तथा इसमें जल्प एवं वितण्डा का शून्य के बराबर स्थान है। किंतु इसपर विचार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि गांधी ने स्वयं 'वाद' का क्या निषेध किया?

भारतीय मनीषियों की अपनी एक परंपरा रही है। उनकी साधना आत्म प्रकाशन के लिए नहीं बल्कि स्वांतः सुखाय और बहुजन हिताय होती है।

---

१ भावे, विनोबा सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र, (वाराणसी सर्व सेवासंघ प्रकाशन, १९६३) पृ० ५९।

वे अपने चिंतन के ऊपर अपने नाम या व्यक्तित्व को हावी नहीं करते। उनका चिंतन विशुद्ध रूप में सामाजिक एवं मानवीय दृष्टि में होता है। इसीलिए बहुत ऐसे सद्ग्रंथ हैं जिन पर लेखकों के नाम भी अंकित नहीं हैं। इस विचार का समर्थन करते हुए आचार्य कृपलानी कहते हैं—' भारतीय मेधावी पुरुषों ने सामान्यतः अवैयक्तिक ढंग से तथा बिना नाम की चिंता किये ही कार्य किया है। यदि उनकी धारणाओं एवं कार्यों में मौलिकता नाम की कोई चीज है तो वह जातीय है, वैयक्तिक नहीं।"[1] गांधी इसी परंपरा के थे। वे भी विचार को अपने नाम से बोझिल नहीं बनाना चाहते थे। यहाँ तक कि अपने विचारों का स्रोत भी प्राचीन शास्त्र एवं परंपरा घोषित कर नवीनता एवं सस्ती मौलिकता का वे कभी दंभ नहीं भरते थे।

दूसरी बात यह है कि जब किसी विचार-तंत्र का निर्माण होता है, तो उसके अनुयायी कभी-कभी विचार के वास्तविक रूप को नहीं लेकर उसके ऊपरी या अनावश्यक अंश को ग्रहण करते हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण भिन्न भिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों में मिलता है। सम्प्रदाय और वाद के नाम पर अनेक खून खराबियां होती हैं और उनका वास्तविक लक्ष्य जो मानव-कल्याण है, वह पूरा नहीं हो पाता। वाद वस्तुतः विचारों की जकड़न है और विचार जब जकड़ जाता है, तो वह गतिशील नहीं रहता और अपना जीवन मूल्य खो देता है। फिर अपने संरक्षण के लिए सम्प्रदाय एवं कर्मकांड आदि का निर्माण करता है जिससे समाज में अंधविश्वास एवं घर घर विद्वेष बढ़ते हैं। मानव इतिहास इस बात का साक्षी है कि बड़े बड़े धर्मोपदेशकों एवं विचारकों के पीछे जो वाद एवं सम्प्रदाय बने, उससे मानवता का कल्याण कम, किंतु उन धर्मगुरुओं एवं चिंतकों के साथ अन्याय अधिक हुआ है। गांधी इस बात से अवगत थे और इसीलिए उन्होंने अपने पीछे कोई सम्प्रदाय छोड़ना उचित नहीं समझा। अमरीकी विद्वान पाल पावर ने ठीक ही लिखा है—"यद्यपि गांधी ने अपने गतिशील शांतिवाद

---

1 "The Indian genius has generally worked impersonally and anonymously Whatever the originality of the conception and the contribution it is racial and not individual" Kripalani, J B *Mahatma Gandhi, His Life and Thought*, (New Delhi, Government of India Publications, 1970), p 321

को निष्क्रिय प्रतिकार एवं अप्रतिकार के सिद्धांत से भिन्न मान कर, अपने विचारों का स्वामित्व विसर्जन नहीं किया, जो आगे चल कर गांधीवाद के रूप में विकसित हुआ। निश्चय ही उन्होंने कमनानीय गांधीवाद का निषेध किया, परन्तु ऐसा उन्होंने मुख्यतः भारतीय अनुयायियों में से अन्धानुसरणवादियों की बाढ़ को कम करने के लिए किया जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।[1] गांधी मूलतः सत्य के साधक, नीति के प्रवक्ता एवं समाज-सुधारक थे, मानव-आचरण का सुधार एवं उसका कल्याण उनका प्राथमिक उद्देश्य था। वे अपनी सीमाओं को समझते थे और शायद यह भी अनुभव करते थे कि कोई 'वाद' बनाने पर वह केवल विद्वानों के खंडन एवं मंडन का निर्जीवशास्त्र बन कर रह जायगा, उसका वास्तविक प्रयोग जीवन में नहीं हो सकेगा। एक दार्शनिक दूसरे के सिद्धांत को अपनाने में नहीं बल्कि उसका विरोध करने में ही अपना पुरुषार्थ मानते हैं। अतः सत्य के साथ वहाँ पर एक प्रकार की हिंसा होती है। सत्य के समीप पहुँचने के बदले हम वाद के विवाद में फँस जाते हैं। इसलिए गांधी ने वाद के इस विवाद में फँसना ठीक नहीं समझा।

फिर देश-काल के परिवर्तन के साथ-साथ शब्द का भी अर्थ बदलता जाता है। जैसा हम देख चुके हैं कि संस्कृत साहित्य में 'वाद' को तत्त्ववित् कथा के बहुत ही सुंदर अर्थ में कहा गया है। परंतु आधुनिक युग में 'वाद' का प्रयोग संकीर्ण एवं केंद्रित विचारों के अर्थ में होने लगा है। गांधी ने धर्म की कोई भौगोलिक सीमा नहीं मानी। उसी प्रकार सद्विचार के क्षेत्र में प्राची और प्रतीची, प्राचीन और नवीन का भी कोई आग्रह नहीं रखा। उनका विचार कभी संकीर्ण देश में बँध कर नहीं रहा। वे अपने विचार को दूसरे के विचार का विरोधी भी नहीं मानते थे। इसीलिए वे अपने विचार को 'वाद' की संज्ञा देना

---

1 'Although Gandhi distinguished his own dynamic pacifism from doctrines of passive resistance and non-resistance, he did not disown many ideas about himself which evolved into Gandhism. Admittedly he rejected sectarian Gandhism but he did this mainly to curtail the growth of literalists among his Indian followers though he was unsuccessful in his attempt.' Power Paul F. *Gandhi on World Affairs*, (London Allen & Unwin 1961), p 40

नही चाहते थे। 'वाद' के निषेध के पीछे उनके चाहे जो भी कारण हो, इतना तो स्पष्ट है कि उन्होने एक समग्र जीवन-दर्शन एव जीवन-पद्धति प्रदान की है। 'वाद' को स्वीकारने मे गांधी के साथ एक और भी कठिनाई थी। सत्य के उपासक होने के नाते आजीवन उन्होने सत्य के साथ प्रयोग किया। जिस प्रकार सत्य सतत् विकासशील है, उसी प्रकार उनका जीवन भी विकासशील रहा। एक सत्य से दूसरे सत्य एव दूसरे से तीसरे सत्य की ओर वे बढते रहे। यदि उन्हे 'वाद' का आग्रह रहता, तो एक ही सत्य को उन्होने अतिम मान लिया होता। परतु प्रगतिशील होने के कारण उनके लिए यह असभव था कि वे अपने विचारो को 'वाद' का रूप देते। वस्तुत सपूर्ण प्रयोग समाप्त हो जाने के बाद ही कोई निष्कर्ष निकलता है तथा उससे सिद्धात बनता है। लेकिन जीवन मे सत्य के प्रयोग का पूर्णविराम तभी होता है, जब जीवन की लीला समाप्त हो जाती है। यही नही, एक के बाद दूसरा व्यक्ति उस प्रयोग को चालू रखता है। अत प्रयोग के दौर मे ही हम कोई स्थिर सिद्धात बना डालेंगे, तो फिर सत्य के साथ न्याय नही होगा। इन्ही सब कारणो से गांधी ने स्वय 'वाद' का निषेध किया।

४ गांधीवाद किन अर्थो में 'वाद' है ?

(क) गांधीवाद एक सिंहावलोकन गांधी विचार के बहुत-से लेखको एव चिंतको ने 'गांधीवाद' का समर्थन स्पष्ट रूप से किया है। श्री जयप्रकाश नारायण, श्री रगनाथ रामचन्द्र दिवाकर, डा० बी० पट्टाभि सीतारमैया,[१] श्री हुमायूं कबीर,[२] एव डा० राममनोहर लोहिया[३] आदि के नाम लिये जा सकते है, जो 'गांधीवाद' का व्यवहार करते हैं। उसी प्रकार गांधी विचार के आलोचक जैसे यशपाल,[४] इ० एम० एम० नम्बूदरीपाद, हीरेन मुखर्जी,

---

१ सीतारमैया, बी० पट्टाभि, गाधी और गांधीवाद (आगरा, शिवलाल अग्रवाल और कपनी, १९६९)।

2 *Gandhian Outlook and Technique* (International Seminar), (New Delhi, Government of India Publication, 1953,) p 251

3 Lohia, Ram Manohar, *Socialism, Karl Marx and Gandhism*, (Hyderabad, Nawahind, 1963), Preface, p XII

४ यशपाल, गांधीवाद की शव परीक्षा (लखनऊ, विप्लव कार्यालय, १९४१) पृ० १८।

मोहित सन [1] एव सी० जी० साह [2] आदि विप्लववादी एव साम्यवादियो के नाम उल्लेखनीय है जो 'गांधीवाद' का प्रयोग करते हैं।

श्री दिवाकर यह मानते हैं कि गान्धी एक दार्शनिक हैं क्योंकि उन्होंने जीवन एव आचरण के सबध मे निश्चित सिद्धात दिये हैं और एक समग्र विचार प्रणाली का निर्माण किया है जो उनके जीवन एव कार्यों की आधारशिला है।[3] फिर यदि हम उन्हें मौलिक चिन्तक के रूप मे देखना चाहे तो उन्हे हम सत्याग्रही की सज्ञा दे सकते है।[4] यह ठीक है कि उन्होने दार्शनिक होने का दावा नही किया है और कोई व्यवस्थित दर्शन लिखने का प्रयास नहीं किया है परतु हम उनके दार्शनिक विचारो को उनके कथन जीवन एव कार्य के आधार पर सकलित कर सकते हैं।[5] फिर यदि हम उनके दर्शन का नामकरण करना ही चाहे तो हम उसे व्यावहारिक आदर्शवाद (Practical idealism) की सज्ञा दे सकते है।[6] उन्होने भी स्वय ही कहा है कि वे कल्पनालोक मे विचरण करनेवाले नही बल्कि व्यावहारिक आदर्शवादी हैं।[7] उनके दर्शन की परीक्षा

1 Rao M B (Ed) *The Mahatma A Marxist Symposium*, (Delhi People s Publishing House 1969) p 64

2 Sah C G *Marxism, Gandhism Stalinism* (Bombay Popular Prakashan 1963) p 244

3 Gandhi is a Philosopher since he has a definite theory of life and action and has a system of integrated thought which is the foundation of his life and action' — Diwakar R R *Gandhi A Practical Philosopher* (Bombay Bhartiya Vidya Bhavan 1965) p 12

4 However if he is to be viewed as an original thinker and an epoch making man of action the proper title for him would be Satyagrahi —Ibid p 13

5 Ibid, p 13

6 Ibid p 23

7 I am not a visionary I claim to be practical idealist ' August 11 1920 quoted in Romain Rolland *Mahatma Gandhi* (Agra Shivalal Agrawala & Co Ltd no year) p 41

तार्किक सगतियो एव असगतियो के द्वारा नही, बल्कि आचरण एव व्यावहारिक दृष्टि (Pragmatic point of view) मे की जा सकती है।[१] इस प्रकार श्री दिवाकर ने अत्यत स्पष्ट रूप मे गाधी को एक मौलिक दार्शनिक एव एक निश्चित विचार प्रणाली के सस्थापक[२] के रूप म मानकर 'गाधीवाद' का समर्थन किया है।

उसी प्रकार साम्यवादी विचारक इ० एम० एम० नम्बूदरीपाद भी स्पष्ट रूप से गाँधीवाद शब्द का प्रयोग करते हैं। वे तर्क करते है यदि यह सत्य है कि वर्तमान समय के प्राय सभी गाधीवादी विचारक गाँधी विचार से ही प्रेरणा पाकर किसी न किसी रूप मे अहिंसक आदोलन मे जुट हुए हैं यदि यह सत्य है कि आधुनिक सरकारी नतागण भी गाँधीजी का ही नाम लेकर सामूहिक हिंसा (Mass violence) का दमन करते हैं और यदि यह सत्य है कि कांग्रेस पार्टी और साम्यवादी पार्टी को छोड कर अन्य पार्टिया अपनी नीतियो के पक्ष म गाँधी के सिद्धान का नाम लती हैं तो ऐसी परिस्थिति म गाँधीवाद शब्द के प्रयोग मे किसी प्रकार की आपत्ति नही होनी चाहिय।[३] उनके अनुसार गाधी एक आदशवादी विचारक थे जिन्होने अपन जीवन के अत अत तक अपने आदर्शों का पालन किया। सत्य अहिंसा, भौतिक सुखो म निवृत्ति इत्यादि नैतिक मूल्य, स्वतत्रता प्रजातत्र एव शाति जस राजनैतिक मूल्य आतिभेद उन्मलन, नारी जागरण सभी धर्मों एव जातियो की एकता इत्यादि सामाजिक मूल्य—उनके जीवन और शिक्षण के अविभाज्य अग थे।[४] यदि सार-रूप मे कहा जाय तो सचमुच सत्य और अहिंसा जैस नैतिक मूल्यो का तात्कालिक सामाजिक

---

1 Diwakar R R *Gandhi A Practical Philosopher*, op cit p 17

2 'He had a theory of life and action a world view and a system of integrated thought which served as a bed rock for all his thinking and action —Ibid p 23

3 Namboodripad E M S *'The Mahatma And the I m'* (New Delhi, People s Publishing House, 1959) p 112

4 Ibid pp 112 113

समस्याओ के समाधान मे प्रयोग का नाम 'गाँधीवाद' है।[1] यशपाल आदि अन्य लेखक एव विचारक भी प्राय इन्ही अर्थों मे 'गाँधीवाद' के समर्थन मे अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं।

(ख) गाँधीवाद · एक कार्य पद्धति आचार्य कृपलानी ने माना है कि गाँधी ने सामाजिक एव राजनैतिक समस्याओ के समाधान के लिए एक विशेष प्रकार की कार्य-पद्धति को ढूँढ निकाला है जिसे विनोबा ने 'सामूहिक सत्याग्रह' एव धीरेन्द्र मजूमदार आदि विचारको ने गाँधी मार्ग या 'गाँधीवादी-दृष्टि' की सज्ञा दी है। वस्तुत गाँधी का जीवनक्रम, विचार एव कार्य-पद्धतियो, विश्व-दर्शन के इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान है। इस जीवन-दृष्टि एव कार्य-पद्धति को विनोबा सत्याग्रह-दर्शन की सज्ञा देते हैं जिसके सहारे विश्व को समग्र रूप मे समझा जा सकता है। इस अर्थ मे 'गाँधीवाद' एक विशेष कार्य-पद्धति के अर्थ मे उपयुक्त होता है। अर्थात् गाँधीवाद सचमुच गाधी मार्ग है।

(ग) गाँधीवाद एक सिद्धात एव सिद्धात तत्र सिद्धात के तीन अर्थ बतलाये गये हैं।[2] पहला अर्थ है किसी वस्तु के सबध मे व्याख्या देना अथवा विचारो की प्रणाली का निर्माण करना। दूसरा अर्थ है किसी भी विज्ञान के अमूर्त्त विषयो के सबध मे विवरण प्रस्तुत करना एव तीसरे अर्थ मे 'सिद्धात' व्यवहार के विरोधी प्रत्यय के रूप मे समझा जाता है।

गौतम के अनुसार तत्र (शास्त्र प्रतिपादित अर्थ) अधिकरण (वेदार्थ) एव अभ्युपगम (धार्मिक नियम) की सस्थिति (विचारधारा) ही सिद्धात है अथवा आगम द्वारा प्रतिपादित वस्तु व्यवस्था के नियमन को सिद्धात कहते है।[3] सस्कृत कोश मे सिद्धात का अथ अभिप्राय, धार्मिक नियम, व्यवस्था, अनुष्ठान, क्रिया विशेष एव दार्शनिक मान्यताओ का विश्लेषण करना बताया है।

गाँधीवाद इस अर्थ मे सिद्धाता को नही समझता है, जिसका सबध किसी अमूर्त्त विषय म ही हो और न यह 'सिद्धात' का प्रयोग व्यवहार विरोधी वस्तु

---

1 "The essence of Gandhism consists in the application of the moral principles of truth and non-violence to the current problems of the society "—Ibid , p 120

2 *Chamber's 20th Century Dictionary* (ed ,) William Geddie, (Bombay, Allied Publishers, 1970), p 1143

३ "तत्राधिकरणाभ्युपगम-सस्थिति-सिद्धांत "—गौतम, न्यायसूत्र, १।१।२६।

के रूप मे ही करता है। सच तो यह है कि गाँधी के सिद्धान्तो की उत्पत्ति जीवन मे किये गये प्रयोगो एव व्यवहारो मे होती है। इसलिए गाँधीवाद मे सिद्धात एव व्यवहार, कर्म एव ज्ञान, दोनो एक ही पूर्ण सत्य के दो पहलू हैं। अत डा० ड्राफ्टरी ने ठीक ही गाँधीवाद को वैचारिक एव व्यावहारिक—दो महत्त्वपूर्ण पहलुओ मे बाँटा है।[1] *ज्ञान की निगमन प्रणाली मे सिद्धात का व्यवहार से* सबध नही रहता है। परतु आगमन एव अनुभव की पद्धति मे सिद्धात, व्यवहार के साथ, अवियोज्य रूप मे जुडा रहता है। गाँधी की विचार-पद्धति आगमनात्मक ही मानी जा सकती है, क्योकि यह प्रयोग की पद्धति है। पुन *यहाँ ज्ञान, कर्म के साथ अखड रूप मे साथ जुडा रहता है, अत व्यवहार और* सिद्धात के बीच मे कोई विरोध उत्पन्न नही होता है।

गाँधीवाद, जीवन के अनेक क्षेत्रो मे गाँधी के तात्त्विक, नैतिक, धार्मिक, सामाजिक एव दार्शनिक मान्यताओ एव अभिप्रायो का विश्लेषण है। यह ठीक है कि जहाँ तक इन विचारो मे व्यवस्था एव विधि, आदि का प्रश्न है, यह गोतम, कपिल, शकर, रामानुज, अरस्तु, कान्ट एव हीगेल आदि दार्शनिको के विचारो के समान सुव्यवस्थित नही हैं। शायद यह इसलिए कि गाँधी कोई समशेय दार्शनिक नही थे। किसी दार्शनिक विधि या व्यवस्था का प्रतिपादन करना भी उन्हे अभीष्ट नही था। परतु गाँधी के विचारो मे बाहरी सुव्यवस्था का भले ही अभाव हो, लेकिन उनम आतरिक सुव्यवस्था एव क्रमबद्धता अवश्य है।[2] गाँधी के विचारो मे व्यवस्था का पूर्णरूपेण अभाव नही है। जर्न नैस ने लिखा है—"सामुदायिक सघर्ष के समाधान मे गाँधी ने जिस प्रकार के व्यवहारो को अपनाया, उन्हे कुछ ही अशो तक सुव्यवस्थित तत्र मे परिणत

---

1 *Gandhian Outlook And Technique* (Proceedings of the International Seminar, Delhi—Government of India Publication, 1953), p 160

2 "To study Gandhiji and then say that there is no philosophy which can be called Gandhian simply because he has not written it out systematically, would be like seeing the trees and missing the forest His philosophy runs through and through like a constant but unseen undercurrent in what ever he thought and did during his life "—Diwakar, R R, *Gandhi A Practical Philosopher*, op cit, p 14

किया जा सकता है।[1] यदि उनकी पद्धति के विशेष रूप पर अधिक बल दिया जाय तो हम गांधी के उपदेशों की व्याख्या एक प्रकार से पाकशास्त्रीय सिद्धांत की तरह छिछले सिद्धांत के रूप में करते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि उन्होंने "साधन साध्य की एकता का सिद्धान्त दिया।" आचार्य कृपलानी भी गांधी के विचारों में एक व्यवस्था एवं समग्रता पाते हैं।[2] उनकी आध्यात्मिक, नैतिक, समाजशास्त्रीय सभी धारणाएँ एक दूसरे से पूर्णरूपेण सामंजस्य रखती हैं। लगता है कि इन सब के बीच अंत:संबंध हो। ईश्वर या सत्य उनके चिंतन का आधार है जिस पर उन्होंने किसी भी प्रकार की संशय की भावना व्यक्त नहीं की है। 'अहिंसा' एवं 'साधन-साध्य की एकता' का नीतिशास्त्र इसी का परिणाम है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक समानता की भावना भी अहिंसा के ही मूर्त परिणाम हैं। प्रजातंत्र एवं रामराज्य की कल्पना का आधार अहिंसा अर्थात् प्रेम ही है। इसी प्रकार—'अनेकांतवाद' और 'स्याद्वाद' पर उनकी श्रद्धा, विचार के क्षेत्र में, अहिंसा-भावना का ही विस्तार है। अतएव गांधीवाद में तत्त्वशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं ज्ञान-सिद्धांत सभी के बीज विद्यमान हैं। अतः यह कहना कि गांधी के सिद्धांत में कोई विचार-तंत्र नहीं है, असंगत होगा। इसलिए सिद्धांत-तंत्र के अर्थ में भी गांधीवाद को 'वाद' कहा जा सकता है।

---

1 "The kind of conduct Gandhi employed in group conflict can, to some extent be made into an organised system, but only to some extent, if the aspect of the *method* is overstressed, we find ourselves interpreting Gandhi's teaching as a kind of cook book doctrine. One forgets his maxim "means and ends are convertable terms. Naess Arne, *Gandhi and the Nuclear Age*, (Totawa, The Bed-Minster Press, 1965), p 58

2 The unity that runs through his concrete schemes and plans makes Gandhi's programme a single whole. It makes of it a complete system of philosophy with its distinct ideology" —Kripalani, J B, *The Latest Fad*, (Seva-gram, Vardha Hindusthani Talimis, 1946) p 101

आज पश्चिमी जगत् म भी दशन के क्षेत्र म व्यवस्था एव तत्र निर्माण के प्रति अभिरुचि नहीं रही । बौद्धिक व्यवस्था के स्थान पर आज जीवन एव उद्देश्य की व्यवस्था को स्वीकार किया जाता है । प्रयोगवाद एव अस्तित्ववाद इसके उदाहरण हैं । गाँधी विचार म यदि व्यवस्था एव तत्र नहा भी हो तो भी वाद कहलाने के लिए इसकी आवश्यक योजना एव सामजस्य पर्याप्त है ।

गाधी के चिंतन म सिद्धात भी है और व्यवहार भी । साथ-ही-साथ इसम अतर्निहित व्यवस्था और सामजस्य भी है । परतु वाद के लिए इतना ही पर्याप्त नही है । इसके लिए सिद्धात एव सिद्धात तत्र को नवीन भी होना चाहिय । गाधी के सिद्धात म नवीनता एव विशिष्टता भी है यद्यपि गाँधी ने विनम्रतावश यह स्वीकार किया है कि उनके विचारो मे कोई नवीनता नहा है । सत्य और अहिंसा दानो पुराने सिद्धात हैं । लकिन उन्होने सत्य और अहिंसा को सचमुच नये आयाम प्रदान किय हैं । उनके सिद्धात को पुराने सिद्धातो की पुन रुक्ति नही मानी जा सकती । इस नवीनता एव मौलिकता को सत विनोबा भावे एव आचार्य कृपलानी न भी स्वीकार किया है ।[१] पाश्चात्य विचारक आर्ने नैश भी गाँधी विचार को इस मौलिकता के पोषक हैं ।[२]

गाधीवाद की नवीनता को कई दृष्टिकोण से समझा जा सकता है । यह ठीक है कि गाँधी के अनेक शब्द पुरान है परतु पुराने शब्दो म नयें अथ प्रदान करना गाधी की अपनी विशेषता है । सत्य अहिंसा ईश्वर इत्यादि पुराने शब्द हैं परतु गाधीवाद म इन शब्दा के अर्थ पहले म बिल्कुल बदल गय हैं । सत्य

---

1 'Whatever their external form of presentation and expression Gandhi s ideas are new and revolutionary'— Kripalani B *Mahatma Gandhi His Life and Thought* (New Delhi (Patiala House), Government of India Publication 1970) p 308

2 "The essential and most original aspect of Gandhi s teaching is his descriptive and explanatory account of man and of man s ability to resolve his own conflicts In the realm of principles and metaphysics Gandhi shows no remarkable originality'

Naess Arne, *Gandhi and the Nuclear Age*, op cit, p 8.

का अर्थ केवल मन, वचन और कर्म की सत्यता ही नहीं है, बल्कि यह ईश्वर-सत्ता का भी सूचक है। अहिंसा का अर्थ केवल हत्या अथवा पीड़ा का निषेध ही नहीं, बल्कि 'प्रेम' भी है जिसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति सेवा के माध्यम से होती है। 'ईश्वर' सत्ता तो है ही, परन्तु उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति सत्य के रूप में ही होती है।

सत्य और अहिंसा की अभिव्यक्ति के लिए भी गांधी ने पूर्णतः नवीन कला निकाली है। प्राचीन ऋषि मुनियों ने सत्य और अहिंसा को वैयक्तिक उत्थान के लिए आवश्यक धर्म समझा था। परन्तु गांधी ने इसका क्षेत्र विस्तृत कर दिया है। उनके अनुसार सत्य और अहिंसा केवल मन की ही स्थिति या आत्म शुद्धि का ही साधन नहीं है, बल्कि इसके द्वारा समाज और राज्य को भी शुद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार सत्य और अहिंसा अपनी नवीनता में दिव्य हैं।[1]

गांधीवाद की कुछ धारणाएँ उनकी अपनी सृजनात्मक प्रतिभा की भी उपज हैं, जैसे, 'सत्याग्रह', 'सर्वोदय', 'साधन-साध्य की एकता' इत्यादि। इन धारणाओं में प्राचीन प्रतिमाओं का संगठन नवीन तरीके से हुआ है। मनोविज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि रचनात्मक कल्पना में हम विगत अनुभव की प्रतिमाओं को ही नये ढंग से सजाते हैं जिसमें हमारी समस्याओं के समाधान में सुविधा होती है। अतः पुराने शब्दों के रहने पर भी अर्थ एवं संगठन की नवीनता एवं विशिष्टता हो सकती है। गांधी का सिद्धांत इन्हीं अर्थों में नवीन एवं विशिष्ट है।

(ग) **गांधीवाद** सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय के अर्थ में गांधी के कथनों को भी हम 'वाद' की संज्ञा दे सकते हैं। जैसा हम देख चुके हैं कि न्याय कोश के अनुसार अपने मत या विशिष्ट विचारधारा का, प्रभावोत्पादक शैली में, कथा या वर्णन का 'वाद' की संज्ञा दी गयी है। गांधी ने अपने जीवन में केवल कर्म की साधना ही नहीं की है, साधना के अनंतर उन्होंने भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अपने विशिष्ट मतों को समझाने के लिए विशाल वाङ्मय की रचना भी की है, जो सम्पूर्ण गांधी-वाङ्मय के नाम से कई भागों में प्रकाशित हो रहे हैं। इसके एक भाग में लगभग ६०० पृष्ठ रहे हैं। इसमें यह प्रकट होता है कि गांधी प्रत्येक विषय पर अपना विचार आजीवन व्यक्त करते रहे हैं और उनके वचनों का यह विपुल वाङ्मय गांधीवाद है। इसीलिए उनके विचारों के विभिन्न अंगों पर दश

---

1 *Gandhian Outlook and Technique*, op cit, 1953, p 160

एव विदेश मे अनेक प्रामाणिक एव शोधपूर्ण ग्रथ लिखे जा चुके है और लिखे जा रहे हैं।[1]

(घ) गांधीवाद एक वीतराग कथा के अर्थ मे परतु 'वाद' के लिए केवल वाङ्मय या कथन ही पर्याप्त नही है। जैन दार्शनिका के अनुसार इसे 'वीतराग' कथा होनी चाहिये, "विजिगीषुकथा" नही। जैसा हम देख चुके हैं स्याद-सार एक कदम और आगे बढता है और 'वाद' के लिए वीतराग व्यक्ति को भी अपेक्षा रखता है। यहाँ गांधी-विचार की पृष्ठभूमि पर थोडा विचार करना होगा। गांधी न तो व्यक्ति-निष्ठ थे, न गुरुनिष्ठ, न ग्रथ-निष्ठ और न सम्प्रदाय-निष्ठ। उनकी एक ही निष्ठा थी और वह है सत्य निष्ठा। आप्त पुरुष की तरह वे यथार्थ ही बोलते थे, चाहे उनकी कितनी ही बडी क्षति क्यो न हो जाय। इसलिए उनका यदि कोई वाद था तो उसे हम 'सत्यवाद' या 'यथार्थ-वाद' ही कह सकते हैं। उन्होने आजीवन सत्य के साथ ही प्रयोग किया है। उनके द्वारा विषय प्रतिपादन मे जय-पराजय की आकाक्षा नही है। उनका साहित्य तो समन्वय की एक विराट चेष्टा है। जीवन के मूल्यवान तत्त्व को किसी भी दिशा से ग्रहण करने मे उन्हे कोई आपत्ति नही होती। भिन्न-भिन्न विषयो पर वे अपना मत देते तो हैं, परतु अनासक्त भाव से। इसलिए उनके

1 (a) Dhawan, G N, *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1951)

(b) Varma, Vishwanath Prasad, *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi And Sarvodaya*, (Agra, L. N Agrawal Educational Publishers-1959)

(c) Ray, B G, *The Ethical Philosophy of Mahatma Gandhi*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1950)

(d) Khan, Benjamin, *The Religious Philosophy of Mahatma Gandhi*

(e) Prasad, Mahadeo, *Social Philosophy of Mahatma Gandhi*, (Gorakhpur, Vishwavidyalaya Prakashan, 1958)

(f) Patel, M S, *The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi*, (Ahmedabad, Navajivan Press, 1953)

कथन म जन्य और विलन्न नही हैं। उनके मन म एकमात्र भावना सत्य का सधान है। सत्य के सधान के लिए वे अपने को शून्य म विलीन कर देते थे और अक्सर कह उठते थे,—'गाँधीवाद नाम की कोई चीज नहा है। मरा कोई भी वाद नही है।" इससे बढ कर वीतराग एव वीतराग की कथा का क्या उदाहरण हो सकता है? गाँधी स्वत गीता के अनासक्ति योग म विश्वास रखत थे तथा स्वय वैसा ही आचरण भी करते थे। इसीलिए श्री आचार्य कृपलानी ने उन्हें कर्मयोगी की सज्ञा दी है।[1] निश्चय ही कुछ लखकों एव विचारकों ने उन्ह पूँजीवाद का समर्थक घोषित किया है,[2] परन्तु उनके विषय म ऐसी आलोचना खण्डित दृष्टि एव असमुचित चितन का ही परिणाम हो सकता है। वास्तविकता तो यह है कि गाँधी न अनासक्त एव वीतराग पुरुष की तरह सत्य के प्रयोग के आधार पर जो देखा और अनुभव किया उसी को हमारे सामने रखा।

(च) गाँधीवाद एक जीवन दशन के रूप में 'वाद' का अर्थ निश्चय ही सुव्यवस्थित तत्त्व-दर्शन म लिया गया है परन्तु इन दिनों कुछ पाश्चात्य एव प्राच्य दार्शनिक इस निष्कर्ष पर आये हैं कि सभी प्रकार के दर्शनों का मुख्य उद्देश्य मानव एव उसके जीवन का अर्थ समझना है। अतएव दर्शन का उद्देश्य मानव के लिए जीवन-पद्धति की खोज करनी है। अत यह भेद करना कि पश्चिमी दर्शन विचार प्रणाली स सबद्ध है एव भारतीय दर्शन जीवन-पद्धति से, अन्याय है। सभी दर्शन, चाहे प्रत्यक्ष रूप म या परोक्ष रूप म भिन्न भिन्न रूपों में मानव-जीवन-पद्धति का ही विकास करत हैं।[3] दर्शन का मुख्य विषय मानव एव उसका जीवन है। अत दर्शन आज तत्त्व-मीमांसा के सुदूर व्योम से उतर

---

1 Kripalani J B *Gandhian Thought* 1961 p 112

2 Rao M B (Ed) *The Mahatma A Marxist Symposium*, (Bombay People's Publishing House, 1949) p 22

3 Radhakrishnan S, And Raju P T (Ed), *The Concept of Man*, (London George Allen and Unwin, 1960), p 307

"Philosophy whatever words are used in the different languages means a theory of man of his life of the world, by possessing which man becomes wise and can plan his life accordingly' —Ibid p 309

कर मानव-जगत् मे प्रवेश कर रहा है। समाज-दर्शन का महत्त्व दिन प्रतिदिन बढता जा रहा है। आज तत्त्व का अर्थ भी 'जीवन-तत्त्व' करना होगा। इसमे किंचित् मात्र भी सदेह नही कि गाँधीवाद एक सुव्यवस्थित जीवन-दर्शन है। उन्होने निरतर जीवन और जीवन के प्रयोजन को ही समझने का प्रयत्न किया। उनके लिए दर्शन मानसिक विलासिता या कोई बौद्धिक व्यायाम नही है यह तो जीवन मूल्यो का अन्वेषण है। इसलिए उन्होने जीवन मे सर्वविध सभी बुनियादी समस्याओ पर गहराई मे सोचा और उनके समाधान भी प्रस्तुत किये। धर्म के क्षेत्र मे 'सर्व धर्म-समभाव', समाज परिवर्तन के क्षेत्र मे 'सत्याग्रह', नैतिक आदर्श के क्षेत्र मे 'सर्वोदय', प्राकृतिक जीवन के लिए 'ग्रामोद्योग', 'प्राकृतिक चिकित्सा' एव 'व्रतादि के रूप मे उनकी देन को कौन जीवन-दर्शन उपेक्षित कर सकता है ?

गाँधी-जीवन-दर्शन के चितको मे नेहरू, विनोबा, राजेन्द्र प्रसाद, राम मनोहर लोहिया, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, कृपलानी, तथा अन्य सर्वोदय विचारको को भूला नही जा सकता। गाधी की अहिंसा को आधार मान कर ये विचारक नयी नयी समस्याओ पर नये-नये ढग मे विचार करते हैं। विश्व के अनेक देशो मे, जैसे अमेरिका मे मार्टिन लूथर किंग, फ्रास मे आवेपियर, इटली मे डोल्ची आदि अनेक पाश्चात्य लोगो ने अपने-अपने ढग से अन्याय के अहिंसक प्रतिकार का मार्ग प्रशस्त किया है और गाँधी के विचारो मे उन्हे अजीब स्फूर्ति एव प्रेरणा मिली है।

गाधी के विचारो पर लिखे गये आधुनिक शोध-ग्रथ एव आयोजित राष्ट्रीय एव अतर्राष्ट्रिय विद्वत्-गोष्ठियाँ एव परिचर्चाएँ स्पष्ट रूप से 'गाँधीवादी-जीवन-दर्शन' की सार्थकता प्रकट करती हैं। यूनस्को जैसी अतर्राष्ट्रिय सस्था ने भी गाँधी शताब्दी वर्ष मे गाँधी के विचारो के मूल्याकन के लिए विश्व भर के विद्वानो को आमत्रित किया था। दिल्ली मे 'आधुनिक सदर्भ मे गाधी-विचार की सार्थकता' विषयक अतर्राष्ट्रिय-गोष्ठी मे न केवल अमेरिका, इगलैड, एव यूरोपीय, अफ्रीकी एव एशियायी देशो से, बल्कि रूस, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया आदि साम्यवादी देशो से भी कितने ही तजस्वी विचारक पधारे थे। लगता है, हिंसा, युद्ध, वैमनस्य एव कूटनीतियो मे आकठ निमग्न विश्व गाँधी-जीवन-दर्शन को ढूँढ रहा हो। मानो सभ्यता सिसिफस की भाति अपनी उच्चतम चोटी पर पहुच कर पाशविकता के गर्त मे गिरने से बचने के लिए "मध्ययुगीन सत' के इशारे पर 'अधेरे युग' की ओर पुनरावर्त्तन कर रही हो। ससदीय

चिंतन के वृत में गांधीवाद या सर्वोदय विचार को भी अराजकतावाद, प्रत्ययवाद एव मार्क्सवाद की तरह 'वाद' माना गया है।[1] यह ठीक है कि इसमे अनेक अस्पष्टताएं और असगतियां भी होंगी। परन्तु कोई दर्शन पूर्ण तो होता नहीं। जो भी हो, हम इसकी सार्थकता के सबध मे भले ही एकमत न हो, किंतु वैचारिक क्षेत्र मे इसके अस्तित्व को हम अस्वीकृत नही कर सकते।

५ मूल्यांकन

गांधी क कथनो म ही गांधीवाद को 'वाद' कहने के पक्ष एव विपक्ष दोनो मे उक्तियां मिलती हैं। इसकी कई प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। पहला यह कि गांधी आत्म विरोधी बात करते हैं, क्योंकि एक ओर वे कहते हैं— "गांधीवाद नाम की कोई चीज नहीं है।" तथा दूसरी ओर यह भी कहते हैं— "गांधीवाद सदा अमर रहेगा।' यदि गांधीवाद की सत्ता है ही नही, तो फिर इसके अमरत्व एव इसकी व्यावहारिकता का प्रश्न ही नही उठता। परतु हम गांधी की उक्तियो को इस अर्थ म नहीं ले सकते। हम सदर्भ भी समझना होगा। इसलिए गांधी के विचारो की समीक्षा तर्कशास्त्र के सामान्य नियम से नहीं की जा सकती है। इसलिए कि उन्होंन अपन विचारो को किसी सिद्धात म बाँधने का प्रयास ही नही किया है। उनकी भूमिका ही समन्वय और प्रयोग की रही है। अत इन दो विरोधी उक्तियो का भी समन्वय किया जा सकता है। एक दृष्टिकोण से गांधीवाद 'वाद' नहीं है और दूसरे दृष्टिकोण स यह 'वाद' है। यदि रूढ एव सकीर्ण विचार के रूप में देखा जाय तो यह 'वाद' नही है, परतु सतत विकासशील समन्वयात्मक विचार के रूप मे यदि गांधीवाद को देखा जाय तो यह 'वाद' है। स्याद्वाद न्याय क आधार पर तो हम गांधी की विरोधी उक्तियों का समन्वय कर ही सकते हैं।

गांधी की समन्वयात्मक एव विनोबा की वितर्क पद्धति के सहारे भी इसकी व्याख्या की जा सकती है, जहाँ सम्पूर्ण सत्य को समग्ररूप मे देखने का प्रयास किया जाता है। इसके अनुसार हम यह कह सकते हैं कि गांधी ने कोई स्वतंत्र वाद नही बनाया है, बल्कि विभिन्न वादो एव विचारो का एक व्यापक समन्वय किया है।

विनोबा के विचारो को भी इसी दृष्टि म समझा जा सकता है। विनोबा वाद को "खंडित दर्शन" के रूप में मानते हैं, समग्र दर्शन क रूप म नहीं।

1 Doctor, Adi H, *Sarvodaya A Political and Economic Study*, (Bombay, Asia Publishing House, 1967), pp 4-5

इसलिए वे गांधी-विचार को 'वाद' के रूप मे स्वीकार नही करते। परन्तु जैसा हम देख चुके हैं, गांधीवाद मे स्वाभाविक रूप मे पूर्ण या समग्र दृष्टि है। अत इस दृष्टि से सर्वोदय-दर्शन को हम वाद कहना चाहें तो कह सकते है। एक विशेष अर्थ मे विनोबा ने भी वाद के महत्त्व को स्वीकार किया है। उन्होने कहा है "वाद अत्यत आवश्यक है, क्योकि बिना वाद के न मैं आपको समझा सकता हूँ न आप मुझे। ब्रह्मसूत्र मे निर्विवादता के लिए वाद है।"[1] गीता ने भी 'वाद' को ईश्वर की विभूति माना है।[2] किंतु सामान्यत विनोबा 'वाद' का निषेध करते हैं। ऐसा लगता है कि वे 'वाद' का प्रयोग 'तर्क' के अर्थ मे करते हैं। लेकिन तर्क की भी अपनी सीमा होती है। समग्र-दर्शन मे हम शुष्क तर्क या बौद्धिक चिंतन मे ऊपर उठ जाते हैं। यहां पर अपरोक्षानुभूति या प्रातिभज्ञान की प्रधानता रहती है। इसीलिए विनोबा कहते है "पूर्ण दृष्टि मे वाद क्षीण पड जाता है।" अपने विचारो को दूसरो तक पहुचाने के लिए या दूसरे को समझाने के लिए तर्क की आवश्यकता तथा उसकी उपयोगिता है। परन्तु एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब हम तर्क मे ऊपर उठ जाते है। यहां पर तार्किक समाधान की आवश्यकता नही पडती। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि यहां पर तर्क की पूर्ण समाप्ति हो जाती है। इसका इतना ही अर्थ है कि यहां पर तर्क गौण हो जाता है। विनोबा 'वाद' के विकल्प रूप मे समन्वय-विचार को ग्रहण करते हैं।[3] तत्त्व के सबध मे वे समन्वय की नीति का पालन करते हैं और यह ठीक भी है। समन्वय मे किसी भी पक्ष पर अधिक बल नही दिया जाता है। इसमें सर्वाङ्गीण रूप मे विचार किया जाता है। इसलिए यह तर्क से ऊपर का नियम है जिसको विनोबा 'वितर्क' कहते हैं। इसमे विरोधो का परिहार

---

१ भावे, विनोबा, **विनोबा-चिंतन**, (वाराणसी, सर्व सेवा-सघ-प्रकाशन, १९६६), अक १०-११, पृ० २१।

२ "वाद प्रवदतामहम्"। **गीता**, १०।३२, देखिये, **विनोबा-चिंतन**, अक १०-११, पृ० २२, देखिये गीता (शाकर-भाष्य), १०।३२ वाद अर्थनिर्णय हेतुत्वात् *गीता (रामानुज-भाष्य, १०।३२ जल्पवितण्डादि कुर्वतां तत्त्वनिर्णयाय प्रवृत्तो वाद य स* अहम्।, देखिये, **विनोबा-चिंतन**, अक १०-११ पृष्ठ २२ (फुट नोट), गुरु शिष्ययो कथा वाद। तत्त्वबुभुत्सो कथा वाद।

३ ब्रह्मसूत्र, ११४ "तत्तु समन्वयात्।" देखिये, **विनोबा-चिंतन**, अक १०-११, पृ० ८।

होता है। परंतु समन्वय को हम यदि सिद्धांत विशेष या "पद्धति विशेष" के अर्थ में लें तो फिर इसे 'वाद' मानना ही पड़ेगा। गाँधीवाद तर्क या बहस के अर्थ में 'वाद' नहीं है। यह सिद्धांत या व्यवहार के अर्थ में 'वाद' है।

विनोबा 'वाद' के गिरे हुए अर्थ से भी अवगत हैं।[१] शायद इसीलिए वे 'वाद' के चार विभाग करते हैं दम्भवाद अज्ञानवाद भावार्थवाद और यथार्थ-वाद।[२] इन अर्थों में तो गाँधीवाद स्पष्ट रूप से वाद नहीं है।

किसी सिद्धांत या सत्य के पीछे व्यक्ति का नाम जोड़ना या व्यक्तिगत सर्वनाम जैसे मेरा सिद्धांत या अमुक का सिद्धांत का प्रयोग करना सचमुच उसे सीमित करना है। इसीलिए विनोबा गाँधी के इतने समीप होते हुए भी गाँधी का नाम लेकर कुछ कहना नहीं चाहते। 'मेरी मुक्ति' के स्थान पर केवल 'मुक्ति' का प्रयोग करना वे उचित समझते हैं।[३] अर्थात् वे सत्य को किसी व्यक्ति की मर्यादा में बाँधना नहीं चाहते और इसलिए भी 'गाँधीवाद' का प्रयोग नहीं करते हैं। परंतु इसमें गाँधी के वास्तविक सिद्धांत का विरोध नहीं होता। विनोबा यह मानते हैं कि मनुष्य प्रतिपल बदल रहा है विकास कर रहा है। गाँधी कस्तूरबा और वे स्वयं प्रतिक्षण बदलते आये हैं।[४] ऐसी परिस्थिति में गाँधीजी ने सम्पूर्ण जीवन में जो कुछ कहा है और किया है गाँधी-वाद उसी का एक निश्चित विचार तन्त्र है। विनोबा के अनुसार यदि स्पष्ट रूप से हम गाँधी की देन को जानना चाहें तो वह सामूहिक अहिंसा या सत्याग्रह ही है। यही उनकी सर्वाधिक मौलिकता या नवीनता है।

आचार्य कृपलानी की युक्तियों का भी सार यही है कि 'वाद' का सर्जन श्रद्धा एवं आस्थावान् अनुयायी लोग करते हैं जिनमें सर्जनात्मक एवं विवेच-नात्मक चेतना का अभाव होता है। कोई विचारक स्वयं उसका निर्माण नहीं करता। परंतु उनका यह कथन केवल कुछ ही प्रकार के वादों लागू करके

१ विनोबा चिंतन, अंक १०–११ पृ० २५।

२ भावे विनोबा विचार पोथी (नई दिल्ली सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, १९६१) पृ० ९६।

३ भावे विनोबा आत्मज्ञान और विज्ञान, (वाराणसी सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६४) पृ० ७१।

४ भावे विनोबा नवो–नवो भवति जयमान, गाँधी मार्ग (हिन्दी) (दिल्ली, गाँधी शांति प्रतिष्ठान, अंक १ अप्रैल, १९७०), पृ० ४५।

धार्मिक वादो में ही लागू हो सकता है। दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे अनेक वाद हैं जिनका निर्माण विचारको ने स्वय किया है। जैसे काण्ट का समीक्षावाद, शकर का अद्वैतवाद इत्यादि। वस्तुत यह विचारको की क्षमता एव अभिरुचि पर निभर करता है। दूसरी बात यह कि यदि हम मान भी ले कि वाद का निर्माण केवल अनुयायियो के द्वारा ही होता है तो इसमे केवल वाद की उत्पत्ति का प्रश्न हल होता है इसमे 'गाधीवाद' की सत्ता का निषेध नही होता। गाधीवाद का सृजन गाधी ने किया या उनके अनुयायियो ने यह एक अलग प्रश्न है। यदि यही सत्य है कि इसका सृजन गाधी के अनुयायियो ने ही किया, तो इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि वाद है। हमने यह देखा है कि गाधी का सम्पूर्ण विचार किस प्रकार एक समग्र दर्शन के रूप मे उनके जीवन काल मे ही विकसित हुआ है।

जहा तक विचार की प्रगतिशीलता एव जडता का प्रश्न है यह सापेक्ष रूप म ही सत्य हो सकता है। हर वस्तु म तादात्म्य और भेद का सम्मिश्रण रहता है। गाधीवाद म गतिशीलता है उन्मुक्तता है—यह इसका विशेष गुण है। परन्तु इसम एक अथ म प्रतिबद्धता भी है क्योकि इसके सारे विचार एव आचार 'सत्य एव अहिंसा' की लीक पर ही आगे बढते है। किसी भी विचार एव व्यवहार जिसमे विशिष्टता एव नवीनता हो सीमा भी उसमे अवश्य ही रहती है। दर्शन का इतिहास बतलाता है कि विश्व मे अनेक एसे वाद है, जिनमे अत्यधिक उन्मुक्तता प्रगतिशीलता एव उदारता है फिर भी उन्हे हम वाद की सज्ञा देते हैं। जैसे विलियम जेम्स का प्रयोगवाद, जैन दार्शनिको का स्याद्वाद अनेकातवाद एव पश्चिमी जगत् का अस्तित्ववाद इत्यादि। अत गाधी के सिद्धात की व्यापकता स्फूर्ति एव विकासशीलता के आधार पर इन्हे हम वाद की कोटि से अलग नही कर सकते। ऐसा करना प्रचलित भाषा की मान्यताओ का भी विरोध करना होगा। आचार्य कृपलानी गाधीवाद शब्द पर आपत्ति इसलिए भी करते हैं कि इसम सुव्यवस्थित विचार प्रणाली का अभाव है। परन्तु वे कभी-कभी स्वय मान लेते हैं कि गाधी के चितन मे सभी विचार आपस मे सबद्ध हैं और उनमे आतरिक सबध है जिससे सुव्यवस्थित दर्शन का निर्माण होता है। वे यह भी मानते है कि गाधी सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई के रूप मे देखते हैं तथा उनके विचार जीवन की समस्याओ से सबद्ध है। उनके उपदेशो एव समाज-सुधार की क्रिया

म भी एकता एव समन्वय है।[1] फिर भी इस एकरूपता को दर्शन-प्रणाली की सज्ञा नही दी जा सकती है। यदि गाँधी के समग्र विचारो म आतरिक सबध है तो बाह्य प्रणाली का निर्माण करना उतनी महत्त्वपूर्ण बात नही है। गाँधी ने विचार प्रणाली नही बनायी, उनके शिष्यो ही ने बनाया अथवा स्वाभाविक रूप से उसमे व्यवस्था आ गयी है—ये उतने महत्त्वपूर्ण नही हैं जितनी गाँधी-विचार की मौलिकता, विशिष्टता एव नवीनता, जिसे आचार्य कृपलानी पूर्णतः स्वीकार करते हैं।

आचार्य कृपलानी गाँधी को ससदीय चितक एव दार्शनिक की कोटि मे नही रखना चाहते, क्योकि गाँधी ने तत्त्वो के मीनमख के बदले जीवन की समस्याओ मे जूझना ही ठीक समझा। किसी दार्शनिक-पद्धति या दार्शनिक-तत्र निर्माण करने की अपेक्षा उन्होने जीवन की पद्धति एव जीवन-तत्र का निर्माण किया। यो यदि हम भारतीय दर्शन की परम्परा पर विचार कर तो भी गाँधी की दार्शनिकता प्रकट हो जायगी। भारतीय दर्शन की उत्पत्ति ही जीवन की समस्याओ के शाश्वत समाधान के लिए होती है। यहाँ हर दार्शनिक का उद्देश्य जीवन के दु खो का उन्मूलन कर मोक्ष, कैवल्य या निर्वाण के द्वार तक पहुँचाना है। यह ठीक है कि गाँधी ने साख्य, बौद्ध आदि दार्शनिको की तरह शास्त्रीय मोक्ष या निर्वाण के विषय मे चर्चा नही की है। परतु अन्य समसामयिक भारतीय दार्शनिकों की भाँति भी उन्होने सामूहिक मोक्ष मे विश्वास प्रदर्शित किया है। प्राचीन भारतीय चिन्तको की भाँति उनके विचारो मे भी दर्शन, धर्म, समाज-साधना, शिक्षा आदि के विचारो का समन्वय है।[2]

---

1 "His teachings and schemes of reform also reflect the same integration and co-ordination There is the basic unity of purpose and aim The element of unity are there, but they have not been reduced to a system" —Kripalani, J B, *Gandhi His Life And Thought, p p 306*

2 "He was at once a saint and revolutionary, a politician and a social reformer, an economist and a man of religion, and educationist and Satyagrahi, devotee alike of faith and reason, Hindu and inter religious nationalist and inter-nationalist, a man of action, and a dreamer of dream" —Ramachandran, G, 'The Core of Gandhi', *Mahatma Gandhi hundred years,* (ed,) Radhakrishnan, S, (Delhi, Gandhi Peace Foundation, 1968), p. 313

आचार्य कृपलानी के अनुसार गांधी-विचार मे अंतिमता (finality) का अभाव है। इसमे किसी प्रकार की कठोरता या रूढता भी नही है। इसलिए इसे 'गांधी-मार्ग' कह सकते है 'गांधीवाद' नही। यहां पर उनके विचार मे थोडी-सी सत्यता है, क्योकि अंग्रेजी शब्द-कोश मे 'इज्म' का एक प्रयोग वैसे सिद्धात के लिए होता है जिसमे कुछ रूढता या अलगाव का तत्व रहता है।[1] परन्तु रूढता या अलगाव के तत्त्व का रहना 'वाद' के लिए निरपेक्ष रूप से आवश्यक नही है। 'वाद' मुख्यत सकीर्ण या साम्प्रदायिक अर्थ मे व्यवहृत हुआ है, इसका यह अर्थ नही है कि 'वाद' का प्रयोग हर परिस्थिति मे सकीर्ण एव साम्प्रदायिक सिद्धात के अर्थ मे ही होगा। बहुत-से ऐसे दर्शन है जिनमे सकीर्णताओ एव रूढताओ के तोडने का प्रयास हुआ है, फिर भी वे 'वाद' की कोटि मे आते हैं। हिंदू धर्म के आधार-ग्रंथ, वेद, उपनिषद् एव गीता मे यद्यपि साम्प्रदायिक चर्चा नही है, फिर भी हिंदू-धर्म के साथ भी अंग्रेजी मे 'वाद' (Hinduism) का प्रयोग किया गया है। इन उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कही-कही 'वाद' का प्रयोग वैसे सिद्धातो के लिए भी होता है जिनमे सकीर्णता या रूढता के लिए कोई स्थान नही रहता। वस्तुत जब शास्त्रीयता और व्यवहार, शब्दार्थ एव प्रयोग के बीच सघर्ष हो तो व्यवहार और प्रयोग को प्रमुखता मिलनी ही चाहिये। फिर सभी अंग्रेजी शब्द-कोश 'वाद' को विलगाव के अर्थ मे नही प्रयोग करते हैं। कुछ अंग्रेजी [2] और हिंदी [3] के भी शब्द-कोश हैं जो 'वाद' का अर्थ केवल विशेष प्रकार के सिद्धात या व्यवहार के अर्थ मे ही करते है। इस अर्थ मे 'गांधीवाद' सार्थक है। यदि यह भी मान लिया जाय कि गांधी ने केवल एक जीवन दृष्टि या जीवन-पद्धति दी है तो भी यह किसी प्रक्रिया या कार्य के अर्थ मे 'वाद' हो जाता है, जैसे, प्रयागवाद जो एक प्रकार का दार्शनिक दृष्टिकोण ही है, उस हम 'वाद' की सज्ञा देते है।

वस्तुत आचार्य कृपलानी साम्प्रदायिकता एव रूढ सिद्धातो के अर्थ मे ही 'गांधीवाद' का प्रयोग उचित नही समझते। विनोबा की भाति उन्होने भी

---

1 Onions, C T, (Revised & Ed), *The Shorter Oxford Dictionary*, p 1049

2 Murry, J A H, (ed) *A New English Dictionary*, two Vols (Oxford 1901), pp 504-505

३ वर्मा, रामचन्द्र, **प्रामाणिक हिन्दी शब्द कोश**, (बनारस, हिन्दी साहित्य कुटीर, सवत् २००८, दूसरा सस्करण), पृ० ११५८।

गांधी विचार की विशिष्टता एव नवीनता को स्वीकार किया है।[१] गांधीवाद एक उच्च कोटि का वाद है यह रूढ़ियों से मुक्त है शाश्वत मूल्यों से सम्पन्न है। इसमें नवीनता भी है एव प्रगतिशीलता भी।

स्वाभाविक रूप से हमारे सामने प्रश्न आता है कि गांधीवाद के मूलभूत सिद्धात क्या हैं ? यो तो गांधी के मुख्य-मुख्य सिद्धातो के ऊपर आगे हम विस्तार से देखेंगे परन्तु यहां सक्षेप में उनके विचारो को निम्न बिन्दुओं में सकेत कर सकते हैं—

(क) ईश्वर सभी प्रकार के मूल्यों का आधार है अत उसकी सत्ता में दृढ़ आस्था का सद्भाव।[२]

(ख) मानवीय आत्मा की समानता में विश्वास रखना।[३]

(ग) सत्याग्रह क्रांति का अस्त्र।[४]

(घ) सामूहिक अहिंसा का सिद्धात।[५]

(ङ) मनुष्य के शरीर मन एव आत्मा की अखण्डता का सिद्धात।[६]

(च) समाज राज्य अथवा किसी सस्था का हित उन व्यक्तियों से अलग नहीं है जिनसे उनका निर्माण हुआ है।[७]

(छ) साध्य से साधन का अधिक महत्त्व है क्योंकि साध्य दिशा प्रदान करता है तो साधन का सबध साक्षात् रूप से जीवन से है।[८]

(ज) अत अनुभूति ज्ञान का उच्चतम रूप है।

---

1 Kripalani J B *Gandhi His Life And Thought* 1970 p 308

2 Ramchandran G The Essence of Gandhi *Gandhi His Relevance for our Times* (ed) Ramchandran G And Mahadevan T K (New Delhi Gandhi Peace Foundation 1967) P 376

३ उपरिवत् पृ० ३७६।

४ उपरिवत्, पृ० ३७६।

५ उपरिवत् पृ० ३७६।

6 Santhanam K Basic Principles of Gandhism, उपरिवत् पृ० ३०८।

७ उपरिवत् पृ० ३०९।

८ उपरिवत् पृ० ३०९।

६. गाँधीवाद के पुरस्कर्त्ता

सममामयिक गाँधीवादी विचारकों को हम सुविधा की दृष्टि से मुख्यत दो शाखाओं में विभाजित कर सकते हैं। पहली शाखा मे राजनैतिक गाँधीवाद एवं दूसरी में सर्वोदय-दर्शन को रख सकते हैं। राजनैतिक गाँधीवाद का भी विभाजन दो वर्गों मे किया जा सकता है—एक प्रामाणिक-गाँधीवाद और दूसरा अप्रामाणिक-गाँधीवाद। प्रामाणिक-गाँधीवाद[1] कांग्रेस पार्टी एवं उनके नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू के सिद्धान्तों से सबद्ध है जिसे डॉ० राममनोहर लोहिया ने सरकारी-गाँधीवाद[2] तथा मोहित मन न सबसे अधिक समर्थ गाँधीवाद[3] की सज्ञा दी है। अप्रामाणिक-गाँधीवाद के अतगत चक्रवर्ती राजगोपालाचारी तथा डॉ० राममनोहर लोहिया एव उनकी राजनैतिक पार्टी (ससोपा) के सिद्धात आते हैं। डॉ० लोहिया ने अपने मत को कुजात-गाँधीवाद[4] (Heretic-gandhism) की सज्ञा दी है। ज्योफ्रे अस्टरगार्ड,[5] हैलेम टनिसन[6] आदि पाश्चात्य लेखकों ने विनोबा के विचार को क्रांतिकारी गाँधीवाद माना है।

(क) जवाहरलाल नेहरू और गाँधीवाद जवाहरलाल नेहरू एक ओर पाश्चात्य विज्ञान एव प्रजातन्त्र से प्रभावित थे तो दूसरी ओर उन्हें गाँधी के नेतृत्व में भारत की स्वतन्त्रता की लडाई में कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। गाँधी को उन पर अटट विश्वास था और उन्होंने उन्हें अपना उत्तराधिकारी भी घोषित किया था। किंतु उनकी अभिरुचि गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रम में उतनी नहीं थी। भारत की स्वतन्त्रता मिलते ही आश्चर्य-जनक घटना हुई। एक ओर गाँधी ने कांग्रेस का विघटन कर उसे लोक-सेवक-सघ में परिणत करना चाहा, दूसरी ओर जवाहरलाल नेहरू स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री के पद पर आसीन हुए। गाँधी की मृत्यु के बाद १३ १५ मार्च,

1 Lohia, Ram Manohar, *Marx, Gandhi and Socialism*, (Hyderabad, Navahind, 1963) Preface, p XII

2 Ibid, p 12

3 Sen Mohit Gandhism After Freedom", *The Mahatma A Marxist Symposium* (Ed) Rao M B (1969) p 64

4 Lohia, Ram Manohar *Marx, Gandhi and Socialism*, (1963) Preface p 44

5 Ostergaard Geoffrey and Currell, Malville *The Gentle Anarchist* (Oxford Clarendon Press 1971) p 7

6 Tennyson H *Saint On the March, The Story of Vinoba* (London Victor Gollanz, 1955) pp 1—223

१९४८ में गाँधी के सभी शिष्यों की एक सभा देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में सेवाग्राम में बुलायी गई। इसमें एक ओर जवाहरलाल नेहरू सरदार पटेल एवं मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे बड़े-बड़े राजनेता आये तो दूसरी ओर विनोबा, काका कालेलकर दादा धर्माधिकारी आचार्य कृपलानी जैसे समाज सेवक जुटे। विचारों में फर्क पड़ा। सरकार पर भी छींटाकशी हुई तो राजेन्द्र बाबू ने मध्यम मार्ग सिखाते हुए कहा— सरकार को अपनी राह पर चलने दें और हम अपनी राह पर चलें।

सभा का मुख्य उद्देश्य नई परिस्थिति में गाँधी सिद्धांत के आधार पर कार्यक्रम लागू करने के सबंध में विचार करने में था। नेहरू ने इस सभा में गहरी दिलचस्पी नहीं ली। सारा कार्यभार विनोबा के ऊपर छोड़ दिया गया। इस अवसर पर नेहरू ने स्पष्ट रूप से कांग्रेस के विघटन का खंडन किया तथा गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रम को तात्कालिक परिस्थिति में कृत्रिम एवं अवास्तविक माना।[1] उनके अनुसार स्वतंत्रता के बाद देश की मुख्य समस्या राष्ट्रिय अखंडता को कायम रखना स्वतंत्रता की सुरक्षा करना तथा हिंसा को रोक कर साम्प्रदायिक तारतम्य का बनाये रखना था।[2] इसलिए नेहरू ने गाँधीवाद का सार कांग्रेस संस्था को कायम रखने में देखा।

इस रूप में नेहरू ने गाँधी के राजनैतिक विचारों को ही ग्रहण किया। स्वदेशी, स्वावलम्बन धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र, साम्प्रदायिक एकता तथा अंतर्राष्ट्रिय राजनीति में तटस्थता की नीति एवं पंचशील की धारणाओं को सचमुच उन्होंने गाँधी की सत्य अहिंसा के परिणामस्वरूप ही प्राप्त किया।[3] फिर गाँधी के साधन की पवित्रता[4] का भी नेहरू ने आग्रह रखा परंतु नीति के रूप में धर्म के रूप में नहीं। इस प्रकार नेहरू के गाँधीवाद में रचनात्मक कार्यक्रम तथा अन्याय के प्रति प्रतिकार करने की सत्याग्रह नीति प्रायः समाप्त हो गई जिसमें गाँधी विचार का क्रांतिकारी रूप प्रकट नहीं हो पाया और गाँधीवाद की गतिशीलता भी क्षीण हो गई। गाँधी की सामूहिक अहिंसा का प्रयोग बहुत ही कम हो पाया। अहिंसा यहां भी नीति मात्र रह गई धर्म नहीं बन पाई। नेहरू

1 Narayan Sriman *Vinoba His Life and Work* (Bombay Popular Prakashan 1970) p 169

2 Ibid p 169

3 Sen, Mohit Gandhism After Freedom ' *The Mahatma A Marxist Symposium* (ed) Rao M B (1969), p 64

4 Narayan, Shriman *Vinoba His Life And Work*, p 171

राजसत्ता मे रहकर भारत को गाँधीवादी मोड नही दे सके। हाँ अतर्राष्ट्रिय क्षेत्र मे उन्होने विश्व शाति, तटस्थता एव सहअस्तित्व के लिए जो प्रयास किया, वहाँ लगता है, गाँधी उनके सिर पर सवार हैं। वास्तव मे वे पाश्चात्य विज्ञान और टकनालाजी तथा ससदीय प्रजातत्र मे बहुत प्रभावित थे। इसलिए ग्राम राज, ग्रामोद्योग आदि उन्हे विशेष आकर्षित नही कर सका। हलाकि अपनी गलती का अनुभव उन्हे अतिम समय मे हुआ। एकबार लोक सभा म इन्होने कहा था, "मुझे लगता है कि अपने देश की जो आर्थिक समस्याएँ हैं, जैसे औद्योगीकरण की समस्या, बढान की समस्या, उपज जनता की आय बढान की समस्या, बेकारी दूर करने की समस्या, उन सब के हल के लिए हमे गाँधी की जरूरत थी और अब भी हम गाँधीजी के मार्ग की तरफ मुडना चाहिए।[१] वे कल्पनाशील थे कि गाँधीवाद को कर्मकाड की जकड स भी निकाल सकते थे वे गतिशील थे कि गाँधीवाद को नवजीवन दे सकते थे वे इतने चमत्कारी थ कि जनता का इस ओर सहज ही खीच सकते थे। किंतु गाँधीवाद का यह दुर्भाग्य था कि गाँधी का उत्तराधिकारी गाँधीवाद का उत्तराधिकारी नही हो सका।

(ख) चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और गाँधीवाद यदि जवाहरलाल नेहरू गाँधी के हृदय-सम्राट माने जाते थे, तो श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी उनके मस्तिष्क माने जाते थे। जिस प्रकार गाँधी ने व्यक्ति को परम मूल्य माना और जिसके लिए समष्टिवाद के चगुल म व्यक्ति की मुक्ति का उन्होने सदेश दिया, उसी प्रकार राजाजी न भी व्यक्ति की स्वतत्रता पर बल देन के लिए स्वतत्र पार्टी नामक एक राजनैतिक दल का निर्माण कर लिया। उनके अनुसार व्यक्ति की तुलना म राज्य की भी शक्ति कम होनी चाहिए। विशेष करके आर्थिक मामलो म व्यक्ति की स्वतत्रता एव राज्य के हस्तक्षेप को कम करना इन्होने आवश्यक समझा। शायद य नौकरशाही के भ्रष्टाचार एव लालफीताशाही का आर्थिक उत्पादन मे बाधा समझ कर ही राज्य के हस्तक्षेप को कम करना चाहते थे। य काँग्रेस के काल्पनिक समाजवाद[२] के आलोचक एव साम्यवाद के प्रबल विरोधी माने जाते हैं। तदनुसार राज्य का कद जितना ही बढेगा व्यक्ति की स्वतत्रता उतनी ही छिनेगी।

१ नारायण, जयप्रकाश, मेरी विचार यात्रा (वाराणसी, सर्वसेवा सघ प्रकाशन, १९७४), पृ० ६२ द्वितीय सस्करण

2 Sen Mohit, 'Gandhism After Freedom', *The Mahatma A Marxist Symposium* (ed) Rao M B (1969) p 64

नि:संदेह राजाजी गाँधीवाद के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण किंतु अतिदूरस्थ तत्त्व को प्रधानता प्रदान करते हैं। परन्तु मेरी विनम्र राय में इसका वे उपयोग गलत ढंग से करते हैं। यह ठीक है कि राज्य की शक्ति की क्षीणता जनता के नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के साथ जुड़ी हुई है किंतु व्यक्ति की स्वतन्त्रता, विषमता एवं शोषण के आधार पर नहीं टिक सकती। गाँधी की दृष्टि यह कदापि नहीं हो सकती कि बिना जनसाधारण की नैतिक शक्ति को सगठित किये, राज्य की शक्ति को दुर्बल बनाकर समाज को अराजकता की गोद में छोड़ दिया जाय। फिर मानव-कल्याण एवं आध्यात्मिकता के विकास के लिए पूँजीवाद का प्रतियोगितावादी-दर्शन उपयुक्त नहीं। स्वतन्त्रता के नाम पर आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र में उत्पन्न बुराइयों को कोई मिटा नहीं सकता। अत राजाजी ने गाँधी को समझा लेकिन आंशिक रूप में ही।

(ग) डा० राम मनोहर लोहिया और कुजात गाँधीवाद—डा० राम-मनोहर लोहिया गाँधी के दार्शनिक सिद्धांतों एवं समाज परिवर्तन की प्रक्रियाओं को सार रूप में ग्रहण करते थे, परन्तु गाँधीवाद के समसामयिक तत्त्वों का निषेध करते थे। वे गाँधी के समालोचक भक्त थे। इनके सिद्धांत को हम समालोचनात्मक गांधीवाद की भी संज्ञा दे सकते हैं।

समालोचनात्मक गांधीवाद, गाँधी के सत्य, अहिंसा[1], सत्याग्रह[2], साधन-साध्य की एकता एवं उनके "एक कदम पर्याप्त है"[3] आदि सिद्धांतों को अपने

---

1 "Non-violence has almost always been one of my lode stars I had indeed ever distinguished non violence as an internal weapon from its use in international disputes and been somewhat reserved about the latter International non-violence had never the less, been a logical need and inchoate hope"—Lohia, Ram Manohar *Marx, Gandhi and Socialism*, (1963), Preface—p 41

2 "Civil disobedience both as individual's habit and collective resolve is armed reason, and anything else is either weak reason or unreasonable strength Such civil disobedience is Gandhi's direct gift to mankind"—*Ibid*, *Preface*, p 17

3 "This doctrine ■ ends and m ans together with the doctrine of imm diacy, has given to mod rn man a weapon of unexampled strength — *bid* p 125

विशेष अर्थ में ग्रहण करता है परतु यह गांधी की सादगी, चरखा, खादी, प्राकृतिक चिकित्सा आदि की धारणाओ से थोडी-सी भी प्रेरणा का अनुभव नही करता है।[1] डा० राममनोहर लोहिया, गांधीवाद के अतर एव बाह्य, सार एव गोण तत्वो का विभेद करते थे। उनके अनुसार चरखा, प्राकृतिक चिकित्सा आदि का सामयिक महत्त्व है, जिसे परिस्थिति के परिवर्तन के साथ बदलना अनिवार्य है। जैसे-जैसे मानव के मस्तिष्क का विकास होता जाता है, वह सरल से जटिल अभियन्त्रो का (Tools) व्यवहार करने लगता है। अत विज्ञान के विकास के साथ-साथ हमारे औजार या साधन भी बदलने चाहिए। परतु गांधीवाद का सार तत्त्व सर्दैव ग्रहणीय है।[2]

लोहिया गांधी के सत्याग्रह पर ही अधिक बल देते हैं। वे यह मानते है कि जबतक समाज मे शोषण और अन्याय है, तबतक इसमे सत्याग्रह की आवश्यकता है अन्यथा बदूक या गोली के प्राबल्य को कोई रोक नही सकता।[3] परन्तु वे इस बात पर खेद प्रकट करते है कि न तो सरकारी गांधीवाद और न मठाधीश गांधीवाद[4] सामाजिक एव आर्थिक अन्याय जैसे, जातिप्रथा, पूँजीवाद, बढते हुए मूल्य, इत्यादि के विरुद्ध सत्याग्रह का प्रयोग कर सका। उनका यह दावा है कि केवल समोपा ही एक ऐसी पार्टी है जो अन्याय के विरुद्ध सघर्ष करती रही है।[5]

---

1 *Ibid*, p 130

2 "This essence is not too desirable when, once the outer covering around it is cast away The ephemeral and enduring were so closely interwoven in Gandhiji that only a man assured of eternal life could have risked it He thought probably that his loving disciples would continue the enduring in his doctrine and adorn it with ephemerals that change according to requirements the Spinning wheel is ephemeral and so is nature cure sectional '—*Ibid*, (Preface), p 13

3 "Satyagrah as a weapon will prevail as long as injustice and oppress prevail, and it should prevail because if it does not, the gun or bullet will prevail"—*Ibid*, p 127

4 *Ibid*, p 43

5 *Ibid*, p 44

डॉ० लोहिया सत्य मे विश्वास करते थे, परतु उनके अनुसार सत्य न तो निरपेक्ष है और न वह समन्वयात्मक ही है। सत्य के एक छोर पर "हाँ" और दूसरे छोर पर "ना" विराजमान रहता है। इन दोनों के बीच अनत 'हाँ' और 'ना' होते हैं।[1] अत सत्य अनेक है। गांधी के सत्य, अहिंसा, अतर्नाद इत्यादि को भी वे तत्त्वमीमासीय दृष्टि मे एक तत्त्व का बोधक नहीं मानते हैं। हाँ, नैतिकता की दृष्टि मे ये सभी एक अवश्य हैं। अत गांधी को लोहिया 'दार्शनिक-उदारवादी' (Philosophical liberal) तथा बहुत्ववादी मानते थे। वे कहते थे —"गांधी वस्तुत दार्शनिक उदारवादी थे। जिसे उन्होंने ईश्वर या सत्य या अहिंसा या अतर्नाद कहा, वे तात्त्विक दृष्टि मे मुश्किल से अद्वैतवादी कहे जा सकते हैं, भले वे नैतिक अर्थ में वैसा हो। यह गांधी के लिए सदेहप्रद है कि निरपेक्ष चाहे वह प्रत्ययवादी सिद्धात हो या भौतिकवादी—विश्व मे व्याप्त है। वे एक बहुत्ववादी विचारक थे तथा अनत कारण-कार्य की शृ खलाओ से परिचित थे। वे किसी परिस्थिति की सभी सभावनाओं, कारण एव कार्यों पर विचार करते थे और केवल न्याय, स्वतन्त्रता या अहिंसा या जन-कल्याण के सिवा उनके विचार मे कोई दूसरा पूर्ण समावेष्टित करने योग्य समत्ववाद नहीं था।"[2]

---

1 "Truth was a line at one end of which stood "yes" and at the other "no" and the intervening space consisted of varying shades of "yes" and "no" —*Ibid*, p 19

2 "Gandhi in fact was a philosophical liberal What he called God or Truth or non-violence or innervoice was hardly single substance, metaphysically speaking, that may have been so in an ethical sense It is doubtful if, to Gandhi the absolute either as idealist or materialist principle filled the world He was a pluralist well aware of plural causes and effects He considered the all possibilities, causes and affects of a situation and except or the criterion of Justice or freedom, non-violence or people's welfare There was no all enveloping monism in his thought"—*Ibid*, (Preface), p 23

डॉ० राममनोहर लोहिया गांधी की नीति में कई प्रकार के दोषों को पाते थे तथा उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते थे। उनके अनुसार गांधी मानव के शारीरिक एवं आर्थिक[1] जीवन पर वांछित महत्व नहीं देते हैं। वे केवल व्यक्ति को ही प्रधानता देते हैं, वातावरण[2] उनके लिए गौण है। उनका प्रयास अन्यायियों के हृदय परिवर्तन के लिये होता है, परन्तु विशाल जन-समुदाय के हृदय का परिवर्तन नहीं हो पाता है।[3] अतः, लोहिया मानव के आर्थिक जीवन, वातावरण एवं जन-समूह के हृदय परिवर्तन पर भी समान रूप से महत्त्व देते थे।

सच तो यह है कि डॉ० राममनोहर लोहिया ने गांधी विचार के निषेधात्मक पक्ष को ही प्रकाश में लाकर गांधी विचार को बढ़ाया है। गांधी का भावात्मक एवं रचनात्मक पक्ष उनके विचार से गौण पड़ जाता है। अतः, गांधीवाद के समग्र रूप को लोहिया नहीं रख पाते हैं। वास्तव में अन्याय के प्रति प्रतिकार गांधी के लिए समसामयिक समस्या थी। किंतु इसके पीछे उनका भावात्मक लक्ष्य था—जनशक्ति का उत्थान। इसलिए एक ओर उन्होंने अँग्रेजी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष तथा दूसरी ओर रचनात्मक कार्यक्रम को देश के सामने रखा। केवल अन्याय से मुक्ति में ही जन-कल्याण की इतिश्री नहीं है। यह तो मानवता के प्रस्फुटित होने की आरोहण शिला है। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व भावात्मक शक्ति का सर्जन है। विरोधी दृष्टि से प्रतिपक्षियों की शक्ति क्षीण हो या नहीं परन्तु विरोधी का मानसिक संतुलन अवश्य ही समाप्त हो जाता है। अतः उसकी समुचित शक्ति जग नहीं पाती है। परन्तु भावात्मक रूप से अपनी शक्ति जगाने पर प्रतिपक्षियों के अन्याय को समाप्त करें या नहीं परन्तु अन्याय के प्रभाव को मिटाने की शक्ति अवश्य आ जाती है। हम यह नहीं कहते कि अन्याय का प्रतिकार नहीं होना चाहिए। हमारा आशय केवल इतना ही है कि नैतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक शक्ति के सर्जन में

---

1 *Ibid*, p 133

2 *Ibid*, p 133

3 "Gandhism is thus supposed to mean change of heart not of the millions who are oppressed but of the tens who oppress"—*Ibid*, p 426

अधिक बल देना चाहिए। अन्याय मिटने पर यह शक्ति स्वतः जगेगी या इस शक्ति के जगने पर अन्याय का मुकाबला हम सरलता से कर सकते हैं—यह प्रश्न वैसा ही है जैसा—पहले मुर्गी हुई या उसका अंडा ? परन्तु दोनो कार्यों को एक साथ लेने पर किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं है।

डॉ० लोहिया का यह कहना कि गांधी का सत्य निरपेक्ष सत्य नहीं है तथा वे बहुत्ववादी हैं, उचित नहीं। गाँधी ने स्पष्ट रूप से सत्य का अर्थ निरपेक्ष सत्य से लिया है जैसा आगे हम उनके तत्वमीमांसा के विचारो मे देखेगे। "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्" को तो वे मानते ही हैं। अतः वे निरपेक्ष अध्यात्मवादी तो हैं ही। हाँ, यह वे अवश्य मानते हैं कि निरपेक्ष सत्य का अनुभव हमें सापेक्ष सत्यों का अनुभव करते-करते होगा। अतः उनका बहुत्ववाद ऊपरी धरातल पर है। आधार में तो अद्वैतवाद ही है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि डॉ० राम मनोहर लोहिया जिस अंश तक गाँधीवादी तत्वों को ग्रहण करते हैं, वहाँ तक ठीक है। परन्तु गाधी की समग्र एवं समन्वयवादी दृष्टि को समझने में वे असफल हो जाते हैं। गाँधी ने सत्य को खंडित करके समझने का प्रयत्न किया ही नहीं। उनका सत्य समष्टिपूर्ण सत्य है।

(ख) सर्वोदय-विचार एवं संत विनोबा का गाँधीवाद राजनैतिक गाँधीवाद की तुलना में सर्वोदय-विचार गांधी-विचार का अधिक शुद्ध और सच्चा रूप माना जाता है, किन्तु इसे डॉ० राम मनोहर लोहिया व्यंग से "मठाधीश गाँधीवाद" कहते हैं। बापू की मृत्यु के पश्चात् सेवाग्राम-सम्मेलन में विनोबा के नेतृत्व में गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास करनेवाले शिष्यो ने 'सर्वोदय-समाज' की स्थापना की जिसका उद्देश्य गाधी के सत्य-अहिंसा के आधार पर देश की नई परिस्थितियो मे रचनात्मक कार्यक्रम को लागू करना था। इसके लिए अखिल भारत के स्तर पर एक संस्था का निर्माण हुआ जिसे 'सर्व-सेवा-संघ' कहते हैं। सर्वोदय-समाज मे विश्वास करने वालो ने राजनीति से अपने को अलग कर सेवा के कार्य में समर्पित किया। यह एक आध्यात्मिक भाई-चारा ही माना जाना चाहिए। इसमे कोई कठोर संगठन नहीं। इस विचार-धारा के कुछ प्रमुख चिंतक इस प्रकार हैं—

(क) संत विनोबा भावे (जन्म १८९५)

(ख) श्री किशोरीलाल घनश्यामलाल मशरूवाला (१८९०-१९५२)

(ग) श्री काका कालेलकर (जन्म १८८५)
(घ) ,, दादा धर्माधिकारी (जन्म १८९९)
(ङ) ,, धीरेंद्र मजुमदार (जन्म १८९९)
(च) ,, आचार्य कृपलानी (जन्म १८८८)
(छ) ,, डा० राजेन्द्र प्रसाद (१८८४-१९६३)
(ज) ,, जयप्रकाश नारायण (जन्म १९०२)
(झ) ,, शंकर राव देव (जन्म १८९५)
(ट) ,, डा० जे० सी० कुमारप्पा (१८९२-१९६०)

इन विचारकों ने गांधी विचार का सार उनके रचनात्मक कार्यक्रम में लिया तथा अपने अपने ढंग और अभिरुचि के अनुकूल गांधी के विचारों की व्याख्या, कार्यान्वयन एवं विस्तार किया। इन सभी विचारकों पर यहाँ पर हम अलग अलग विचार न करके केवल संत विनोबा के विचारों पर ही अपना ध्यान केंद्रित करेंगे, क्योंकि यही हमारा प्रतिपाद्य विषय है।

विनोबा और गांधीवाद आचार्य संत विनोबा भावे गांधीवाद के सच्चे प्रतिनिधि माने जाते हैं। इन्हें गांधी की आत्मा एवं गांधीवाद के सच्चे भाष्यकार[1] तथा गांधी का नैतिक एवं आध्यात्मिक[2] उत्तराधिकारी कहा गया है। प्रायः सभी गांधीवादी विचारक भी एकमत से यह स्वीकार करते हैं कि ये गांधीवाद के सच्चे व्याख्याता हैं। इसके साथ-साथ विनोबा एक मौलिक चिंतक भी हैं।[3] विनोबा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने गांधी के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों पहलुओं पर समान रूप से विचार किया है। सैद्धांतिक क्षेत्र में ये गांधी के विचारों की व्याख्या एवं स्पष्टीकरण शास्त्रीय ढंग से करते हैं तथा कहीं-कहीं पर गांधी की अहिंसा के आधार पर

---

१ दिवाकर प्रभाकर, "गांधी जीवन विषयक तत्वज्ञान के एकमात्र भाष्यकार विनोबा भावे", तुरक, निजामुद्दीन (सम्पा०) *विनोबा दर्शन*, (वर्धा, सर्वोदय प्रकाशन, १९४८) पृ० ५८ "यदि स्वर्गीय महादेव देसाई को गांधीजी के चित्रकार कहें तो विनोबा जी को गांधी जी के भाष्यकार कहना होगा। विनोबाजी को गांधी जी के प्रतिनिधि मानने पर भी, विनोबा के विचार उनके खुद के विचार हैं।"

2 Tondon, Vishwanath, *The Social And Political Philosophy of Sarvodaya After Gandhi* (Varanasi, Sarva Seva Sangh, 1965), p 4

3 *Ibid*., p 5

नई नई अवधारणाओं का भी निर्माण करते हैं। व्यावहारिक रूप से ये गांधी की अहिंसा का प्रयोग देश के नये आर्थिक राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में करते हैं जिसके परिणामस्वरूप भूदान, ग्रामदान, प्रखण्डदान, जिलादान एवं राज्यदान की धारणाएँ आती हैं गाँधीवाद को समुन्नत बनाने में इनकी अद्वितीय प्रतिभा एवं व्यक्तित्व का अपूर्व हाथ रहा है। साथ-साथ उन्होंने सर्वोदय आन्दोलन में सम्पत्तिदान, श्रमदान, बुद्धिदान, शान्ति-सेना, आचार्यकुल, आदि न जाने कितने आयाम खड़े किये हैं।

गाँधी की तरह विनोबा अपने विद्यार्थी-जीवन में सामान्य छात्र नहीं रहे हैं। बचपन से ही इनकी बुद्धि एवं तर्क शक्ति प्रखर रही है। गाँधी की भाँति उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत नहीं किया है। माता रुक्मिणी देवी की प्रेरणा से तथा अपने स्वाभाविक उद्गार के कारण इन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया है।[1] भौतिकवादी दृष्टि से विनोबा गाँधी की तरह विद्याग्रहण हेतु विदेश नहीं गये। इन्हें अंग्रेजी शिक्षा का शौक नहीं रहा।[2] वे प्राप्त प्रमाण पत्रों को भी जला कर तथा कालेज को छोड़ कर गृहत्याग के लिए प्रेरित हुए।[3] जहाँ गाँधी ने संकल्प शक्ति का प्रयोग कर मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने जीवन में सन्यास लाने की कोशिश की, वहाँ पर विनोबा में सन्यास स्वतः उद्भूत हो गया।[4] गाँधी मानवतावादी होने के साथ-ही-साथ व्यावहारिक दृष्टि से यश की भी कामना रखते थे[5] तथा सत्य के शोध का विषय समाज को मानते थे। परन्तु विनोबा गाँधी के शब्दों में ही 'कृतयुगी' हैं।[6] उन्हें किसी संस्था के दृढ़ संगठन में विश्वास नहीं है। किसी संस्था में पद को ग्रहण करना 'तुकाराम को किसी दफ्तर की जवाबदेही देने के समान है

1 Narayan, Sriman *Vinoba His Life and Work*, (Bombay, Popular Prakashan, 1970), p 25

2 *Ibid*, p 25

3 *Ibid*, p 31

4 Tennyson, Hallam *Saint on the March The Story of Vinoba*, (London Victor Gollanz Ltd 1955), p 214

5 Rolland, Romain, *Mahatma Gandhi* (New Delhi, Government of India Publication, 1969), p 15

6 Narayan, Sriman, *Vinoba His Life and Work*, (1970), p 108

मानते हैं।'[1] वे निष्काम सेवा के आदी हैं। समाज-शुद्धि के लिए जीवन-शुद्धि तथा जीवन को शून्य में परिणत करने में उनकी दृढ आस्था है।

गांधी के जीवन में न जाने कितनी ही सांसारिक दुर्बलताओं के दर्शन होते हैं। जैसे बीड़ी पीना, चुपके से मांस खाने का अभ्यास करना, कुछ सोने के द्रव्य को चुराकर बेच डालना,[2] पिता के बीमार रहने पर भी पत्नी के पास काम-वासना से वश कर चिपके रहना,[3] इत्यादि। किंतु यह भी सही है कि पूर्वजों की कुलीनता एवं सत्य में दृढ विश्वास रहने के कारण वे इन बुरी आदतों पर विजय प्राप्त करते गये। परंतु विनोबा के जीवन में इन बुराइयों का तनिक भी स्थान नहीं रहा है। उनके चरित्र पर उनकी माँ एवं पिता की गंभीर छाप है। जब कभी विद्यार्थी जीवन में शाम को वे देर कर पहुंचते हैं तो उनके परिवार के लोग यह अनुमान कर लेते हैं कि वे पुस्तकों, एवं पत्रिकाओं के अध्ययन तथा वाद-विवाद में तल्लीन हो गये होंगे। जिस प्रकार गांधी को सत्य में दृढ आस्था थी उसी प्रकार विनोबा को भी ब्रह्म, आध्यात्मिकता, एवं अपने को सब भांति से शून्य में परिणत करने के प्रति आस्था है।

गांधी का संबंध संपूर्ण जीवन में तरह-तरह की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान से था। उनकी बुद्धि आध्यात्मिक रहते हुए भी व्यावहारिक थी। उन्हें अनेक प्रकार के बड़े-बड़े राजनैतिक नेताओं का संपर्क एवं प्रभाव प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त गीता, बाइबिल, रस्किन की पुस्तक "अनटू दिस लास्ट" तथा अमेरिकन विचारक थूरो के सिविल-डिसओबिडियेंस ने उन्हें काफी प्रभावित किया। परंतु संस्कृत के अच्छे ज्ञान के अभाव में हिन्दू-दर्शन की सूक्ष्मता एवं गहराई में प्रवेश करने का सुअवसर उन्हें नहीं मिला। यद्यपि वैष्णव परिवार में जन्म लेने तथा माता की धर्म-निष्ठा के कारण उनकी वृत्ति धार्मिक बनी, परंतु वे विशेष रूप से संत-महापुरुषों के संपर्क में नहीं आ सके। उन्हें किसी संत के आश्रम में रहने का भी मौका नहीं मिला। विनोबा महाराष्ट्र के संत

1 *Ibid*, p 28

2 Tendulkar, D G, *Mahatma Life of Mohan Das Karam Chand Gandhi*, (Bombay, Vithalbhai K, Jhaveri D G Tendulkar, 1951), 8 volumes, Vol I p 31

3 *The Selected works of Mahatma Gandhi*, (An Autobiography) (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1968), 6 Vols, Vol I, p 43

नामदेव, एकनाथ, ज्ञानदेव, तुकाराम, तथा समर्थ गुरु रामदास तथा महापुरुष रानाडे, लोकमान्य तिलक तथा गोखले के विचारो के काफी सपर्क मे आये। इन विचारो के प्रति उनकी अभिरुचि बचपन से ही रही है। जगद्गुरु शकराचार्य के विचारो ने इनके तार्किक चित्त को सर्वाधिक समाधान दिया है।[१] वेद, उपनिषद्, पुराण, गीता, वेदात, सास्य, न्यायसूत्र, याज्ञवल्क्य-स्मृति, तथा पातजल-योग शास्त्र का इन्होने गहराई से अध्ययन किया है।[२] इनके अतिरिक्त कुरान, धम्मपद, नामधर्म, नामघोषा, लाओत्से, कनफ्यूशियस इत्यादि के विचारो का गहराई से अध्ययन ही नही किया बल्कि उन पर पुस्तकें भी लिखीं। अपने पिता की विज्ञाननिष्ठा एव शिष्टाचार ने तो इन्हें काफी प्रभावित किया ही,[३] इन्होने कई आधुनिक वैज्ञानिक पुस्तकें जैसे, जेम्स जीन्स का 'दी मिस्टीरियस युनिवर्स', [४] समाजशास्त्रीय पुस्तक टाल्स्टाय का 'स्लेवरी आफ आवर टाइम्स,[५] पढी एव उनसे काफी प्रभावित हुए। कार्ल मार्क्स का वितर्कवाद, डार्विन का विकासवाद, आइस्टीन का सापेक्षवाद तथा श्री अरविंद के अतिमानस सिद्धान्त का भी उनपर गहरा प्रभाव पडा।[६] इन्होने भारत की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओ के अध्ययन के अतिरिक्त, जर्मन, अग्रेजी तथा फ्रेंच आदि कई भाषाओ का भी अध्ययन किया है। अत विचारो की अभिव्यक्तियो मे उन्हें किसी प्रकार की भाषीय कठिनाई या अस्पष्टता का शिकार नहीं होना पडा है। सस्कृत एव मराठी के गहरे अध्ययन से इनके चिन्तन को पर्याप्त लाभ पहुँचा है। सबसे बडी बात तो यह है कि इन्हें गाँधी जैसे महात्मा के समीप मे जीवन के अधिकाश भागो को व्यतीत करने का सुअवसर मिला है। गाँधी के समय मे इन्हें व्यावहारिक या राजनैतिक समस्याओ से जूझने का बहुत कम मौका मिला था।[७] अधिकाश समय इन्होने अध्ययन, अध्यापन, मनन, आश्रम-सचालन, खादी,

१ विनोबा-चिंतन (अक २०-२२, १९६७), पृ० ३३०

2 Narayan Sriman, *Vinoba His Life And Work*, (1970), p 46

३ उपरिवत्, पृ० १४

४ विनोबा, साम्यसूत्र, (वाराणसी, सर्व-सेवा-सघ प्रकाशन, १९६८), पृ० ३२-

५ उपरिवत्, पृ० ९८

६ उपरिवत्, पृ० ४१-४२

7 "He is not like Gandhi, a politician saint, but a saint temporarily on the fringe of politics"—Tennyson, Hallam, *Saint on the March, The Story of Vinoba*, p 213.

काचनमुक्ति, भंगी-मुक्ति इत्यादि जैसे प्रयोगो मे निस्पृह भाव से व्यतीत किया है। इसलिए जहाँ हम गांधी को द्रष्टा तथा सदेशवाहक कह सकते है, वहाँ विनोबा को द्रष्टा के साथ-ही-साथ मुनि (मनन करने वाला) भी कह सकते हैं।[१] इनमे भाषीय चमत्कार एव वैज्ञानिकता भी आयी है।

विनोबा के व्यक्तित्व मे शकराचार्य की सात्विकता, महात्मा बुद्ध की करुणा[२], ज्ञानदेव की भाव प्रवणता[३] तथा गांधी के कार्य-कौशल का अद्भुत समन्वय है। इनकी अद्भुत प्रतिभा एव आध्यात्मिकता पर गांधी को गर्व था। इसीलिए तो उन्होने १९१७ मे सी० एफ० ऐन्ड्रूज से विनोबा का परिचय देते हुए कहा था ये ऐसी विभूतियो मे से हैं जो आश्रम से वरदान पाने नही बल्कि वरदान देने के लिए आते है।[४] इसीलिए तो उनके पिता को पत्र लिखते हुए १९१६ मे गांधी ने कहा "उन्होने अपनी इस नाजुक अवस्था मे ही आध्यात्मिकता एव सन्यास की इस ऊँचाई को प्राप्त किया है जिसे प्राप्त करने मे मुझे वर्षों का कठिन परिश्रम लगा।"[५] इसीलिए तो विनोबा के १० फरवरी, १९१८ के पत्र को देख कर उन्होंने यह भाव प्रकट किया 'वे (विनोबा) भीम हैं, वे गोरखनाथ है, जिन्होने अपने गुरु मच्छन्दर नाथ को भी मात कर दिया।[६] पत्र का उत्तर देते हुए उन्होने लिखा मैं नही जानता हूँ कि तुम्हें मैं किन शब्दो मे तारीफ करूँ। तुम्हारा प्रेम, चरित्र एव आत्म विश्लेषण मुझे मुग्ध करता है। मैं तुम्हारी योग्यता मापने योग्य नही हूँ। मैं तुम्हारे ही द्वारा निर्धारित मूल्य को स्वीकार करता हूँ तथा तुम्हारे पिता का पद ग्रहण करता हूँ।"[७] शायद इसी अद्भुत क्षमता एव प्रतिभा को देखकर उन्होने १९४० मे नेहरू को प्रथम सत्याग्रही नही बनाकर सत विनोबा को बनाया।

---

१ धीरेन्द्र मजूमदार से साक्षात्कार से प्राप्त-दिनाक २९-६-१९६९, स्थान शाति कुटीर, सर्व-सेवा-सघ, वाराणसी।

2 Narayan, Sriman, *Vinoba His Life and Work*, p 50

3 विनोबा चिंतन (अक २०-२१), पृ० २८२

4 Narayan, Sriman, *Vinoba His Life and Work* (1970), *op cit*, p 4

५ उपरिवत्, पृ० ८

६ उपरिवत्, पृ० ५१

७ उपरिवत्, पृ० १

फिर गांधी की तरह विनोबा के व्यक्तित्व मे भी शांति एव क्रान्ति का अद्भुत समन्वय है। इसीलिए गृह-त्याग के बाद बनारस मे जब विनोबा को गांधी के प्रथम दर्शन हुए तो उन्हे हिमालय की शान्ति एव तत्कालीन बगाल के राष्ट्रीय क्रांति दोनो का अद्भुत सयोग मिला।[१] अत उन्होने हिमालय एव बगाल जाने का रास्ता छोड दिया। गांधी के व्यक्तित्व के समान विनोबा का व्यक्तित्व भी विचार के क्षेत्र मे नित्य नूतनता एव विकासशीलता से परिपूर्ण है तथा कार्य के क्षेत्र मे दृढ सकल्पवान। अत महादेव देसाई ने लिखा है कि विनोबा की सारी विशेषताएँ गांधी के अन्य शिष्यो मे भी थोडी-बहुत मात्रा मे हैं, परन्तु उनकी दो विशेषताएँ निर्णय लेने के साथ ही उसे काय मे परिणत करना एव सतत् विकासशील रहना, गाधी के बाद विनोबा मे ही वर्त्तमान हैं।[२]

गांधी की तरह विनोबा नित्य डायरी लिखना पसद नही करते।[३] वे पुरानी स्मृतियो के भार से मन को मुक्त रखना चाहते है तथा नये-नये विचारो के पनपने के लिए इसे आवश्यक मानते हैं। किसी भी प्रकार के विचार या आचार के लादने की प्रवृत्ति उनमे नही है। वे हर व्यक्ति के विचार एव आचार को उचित सम्मान देते हैं। इसीलिए स्वय सन्यासी होते हुए भी अपने छोटे भाई बालकोबा ने जब अपनी शादी के सबध मे उनके मत जानने की अपेक्षा की तो उन्होने इच्छा रहने पर अच्छी शादी कराने का आश्वासन दिया।[४] आत्मा की अमरता[५] तथा ईश्वर की सत्ता मे उन्हे गांधी की ही तरह अटूट विश्वास है। परन्तु ईश्वर के बाद यदि कोई चीज उन्हें प्रिय है तो वह है गणित[६] या विज्ञान जो शायद गांधी मे नही था।

विनोबा की इन सभी विशेषताओ का अमिट प्रभाव इनके विचार पर पडा है। उन्होने गांधी को, न केवल उनके कार्यों एव विचारो या कथनो के आधार पर ही समझने का प्रयास किया है, बल्कि उनकी आत्मा एव हृदय को भी पहचाना है। शायद इसीलिए वे केवल गांधी के कथित विचारो का शास्त्रीय ढग से

१ उपरिवत्, पृ० ३६
२ उपरिवत्, पृ० ६८
३ भावे, विनोबा, 'नवो नवो भवति जायमान' गांधी-मार्ग, (हिन्दी) (अक १, १९७०), पृ० ३
4 Narayan, Sriman , *Vinoba His Life and Work*, p 63
६ उपरिवत्, पृ० ४०
७ उपरिवत्, पृ० २४

विवेचन ही नही करते तथा उनके द्वारा बतलाये गये रचनात्मक कार्यक्रमो को ही नही प्रस्तुत करते, बल्कि नई-नई परस्थितियो म नये नये विचारो एव धारणाओ का भी विकास करते हैं, उन्हे गाँधी, यदि जिन्दा होते तो सहर्ष मान्य करते। इसीलिए विनोबा के जो विचार हैं, वे गाँधी के ही विचार हैं। भाषा, चिंतन, एव शैली विनोबा की है। शायद इसीलिए तो काका कालेल्कर, आचार्य कृपलानी, मशरवाला, तथा राजगोपालाचारी ने एक स्वर से विनोबा को गाँधी विचार का सबसे बड़ा प्रवक्ता माना।[१]

इस भूमिका के साथ हम देखना है कि गांधीवाद को विनोबा की क्या देन है? हमारा यह अध्ययन विशेष रूप से दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया जा रहा है। अत हम आगे के अध्यायो में गाँधी और विनोबा की भिन्न भिन्न दार्शनिक अवधारणाओ पर प्रकाश डाल कर यह देखेंगे कि उन विचारो के क्षेत्र म विनोबा की क्या देन है?



---

1 (a) "Vinoba Bhave represents the high water mark of the Gandhian way of life and the Gandhian technique of rebuilding society" —Kaka Kalelkar Quoted from Vishwanath Tondon's *The Social and Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhi*, p 5

(b) "He is great exponent of Gandhian Philosophy —Acharya Kripalani Quoted from Vishwanath Tondon's *Ibid*, p 5

(c) 'He has understood best the principles of Bapu' K G Masharuwala Quoted from Vishwanath Tondon's, *Ibid* p 5

(d) "He is as gentle as angel, whose soaring spirit has reached the height of scholarship, philosophy and religion" —C Rajagopalachari—Quoted from Shriman Narayan's *Vinoba His Life and Work*, p 4

द्वितीय अध्याय



ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान-मीमांसा

खंड—'अ' गाँधी-विचार

१ विषय प्रवेश

गाँधीवादी सिद्धांतों को भली भाँति समझने के लिए इनके ज्ञान मीमांसीय विचारों का ज्ञान अपेक्षित है। पश्चिमी अनुभववादी दार्शनिक जॉन-लॉक ने ठीक ही तत्त्व-मीमांसीय प्रश्नों के पूर्व ज्ञान-मीमांसा के प्रश्नों को प्राथमिकता दी थी। गाँधीवादी सिद्धांत चाहे वह तत्त्व मीमांसा का सिद्धांत हो या नीति-शास्त्र का अथवा समाजशास्त्र का, व्यापक रूप से विचार करने पर उसे हम ज्ञान की समस्या से पृथक नहीं मान सकते। यदि वह ज्ञान से स्वतन्त्र नहीं है तो ज्ञान-मीमांसा के सिद्धांत पर पहले विचार किए बिना उसका समुचित ज्ञान हम नहीं मिल सकता। ईश्वर, जगत् और आत्मा जैसी तात्त्विक, सत्य अहिंसा आदि नैतिक एवं सत्याग्रह जैसी समाज-परिवर्तन की धारणाओं को समझने के लिए पहले ज्ञान का स्वरूप, उसकी सीमा, सत्यता एवं उसके साधन आदि समस्याओं पर विचार कर लेना अनिवार्य है।

परंतु कर्मयोगी एवं समाज सुधारक गाँधी के चिंतन में ज्ञान संबंधी सिद्धांत की भी खोज हुई है, यह सामान्य गाँधी-दर्शन के पाठकों के लिए अबोधगम्य मालूम पड़ सकता है। यह भले ही कहा जा सकता है कि गाँधी ने ज्ञान-संबंधी समस्याओं पर अलग से विस्तार से विचार नहीं किया है, क्योंकि इसमें उनकी अभिरुचि नहीं रही है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके दर्शन में ज्ञान मीमांसा का विचार है ही नहीं। डा० आर० आर० दिवाकर ने ठीक ही कहा है ऐसी बात नहीं है कि उनके चिंतन में मूल तत्त्व के स्वरूप एवं ज्ञान-सिद्धांत बाहरी वस्तु है, बल्कि यह बात है कि उन विषयों पर उन्होंने

विस्तार से नहीं लिखा है।[1] हम गांधी के वचनो एव कार्यों के आधार पर उनके ज्ञान सिद्धात का सृजन कर सकते हैं। अतएव, गांधी की ज्ञान मीमासा पर हम यहाँ थोडा विचार करेंगे।

२ ज्ञान-मीमासा का अर्थ

ज्ञान मीमासा भारतीय दर्शन मे मुख्यत प्रमाण विज्ञान के रूप मे समझी जाती है। प्रमाण का सबध प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति एव प्रमाण चारो मे है। साथ-साथ प्रामाण्य सिद्धात भी इसका एक विशेष अग है। अत ज्ञान मीमासा मे ज्ञान की उत्पत्ति, रचना, पद्धति एव उसकी यथार्थता की खोज की जाती है।[2]

तत्त्व मीमासा विश्व की चरम सत्ता का स्वरूप निर्धारित करती है, परतु इससे भिन्न ज्ञान-मीमासा मे ज्ञान के स्वरूप का ही निर्धारण होता है, जिसके द्वारा हम चरम सत्ता का ज्ञान प्राप्त करते है। तर्कशास्त्र अपना सबध केवल अनुमित ज्ञान से ही रखता है परतु ज्ञान मीमासा समस्त ज्ञान के स्वरूप एव सत्यता का चिंतन एव विश्लेषण करती है।[3] मनोविज्ञान चेतन एव अचेतन क्रियाओ के वर्णन एव व्यवस्था से ही सबध रखता है परतु ज्ञान मीमासा मे उन सभी परिस्थितियो की भी चर्चा होती है जिनमे चेतन या अचेतन क्रियाएँ होती हैं।

ज्ञान मीमासा की मुख्य समस्याएँ हैं—ज्ञान की सभाव्यता, सीमा, उत्पत्ति, पद्धति, प्रकार, ज्ञान-परिस्थिति की रचना तथा सत्यता के निरूपण की समस्या। अर्थात्, यह इन प्रश्नो पर विचार करती है—यथार्थ ज्ञान सभव है या नही ? यदि वह सभव है तो उसकी सीमा क्या है ? ज्ञान के बीज-तत्त्वो की उत्पत्ति कैसे होती है ? सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने की पद्धतियाँ क्या हैं ? फिर

---

1 "Not that the nature of being, the theory of knowledge are foreign to his thinking, but he does not elaborate very much on those subjects— Diwakar, R R, *Gandhi A Practical Philosopher* (Bombay, Bharatiya Vidya Bhavan, 1965), P 25

2 Runes, Dagobert D, (ed) *Dictionary of Philosophy*, (New Yark, Philosophical Library, 1960), P 94

3 *Ibid*, P 94

ज्ञान के कितने प्रकार हो सकते हैं ? किन परिस्थितियों में ज्ञान की रचना सम्भव है ? सत्यता के मापदण्ड क्या हैं ? इत्यादि । इन प्रश्नों के उत्तर पश्चिमी दर्शन में भिन्न-भिन्न रूप में दिये गये हैं, जिनमें ज्ञेयवाद, अज्ञेयवाद, सन्देहवाद, प्रत्ययवाद, बुद्धिवाद, अनुभववाद, समीक्षावाद, वस्तुवाद, प्रतिनिधित्ववाद इत्यादि प्रमुख हैं ।

अब हम इन सभी समस्याओं को सामने रखते हुए पहले गाँधी की ज्ञान-मीमांसा पर विचार करेंगे । इसके बाद विनोबा के ज्ञान-सिद्धान्तों की चर्चा अलग से कर अंत में यह विचार करेंगे कि गाँधी के विचारों में विनोबा का क्या योगदान रहा है ।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि गाँधी ने ज्ञान-मीमांसा के प्रश्नों को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत नहीं किया है, क्योंकि उनकी रचना एवं उनके जीवन का यह आवश्यक अंग नहीं रहा । फिर भी उनके कथनों एवं उनकी रचनाओं में ये उत्तर अस्पष्ट रूप से ही सही, लेकिन बिखरे हुए अवश्य हैं। हाँ, कहीं-कहीं पर उन्होंने स्पष्ट रूप में भी इन समस्याओं पर चर्चा की है। यहाँ हम उन्हीं बिखरे हुए कथनों के आधार पर क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित कर उन्हें रखने का प्रयास करेंगे ।

२ ज्ञान का स्वरूप

गाँधी के ज्ञान-विचार अधिकांशतः गीता पर आधारित हैं । गीता में अध्यात्म-ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है । "अध्यात्म-विद्या विद्यानाम्"। ऐसे ज्ञान से ही मुक्ति की अपेक्षा की जा सकती है । उपनिषदों में भी यही कहा गया है कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होगी । "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति "। कारण स्पष्ट है । भारतीय दर्शन ज्ञान को कर्म से अलग कर कभी नहीं देखता । यहाँ ज्ञान का सम्बन्ध जीवन के उत्थान से है । गाँधी ज्ञान को बुद्धि-विलास नहीं समझते हैं, क्योंकि उनके अनुसार मनुष्य का जैसा ज्ञान होता है, उसीके अनुरूप उसकी क्रिया होती है । जैसा वह चिंतन करता है, वैसा वह स्वयं बन जाता है ।[1] यूनानी दार्शनिक सुकरात ने भी 'ज्ञान ही सद्गुण हैं' को स्वीकार किया था । अतः गाँधी के अनुसार ज्ञान से नैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है तथा अन्ततः

---

1 "A man is but the product of his thought, what he thinks, he becomes "—Bose, N K , *Selections From Gandhi* — (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1950), P 241

व्यक्ति और समाज को मुक्ति मिलती है।[1] इसलिए उनके अनुसार ज्ञान नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है।[2]

पश्चिमी दर्शन में बुद्धिवादियों, अनुभववादियों एवं समीक्षावादियों ने ज्ञान को वाक्यों द्वारा निष्पन्न माना है। अतः सही ज्ञान के लिए उन प्रत्ययों की स्पष्टता पर वे काफी जोर देते हैं, जिनसे वाक्यों का निर्माण होता है। परन्तु गांधी यथार्थ ज्ञान के लिए विचार की प्रधानता पर बल देते हैं। शब्द या कथन की स्पष्टता पर उतना बल नहीं देते जितना देना चाहिए। उन्होंने कहा है—"मैं लिखे हुए या कहे हुए शब्दों की अपेक्षा विचार-शक्ति में अधिक विश्वास करता हूँ।"[3] यहाँ गांधी भाषा-विश्लेषणवादियों की तरह दीखते हैं, क्योंकि भाषा-विश्लेषणवादियों ने भी विचारों की स्पष्टता पर विशेष बल दिया है। परंतु गांधी का भाषा-विश्लेषणवादियों से मतभेद है। भाषा विश्लेषणवादी यह मानते हैं कि विचारों या धारणाओं की स्पष्टता शब्दों तथा वाक्यों के विश्लेषण एवं उचित प्रयोग से ही संभव है। शायद गांधी को ऐसा विश्वास नहीं है। भारतीय दार्शनिक ज्ञान का अर्थ दृष्टि में लेते हैं। यद्यपि कुछ दर्शनों में ज्ञान के बाह्य रूपों पर भी विचार हुआ है, परन्तु प्रधानता दृष्टि की ही रही है। गांधी ने भी ज्ञान के महत्त्व को उसकी शक्ति या गुण के आधार पर स्वीकार किया है, न कि उन बाह्य माध्यमों के आधार पर जिनके द्वारा वह अभिव्यक्त होता है। कभी कभी हमारे अन्तर्गत सूझ आती है और उन्हें स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करने में हम असमर्थ हो जाते हैं, फिर भी वह ज्ञान के अन्तर्गत आता है। केवल उस सूझ को जीवन के लिए श्रेयस्कर होना चाहिए।

पश्चिमी दार्शनिक ज्ञान को खंडित कर देखते हैं। उनकी पद्धति विश्लेषात्मक है। बुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान का स्वरूप बौद्धिक, अनुभववादियों के अनुसार आनुभविक तथा समीक्षावादियों के अनुसार ज्ञान में बुद्धि और

---

1 It is knowledge that ultimately gives salvation,"—Sen, N B, (ed) *Wit and Wisdom of Mahatma Gandhi* (New Delhi, New Book Society of India, N D), P 39

2 Datta D M, *The Philosophy of Mahatma Gandhi*, (University of Calcutta 1968, 2nd ed), P 84

3 "I believe in thought power more than in the power of the word written or spoken" *Young India*, (17 9 1925), p 320

अनुभव दोनो के तत्त्व विद्यमान होते हैं। परन्तु इन विचारो मे भावो, संवेगो एव संकल्पो के तत्त्व को ज्ञान मे अलग रखा गया है। गाधी के अनुसार मनुष्य शरीर मात्र नही है। उसमे चेतना, बुद्धि, अन्तरात्मा, संकल्प तथा संवेग सभी विराजमान हैं। उसमे वे सभी शक्तियाँ अविकसित रूप मे रहती हैं, जो आत्मा मे पायी जाती हैं।[1] आत्मा मे सभी शक्तियाँ अखंड रूप से विद्यमान रहती हैं। मनुष्य जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त करता है, उसका स्वरूप समग्रात्मक है। अतएव ज्ञान न तो मात्र बुद्धि और न मात्र अनुभव तक ही सीमित है, इसमे अनुभव, बुद्धि, भाव एव संकल्प सभी के अंश विद्यमान होते हैं।

गाधी का ज्ञान-संबंधी यह विचार बर्गसा, ब्रैडले तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिक युग एव एडलर के विचारो मे भी मिलता है। इन विचारको ने ऐसा स्वीकारा है कि यद्यपि बुद्धि ज्ञान की प्राप्ति मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, परन्तु उसकी शक्ति बहुत ही सीमित है। उन सीमित शक्तियो से जीवन की प्रगतिशीलता को समृद्धशालिनी नही बनाया जा सकता। मानव जीवन गतिशील है। यह भौतिक एव आध्यात्मिक शक्तियो पर विजय प्राप्त करना चाहता है। बुद्धि ऐसे कार्यों मे केवल दिशा निर्देशन कर सकती है। परन्तु उसम जीवन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमे इन्द्रियानुभव, बुद्धि आदि से ऊपर उठ कर अत अनुभूति की शरण लेनी पड़ती है। अत आज का दर्शन सत्य को समझने के लिए अत अनुभूति की आवश्यकता को स्वीकारता है। डा० राधाकृष्णन् ने भी अपनी पुस्तक दी आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ एव रेन आफ रेलिजियन इन कन्टेम्प्रोरी फिलासोफी मे अत अनुभूति के स्वरूप एव सत्य के समझने मे उसकी आवश्यकता पर काफी प्रकाश डाला है। अन्य भारतीय दार्शनिक भी सत्य को समझने के लिए अत अनुभूति को ही सवश्रेष्ठ ज्ञान मानते हैं।

गाधी बुद्धिवाद की परपरा को नही, बल्कि अत अनुभूतिवाद की परपरा को ही स्वीकार करते हैं। यह ठीक है कि वे सभी प्रकार के ज्ञान, विश्वास, श्रद्धा, धर्म एव रहस्यात्मक अनुभूतियो को अनुभव एव बुद्धि की कसौटी पर कसते हैं तथा नैतिक दृष्टि से उनकी उपयोगिता को जाच करते हैं। ऐसा करने से अन्ध-विश्वासो स मुक्ति तो मिलती ही है, कार्यों मे भी किसी प्रकार की शिथिलता नही आती है। हर घडी उन्हे सावधान रहना पडता है तथा

1 Datta, D M, *The Philosophy of Mahatma Gandhi*, p 67

जहाँ कहीं भी गलतियां होती हैं वे समूह के सामने स्वयं स्वीकार करते हैं।[1] परन्तु वे यह विश्वास करते हैं कि मात्र बुद्धि के आधार पर ज्ञान-सिद्धांत के निर्माण करने मे कोई भी लाभ नही है।[2] वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील जीवन के लिए गांधी के ज्ञान के इस स्वरूप की उपादेयता विचारणीय है।

गीता मे ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि एव आत्मा—ज्ञान के चार उपकरण माने गये हैं। आत्मा इन सभी मे श्रेष्ठ एव व्यापक है। अतएव सभी प्रकार के ज्ञान का अंतिम आधार आत्मा ही है। वास्तविक ज्ञान आत्मा के साक्षात्कार से ही प्राप्त होता है। इसके लिए त्याग, प्रेम एव दूसरो के दु खो को समझने की आवश्यकता पडती है।[3]

गाँधीवाद ज्ञान को श्रद्धा से अलग कर नही देखता है। पश्चिमी दर्शन मे श्रद्धा को ज्ञान से पूर्णत अलग रखा गया है, क्योंकि वहाँ पर ज्ञान का सबध केवल बुद्धि से है। गाँधी के ज्ञान-विचार का आधार गीता है। गीता मे जिस ज्ञान की चर्चा की गई है, वह मात्र बौद्धिक ज्ञान से ऊपर है। यहाँ पर ज्ञान का मुख्य सबध हृदय से है। इसलिए ज्ञान को बुद्धि से ही नहीं बल्कि हृदय से समझ सकते हैं।[4] हृदय मे सबध रखने के कारण ज्ञान को श्रद्धा से अलग नही

1 Diwakar, R R, *Gandhi A Practical Philosopher*, op cit p 18-19

2 "Knowledge was to be tested by experience and reason and mere a theory of knowledge was not going to be of much use"—*Ibid*, p 26

3 "The appeal of reason is more to the head but the penetration of the heart comes from suffering It opens up the inner understanding in man" —Bose, N K, *Selections From Gandhi*, op cit p 27

4 The Gita has sung the praises of knowledge, but it is beyond the intellect, it is essentially addressed to the heart and capable of being understood by the heart" —Desai, Mahadeo *Gita According to Gandhi*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House), 4th Impression, p 134

समझा जा सकता है। ज्ञान के लिए श्रद्धा आवश्यक है।[1] इसलिए कहा गया है "श्रद्धावाल्लभते ज्ञानम्।"

गांधी ज्ञान को विकासशील मानते है, क्योकि मनुष्य का स्वरूप ही विकासशील है। परंतु ज्ञान के विकास के लिए गांधी विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।[2] कठोर नैतिक साधना से गुजरने के बाद ही मनुष्य अन्तरात्मा की आवाज को सुनने योग्य हो सकता है, अन्यथा नही। इसकी चर्चा हम आगे अत अनुभूति के सबध मे विशेष रूप से करेंगे।

४ ज्ञान की सभाव्यता

ज्ञान की सभाव्यता के सबध मे गांधी का विचार ज्ञेयवाद, सदेहवाद एव अज्ञेयवाद तीनो सिद्धातो मे भिन्न है। यह न तो बुद्धिवादियो की भाति सपूर्ण ज्ञान को ज्ञेय मानता है और न अनुभववादी ह्यूम की भांति ज्ञान को सदेहपूर्ण मानता है। काट की भाति यह तत्त्व को अज्ञेय भी नही मानता है, क्योकि यह सत्य को परमार्थसत् (noumenon) तथा घटना (phenomenon) जैसे दो अलग-अलग खडो मे बाँट कर उनके बीच द्वैत खडा करना नही चाहता। रहस्यवादियो की तरह यह सपूर्ण ज्ञान को मात्र पारमार्थिक या आध्यात्मिक नही मानता। यह प्रत्यक्ष जगत् मे सबधित ज्ञान के शोध, पुनर्गठन, विकास एव उसके सशोधन मे विश्वास करता है। परतु रहस्यवाद सम्पूर्ण ज्ञान को पारमार्थिक एव अखड मानता है। उसमे दृश्यमान जगत् से सबधित ज्ञान मे सवर्धन, शोध, पुनर्गठन एव विकास के लिए स्थान नही रहता है।[3]

गांधीवाद एक विशेष अर्थ मे ज्ञान को असभाव्य एव सभाव्य मानता है। यह सत्य को दो दृष्टिकोणो से देखता है। सत्य एक अर्थ मे आधारिक सत्य है, जो अनेकताओ के मध्य एक, असीम, पूर्ण एव स्थायी है। इसे ईश्वर कहते हैं। इस

---

1 "Knowledge without devotion will be like a misfire" —Gandhi

2 "I can conceive the impossibility of people assimilating higher or subtler truth, unless they have gone preliminary training"—*Young India*, (27 8 1925), p 293

3 Prasad, M, *Social Philosophy of Mahatma Gandhi*, (Gorakhpur, Vishwavidyalaya Prakashan, 1958), p 9.

सत्य का ज्ञान हाड मांस के शरीर मे पूर्णता मे प्राप्त करना असभव है। वे कहते हैं—"जबतक हमलोग नश्वर शरीर के साथ आबद्ध रहेंगे, तबतक पूर्ण सत्य का ज्ञान प्राप्त करना असभव है। हम इस सत्य को केवल कल्पना मे ही देख सकते हैं। भौतिक शरीर के द्वारा शाश्वत सत्य का साक्षात्कार कभी भी नही किया जा सकता। इसीलिए अतिम रूप से हम विश्वास का सहारा लेना पडता है।"[१]

परतु सत्य के अनन्त पहलू हैं। इस प्रकार की बहुलता को गाँधी पसन्द करते हैं।[२] इस सबध मे उन्होने स्याद्वाद एव अनेकातवाद का उल्लेख स्वय किया है।[३] इस दृष्टि से मनुष्य सत्य का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परतु वह सत्य के विशेष पहलू या विशेष दृष्टिकोण से ही प्राप्त ज्ञान माना जाएगा। गाँधी स्वय कहते हैं "मेरा अनुभव ऐसा रहा है कि मैं अपने दृष्टिकोण से सत्य तथा अपने ईमानदार आलोचको के दृष्टिकोण से असत्य या गलत रहा हूँ। परन्तु मैं जानता हूँ कि हम दोनो अपने अपने दृष्टिकोण से सत्य हैं।" इस सदर्भ मे उन्होने छ अन्धे व्यक्तियो वाली कहानी को उद्धृत किया है।[४] उपर्युक्त कथनो के आधार पर यही कहा जा सकता है कि ज्ञान की सभाव्यता के दृष्टिकोण से गाँधी आशिक सत्य के ज्ञान मे विश्वास करते हैं जिसे हम आशिक

---

1 (a) Bose, N K, *Selections From Gandhi*, op cit p 8

(b) Finite human beings shall never know in its fulness Truth and love which is itself infinite" —Gandhi, M K, *Unseen Power*, (ed,) Chandar, Jaipravesh (Ahmedabad Navajivan Publishing House, 1944) p 42

(c) "Truth belongs to God and Ideas belong to men and we cannot be certain that our ideas have assimilated the whole truth —Radhakrishnan, S, 'Mahatma Gandhi" *Facets of Gandhi* (ed) Ahluwalia, B K, (New Delhi, Laxmi Book Store, 1968), p 3

2 *Young India*, (27 9 1926), P 30

3 *Ibid* P 30

4 *Ibid*, P 30

ज्ञेयवाद अथवा जैनियो की भाषा म स्याद्वाद की सज्ञा दे सकते है । महादेव प्रसाद ने भी लिखा है "गाँधी दर्शन मे सत्य स्थिर एव पूर्ण है। परन्तु इसका ज्ञान परिवर्तनशील है तथा अनुभव आशिक है।"[१]

५ ज्ञान की सीमा

पश्चिमी ज्ञान मीमासा मे ज्ञान को निश्चित सीमा म बाधने का प्रयास किया गया । बुद्धिवादियो ने बौद्धिक प्रत्ययो तक, अनुभववादियो न आनुभविक प्रत्ययो तक, समीक्षावादी काट ने अनुभव प्रसूत बौद्धिक प्रत्ययो तक तथा अत अनुभूतिवादियो ने मात्र रहस्यानुभूति तक दार्शनिक ज्ञान को सीमित रखा है। परन्तु गाधी की यह एक विशेषता है कि वे ज्ञान को किसी निश्चित साचे म ढाल कर सीमित करना नही चाहते । वे ज्ञान को असीम मानते है । उन्होने कहा है 'ज्ञान असीम है और यही बात सत्य के कार्यान्वयन के साथ लागू है । हमलोग प्रतिदिन आत्म शक्ति के ज्ञान का सवर्द्धन करते है एव करते रहेग । नई-नई अनुभूतियो स हमे नए नए कर्त्तव्यो की शिक्षा मिलती रहेगी परन्तु सत्य हमेशा एकरूप रहेगा ।[२]

ज्ञान के असीम होने के कारण गाधी अब तक के प्राप्त सभी प्रकार के वैज्ञानिक एव आध्यात्मिक ज्ञान को अत्यल्प समझते है । इसीलिए उन्होने कहा है हम ईश्वर के सभी नियमो एव कार्यों को नही जानते हैं । सबस बडे वैज्ञानिको एव अध्यात्मवादियो का ज्ञान धून के सूक्ष्म कण क बराबर है ।'[३]

---

1 In Gandhian Philosophy truth is static and whole but its knowledge is dynamic and realization partial — Prasad, Mahadeo, *Social Philosophy of Mahatma Gandhi*, op cit P 12

2 "Knowledge is limitless and so also the applications o truth Everyday we add to our knowledge of the power of the Atman and we shall keep on doing ever the same New experience will teach us new duties, but truth shall ever be the same *Young India* 8 4 26, P 131

३. 'We do not know all the laws of God not their working Knowledge of the tallest scientist or the greatest spiritualist is like a particle of dust —(*Harijan* 16 2 1934) P 4

इस सबध मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि आध्यात्मिक ज्ञान को भी गाँधी पूर्ण नहीं मानते। वैज्ञानिक ज्ञान की भाति इसे भी वे विकास का विषय मानते हैं। गाधी के अनुसार प्रतिदिन के अनुभव से आत्मशक्ति के ज्ञान की वृद्धि होती है। शकराचार्य के वेदात-दर्शन मे ऐसी बात नहीं है। वे आध्यात्मिक ज्ञान को पूर्ण मानते हैं। विनोबा ने भी इस तथ्य को स्वीकार कर आध्यात्मिक ज्ञान के सबध मे भी नए-नए आविष्कारो की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है।[1]

वस्तुत गाधी सपूर्ण ज्ञान को असीम एव निरपेक्ष मानते हैं। अतः मानव द्वारा उसकी अप्राप्यता स्वाभाविक है। भविष्य म भी निरपेक्ष ज्ञान के सबध म यही बात कही जा सकती है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि अब तक का प्राप्त सापेक्ष एव ससीम ज्ञान बेकार है। जबतक हम निरपेक्ष को नहीं प्राप्त करते हैं तबतक सापेक्ष के सहारे ही आगे बढते जाना चाहिए।[2] अतएव निरपेक्ष ज्ञान की असभाव्यता हमें निराश नहीं करती। वस्तुत गाँधी का यह वस्तुवादी एव व्यावहारिक दृष्टिकोण है, जिसमे आध्यात्मिकता समाविष्ट है।

५ सत्यता और उसका प्रमाणीकरण

गाँधी ज्ञान की सत्यता को व्यक्तिसापेक्ष मानते हैं। जो ज्ञान एक व्यक्ति के लिए सत्य है वही दूसरे के लिए असत्य या गलत ज्ञान है।[3] परन्तु ऐसी परिस्थिति मे सबसे गभीर प्रश्न सत्यता के मानदड का है। यदि सत्यता व्यक्ति-सापेक्ष है तो फिर सभी प्रकार के सत्य को मापने का कोई सामान्य मानदड

1 Bhave, Vinoba, *Science and Self Knowledge* (Tr) Mohanty, S N, (Varanasi, Sarva Seva Sangh Prakashan, 1959), PP 22-23

2 "But as long as I have not reached this absolute truth, so long must hold by the relative truth as I conceive it"—Gandhi, M K, *Experiments with the Truth*, Vol I, P 6

3 "What appears to be truth to one may appear to be error to the other" Chander, Jugpravesh, (ed) *Teachings of Mahatma Gandhi* (Lahore, the Indian Printing Works, 1945), P 494

क्या होगा ? और यदि सत्यता के माप का कोई सामान्य मापदड नही है तो फिर ज्ञान मे वस्तुनिष्ठता कैसे निर्धारित की जायगी ? उसका प्रमाणीकरण कैसे हो सकेगा ?

गाँधी के अनुसार सभी प्रकार के सत्य का समान मापदड है—अहिंसा[1] एव मानवतावाद।[2] इसे सामाजिक[3] मानदड भी कहा जाता है। उनके अनुसार सभी व्यक्ति का सत्य अलग अलग हो सकता है, परतु वह अहिंसा एव मानवता के कल्याण के अनुकूल भी हो सकता है एव इसके प्रतिकूल भी। दूसरे शब्दो मे उससे सामाजिक हित एव अनहित दोनो मे से कुछ भी हो सकता है। यदि किसी के ज्ञान मे सामाजिक हित मे सहयोग मिलता है तो उसे सामान्य ढग से सत्य कहेंगे। यदि किसी ज्ञान से हिंसा, असामाजिकता एव अमानवीयता का प्रसार होता है तो वह असत्य है। उनके अनुसार सत्य की जाँच किसी गुफा मे रह कर नही की जा सकती, उसकी जाँच तो समाज में ही हो सकती है।[4] समाज मे रह कर सत्य की जाँच के लिए ईमानदारी एव व्यक्तित्व की अखडता आवश्यक है। गाँधी ने अपने सपूर्ण जीवन मे इसी दृष्टि-को रख कर सत्य के साथ प्रयोग किया। इसीलिए बॉन डुराट ने इनकी ज्ञान मीमासा को (socialepistemology)[5] सामाजिक ज्ञान-मीमासा की सज्ञा दी है तथा इसकी तुलना पयूअरबख के सिद्धान्त से की है जिसमे सैद्धान्तिक प्रश्नो को व्यावहारिक परिणाम मे मापा जाता है।[6] कुछ दूर तक हम इसकी तुलना अमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स के प्रयोगवादी सिद्धात मे भी कर

---

1 Bondurant, Joan, V , *Conquest of Violence, The Gandhian Philosophy of Conflict* (Berkelay and Losangels, University of California Press, 1967), P 20

2 *Ibid* , P 21

3 *Ibid* , P 21

4. "The quest of truth cannot be prosecuted in a cave The common men can be tested only in society "—Gandhi, M K, *Harijan*, 18 7 1948

5 Bondurant, Joan V , *Conquest of Violence The Gandhian Philosophy of Conflict*, op cit) P 22

6 *Ibid* , PP 21-22

सकते हैं। परन्तु जहाँ जेम्स का प्रयोगवाद विशेष रूप से भौतिकवाद, अनुभववाद एवं व्यक्तिवाद से समाविष्ट है, वहाँ गांधी का प्रयोगवाद अध्यात्म, अत अनुभूति, एवं सामाजिक कल्याण पर विशेष रूप मे बल देता है।

७ ज्ञान की पद्धति

गांधी प्रयोग को ही दार्शनिक ज्ञान की पद्धति मानते थे। परतु उनका प्रयोग विज्ञान के प्रयाग की भांति कृत्रिम प्रयोगशाला मे न होकर व्यक्ति और समाज के स्वाभाविक वातावरण म होता था। इस प्रकार के प्रयोग वे अपने सपूर्ण जीवन म करते रहे। इन प्रयोगो के आधार पर एक सत्य के बाद दूसरे सत्य की स्थापना करते गये। परतु वे वैज्ञानिको की भांति प्रयोग का निष्कर्ष सामान्य सिद्धात के रूप मे नही दते थे। वे अपने प्रयोग को अपने जीवन म पूरा नही कर सके। अत उसका निष्कर्ष प्रस्तुत नही करना स्वाभाविक था। परतु इन प्रयोगो के आधार पर वे अपनी गलतियो का सुधार करते थे। प्रयाग की पद्धति को अपनाने के कारण हम इसे आगमन की पद्धति कह सकते है, परतु यह आगमन की पद्धति मात्र इन्द्रियानुभव पर आधारित नही है। विशेष कार्यों के माध्यम स जो ज्ञान व प्राप्त करते हैं वह ज्ञान समग्र ज्ञान पद्धतियो से प्राप्त होता है। फिर मिल की भाति वे अपने निष्कर्ष को असदिग्ध नहीं मानते। उसे वे सभाव्य ही समझते हैं जो आधुनिक विज्ञान के अनुकूल है। गांधी की ज्ञान पद्धति म प्रयोगवाद भी सन्निहित है। वे सभी प्रकार के ज्ञान को सामाजिक या मानवीय उपयोगिता की दृष्टि स देखते हैं। सामाजिक दृष्टि से जो ज्ञान व्यापक एव उपादेय होता है, उसे ही वे स्वीकार करते है। शायद इसीलिए वे 'ईश्वर सत्य है' वाक्य से प्राप्त ज्ञान की तुलना मे सत्य ही ईश्वर है' वाक्य म प्राप्त ज्ञान को अधिक सही मानते है, क्योंकि इसकी व्यापकता प्रथम वाक्य से अधिक है। गांधी की ज्ञान-पद्धति सघटित पद्धति है, क्योकि इसम ज्ञान प्रक्रिया के सभी तत्व आपस मे इकाईबद्ध है। इस ज्ञान पद्धति की जटिलता को देखकर हम इस किसी कोटि म स्पष्ट रूप स नहीं रख सकते है। फिर भी डा० सुगत दास गुप्ता ने इस प्रयोगात्मक तथा अत-अनुभूति की पद्धति की सज्ञा दी है।[1]

1 Das Gupta, S, "Social, Sciences for the Seventies: The Challenge of Gandhi' Vidyarthy, L P, (ed) *Gandhi and Social Sciences*, (New Delhi, Book hive, 1970), p 82

८ ज्ञान के प्रकार एवं ज्ञान के साधन

ज्ञान के प्रकार के संबंध में गांधी मौन दिखलाई पड़ते हैं। परंतु परोक्ष रूप से वे आत्म ज्ञान और विज्ञान—दो प्रकार के ज्ञान को स्वीकार करते हैं। जैसा हम पहले देख आये हैं कि एक स्थल पर वे कहते हैं— 'हम ईश्वर के सभी नियमों एवं कार्यों को नहीं जानते हैं। बड़े-से बड़े वैज्ञानिक एवं अध्यात्मवादी का ज्ञान धूल के कण के समान है।' इस कथन से ऐसा लगता है कि वे विज्ञान एवं आत्मज्ञान को एक दूसरे से भिन्न मानते हैं। विज्ञान आत्मा का वह भेद-मूलक ज्ञान है, जो इसे अनात्म पदार्थों से अलग करता है। ज्ञान और आत्म ज्ञान दोनों एक दूसरे के समानार्थक हैं।

भारतीय दर्शन में भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अनुपलब्धि तथा अर्थापत्ति को यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का साधन माना है। गांधी ज्ञान मीमांसा में आप्तवचन बुद्धि एवं अंत:अनुभूति प्रमाण के रूप में विचारणीय हैं। गांधी एक ओर आप्तवचन, बुद्धि एवं अंतर्बोध को यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का साधन मानते हैं तो दूसरी ओर वे इनकी मर्यादाओं का भी उल्लेख करते हैं। यह उनकी प्रमाण मीमांसा की अपनी विशेषता है। गांधी विशेष रूप से प्रमाण की सीमाओं पर ही विचार करते हैं। इन साधनों के द्वारा ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है—वे इस पर विचार नहीं करते हैं। अब हम एक एक कर इन प्रमाणों पर विचार करेंगे।

(क) आप्तवचन

भारतीय-दर्शन में आप्तवचन अथवा शब्द प्रमाण का अर्थ है धर्मग्रंथों, शास्त्रों एवं महात्माओं की गहरी अनुभूतियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान। ऐसे ज्ञान को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का साधन माना गया है। गांधी आप्तवचन को निश्चित मर्यादा के अंदर स्वीकार करते हैं। वे आप्तवचन श्रद्धा या विश्वास को वहाँ पर स्वीकारते हैं जहाँ पर हमारी बुद्धि ज्ञान देने में असमर्थ हो जाती है। उदाहरणस्वरूप ईश्वर का ज्ञान न तो ज्ञानेन्द्रियों से ही प्राप्त किया जा सकता है और न बुद्धि द्वारा तर्क से ही। अतएव इस ज्ञान के लिए हम शास्त्रों एवं प्रामाणिक व्यक्तियों की अनुभूतियों का ही सहारा लेना पड़ता है। अतः ईश्वर का ज्ञान श्रद्धा पर ही आधारित है।[1]

---

1 हरिजन (७ १२ १९६६) पृ० ३३७ ३८५

परन्तु गांधी विवेकरहित आप्तवचन का विरोध करते हैं। उनके अनुसार बिना किसी तर्क या विवक के किसी के कथन को स्वीकार कर लेना 'कमजोर दिमाग का लक्षण है।'[1] इसलिए उन्होंने कहा है 'मैं सभी प्रकार के धार्मिक ग्रंथों की प्रामाणिकता को अस्वीकृत कर दूँगा यदि व सौम्यबुद्धि एव नैतिकता से विरोध रखते हैं।'[2]

आप्तवचन की दूसरी मर्यादा इसके व्यवहार को लेकर निर्धारित की गई है। प्राय हम वैसे स्थलों पर भी धर्म-ग्रंथों की बातों को अपने ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए उद्धृत करते हैं जहाँ पर बुद्धि के सहारे आसानी से बातों को समझा जा सकता है।

गांधी इसका विरोध करते हैं। व यह मानते हैं कि जहा पर बुद्धि की पहुच आसान तरीके स हो सकती है, वहाँ पर सबल स सबल आप्तवाक्य की भी आवश्यकता नहा रह जाती है।[3] गांधी का यह मत योगवाशिष्ठ के न्याय प्रकरण स प्रेरित है। योगवाशिष्ठ के न्याय प्रकरण म कहा गया है कि मानव रचित शास्त्र बुद्धि के अनुकूल होने पर ही स्वीकार्य है। कोई वाक्य ईश्वर प्रेरित होने का ही दावा क्यों न करता हो यदि वह विवक एव औचित्य की भावना के प्रतिकूल है तो उसका त्याग वाञ्छनीय है। यदि किसी बालक की बात युक्तिपूर्ण है तो वह सर्वदा ग्राह्य है परतु कोई वाक्य ब्रह्म प्रेरित ही हो यह युक्तिपूर्ण नहीं हो तो उसका परित्याग आवश्यक है।[4] परतु यहा

१ यग इडिया (७-१० १९२६), पृ० ३४७

२ यग इडिया (१८ १२ १९२०) पृ० ३

3 To me it is as plain as a pike staff, that where there is an appeal to reason pure and undefiled there should be no appeal to authority however great it may be —*Young India* (7 10-1926) p 347

४ अपि पौरुषमादेय शास्त्र चेद् युक्तिबोधकम्।
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्य भाव्य न्याय्यैक सेविना॥
युक्तियुक्तमुपादेय वचन बालकादपि।
अन्य तृणमिव त्याज्यमप्युक्त पद्मजन्मना॥

प्रश्न है कि धर्म-ग्रंथों या आप्तवचनों को बुद्धि से क्यों परखना चाहिए ? क्या शास्त्र ईश्वर के वचन नहीं हैं ? यदि वे ईश्वर के वचन हैं तो क्या उनमे गलतियों के लिए स्थान है ? गांधी यह मानते हैं कि शास्त्र-वचन ईश्वर प्रेरित अवश्य है, परन्तु ईश्वर ने उन्हें साक्षात् रूप मे अपने हाथों नही लिखा है। शास्त्रों के लेखक ईश्वर प्रेरित व्यक्ति हैं। फिर बाद मे उन पर अनेक प्रकार से टीकाएँ की जाती हैं। ऐसे शास्त्रों के द्वारा प्राप्त ज्ञान मे द्वि'धनियारन प्रक्रिया (Process of double distilation) सन्निहित है। इसलिए शास्त्र-वचन साक्षात् रूप से ईश्वर प्रदत्त नही माने जा सकते हैं। इस प्रकार के ज्ञान में भी गलतियों की संभावना रह सकती है। अतएव प्रत्येक धर्मग्रंथ के सबंध में व्यक्ति को निर्णय देने का अधिकार होना चाहिए।[1]

यदि महापुरुषों के कथन को उसी रूप मे स्वीकार कर उसे अनुमान का आधार वाक्य मान लेते हैं तो वैसे आधार वाक्य मे अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों पक्षों में निष्कर्ष निकाला जा सकता है। जैसे स्वामी विवेकानन्द ने शारीरिक स्वास्थ्य बढाने के ऊपर बल दिया था। इस आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि वे मांसाहार के समर्थक थे और इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे मांसाहार के समर्थक नही थे। ऐसी परिस्थिति मे बुद्धि और विवेक की पहुँच आसानी से समस्या के समझने मे हो सकती है। इसलिए महापुरुषों के कथन को प्रमाण मानकर उससे निष्कर्ष निकालना असंगत एवं खतरनाक होगा। व्यक्ति को स्वयं बुद्धि के सहारे अपना निर्णय देना चाहिए।[2]

(ख) बुद्धि-ज्ञान

गाँधी के अनुसार बुद्धि, भावना और विश्वास से भिन्न वस्तु है। भावना का संबंध हमारे हृदय से है, परन्तु बुद्धि का संबंध हमारे मस्तिष्क से है।[3] यह भेद होने हुए भी बुद्धि और भावना के बीच किसी प्रकार का अंतर्विरोध नहीं है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि सतत् विवेकपूर्ण जीवन व्यतीत करने पर ही कोई विचार भावना का रूप धारण करता है।[4] अतः भावना को

१ हरिजन, (५-१२-१९३६), पृ० ४
२ यंग इंडिया, (२५-९-१९२९), पृ० ३१४
३ यंग इंडिया (१०-१०-१९२८), पृ० ३४०
४ यंग इंडिया (१४-४-१९२७), पृ० १२०

गहराई तक पहुचने के लिए बुद्धि एक प्रकार म आरोहणशिला का काम करती है।

गाँधी के अनुसार बुद्धि ज्ञान प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। इसके द्वारा हम सत्य के बाह्य रूपो का ज्ञान प्राप्त करते है। मस्तिष्क स सबध होने के कारण बुद्धि हमे बाह्य वस्तुओ का ज्ञान सवेदना प्रत्यक्ष चितन कल्पना प्रतिमा आदि के माध्यम म देती है। आप्तवचन के द्वारा प्राप्त ज्ञान भी तब तक सत्य सिद्ध नही होता है जब तक उसे बुद्धि के द्वारा न जाचा जाए। बुद्धि के अनुकूल होने पर ही कोई आप्तवचन प्रामाणिक माना जा सकता है।

गाधी के अनुसार बुद्धि के द्वारा सभी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती है। इसके द्वारा मनुष्य की आतरिक अनुभूतियो का ज्ञान नही प्राप्त कर सकते है। आतरिक अनुभूतियो के ज्ञान के लिए हम मस्तिष्क के धरातल को छोडकर हृदय के स्तर पर उतरना पडता है हृदय की गहराइ म पहुचने के लिए हम असह्य दुखो को सहना पडता है। असह्य दुखो के सहने के पश्चात् ही हमम आतरिक ज्ञान का उदय होता है।[1]

गाधी भावनाविहीन बुद्धि के महत्त्व को अस्वीकार करते है क्योकि इस प्रकार की बुद्धि के द्वारा हम दैनिक जीवन की अनुभूतियो के आलोचनात्मक समय मे कुछ भी लाभ नही होता।[2] इसीलिए उन्होने कहा है यदि आप कुछ भी महत्त्वपूर्ण काय करना चाहते है तो इसके लिए केवल बुद्धि को ही सतुष्ट नहा कर बल्कि हृदय को भी द्रवित कर।[3] बुद्धि ज्ञान का अतिम आधार नही है। अतिम रूप म हृदय ही हम काय के लिए निदशित करता है। यह बुद्धि के द्वारा दिये गय निष्कर्षो को स्वीकारता है। जब हमे किसी काय क प्रति आस्था जम जाती है तो हम उसकी पुष्टि के लिए बुद्धि युक्ति या तक का

---

1 The app al of reason is more to the head but the p netration of th heart com s from suffering It opens up the inner und rstand ng in man —*Young India* (11 10 19 8) P 326

2 Sen N B (ed) *Wit and Wisdom* *Gandh* P 25

3 If you want something important to be done you must not merely sat sfy reason you must move the heart also *Young India*, (11 10 1928) P 340

सहारा लेते है।[1] इसलिए बुद्धि या युक्ति का स्थान श्रद्धा, भावना एव हृदय के बाद आता है। ज्ञान का अंतिम आधार हृदय श्रद्धा एव भावना ही है।

गाँधी के अनुसार बुद्धि मनुष्य की भावनाओ को तीक्ष्ण करती है तथा उनका दिशानिर्देशन करती है। इसलिए यह आत्म जागरण मे सहायक होती है। पशुओ मे बुद्धि का विकास नही होने के कारण आत्मा अधकार मे पडा रहता है। इसलिए उन्होने कहा है "हृदय के जगाने का अर्थ सोई हुई आत्मा को जगाना है। सोई हुई आत्मा को जगाने का अर्थ बुद्धि को जगाना है तथा बुद्धि के जगाने का अर्थ शुभ और अशुभ का भेद करना है।"[2]

ऊपर की उक्ति से ऐसा लगता है कि गाधी हृदय को आत्मा एव बुद्धि का मिलन-बिंदु मानते हैं। इसलिए हृदय को जाग्रत करने से बुद्धि एव आत्मा दोनो स्वाभाविक रूप से जाग्रत हो जाते है। गाधी बुद्धि की निरपेक्ष प्रामाणिकता को स्वीकार नही करते हैं। जिस प्रकार आप्तवचन बुद्धि-सापेक्ष है उसी प्रकार बुद्धि, भावना-सापेक्ष है। इसलिए आप्तवचन की भाँति गाँधी ने बुद्धि की सीमा को भी निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। अन्य प्राचीन भारतीय दार्शनिकों एव अमरीकी प्रयोगवादी दार्शनिको की भांति उन्होने दर्शन को जीवन-पद्धति के रूप मे स्वीकार किया है। यदि दर्शन केवल बौद्धिक गुत्थियो को सुलझाने मे ही उलझ कर रह जाय, उसमे जीवन के कार्यों मे निपुणता न आवे तो ऐसे दर्शन के प्रति गाँधी अभिरुचि नही दिखलाते है। इसलिए वे बुद्धि को उसी सीमा तक अपनाते हैं जहाँ तक उससे जीने मे एव कार्य करने मे सहायता मिलती है। जब बुद्धि किसी नैतिक कार्य के सपन्न होने मे बाधा डालती है तो वह अपनी सीमा का अतिक्रमण करती है। ऐसी बुद्धि का त्याग गाँधी सर्वथा आवश्यक समझते है।[3] बुद्धि की मर्यादा अपनी सीमा के अदर रहने मे ही है। इसका काम केवल दिशानिर्देशन करना है। परन्तु जब यह

---

1 Sen, N B, (Ed), *Wit and Wisdom of Gandhi*, P 25

2 *Ibid*, P 25

3 "Reason is a corrective and is in its place when it remains at the door, ever watchful, never moving like his duty i n action when this is reasoned away, reason has become a usurper and must be dethroned'—*Harijan*, (12 12 1948), P 346

अपनी सीमा का अतिक्रमण करती है तो गांधी के शब्दो मे यह 'भयानक भूत' बन जाती है। इसलिए बुद्धि की सर्वशक्तिमत्ता अवांछनीय है।[1] बुद्धि को सदैव नैतिक भावनाओ के द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए।

प्रश्न है क्या गांधी बुद्धिवादी हैं या अबुद्धिवादी ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि वे स्पष्ट रूप मे न तो बुद्धिवादी है और न अबुद्धिवादी। वे वहां तक बुद्धिवादी हैं जहाँ वे मानते हैं कि ईश्वर ने प्रत्येक वस्तु की परीक्षा करने के लिए बुद्धि दी है। वे वहाँ भी बुद्धिवादी हैं जब वह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य की अंतरात्मा मे बुद्धि का तत्व विद्यमान रहता है।[2] परन्तु वहां वे अबुद्धिवादी हो जाते हैं जहाँ बुद्धि शुभ भावनाओ एवं नैतिक कर्मों के संपादन मे बाधा डालती है तथा वहाँ वे अतिबुद्धिवादी हो जाते हैं जहाँ इन्द्रियानुभव से परे ज्ञान को भी महात्माओ के जीवन के चमत्कार एवं अंतर्बोध के आधार पर स्वीकार करते हैं।

(ग) अंतर्बोध

गांधी के अनुसार अंतरात्मा अंतर्बोध ज्ञान प्राप्त करने का सर्वोच्च साधन है। इसमे बौद्धिक एवं आस्था-जन्य, दोनो प्रकार के ज्ञान का मणिकांचन संयोग है। अतः केवल बौद्धिक एवं आस्थाजन्य ज्ञान से यह अधिक प्रामाणिक है। इसीलिए गांधी ने अपने जीवन काल मे अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णयो का आधार अंतर्बोध को ही बनाया।[3]

गांधी के अनुसार अंतरात्मा, एक प्रकार की शक्ति, गुण या अवस्था है, जिसका संबंध हमारे हृदय के विशेष भाग से है।[4] यह शक्ति सतत नैतिक साधना के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है।[5] इसलिए मनमानी अनुत्तरदायित्वपूर्ण संकल्पो को अंतरात्मा का आदेश नही कह सकते। पशुओं की क्रियाओ का

---

1 *Young India*, (14 10 1920), P 359

2 Diwakar, R R *Gandhi A Practical Philosopher*, P 25

3 Shukla, Chandra Shankar *Gandhi View of life*, (Bombay Bharatiya Vidva Bhavan, 1956), PP 36-37

4 From the speech delivered by Gandhi on 'Quit India' resolution at the historic A I C C Session in Bombay on 8 th August, 1942

5 *Young India*, (21 8-1924), p 274

संचालन मूल प्रवृत्तियां एवं उनके स्वभाव से होता है। उनमें अंतरात्मा का अभाव रहता है। इसी प्रकार मूर्ख, अज्ञ, बर्बर जो अपनी मूल प्रवृत्तियों से परिचालित होते हैं—उनमें भी अंतरात्मा का अभाव रहता है।[1] इसका निवास कोमल हृदय में होता है।

अंतरात्मा हमें निरपेक्ष आदेश देता है। यह कभी-कभी मनुष्य को अकेले विश्व के मतों के विरुद्ध निर्णय लेने के लिए बाध्य करता है। आवश्यकता पड़ने पर यह अपने साध्य की प्राप्ति के लिए अनन्त दुःखों को उठाने अथवा प्राणोत्सर्ग करने की भी अनुमति देता है। इसके द्वारा दिये गये निर्णय कभी भी असत्य नहीं होते। अर्थात् अंतरात्मा हमें कभी भी धोखा नहीं देता है।[2] जब मनुष्य में अंतरात्मा की शक्ति प्राप्त हो जाती है तो वह काफी विनम्र हो जाता है। वह एक प्रकार से कायर हो जाता है, क्योंकि वह अपने को दूसरों से ऊँचा नहीं समझता। वह सत्य के प्रति संवेदनशील हो जाता है। उसमें दूसरों की बातों को सुनने की तत्परता एवं अपनी गलतियों को स्वीकार करने की क्षमता आ जाती है।[3] इस प्रकार का ज्ञान व्यक्ति और समाज दोनों के लिए सत्य होता है।[4]

अंतर्ज्ञान के द्वारा हमें आध्यात्मिक सत्ता का ज्ञान मिलता है, परंतु इस ज्ञान को अबौद्धिक नहीं कहा जा सकता। गांधी के अनुसार अबौद्धिकता का अर्थ है अंध विश्वास। जहां पर्याप्त मात्रा में युक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती है, वहाँ बिना युक्ति के ही किसी बात को स्वीकार कर लेना अंध विश्वास

---

1 *Young India*, (21 8 1924), p 278

2 There is something within me impelling me to cry out my agony that something in me which never deceives me tells me now, you have to stand against the whole wolrd although you may have to stand alone It says forsake friend, wife all, but testify to that for which you have lived and for which you have to die" —Gandhiji, on the occasion at A I C C Session on 8th August, 1942, at Bombay

3 *Young India* (21 8 1924), p 278

4 *Ibid*, (21 8 1924), p 278

है।[1] जैसे किसी प्रबुद्ध व्यक्ति को बिना प्रमाण दिये यह कहा जाए कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है, तो वह स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि इसे अच्छी तरह से प्रमाणित किया जा सकता है। परंतु हमारे जीवन की कुछ ऐसी अनुभूतियाँ हैं, जिन्हें हम ज्ञानेन्द्रिय एवं बुद्धि में से किसी के आधार पर समझ नहीं सकते। उसे जानने के लिए श्रद्धा के साथ-साथ वैयक्तिगत अनुभव की आवश्यकता होती है। यह बुद्धि की सीमा के बाहर की चीज है। इसे अबौद्धिक न कहकर अतिबौद्धिक कहना चाहिए। डॉ० राधाकृष्णन् ने भी इस प्रकार के ज्ञान को अबौद्धिक नहीं माना है।[2]

अन्तर्बोध को प्राय वैज्ञानिक आत्म-समूचन की संज्ञा देते हैं। परंतु गाँधी इसे एक विशेष अर्थ में आत्म-समूचन मानते हैं। उनके अनुसार अंतर्बोध को आत्म-समूचन इस अर्थ में कहा जा सकता है, कि यह हमारे अन्तर्गत स्थित ईश्वर की आवाज है। वैज्ञानिकों की भाँति इसे वैयक्त की आवाज नहीं कह सकते हैं।[3] इस आवाज को सुनने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में है। परन्तु इसके लिए कुछ पूर्व निर्धारित नियमों का पालन करना पड़ता है।[4]

गाँधी दर्शन में अंतर्बोध सर्वोच्च प्रमाण है। अन्य प्रमाण सापेक्ष हैं, परंतु यह निरपेक्ष है। आप्तवचन, बुद्धि, इन्द्रियजन्य ज्ञान ये सभी अंतर्बोध के ही साधक हैं। इस प्रकार के ज्ञान की कोई निश्चित सीमा नहीं है। जहाँ कहीं भी नूतनता है, गतिशीलता है, जीवन है—सर्वत्र अंतर्बोध के सहारे ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

---

1 "That which is beyond reason is surely not unreasonable Unreasonable belief is blind faith and is often superstitions" Gandhiji, *Young India* (14 4 1927), p 120

2 "Intuitive knowledge is not non-rational It is only non-conceptual" Radhakrishnan, S, *An Idealist View of life*, (London, George Allen Unwin, 1947 3rd Imp), P 153

3 Shukla, Chandrashankar, *Gandhi view of life*, P 34

4 "Everyone who wills can have the voice It is within every one But like everything else it requires previous and definite preparation"—*Harijan*, 8 7 1933

९ निष्कर्ष

गांधी की ज्ञान मीमांसा उनके उन्मुक्त जीवन-दर्शन के अनुकूल है। ज्ञान मीमांसा के प्रश्नों पर विचार उन्होंने जिज्ञासा के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि जीवन के व्यापक दृष्टिकोण से किया है। व्यापक जीवन के अंतर्गत व्यक्तिगत चैतन्य का विकास एवं समाज में उसका विस्तार दोनों को लिया गया है। ज्ञान-मीमांसा के प्रश्नों को उन्होंने रूढ़ एवं स्थिर बौद्धिकता के साँचे में नहीं ढाला है। उनकी दृष्टि विशेष अर्थ में प्रयोगवादी है। जीवन के दृष्टिकोण से विचार करने के कारण उसमें मानव द्वारा प्राप्त सभी प्रकार के समाजोपयोगी ज्ञान आ गए हैं परन्तु आंशिक सिद्धांत की तरह प्रत्येक ज्ञान का महत्व अपने विशेष क्षेत्र में होते हुए भी सम्पूर्ण जीवन से उसका लगाव है। शायद इसीलिए आप्तवचन, बुद्धि आदि अपने अपने विशेष क्षेत्रों में महत्व रखते हुए सम्पूर्ण जीवन में सम्बन्धित हैं। गांधी अंतर्बोध को सर्वोत्तम ज्ञान मानते हैं परन्तु उनका अंतर्बोध निरपेक्ष का ज्ञान न देकर बदलती हुई परिस्थितियों में जीवन के लिए आवश्यक कदम उठाने का निर्णय देता है। वे न तो अनुभववादी हैं, न बुद्धिवादी और न प्रचलित अर्थ में अतः अनुभूतिवादी। ज्ञान के क्षेत्र में किसी प्रकार के सीमांकन एवं सामान्यीकरण में उनकी अभिरुचि नहीं है। अतः अतिवाद सदा के लिए समाप्त है। यदि उनकी ज्ञान मीमांसा का कोई नामकरण करना ही चाहें तो उसे समन्वयवाद (Eclecticism) कहना अधिक उचित होगा। उन्होंने श्रद्धा और बुद्धि, अतः अनुभूति और कार्य इन सभी का सुन्दर समन्वय किया है। यह ठीक है कि उन्होंने ज्ञान की उत्पत्ति पर गहराई से विचार नहीं किया है। शायद यह उनके लिए अभीष्ट भी नहीं था और इसके लिए उन्हें अवकाश एवं अपेक्षित प्रशिक्षण भी नहीं था।

खंड—'ब' विनोबा का ज्ञान-सिद्धांत

१ विषय प्रवेश

विनोबा के ज्ञान-सिद्धांत का मुख्य आधार गीता का तत्वज्ञान है। **गीता प्रवचन गीताई चिन्तनिका स्थितप्रज्ञ दर्शन, साम्यसूत्र एवं सप्त-शक्तियां** जो श्रीमद्भागवत गीता के विचारों पर ही टीका प्रस्तुत करते हैं, विनोबा के ज्ञान सिद्धान्त पर पर्याप्त रूप में प्रकाश डालते हैं। इनके अतिरिक्त **आत्मज्ञान और विज्ञान, विचार पोथी, शिक्षण विचार** तथा **विनोबा चिंतन** आदि ग्रंथों में ज्ञान सिद्धांत पर यत्र-तत्र छिटपुट विचार मिलते हैं। यद्यपि गांधी के ज्ञान सिद्धांत का आधार भी गीता ही है परन्तु गांधी गीता के विचारों की गहराई

में उतना प्रवेश नहीं करते हैं, जितना विनोबा करते हैं। 'अंतर्बोध', जो गाँधी ज्ञान मीमांसा की सबसे महत्त्वपूर्ण धारणा है वह उनके अपने दैनिक जीवन के अनुभव में ही उद्भूत हुआ है। परन्तु विनोबा के चिंतन में ज्ञान की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार पूरी सूक्ष्मता एवं शास्त्रीयता के साथ हुआ है।

२ ज्ञान का अर्थ

सामान्यतः किसी भी प्रकार की सूचना जो अध्ययन, श्रवण, दर्शन, या भावों के द्वारा मिलती है, उसे हम ज्ञान कहते हैं। परन्तु विनोबा-चिन्तन में ज्ञान का अर्थ संघटित ज्ञान (Integrated Knowldege) है। उन्होंने कहा है—"यद्यपि साधारणतया विज्ञान बाह्य जगत की जानकारी से सम्बद्ध है और आत्मज्ञान मानव की अंतरात्मा के ज्ञान से संबद्ध है परन्तु ज्ञान अखंड है। और एक है।"[१] विनोबा के अनुसार यह ज्ञान अपने आप में पूर्ण होता है। जब विनोबा 'विज्ञान' का प्रयोग करते हैं तो इसे भी वे समग्रता के अर्थ में ही लेते हैं, क्योंकि विज्ञान के अंतर्गत केवल बाह्य जगत् का ज्ञान ही नहीं, बल्कि मानव स्वभाव का ज्ञान भी समाविष्ट है।[२] सृष्टि के बाह्य एवं आन्तरिक तत्त्व—दोनों अवियोज्य रूप से मिले हुए हैं। दोनों एक ही सत्य के दो पहलू हैं। सत्य अखंड है, अतः ज्ञान भी एक पूर्ण एवं अखंड है।

विनोबा ने ज्ञान की अखंडता को एक दूसरे दृष्टिकोण से भी स्वीकार किया है। प्रायः कुछ पाश्चात्य दार्शनिक ज्ञान को संकल्प, भावों एवं संवेगों से अलग कर देखते हैं। उनके अनुसार ज्ञान का संबंध मात्र बुद्धि से है। परन्तु विनोबा ज्ञान को मात्र बुद्धि की सीमा में बांध कर नहीं रखते। भावों, संवेगों एवं संकल्पों को भी ज्ञान की अवियोज्य इकाई मानते हैं।[३]

विनोबा के अनुसार सम्यक् ज्ञान के अंतर्गत उच्च प्रकृति एवं निम्न प्रकृति सहित ईश्वर का ज्ञान सन्निहित रहता है। ऐसे ज्ञान में पूरी मात्रा में

---

१ पटना में दिसम्बर १९६२ में आत्मज्ञान और विज्ञान संबंधी परिसंवाद के अवसर पर वक्तव्य। देखिए विनोबा, भावे, आत्मज्ञान और विज्ञान (वाराणसी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन), पृ० १७०

२ उपरिवत् पृ० १७१

३ पाश्चात्य शिक्षणवेत्ताओं के इस विषय के अनुभव में और हमारे अनुभव में फर्क है। वे विश्लेषण पद्धति से देखते हैं और दुनिया के टुकड़े करके उन्हें तक़सीम करते हैं। लेकिन हमलोग सारी दुनिया को समग्र रूप में देखते हैं और उसका अद्वैत स्वरूप पहचानते हैं। ... बुद्धि का स्थान सर्वमान्य है। लेकिन भाव या भावना को छोड़ नहीं सकते।'—विनोबा शिक्षण-विचार (काशी, अ० भा० सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९५६), पृ० ९७-९८

असंदिग्धता एवं निश्चिन्तता रहती है।[१] इस दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञान ईश्वर और प्रकृति का समग्र ज्ञान अथवा चिन्तन है।

ज्ञान को भलीभांति समझने के लिए विनोबा इसे 'ध्यान' से अलग करते हैं। ध्यान की प्रक्रिया कृत्रिम होती है। इसमें हम प्रयत्नपूर्वक अपनी वृत्ति को विशेष दिशा में लगाने का दुःखद प्रयत्न करते हैं। परन्तु ज्ञान इस अर्थ में कृत्रिम नहीं है। ज्ञान कृत्रिम अभ्यास द्वारा प्राप्त नहीं होता है।[२] यह एक स्वाभाविक गुण है।[३]

ध्यान में हम उपमा देते हैं, उदाहरणों से विषय को स्पष्ट करते हैं, रूपकों का उपयोग करते हैं तथा चित्र बनाते हैं। यहां एक वस्तु का दूसरे पर आरोप किया जाता है। इसलिए हम किसी भी संकेत को वस्तु का प्रतिनिधि मान सकते हैं। जैसे 'आलमारी' को हम आलमारी नाम की वस्तु का प्रतिनिधि मान सकते हैं। इससे ज्ञान की वृद्धि नहीं होती है। यह एक प्रकार से हमारे माथे पर बोझ उत्पन्न करता है। अतः ध्यान एक बनावट है।[४]

परन्तु वास्तविक ज्ञान में स्वाभाविकता के कारण बोझ का अभाव पाया जाता है। आत्मज्ञान वास्तविक अर्थ में ज्ञान है, क्योंकि यह स्वाभाविक तथा आत्मगत है। इसलिए ऐसा ज्ञान स्थायी होता है।[५] इससे चित्त पर कोई भार नहीं पड़ता।

३ ज्ञान और विज्ञान

विनोबा ने ज्ञान और विज्ञान का भेद भी अपने दर्शन में किया है। ज्ञान का प्रयोग वे दो अर्थों में करते हैं। एक अर्थ में ज्ञान आत्मज्ञान का सूचक है।[६]

---

१ भावे, विनोबा, गीताई चिन्तनिका, (वाराणसी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६१), पृ० ८७

२ भावे, विनोबा, स्थित-प्रज्ञ-दर्शन, (नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, १९६३), पृ० १६०

३ भावे, विनोबा, साम्यसूत्र, (काशी, अ० भा० सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन १९५८), पृ० ६२

४ भावे, विनोबा, स्थित-प्रज्ञ दर्शन, पृ० १६०-१६१

५ उपरिवत्, पृ० १६१

६ भावे, विनोबा, विनोबा-चिन्तन, (वाराणसी, सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, १९६८), अंक २८, पृ० २८३

है। ज्ञान को विकसित करने में प्रश्न संवाद पद्धति उपादेय है। इस पद्धति के द्वारा हम कोई नया ज्ञान नहीं मिलता है। इसके द्वारा हम वही ज्ञान प्राप्त करते हैं, जो हममें पहले में ही विद्यमान रहता है।[1]

विनोबा के अनुसार ज्ञान अनादि और अनन्त है। इसलिए यह सनातन है। विज्ञान और समाजशास्त्र में हम पुराने शब्दों के आधार पर ही चिन्तन करते हैं। समय-समय पर हम चिन्तन के परिणामस्वरूप नये-नये रूप सामने आ जाते हैं, परन्तु ज्ञान में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता है।[2]

यह तो ठीक है कि ज्ञान अनादि और अनन्त है। परन्तु इसके समर्थन में विनोबा ने जो युक्ति दी है वह अबोधगम्य सी लगती है। पहली बात तो यह है कि यहाँ पर युक्ति का आधार शब्द है जिसे हम स्पष्टतः विनोबा के अनुसार पूर्ण ज्ञान नहीं कहेंगे। अतः शब्द पुराने ही रह सकते हैं परन्तु इनसे ज्ञान हमें भिन्न भिन्न रूप में मिल सकता है। यदि ज्ञान भिन्न भिन्न रूप में मिलेगा तो उनका अन्तर भी स्वाभाविक ही होगा। अतः यह बात समझ में नहीं आती कि नये-नये चिन्तन से ज्ञान में किसी प्रकार का असर नहीं पड़ता है। परन्तु शायद विनोबा यहाँ यह कहना चाहते हैं कि ज्ञान के नये नये रूप आने से भी सम्पूर्ण ज्ञान की मात्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ता इसलिए ज्ञान सनातन है। फिर सनातन का अर्थ जैसा हम देखेंगे, नित्य नूतन होने वाला भी है। इस अर्थ में तो ज्ञान सनातन है ही। ज्ञान की असीमता को विनोबा ने अन्य प्रकार से भी व्यक्त किया है। उनके अनुसार विश्व का स्रष्टा ईश्वर असीम है। हमारा मस्तिष्क आत्मशक्ति के प्रतिबिम्बित होने से ही ज्ञान प्राप्त करता है। आत्मा सच्चिदानन्द है इसलिए उसमें असीम शक्तियाँ तथा गुण विद्यमान हैं। ये ही शक्तियाँ मस्तिष्क को ज्ञान देती हैं, इसलिए ज्ञान असीम और अनन्त है।[3]

फिर विनोबा ने बतलाया है कि कर्म से ही अकर्म की उत्पत्ति होती है। इसलिए ज्ञान और कर्म का योग हो जाता है ज्ञान और अकर्म। अर्थात् ज्ञान भी शून्य और अकर्म भी शून्य। शून्य और शून्य का योग अनन्त ही होगा

---

१ भावे विनोबा, विनोबा चिन्तन, मई १९६६ अंक ४, पृ० १८

२ उपरिवत् अंक ८०-९१ पृ० ९०

3 Bhave, Vinoba *Thoughts on Education*, (Varanasi, Sarva Seva Sangh Prakashan, 2nd edn , 1964) p 23

है।[१] इसलिए ज्ञान असीम और अनन्त है। उनका यह दावा है कि अब तक चाहे विज्ञान में या अध्यात्म में जो कुछ भी ज्ञान मिला है वह संपूर्ण सत्य का अल्पांश है।

गांधी की भांति ही विनोबा श्रद्धा एवं ज्ञान को एक दूसरे का विरोधी नहीं मानते हैं। उनके अनुसार श्रद्धा के बिना ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। जिस प्रकार आंख और कान एक दूसरे में भिन्न ज्ञान देते हुए भी आपस में विरोध नहीं रखते हैं उसी प्रकार श्रद्धा और ज्ञान में कोई विरोध नहीं है।[२] बल्कि यह कहा जाए कि ज्ञान का आरंभ श्रद्धा में तथा पूर्णता बुद्धि एवं स्वतंत्र विचारों में होती है।[३] विनोबा के अनुसार ज्ञान चिरस्थायी होता है। एक बार जो ज्ञान हम प्राप्त कर लेते हैं वह केवल इस जीवन तक ही कायम नहीं रहता बल्कि मृत्यु के बाद भी उसका अमर होता है।[४] उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है— मेरा मन नहीं मानता कि मरने के बाद मेरा ज्ञान खत्म हो जाएगा। अगर मुझे कोई यह विश्वास दिलाता है कि तेरा ज्ञान मिटने वाला ही है जहाँ तू मरा, तेरा ज्ञान भी खतम तो यह निश्चित है कि ज्ञान के लिए मैं इतनी तकलीफ कभी न उठाता।[५] विनोबा का यह विश्वास भारतीय दर्शन के संस्कार सिद्धांत के अनुकूल है। हम यह तो मानते ही है कि वर्तमान जीवन की कुछ उपलब्धियां पूर्व जन्म के संस्कारों से भी प्राप्त है। पुनर्जन्म भी पूर्व संस्कार के कारण ही होता है। अतः ज्ञान पूर्व संस्कार के रूप में मृत्यु के बाद दूसरे जीवन में कायम रह सकता है।

ज्ञान स्वाभाविक और अस्वाभाविक दोनों प्रकार का होता है। स्वाभाविक ज्ञान में हम में किसी प्रकार की थकान का अनुभव नहीं होता। परन्तु अस्वाभाविक ज्ञान के प्राप्त करने की क्रिया में हम थकान का अनुभव करते हैं। परन्तु असली ज्ञान स्वाभाविक ज्ञान ही है। थकान लाने वाला ज्ञान ज्ञान नहीं है।[६] असली ज्ञान प्राप्त हो जाने पर हम में अहंकार का भाव समाप्त

---

१ भावे विनोबा **विचार पोथी**, पृ० १०१

2 Bhave Vinoba *Thoughts on Education* P 195

3 *Ibid* p 195

४ भावे विनोबा **विनोबा चिंतन** अंक ९, पृ० ३९

५ उपपरिवत पृ० ३९

६ भावे विनोबा **साम्यसूत्र**, पृ० ६२

हो जाता है।[१] हम अपनी बुद्धि को दूसरो की बुद्धि का ही रूप मानने लगते हैं। अत हमम काफी विनम्रता आ जाती है।

विनोबा ज्ञान और कर्म का अभेद स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार कर्म म ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा ज्ञान के द्वारा सफल कार्य सपन्न होता है। फिर ज्ञान और कर्म दोनो मिलकर बुद्धि का विकास करते हैं।[२] केवल बाहरी वस्तु की सूचना प्राप्त कर लेने स मस्तिष्क का विकास नहीं होता है। प्राय पश्चिमी दार्शनिक ज्ञान को कर्म स अलग कर सोचते हैं। अत ज्ञान के सबध म अनेक विवाद उठते हैं। विनोबा न इसकी कटु आलोचना की है। उन्होंने कहा है[३]—"सभी प्रकार के शाब्दिक-सघर्षों का मुख्य कारण यह है कि ज्ञान को कार्य स अलग रखा गया है। गलत मनोविज्ञान के आधार पर उन्ह विचार म अलग किया गया है, गलत समाजशास्त्र के आधार पर उन्हें जीवन से अलग किया गया है तथा गलत अर्थशास्त्र के आधार पर उनका भिन्न बाजार मूल्य निर्धारित किया गया है। इसलिए ज्ञान को सदैव स्थायी रखने के लिए उसम 'कर्मरूपी जलावन' निरतर लगाते रहना चाहिए।[४]

गीता म भी ज्ञान और कर्म को एक दूसरे से अलग नहीं किया गया है। यदि ज्ञान और कर्म को अलग कर दिया जाय तो जीवन के टुकडे हो जाते हैं, परन्तु मानव-जीवन पूर्ण और अखड है। फिर रचना के दृष्टिकोण से भी ज्ञान और कर्म एक दूसरे के बराबर हैं। ज्ञान मे ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान होता है, कर्म म कर्ता, करण और क्रिया होती है। ज्ञाता और कर्ता दोनों एक ही हैं। फिर ज्ञेय और करण म भी मूलत कोई भेद नहीं है। ज्ञान को तो क्रियास्वरूप आधुनिक मनोविज्ञान भी मानता है। इसलिए गीता पर टिप्पणी करते हुए विनोबा ने कहा है—' ज्ञान त्रिपुटी और कर्म त्रिपुटी को अलग अलग मानने

---

१ उपरिवत पृ० ६०

2 Of work comes knowledge of knowledge comes fruitful work, or the union of knowledge and work comes the development of intelligence —Bhave, Vinoba *Thoughts on Education*, (Kashi Akhil Bharat Sarva Seva Sangh, 1959) Prelude, XIII

3 Bhave, Vinoba *Thoughts on Education*, P 38

४ भावे, विनोबा, विचार-पोथी, (नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, १९६१), पृ० ३९।

की पद्धति तर्क की है। गीता ने ज्ञान-त्रिपुटी को कर्मबीज त्रिपुटी का रूप देकर दोनों का भेद ही मिटा दिया है। उनसे जीवन के टुकड़े होने का संकट टल गया है।"[1]

विनोबा के अनुसार ज्ञान ज्ञान-गम्य है।[2] इसका अर्थ यह है कि यदि पहले से ही ज्ञान हो तो आगे भी ज्ञान की प्राप्ति होगी। आत्मा सभी प्रकार के ज्ञान का भंडार है। इसी के कारण 'जगत के कारण जगत का, आंखों के कारण रूप का तथा बुद्धि के कारण ज्ञान" हमें होता है।[3] अतः ज्ञान में वस्तुतः हम आत्मा की सूक्ष्म एवं अव्यक्त शक्ति का ही अनुभव करते हैं। आत्मा में यदि ज्ञान तत्व पहले से न होता तो हम इसका कभी भी अनुभव नहीं कर सकते थे।

५ ज्ञान की सत्यता

विनोबा ज्ञान की सत्यता की कसौटी के सम्बन्ध में पश्चिमी दर्शन से भिन्न मत रखते हैं। पश्चिमी दर्शन में देकार्ट बौद्धिक स्पष्टता एवं परिस्पष्टता को, भाषाविश्लेषणवादी दार्शनिक इन्द्रियानुभव एवं पारिभाषिकता को, तथा अन्य अमेरिकन दार्शनिक पद्धति विशेष को सत्यता एवं असत्यता का मापदंड मानते हैं। परन्तु विनोबा ज्ञान की सत्यता की जाँच के लिए न तो केवल बौद्धिक स्पष्टता एवं परिस्पष्टता को उचित समझते हैं और न उसे केवल इन्द्रियानुभव का विषय होना ही पर्याप्त मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान की सत्यता पद्धति, तन्त्र एवं शास्त्रीयता से नहीं जाँची जाती है।[4] ज्ञान की सत्यता दो बातों पर निर्भर करती है। एक तो यह कि इससे हम कार्य सम्पादन करने में सहायता मिलती है तथा व्यावहारिक बुद्धि का विकास होता है। यदि कोई शास्त्र इस बात की प्रतिज्ञा करता है तो हम उसे सत्य ज्ञान की कोटि में रख सकते हैं। यदि कोई शास्त्र जीवन के मूल्यों पर ध्यान नहीं देता है तो वैसे व्यवस्थित तन्त्र को सामान्य व्यक्ति की आँखों में धूल झोंकने का प्रयास ही समझना चाहिए।[5] वस्तुतः भर्तृहरि के शब्दों में शास्त्र उत्तम मनुष्यों के जीवन का इतिहास है।

---

१ भावे, विनोबा गीताई चिन्तनिका, पृ० २१२

२ भावे विनोबा, विचार पोथी, पृ० २८

३ उपरिवत् पृ० ३०

4 Bhave, Vinoba *Thoughts on Education*, P 11

5 *Ibid*, P 11

अत जीवन मूल्य विरहित ज्ञान असत्य है। सत्यता की कसौटी के लिए दूसरी आवश्यक चीज विनोबा यह मानते हैं कि ज्ञान को सृष्टि के किसी भी पदार्थ के स्वाभाविक रूप से सम्बन्धित होना चाहिए[1] क्योंकि ज्ञान मे अर्थ प्राकृतिक वस्तुओ से ही मिलता है, शब्द म नहीं। शब्द तो अपने आप मे एक प्रतीक है। उसके अनुरूप वस्तुओ का होना ही उसकी अर्थवत्ता को सिद्ध करता है।

विनोबा की सत्यता की कसौटी गीता के शास्त्र से प्रभावित हैं। गीता मे अर्जुन को वास्तविक जीवन की समस्या के समाधान के लिए ही कृष्ण ने उपदेश दिया है। इसलिए गीता को योगशास्त्र कहा गया है। गीता के अनुसार कार्यों म कुशलता को प्राप्त करना ही योग है।[2] कुछ पश्चिमी दार्शनिक चार्ल्स पर्स तथा विलियम जेम्स ने भी ज्ञान को सत्यता को कार्यकुशलता के साथ जोड दिया है। परतु जहाँ गीता की योजना जीवन के गहरे मूल्यो पर आधारित है वहाँ प्रयोगवाद विशेष रूप म जीवन के भौतिक मूल्यो को लेता है। विनोबा गांधी की भाति प्रयोगवादी मापदड को ही लेते हैं। परतु वह अनिवार्यत भौतिकवादी नहीं हैं।

६ ज्ञान के नैतिक निर्धारक तत्त्व

पश्चिमी दर्शन म ज्ञान की शर्तों की चर्चा आती है, परतु ज्ञान के नैतिक निधारक तत्त्वों की चर्चा प्राय नहीं के बराबर है। भारतीय दर्शन मे ज्ञान के लिए कुछ नैतिक शर्तों का पालन अत्यन्त आवश्यक माना गया है। विनोबा के चिन्तन म ज्ञान की कुछ नैतिक शर्तो का भी उल्लेख किया गया है जो इसकी अपनी विशेषता है। परतु इन नैतिक शर्तों का आधार भी गीता ही है। गीता मे नम्रता, दम्भशून्यता, अहिंसा, ऋजुता, क्षमा, पावित्र्य, गुरु शुश्रूषा, स्थिरता एव आत्म सयम ज्ञान प्राप्त करने के आवश्यक नैतिक शर्तें माने गए हैं।[3] विनोबा ने उपर्युक्त सभी शर्तों की तुलना म ऋजुता को ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि म सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होंने कहा है—"ज्ञानदृष्टि से ऋजुता सबसे महत्त्वपूर्ण गुण समझना चाहिए। बिना ऋजुता के निश्चित व निष्कम्प ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। अर्जुन शब्द का अर्थ भी वस्तुत ऋजु बुद्धिवाला ही है।[4]

1 *Ibid*, P 48

२ "योग कर्मसु कौशलम्," गीता २।५०

३ भावे विनोबा, गीताई चिन्तनिका, पृ० १६१।

४ भावे, विनोबा, स्थित-प्रज्ञ दर्शन, पृ० २३।

ज्ञान प्राप्त करने की दूसरी शर्त शुचिता या पवित्रता है। मन की पवित्रता के अभाव मे शुद्ध ज्ञान सभव नही है। जिस प्रकार स्पष्ट प्रतिबिम्ब आने के लिए दर्पण का साफ रहना जरूरी है उसी प्रकार मन और बुद्धि पर आत्मा और सृष्टि का स्पष्ट प्रतिबिम्ब आने के लिए मन की स्वच्छता आवश्यक है।[1] मन की स्वच्छता मे हमारी स्मृति भी मजबूत बनती है। परन्तु मन और बुद्धि की शुद्धता के लिए भोजन की शुद्धता आवश्यक है।[2] ऋजुता और शुचिता के अतिरिक्त विनम्रता, गुरु-शुश्रूषा, गुरुवचन का ध्यानपूर्वक श्रवण तथा दभ शून्यता ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक मानी गई है जिनके अभाव मे किसी भी प्रकार के ज्ञान की वृद्धि नही हो सकती।

७ ज्ञाता और ज्ञेय का सबध

ज्ञान की प्रक्रिया मे ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तत्त्व सन्निहित हैं। ज्ञाता और ज्ञेय के सबधित होने पर ही ज्ञान उत्पन्न होता है। पश्चिमी दर्शन मे ज्ञाता और ज्ञेय के सबध को लेकर प्रत्ययवादियो एव वस्तुवादियो मे काफी मतभेद रहा है। प्रत्ययवादियो के अनुसार ज्ञेय ज्ञाता से स्वतन्त्र नही है। वह ज्ञाता पर निर्भर करता है। अत ज्ञाता और ज्ञेय दोनो मूलत एक है। वस्तुवादी विचारक यह मानते है कि ज्ञेय ज्ञाता से पूर्णत स्वतन्त्र है अत ज्ञाता और ज्ञेय दोनो एक दूसरे से पूर्णत भिन्न है। परन्तु ये दोनो विचार ज्ञाता और ज्ञेय के सबध की समुचित व्याख्या प्रस्तुत नही करते। प्रत्ययवाद समस्त विश्व को मन का प्रत्यय मानकर उसकी वास्तविकता को समाप्त कर देता है। वस्तुवाद ज्ञेय को ज्ञाता से पूर्णत भिन्न मानकर ज्ञाता और ज्ञेय के सबध को ही दुर्लभ बना देता है क्योकि दो विजातीय तत्त्वो के बीच सबध कैसे हो सकता है? सबध स्थापित होने के लिए दो वस्तुओ के बीच कुछ समानता का तत्त्व भी रहना चाहिए। इन कठिनाइयो से बचने के लिए विनोबा अपनी विसर्क की पद्धति से दोनो के विचारो का समन्वय करते है।

विनोबा के अनुसार आत्मा ज्ञाता है तथा ब्रह्म ज्ञेय है।[3] आत्मा आतरिक चैतन्य का द्योतक है। अत ब्रह्म आत्मा का ही परिशुद्ध[4] एव व्यापक स्वरूप

---

१ भावे विनोबा सत्य-शक्तिया, पृ० ८२।

२ आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि
सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृति "—भावे विनोबा,
शुचिता से आत्म दर्शन, (वाराणसी, सर्वसेवासघ, १९६२), पृ० २३

३ भावे विनोबा, गीताई चिन्तनिका, १३।१२, पृ० १६३।

४ उपरिवत् पृ० १६३।

है। चैतन्य आत्मा में भी है और बाह्य जगत में भी। अतएव ज्ञाता और ज्ञेय दोनों का अभेद[1] संबंध है। ब्रह्म ही हमारे अन्दर-बाहर, देहधारी रूप में समीप एवं दूर सर्वत्र व्याप्त है।[2] यही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है। अतएव वह सब के हृदय में निवास करता है। परन्तु सर्वत्र व्याप्त होकर भी वह स्थूल नहीं सूक्ष्म है। सूक्ष्म होने के कारण हम उसे पूर्णता में सीमित बुद्धि के द्वारा नहीं समझ सकते। इसलिए जो ज्ञेय है वह वास्तव में अज्ञेय[3] हो जाता है। विशुद्ध रूप में ज्ञेय स्वयं ज्ञानस्वरूप हो जाता है। इसलिए उसे 'ज्ञान का ज्ञान' कहा जाता है।[4] ज्ञान का ज्ञानत्व ज्ञेय के कारण ही प्राप्त होता है। नम्रता आदि साधनों के द्वारा हम ज्ञेय को ही प्राप्त करते हैं। इसलिए उसे ज्ञान का ज्ञान कहा गया है।

विनोबा का यह सिद्धांत पश्चिमी प्रत्ययवाद एवं भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद के समीप है। परन्तु इनके सिद्धान्त की विशेषता यह है कि उसमें बर्कले के प्रत्ययवाद की भाँति जगत को अवास्तविक एवं मन की उपज नहीं माना गया है। सब कहा जाय तो यहां ज्ञाता ही ज्ञेय पर आश्रित है क्योंकि चरम तत्त्व ज्ञेय ही है। फिर भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद व्यावहारिक दृष्टि से मान्य है। विनोबा पर अद्वैतवाद का गहरा प्रभाव है। शंकर के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय, तत्त्व और ज्ञान दोनों एक ही हैं, अनुभव के अभाव में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत मालूम पड़ता है। जब हमारी अविद्या समाप्त हो जाती है तो यह औपचारिक भेद मिट जाता है। ऐसी स्थिति में ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का अभेद संबंध दिखाई पड़ने लगता है। अतः यदि ज्ञाता और ज्ञेय में कोई संबंध है तो वह आन्तरिक संबंध ही है। पश्चिमी वस्तुवाद तत्त्व और ज्ञान का द्वैत स्वीकार करता है। वहाँ ज्ञान का अर्थ तत्त्व की व्याख्या है। इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय, तत्त्व और ज्ञान के बीच द्वैत मानने से उनके बीच बाह्य संबंध ही स्थापित किया जा सकता है जो दार्शनिक दृष्टि से ग्राह्य नहीं है। ब्रैडले ने अपने तर्कों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि बाहरी संबंध की धारणा अनवस्था दोष से दूषित है तथा वह विरोधों से पूर्ण है। विनोबा के सिद्धांत में अध्यात्मवाद एवं वस्तुवाद दोनों का

---

१ उपरिवत् पृ० १६३।
२ उपरिवत् पृ० १६४।
३ उपरिवत् पृ० १६१।
४ उपरिवत् पृ० १६४।

समन्वय है। इस समन्वय में वस्तुवाद व्यावहारिक रूप में सत्य है। परंतु समग्र दृष्टि में अद्वैतवाद ही सही है।

८ ज्ञान के मनोदैहिक साधन

विनोबा के चिन्तन में ज्ञान के साधनों पर पर्याप्त रूप से विचार हुआ है। वे ज्ञान को शक्तिस्वरूप मानते हैं। सभी प्रकार की शक्तियाँ अन्त में ब्रह्माण्ड की एकात्मक शक्ति में परिणत होती हैं। अतएव ब्रह्मज्ञान ही उच्चतम कोटि का ज्ञान है। सभी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति विविध प्रकार की शक्तियों एवं ज्ञान के साधनों के आधार पर होती है। अतः यह विचार करना आवश्यक है कि वे कौन-सी शक्तियाँ हैं जिनके सहारे हम ब्रह्मज्ञान की ऊँचाई तक पहुँचते हैं ?

विनोबा के अनुसार संपूर्ण सृष्टि एक ही आत्मा एवं अष्टधा प्रकृति से निर्मित है।[1] आत्मा चैतन्यस्वरूप तथा प्रकृति जडस्वरूप है।[2] मनुष्य इन्हीं आत्मा एवं अष्टधा प्रकृति का समग्र रूप है। आत्मा सभी प्रकार के ज्ञान का मूल साधन है क्योंकि अन्य साधनों के द्वारा जो ज्ञान मिलता है वह आत्मा के कारण ही। परंतु आत्मा के अतिरिक्त अन्य मनोदैहिक साधन हैं जिनके द्वारा हमें भिन्न भिन्न प्रकार के ज्ञान प्राप्त होते हैं। यहाँ उनका अलग अलग विवरण करना अपेक्षित है।

ज्ञानेन्द्रिय विनोबा ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का साधन मानते हैं। परंतु इनके द्वारा प्राप्त *ज्ञान केवल बाह्य जगत का ही ज्ञान होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ* शक्ति स्वरूपा हैं।[3] आँख, कान, नाक, जिह्वा एवं त्वचा रूपी हमारी पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तेज, वायु, पृथ्वी, जल एवं आकाश रूपी पंच भौतिक शक्तियों का ज्ञान रूप, शब्द, गंध, रस एवं स्पर्श रूपी पंचतन्मात्राओं के माध्यम से देती हैं।[4] जब ज्ञानेन्द्रियों के साथ उनके विषयों का संयोग होता है तो हमें बाह्य जगत का ज्ञान मिलता है। परंतु ज्ञानेन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग दो दृष्टि से हो सकता है—एक भोग की दृष्टि से तथा दूसरा ज्ञान की दृष्टि से। जब तक ज्ञानेन्द्रियाँ भोग की लालसा में विषयों के संपर्क में रहती हैं तब तक हम

---

१ भावे, विनोबा **गीता प्रवचन**, (वाराणसी स० सेवा संघ प्रकाशन, १९६५), पृ० ९७।

२ उपरिवत्, पृ० ९७।

३ भावे, विनोबा **सप्तशक्तिया**, पृ० २१।

४ भावे, विनोबा, **गीताई चिन्तनिका**, पृ० ८८–८९।

उनसे अपेक्षित ज्ञान नहीं मिलता है। विनोबा के शब्दों में ही "भोग में मनुष्य अपने को भोज्य वस्तु के साथ जोड़ता है। जब वह भोक्ता बनता है, तो वह वस्तु भोज्य बनती है और फिर वह ज्ञान-वस्तु नहीं रहती, ज्ञेय नहीं रहती, भोज्य बनती है।"[१] जैसे स्वाद की दृष्टि से आम पर किसी आम का सांगोपांग, पूर्ण तथा शास्त्रीय ज्ञान नहीं हो सकता। उसका पूर्ण ज्ञान उसके भोक्ता को नहीं, द्रष्टा को होता है, जो उस ज्ञान की दृष्टि से देखता है। अतः ज्ञान के लिए इन्द्रियों का विषयों के साथ ज्ञान दृष्टि से जुड़ना आवश्यक है।[२] यदि आम के केवल रस का ज्ञान प्राप्त करना है, तो इसी दृष्टि से आम के साथ जिह्वा का संपर्क होना चाहिए। यह द्रष्टा की दृष्टि है। भोक्ता की दृष्टि इससे भिन्न होती है।

विनोबा यह मानते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा समस्त दृष्टि का ज्ञान संभव नहीं है। पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा केवल पाँच विषयों से ही ज्ञान प्राप्त होते हैं और वे भी केवल अच्छे विषयों के ही। अतः समस्त सृष्टि का अर्थ केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान के आधार पर नहीं लगाया जा सकता।[३]

मन पंच ज्ञानेन्द्रियों का लगाव हमारे मन से होता है। बिना मन से संबंधित हुए ज्ञानेन्द्रियाँ हमें ज्ञान नहीं दे सकतीं। विनोबा के अनुसार मन अंतःकरण विशेष है जो इन्द्रियों और बुद्धि के बीच में कड़ी का काम करता है। यह सभी प्रकार के संकल्प विकल्पात्मक कार्यों को सम्पन्न करता है और सभी प्रकार के विचारों का आश्रय है।[४] गीता में मन के स्थान पर धृति एवं बुद्धि दो विशेष प्रकार की इन्द्रियों को स्वीकारा गया है। अतः मन को समझने के लिए इन दोनों इन्द्रियों का ज्ञान आवश्यक है।

धृति विनोबा के अनुसार धृति हमारे अन्तःकरण की एक इन्द्रिय है, जो बुद्धि से भिन्न एक स्वतंत्र शक्ति है।[५] यह शक्ति प्राण के परिणामस्वरूप पैदा होती है। इसे अंग्रेजी के 'विल पावर' के समकक्ष माना जा सकता है।[६] मन, प्राण एवं इंद्रियों की जो क्रियाएँ चलती हैं उन्हें धारण करनेवाली शक्ति धृति

१ भावे, विनोबा सप्तशक्तियाँ, पृ० ५९।
२ उपरिवत्, पृ० ६१।
३ भावे, विनोबा, गीता-प्रवचन पृ० १०१।
४ भावे, विनोबा, गीताई चिन्तनिका, पृ० ८९।
५ भावे, विनोबा सप्तशक्तियाँ पृ० ५१।
६ उपरिवत्, पृ० ५१।

है। इसके द्वारा अपने को नियन्त्रित करने, रोकने, सदरूप करने एव किए हुए सकल्पो को पूरा करने का कार्य सपन्न होता है।[१] धृति के द्वारा सभी प्रकार के नियमन के कार्य होते है। यह एक प्रकार का करण है जो हमे प्राप्त है।[२] धृति को सबल बनाने के लिए हमे तरह तरह के शुभ सकल्पो को ठान कर उन्हें कार्य मे परिणत करना पडता है।[३]

स्मृति स्मृति का प्रयोग विनोबा के चिन्तन मे दो अर्थों मे हुआ है। एक अर्थ मे यह एक प्रकार की मन की सूक्ष्म शक्ति है। दूसरे अर्थ मे यह चित्त की अवस्था[४] विशेष का नाम है। प्रथम अर्थ के अनुसार जब अच्छे या बुरे कर्मो की छाप या सस्कार हमारे मस्तिष्क मे पड जाती है तो इसी सस्कार समुच्चय[५] को 'स्मृति' कहते है। कुछ अच्छी या बुरी स्मृतियो के भुलाने के बाद जो स्मृति बच जाती है उसे स्मृति शेष कहते है। विनोबा के अनुसार स्मृति शक्ति का विकास सभव है। इसके विकास के लिए तीन बातो की आवश्यकता पडती है—वीर्य रक्षा विवेक एव आत्मज्ञान। रूपक के सहारे विनोबा ने कहा है— 'तेल वीर्य है और बत्ती बुद्धि है। उसमे जो चमक है, ज्योति है वह उसकी ज्ञान प्रभा है। अगर नीचे का तेल क्षीण हो जाय, तो बुद्धि की ज्ञान प्रभा, जिसका स्मृति एक अग है, क्षीण हो जाएगी। इस तरह वीर्य रक्षा पर ही स्मृति शक्ति निर्भर है।[६] वीर्य रक्षा से स्मृति दृढ बनती है। परन्तु विवेक के कारण केवल अच्छी स्मृति ही हममे मौजूद रहती है। आत्मज्ञान के कारण अपने पराये का भेद मिट जाता है। अत इसके कारण दूसरो की बुरी बाते भी हम भुला देते है। इस प्रकार वीर्य रक्षा, विवेक एव आत्म ज्ञान—तीनो मिलकर स्मृति को मजबूत करते है।[७] ऊपर जिस स्मृति की चर्चा की गई है उससे केवल व्यवहारोपयोगी ज्ञान ही मिल सकता है। इसे मनोविज्ञान का विषय मान सकते है। परन्तु इसके द्वारा हृदय की ग्रथियाँ खोली नही जा

---

१ उपरिवत्, पृ० ५२।

२ उपरिवत्, पृ० ५२।

३ उपरिवत्, पृ० ५६।

४ उपरिवत् पृ० ८५।

५ भावे, विनोबा स्थित प्रज्ञ-दर्शन, पृ० ७१।

६ भावे, विनोबा, सप्त-शक्तियाँ, पृ० २६।

७ उपरिवत्, पृ० ३०।

८ उपरिवत्, पृ० ३३।

सकती हैं।[१] इसलिए उपनिषद् एवं गीता मे स्मृति का एक अर्थ चित्त की अवस्था से लिया गया है। यह चित्त की वह अवस्था है जिसमे आत्मा का स्वरूप नित्य स्मरण रहता है।[२] इस अर्थ में स्मृति का अर्थ आत्म स्मृति है। यह स्मृति वाह्य कुसस्कारो से बचने में हमें सहयोग देती है।[३] इसके कारण बुरे ज्ञान हमारे हृदय में प्रवेश नहीं कर पाते हैं।[४]

पश्चिमी मनोविज्ञान मे स्मृति का वर्णन विशेष रूप से एक प्रकार की मानसिक क्रिया के रूप मे किया जाता है। परन्तु इसके लिए किसी विशेष इन्द्रिय की कल्पना नही की जाती है। विनोबा भारतीय दर्शन की परंपरा को अपनाते हुए मन को इन्द्रिय मानते हैं। अत यह एक प्रकार की मानसिक क्रिया ही नही शक्ति भी है। विनोबा इसका वर्णन मानसिक क्रिया के रूप में कम मानसिक शक्ति के रूप मे अधिक करते है। वे धृति एवं स्मृति शक्ति को मजबूत करने पर विशेष बल देते है। जीवन की दृष्टि से यह बात गौण है कि हमे किन किन साधनो से किस प्रकार ज्ञान प्राप्त होते हैं? यहां प्रधानता इस बात की रहती है कि जो साधन हमें ज्ञान के लिए प्राप्त है, उनसे किस प्रकार अधिक-से अधिक निपुणतापूर्वक कार्य लिया जाय जिसमे व्यक्ति और समाज का कल्याण हो? विनोबा का विचार इसी दृष्टि से विशेष हुआ है। विज्ञान की दृष्टि से कम।

बुद्धि विनोबा के अनुसार बुद्धि हमारे चित्त का एक भाग है।[५] यह अंतःकरण की एक प्रकार की निर्णयात्मक शक्ति है जो हमें निश्चयात्मक ज्ञान देती है। इसलिए इसे सभी प्रकार के विचारो का आश्रय माना जाता है। इसे ज्ञान शक्ति की भी संज्ञा दी गई है।[६] आत्मा को जानने का सामर्थ्य

---

१ भावे विनोबा **स्थित-प्रज्ञ दर्शन**, पृ० ७१।

२ उपरिवत् पृ० ७१।

३ उपरिवत् पृ० ७१।

४ आधुनिक शरीरशास्त्र के अनुसार मन मस्तिष्क में निवास करता है। परन्तु उपनिषद् के सिद्धान्त के अनुसार सभी प्रकार की नाड़ी आकर हृदय में मिलती है इसलिए हृदय मन बुद्धि ज्ञानेन्द्रिय सभी का मिलन बिन्दु है।

५ उपरिवत् पृ० ८०।

६ भावे विनोबा **गीताई-चिंतनिका**, पृ० ८९।

बुद्धि मे ही है। परन्तु जब बुद्धि विषयनिष्ठ बन जाती है तो वह अपनी शक्ति खो देती है।[१] वास्तविक अर्थ मे बुद्धि ही ज्ञान का कारण है।[२]

विनोबा तीन प्रकार की बुद्धि की कल्पना करते है—सात्विक-बुद्धि, राजसी-बुद्धि, और तामसी बुद्धि।[३] सात्विक बुद्धि के द्वारा सम्यक् निर्णय होता है। राजसी-बुद्धि मे सशयपूर्ण निर्णय होता है तथा तामसी-बुद्धि के द्वारा विपरीत निर्णय होता है।

बुद्धि के स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट होता है कि केवल सृष्टि का ज्ञान ही ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा होता है क्योकि इसमे इन्द्रिय विषय-सयोग आवश्यक है।[४] परन्तु सृष्टि ज्ञान के अतिरिक्त सभी प्रकार के अनुमित एव आध्यात्मिक ज्ञान का आधार बुद्धि ही है। अत यह ज्ञान प्राप्त करने का श्रेष्ठतम साधन है। गाधी ने अतर्बोध को ज्ञान प्राप्त करने का श्रेष्ठतम साधन माना था। बुद्धिगत ज्ञान ही अभ्यास के द्वारा उच्च कोटि के ज्ञान जैसे भावना, मेधा एव प्रज्ञा मे परिणत होता है। अतएव इनका यहाँ जिक्र करना अनुचित नही होगा।

भावना

विनोबा चिन्तन मे भावना के दो अर्थ है—'परिनिष्ठित बुद्धि' अर्थात् 'बुद्धि की परिपक्वता'[५] एव 'भक्ति'।[६] प्रथम अर्थ के अनुसार जब बुद्धि का अनवरत अभ्यास किया जाता है तो उसमे फिर और अधिक तर्क करने या विचार करने की आवश्यकता नही पडती है। वही भावना कहलाती है। भावना का अर्थ भी वैद्यकशास्त्र मे 'घोटाई करना' है। अर्थात् होमियोपैथिक मे जब दवा की काफी घोटाई की जाती है तो इसके कारण उसकी शक्ति बढ जाती है। इसी को भावना कहते हैं। इसी प्रकार जब बुद्धि की काफी घोटाई होती है तो उसकी शक्ति बढ जाती है तथा वही भावना का रूप ले लेती है।[७]

---

१ भावे, विनोबा, स्थित प्रज्ञ दर्शन, पृ० ७३।

२ उपरिवत्, पृ० ७२।

३ भावे, विनोबा, गीताई-चिन्तनिका, पृ० २२५ २२६।

४ उपरिवत्, पृ० २२७।

५ भावे, विनोबा, स्थितप्रज्ञ दर्शन पृ० ९१।

६ उपरिवत् पृ० ९९।

७ उपरिवत्, पृ० ९९।

भावना को उदाहरण के द्वारा भी समझा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति हत्या की बात सुनकर यह निर्णय देता है कि "बुरा हुआ" अथवा कभी हम यह कह सकते हैं कि युद्ध में मारे गये सैनिकों का मांस खाना बुरा है, तो यह भावना के कारण ही संभव होता है। ऐसे निर्णयों के विरुद्ध जाने की बात हम कभी सोच नहीं सकते क्योंकि इन्हें तर्क की कसौटी पर तथा अनुभव में बार-बार जाँचा गया है।

बुद्धि का रूपान्तर भावना में करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि से जप, ध्यान एवं आचरण तीनों के प्रयोगों को आवश्यक माना गया है।[१] इन तीनों की साधना में ही बुद्धि भावना में परिणत होती है।

दूसरे अर्थ के अनुसार जब आत्मज्ञान घुट घुट कर आत्मसात् हो जाता है तो उसका रूपान्तर भक्ति में हो जाता है। विनोबा ने कहा है—"बोध को प्रेम का रूप प्राप्त होना मानो ज्ञान को भक्ति का रूप मिलना है।"[२] इसलिए इस अर्थ में भावना का अर्थ आत्मज्ञान का भक्ति में परिणत होना है।

बुद्धि और भावना

सामान्यतः भावना और बुद्धि दोनों को एक दूसरे का विरोधी माना जाता है। विनोबा के चिन्तन में इसकी आलोचना की गई है। विनोबा के अनुसार बुद्धि और भावना को गलत अर्थ में प्रयोग करने के कारण, हम एक दूसरे को विरोधी मानते हैं। भावना प्रधान का हम अर्थ लगाते हैं—विकारप्रधान और बुद्धि प्रधान का अर्थ लगाते हैं हृदय की शुष्कता तथा तर्क की प्रधानता।[३] *परन्तु वास्तव में बुद्धि और भावना का अभेद संबंध है।* बुद्धि का भीतरी भाग ही हृदय कहलाता है जो भावना का उद्गम स्थान है।[४] फिर भी सुविधा के लिए इन दोनों का भेद कर हम समझ सकते हैं। बुद्धि और भावना का पहला अन्तर है कि बौद्धिक ज्ञान में थोड़ा-बहुत संदेह के लिए स्थान रहता है। परन्तु भावना की अवस्था में हमारी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है,[५] इसलिए इसमें थोड़े-से भी संशय के लिए स्थान नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि बुद्धि के द्वारा मात्र दिशा निर्देशन का कार्य संपन्न होता है, परन्तु भावना से दिशा निर्देश तो

---

१ उपरिवत्, पृ० ९७।
२ उपरिवत् पृ० ९९।
३ उपरिवत्, पृ० ९८।
४ उपरिवत्, पृ० ९८।
५ उपरिवत्, पृ० ९७।

होना ही है, कार्य भी होता है।[1] अत स्पष्ट है कि भावना और बुद्धि दोनों ज्ञान के साधन है। अन्तर केवल मात्रा का है गुणो का नही।

प्रज्ञा

प्रज्ञा बुद्धि का ही शुद्ध रूप है। जिस प्रकार बार-बार प्रयोग के द्वारा बुद्धि भावना म परिणत होती है ठीक उसी प्रकार जब सामान्य बुद्धि म राग द्वेष मनोविकारो कल्पनाओ इत्यादि का बहिष्कार हो जाता है केवल विशुद्ध बुद्धि बच जाती है उस ही प्रज्ञा कहते है।[2] यो राग, द्वेष दि विकारो स मुक्त बुद्धि के द्वारा भी ज्ञान मिलता है परन्तु इसमे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नही होती है। यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का साधन शुद्ध बुद्धि है जिसे खालिस बुद्धि कहा गया है।[3] सामान्य बुद्धि म हमारी रुचि एव कल्पनाओ के कारण अनेक प्रकार के रंग चढ जाते है। ऐसी बुद्धि के द्वारा हमारा मार्गदर्शन नही होता है।[4] हमारे निर्णय हमेशा बदलते रहते है। परन्तु शुद्ध बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा के द्वारा शुद्ध निर्णय होता है तथा उसम हमारा मार्गदर्शन होता है।[5] विनोबा न कहा है—प्रज्ञा तटस्थ रहती है। वह ठीक वस्तुस्वरूप पर लक्ष्य रखकर निर्णय दिया करती है।[2] इस प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए हम मन के अहंकार को निकाल देना पड़ता है। यही मनुष्य की ज्ञान साधना का लक्ष्य है।

मेधा

विनोबा चिन्तन म मेधा आकलन शक्ति का पर्याय है।[6] आकलन ज्ञान का वह रूप है जिसम विश्लेषात्मक एव सश्लेषात्मक दोनो प्रकार की क्रियाए पायी जाती है। उदाहरणस्वरूप हम किसी घडी का ज्ञान उसके सभी पुर्जे का अलग कर प्राप्त कर सकते है और फिर उन पुर्जो को आपस म जोड़कर भी प्राप्त कर सकते है। दोनो प्रक्रियाओ के द्वारा दो प्रकार के ज्ञान मिलते है। पहली क्रिया के द्वारा हम विश्लेषात्मक ज्ञान प्राप्त होता है और दूसरी क्रिया के

---

१ उपरिवत्, पृ० १७।

२ जिस बुद्धि पर मानसिक कल्पनाओं का, पसन्दगी-नापसन्दगी का, वृत्तियों का रंग नही चढता, जो केवल ज्ञान का काय करती है वही प्रज्ञा है। उपरिवत्, पृ० २३।

३ उपरिवत्, पृ० २२।

४ उपरिवत् पृ० २३।

५ उपरिवत्, पृ० २३।

६ भावे विनोबा, सप्त शक्तियाँ, पृ० २६।

द्वारा सश्लेषात्मक ज्ञान मिलता है। विश्लेषण एव सश्लेषण दोनो क्रियाओ को पूरा करने के बाद आकलन होता है। इसी आकलन को मेधा[१] कहते हैं। जिस व्यक्ति मे यह शक्ति रहती है वह मेधावी कहलाता है, मेधावी को असदिग्ध ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रहती है। विनोबा के शब्दो मे "ऐसी मेधा जहाँ होती है, वहाँ मनुष्य छिन्न सशय हो जाता है, उसका सशय बाकी नही रहता। क्योकि उभयविध प्रक्रिया करके उस वस्तु का समग्र आकलन ज्ञान-विज्ञान सहित हो गया। विज्ञान सहित याने विविध ज्ञान, विस्तारित ज्ञान, विश्लेषण ज्ञान हो गया, और उसके साथ ज्ञान मिला—ये दोनो हुए, वहाँ आकलन पूर्ण होता है। इसलिए फिर सशय नही रहता।"[२] मेधा-शक्ति प्राप्त करने के लिए विनोबा ने दो प्रकार के नैतिक निर्धारको की चर्चा की है—त्याग और पवित्रता। इस प्रकार सपूर्ण मेधा मे विश्लेषात्मक ज्ञान, सश्लेषात्मक ज्ञान, त्याग, एव पवित्रता सभी एक साथ आ जाते हैं।[३]

९ ज्ञान की पद्धति

विनोबा चिन्तन का मूल उद्देश्य दर्शन, धर्म तथा समाज के अन्य क्षेत्रो मे समन्वय की स्थापना करना है। समन्वय के लिए सभी प्रकार के दर्शन, धर्म एव भावो की आशिक सत्यता को स्वीकार करना अनिवार्य है। अतएव विनोबा ने दर्शन मे ऐसी पद्धति को स्वीकार किया है जिसमे बिना किसी आत्म-घात या विरोध के समन्वय स्थापित किया जा सके। इस पद्धति को उन्होंने वितर्क की पद्धति[४] की सज्ञा दी है। पश्चिमी दर्शन मे आगमन और निगमन दो प्रकार की ज्ञान की पद्धतिया अपनाई गई हैं। इनमे सत्यता का सिद्धात अविरोधिता के नियम पर आश्रित है। आधुनिक तर्कशास्त्र तादात्म्य, व्याघातक, आदि नियमो पर ही मुख्यत आधारित है। यहाँ दो विरोधी बातो की सत्यता एक साथ स्वीकार नहीं की जा सकती। भारतीय न्याय दर्शन मे तर्क की पद्धति को ही दर्शन की पद्धति मानी गई है। परतु विनोबा की वितर्क-पद्धति, तर्क एव विरोध से ऊपर की वस्तु है।[५] इसमे विरोधो के परिहार करने की ताकत है। पश्चिमी दर्शन मे यह पद्धति द्वन्द्व-समीक्षा पद्धति (dialectic) के नाम से प्रसिद्ध है।

---

१ उपरिवत्, पृ० ३७।

२ उपरिवत्, पृ० ३७।

३ उपरिवत्, पृ० ९९।

४ भावे, विनोबा, विनोबा-चिंतन, १६ मई १९६७, पृ० २०२।

५ उपरिवत्, पृ० २०३।

विनोबा की वितर्क पद्धति का स्थान उपनिषद, एवं योगसूत्र है। इस संबंध में उन्होंने उपनिषद की पंक्तियों को उद्धृत किया[1] है जिसका अर्थ है "वितर्क में विचार सूक्ष्म प्रमाण है तथा उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम प्रमाणों का आविष्कार हुआ है। इन प्रमाणों से परस्पर विरोध मिट कर अविरोध स्थापित होता है।"

विनोबा के अनुसार भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद तथा जैन दर्शन में वितर्क पद्धति का सुन्दर प्रयोग हुआ है। शंकर ने वेदों के विरुद्ध वाक्यों का परस्पर अपवर्तांशज भेद[2] के आधार पर तथा रामानुज ने "शरीरशरीरभाव"[3] मानकर क्रमशः निर्गुण एवं सगुण मत की स्थापना की है। यही उनका चिन्तन है। जैन दार्शनिकों के सप्तभंगीनय और स्याद्वाद के सिद्धांत वितर्क के सर्वोत्तम उदाहरण है।[4] निर्गुण सगुण तथा स्याद्वाद के सिद्धान्तों के द्वारा मुख्य रूप से विचारों के विरोधों का ही निराकरण हुआ है। विनोबा दार्शनिकों एवं धर्मसुधारकों के लिए इस प्रकार का कार्य आवश्यक मानते हैं। वे मानते हैं कि वितर्क की पद्धति से ही समग्र ज्ञान मिल सकता है। उन्होंने कहा है— हम अविरोधी समन्वयकारी वितर्क पद्धति से हम सबको अयुक्त मानना सीखना है। जैनों ने सप्तभंगीनय आदि स्वीकार कर आज षडदर्शनों में एकता लानी है अविरोधी समन्वय करना है। आगे चलकर बुद्ध ईसाई इस्लाम और हिन्दू धर्मों में भी अविरोधी समन्वय करना है।[5] हेगेल और मार्क्स का द्वन्द्ववाद वाद प्रतिवाद एवं संवाद की त्रिपदी द्वन्द्व न्याय की पद्धति से विरोधों का आपस में निराकरण करता है। अतः इसमें एक प्रकार का नियतिवाद आ जाता है। समस्त विरोधों के परिहार की प्रक्रिया एक ही प्रकार से निर्धारित हो जाती है अतः इसमें संकीर्ण अर्थ में वाद बनता है। परन्तु विनोबा की वितर्क-पद्धति की यह विशेषता है कि यह विरोधों के परिहार की पद्धति को स्वतन्त्रता प्रदान करता है। मुख्य चीज है विरोधों का निराकरण। इसलिए वे कोई पूर्व निर्धारित इतिहास दर्शन नहीं देते। वे यह विश्वास करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि एवं विचार शक्ति से वितर्क के नये नये मार्गों

---

१ 'वितर्के विचार नन्दास्मिता रूपानुगमात् सम्प्रज्ञात '—उपरिवत् पृ २०३।

२ उपरिवत्, पृ २०४।

३ उपरिवत्, पृ० २०४।

४ उपरिवत्, पृ० २०५।

५ उपरिवत्, २०५।

को ढूँढ सकता है। अत जहाँ हेगेल और मार्क्स की पद्धतियों का परिणाम हिंसा है, वहाँ विनोबा की वितर्क पद्धति पूर्णरूपेण अहिंसक रह जाती है। अत वितर्क पश्चिमी द्वन्द्व समीक्षा पद्धति से थोड़ा भिन्न है। पश्चिमी द्वन्द्व समीक्षा पद्धति का सार संघर्ष है। विनोबा के वितर्क का सार समन्वय है।

१० ज्ञान के प्रकार

विनोबा कई दृष्टियों से ज्ञान के प्रकार पर विचार करते हैं। यद्यपि आत्मज्ञान और विज्ञान को ही ज्ञान का मूल भेद मानकर उन पर काफी चर्चा करते हैं, परन्तु उनके चिन्तन में अप्रत्यक्ष रूप में भी अन्य कई प्रकार के ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है। इसलिए अध्ययन की सुविधा के लिए सभी प्रकार के ज्ञान को पाँच बिन्दुओं में रखा जा सकता है

(क) साधना का दृष्टिकोण
(ख) स्वभाव का दृष्टिकोण
(ग) तत्त्व का दृष्टिकोण
(घ) साधन का दृष्टिकोण
(ङ) कार्य का दृष्टिकोण

(क) साधना के दृष्टिकोण में दो प्रकार के ज्ञान हैं—एक बौद्धिक या सैद्धान्तिक ज्ञान तथा दूसरा व्यावहारिक ज्ञान। सैद्धान्तिक ज्ञान को सांख्य-बुद्धि तथा व्यावहारिक ज्ञान को योग बुद्धि कहते हैं।[1] सांख्य बुद्धि आत्मज्ञान का सैद्धान्तिक या बौद्धिक पक्ष है। परन्तु योग बुद्धि उस ज्ञान का प्रकट या प्रायोगिक रूप है। अत दोनों दो प्रकार के ज्ञान हुए। एक संगीत शास्त्र के सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने के समान है तो दूसरा उसके गान की कला सीखने के बराबर।[2] एक ज्ञान का अव्यक्त रूप है, दूसरा उसका प्रकट रूप।[3] एक आत्मज्ञान के अर्थ में ज्ञान है तो दूसरा "पचा हुआ ज्ञान" के अर्थ में विज्ञान है।

(ख) स्वभाव की दृष्टि में भी दो प्रकार के ज्ञान हैं—आत्म-ज्ञान और बाह्य ज्ञान।[4] आत्मज्ञान स्वाभाविक ज्ञान है। यह हमारी बुद्धि पर बोझ

१ भावे, विनोबा, **स्थित प्रज्ञ दर्शन**, पृ० १८।
२ उपरिवत्, पृ० १८।
३ उपरिवत्, पृ० १९।
४ उपरिवत्, पृ० १६०।

नहीं बनता है[1] क्योंकि यह न तो बनावटी है और न बाहरी।[2] एक बार प्राप्त कर लेने के बाद यह ज्ञान मिटता नहीं है। यह सदैव हमारे चित्त पर अंकित रहता है। गीता में इसी को 'नैनां प्राप्य विमुह्यति' कहा गया है।[3] परंतु बाह्य ज्ञान के साथ ऐसी बात नहीं है। बाह्य ज्ञान हमारे चित्त पर बोझ स्वरूप विद्यमान रहता है। आवश्यकता के समाप्त होते ही हमारी बुद्धि उसे भुला देती है। जैसे भूगोल, रेल्वे की समय सारिणी इत्यादि ज्ञान बाहरी ज्ञान के उदाहरण हैं। आवश्यकता समाप्त होने पर हमारी बुद्धि इन्हें भुला देती है।[4] यह आत्मा के क्षेत्र के बाहर का ज्ञान है। इसी प्रकार वनस्पतियों के गुणों का ज्ञान भी बाहरी ज्ञान है। यह ज्ञान यद्यपि वस्तु ज्ञान है फिर भी बाहरी ज्ञान है।[5] इसलिए इसका बोझ हमारे चित्त पर होता है।

(ग) वस्तुतत्त्व की दृष्टि से तीन प्रकार के ज्ञान हैं—भौतिक ज्ञान चैत्तसिक ज्ञान एवं आत्मज्ञान। विनोबा चिंतन में जड़ चित्त से भिन्न है एवं चित्त अध्यात्म तत्त्व से भिन्न है।[6] अतः इन तीनों वस्तु तत्त्वों के अनुरूप तीन प्रकार के ज्ञान हुए। भौतिक पदार्थों का ज्ञान भौतिक ज्ञान है। चेतना या मानव प्रकृति (Psychic powers) का ज्ञान चैतसिक ज्ञान है।[7] अध्यात्म इन दोनों से भिन्न आत्मा का ज्ञान है। भौतिक ज्ञान एवं चैतसिक ज्ञान दोनों विज्ञान के ही अंश हैं।[8] समसामयिक भारतीय दार्शनिक कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने विज्ञान एवं दर्शन की चेतना को अलग किया है।[9] विनोबा अपने दर्शन में *विज्ञान और अध्यात्म को मिलाने की बात करते हैं*। अतः इनके दर्शन में विज्ञान एवं अध्यात्म ज्ञान का समन्वय हुआ है।

---

१ उपरिवत पृ० १६०।

२ उपरिवत, पृ० १६१।

३ श्रीमद्भागवत गीता २।७२।

४ भावे विनोबा स्थितप्रज्ञ दर्शन पृ० १६०।

५ उपरिवत पृ० १६१।

६ भावे विनोबा आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० २३।

७ उपरिवत पृ० ४९।

८ उपरिवत पृ० ४०।

९ म्यूरहेड, जे० एच० और राधाकृष्णन् स० (सम्पा०) कन्टैम्परेरी इंडियन फिलासफी (द्वि० सं०) पृ० ११५।

(घ) साधन की दृष्टि में ज्ञान तीन प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान एवं आत्मज्ञान। सभी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में मिलने वाले ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। जो ज्ञान निर्णयों एवं विचारों के रूप में मिलता है, वह बौद्धिक ज्ञान है[१] तथा इन दोनों से भिन्न जिसमें केवल एक ही तत्त्व का अनुभव सभी तत्त्वों में होता है वह आत्मज्ञान है।[२]

(च) ज्ञान के उपर्युक्त वर्गीकरणों का यदि सामान्यीकरण किया जाय तो मूलतः दो ही प्रकार के ज्ञान बच जाते हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं—वे हैं आत्मज्ञान और विज्ञान। अतः इन दोनों पर गहराई में विचार करना आवश्यक है।

११ आत्मज्ञान और विज्ञान

आत्मज्ञान आत्मज्ञान, ब्रह्मविद्याशास्त्र एवं अध्यात्म का पर्यायवाची शब्द है।[३] इसे तत्त्वज्ञान भी कह सकते हैं क्योंकि तत्त्वज्ञान आत्मा, परमात्मा, सृष्टि के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक संबंध की चर्चा करता है।[४] आत्मज्ञान, आत्मवाद, प्रेतविद्या और चैत्तसिक खोज—तीनों से भिन्न है।[५] आत्मवाद, प्रेत-विद्या तथा चैत्तसिक खोजों का दुरुपयोग हो सकता है परन्तु अध्यात्म-विद्या का कभी भी दुरुपयोग नहीं हो सकता।[६] आत्मज्ञान को रहस्यवाद से भी भिन्न माना गया है।[७] रहस्यवाद अनेक झूठे अनुभवों की चर्चा करता है। इसे विनोबा ने मात्र आश्वासन[८] कहा है। वस्तुतः आत्मज्ञान वह ज्ञान है जिसके होने पर एक ही आत्मतत्त्व समस्त सृष्टि में दिखलाई पड़ने लगता है[९] तथा संसार के भौतिक वस्तुओं एवं संबंधों से अनासक्ति हो जाती है।

---

१ भावे, विनोबा, गीताई-चिंतनिका, पृ० ८९।

२ भावे विनोबा भागवत धर्मसार, (वाराणसी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६४) पृ० ०३।

३ भावे विनोबा, स्थिति प्रज्ञ दर्शन, पृ० १८।

४ भावे विनोबा, तीसरी शक्ति, (वाराणसी सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६९), पृ० ७७।

५ भावे, विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० १७७।

६ उपरिवत् पृ० १७७।

७ उपरिवत्, पृ० १००।

८ उपरिवत पृ० १००।

९ भावे विनोबा, भागवत-धर्मसार, पृ० ९३।

आत्मज्ञान की आवश्यक श्रद्धाएँ

विनोबा ने आत्मज्ञान के साधकों के लिए कुछ श्रद्धाओं में विश्वास रखना आवश्यक समझा है। ये श्रद्धाएँ हैं

(क) निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में श्रद्धा[१]

(ख) मृत्यु के बाद जीवन की अखंडता में श्रद्धा[२]

(ग) प्राणी मात्र की एकता एवं पवित्रता में श्रद्धा[३],

(घ) विश्व में व्यवस्था बुद्धि के प्रति श्रद्धा[४]

(च) मानव-जीवन की पूर्णता की शक्यता में विश्वास[५]

श्रद्धा की संज्ञा विनोबा ने इसलिए दी है क्योंकि इन्हें बुद्धि के आधार पर सत्य या असत्य नहीं ठहराया जा सकता है[६] परंतु इनमें विश्वास करने से हमारा लाभ होता है। अहिंसा जैसे शाश्वत मूल्यों में विश्वास करने से हमारा लाभ और इनका उल्लंघन करने में हानि होती है। यदि मनुष्य यह विश्वास नहीं करे कि मृत्यु के बाद भी उसका जीवन अखंड रूप में कायम रहता है तो वह अध्यात्म ज्ञान की साधना के लिए तत्पर ही नहीं होगा। इसी प्रकार व्यवहार में भले ही हम दूसरे जन्तुओं का संहार क्यों न करते हों, एक दूसरे के बीच ऊँच-नीच का भेद करते हों, परंतु अध्यात्म में प्रवेश पाने के लिए प्राणी मात्र की एकता एवं पवित्रता में विश्वास करना आवश्यक है। अध्यात्म के लिए यह भी आवश्यक है कि हम यह विश्वास करें कि विश्व में व्यवस्था है रचना बुद्धि है। यदि हम विश्व को अस्तव्यस्त मानते हैं तो फिर अध्यात्म ज्ञान की जड़ ही काट डालते हैं। अध्यात्म ज्ञान के साधक को यह भी विश्वास करना आवश्यक है कि मानव इस जीवन में पूर्णता का अनुभव कर सकता है अन्यथा अध्यात्म की प्रेरणा ही नहीं होगी।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि दर्शन में श्रद्धाओं का तो कोई स्थान नहीं है इसके मुख्य विषय वस है जिन्हें हम तर्क या बुद्धि की कसौटी में

---

१ भाव विनोबा अध्यात्म-तत्वसुधा, (वाराणसी सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६८) पृ० १।

२ उपरिवत् पृ० १।

३ उपरिवत् पृ० २।

४ उपरिवत् पृ० २।

५ उपरिवत्, पृ० २।

६ उपरिवत्, पृ० १।

सम्भोग को आवश्यक मानते हैं।[1] वास्तविक स्थिति जो भी हो, लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि विनोबा शंकर और आचार्य रजनीश की भाँति एकांगी नहीं हैं।

आत्मज्ञान की प्रक्रिया

विनोबा के अनुसार आत्मज्ञान का उपदेश एकाएक नहीं किया जा सकता है। आत्मज्ञान के उपदेश देने के लिए कुछ प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है। पहले किसी व्यक्ति में शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने का उपदेश किया जाता है, जब व्यक्ति इस ज्ञान को अपने जीवन में उतार लेता है तो फिर ज्ञान की दूसरी प्रक्रिया शुरू होती है। इस अवस्था में उसे शरीर की क्षणभंगुरता का ज्ञान दिया जाता है जिससे उसकी देहासक्ति समाप्त होती है। जब साधक इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो अन्त में उसे शरीर एवं आत्मा के भेद का ज्ञान दिया जाता है। विनोबा ने उदाहरण के द्वारा यह बतलाया है कि जैसे स्कूल का ज्ञान प्राप्त करने पर कॉलेज में दाखिल हो सकते हैं, वैसे ही आत्मज्ञान के विषय में भी समझना चाहिए। आत्मज्ञान सृष्टि का मूल तर्कशास्त्र है। इस ज्ञान से आरम्भ नहीं किया जा सकता है। पहले समाज में आचार धर्म को स्थिर करने की आवश्यकता होती है। आचार धर्म स्थापित होने के बाद ही आत्मज्ञान या वैज्ञानिक भौतिकवाद का ज्ञान प्राप्त करना उचित है।[2]

इस प्रकार, आत्मज्ञान की प्राप्ति शारीरिक एवं नैतिक विकास की अवस्था की प्राप्ति के बाद ही होती है। इसे हम विकास या इतिहास की पद्धति की संज्ञा दे सकते हैं। वेदान्त की भी यही शिक्षा है।

आत्मज्ञान का ध्येय

अबतक भारतीय दर्शन की परम्परा में अध्यात्म ज्ञान को पूर्ण ज्ञान माना गया है तथा इसका प्रयोग व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि में हुआ है। विनोबा ने इसकी कड़ी आलोचना की है।[3] इनके अनुसार आत्मज्ञान का ध्येय असीम है, पूर्णता नहीं। उन्हीं के शब्दों में— जिस प्रकार विज्ञान के सामने असम्भव ध्येय है, उसी प्रकार आत्मज्ञान के सामने भी होना चाहिए। जैसे विज्ञान कुल ब्रह्माण्ड पर स्वामित्व चाहता है वैसे ही हम भी कुल आत्म शक्ति पर प्रभुत्व

---

१ रजनीश, आचार्य : सम्भोग से समाधि की ओर, (संकलन) रजनप्रकाश (बम्बई १ जीवन जागृति केन्द्र प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, १९७१), पृ० ६१।

२ भावे, विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० १८६।

३ उपरिवत्, पृ० ४१-४९।

प्राप्त करने की चाह रखनी चाहिए।"[1] विज्ञान में नित्य नई नई खोज होती रहती है। फिर भी अभी तक जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है वह अधूरा ही माना जाएगा। आत्मज्ञान के क्षेत्र मे भी अबतक जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह सपूर्ण आत्मज्ञान का अश मात्र है। अतएव करुणा प्रेम और अहिंसा इत्यादि के क्षेत्र मे नित्य नय नय प्रयोगो के आधार पर इस क्षेत्र मे ज्ञान को प्राप्त करना आत्मज्ञान का ध्येय है। आत्मज्ञान का ध्येय केवल व्यक्तिगत मोक्ष को ही प्राप्त करना नहीं, बल्कि समूह म उसे उतारना है।

आत्मज्ञान को प्रयोग का विषय मानकर विनोबा न इसे वैज्ञानिक धरातल पर ला दिया है। अत वैसे आत्मज्ञान की तुलना मे इसका महत्त्व बढ गया है जो केवल आन्तरिक अनुभव का विषय बन कर ही रह जाता है। परन्तु विनोबा असीमता एव पूर्णता के द्वन्द्व स अपने को मुक्त नहीं पाते। एक ओर तो व आत्मज्ञान की श्रद्धा के रूप म मानव ज्ञान की पूर्णता को शक्य मानते है, दूसरी ओर अध्यात्म और विज्ञान क असीम ध्येय को स्वीकार करते है। असीमता और पूर्णता का कैसे मेल हो सकता है यह बात समझ मे नहीं आती है।

आत्मज्ञान और विज्ञान सबध-निरूपण

विनोबा की ज्ञान मीमासा मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात आत्मज्ञान और विज्ञान क सम्मिलन की कल्पना है। इस पूरब और पश्चिम के सम्मिलन की भी कल्पना कह सकते है। परतु यह सभव तभी हो सकता है जब आत्मज्ञान और विज्ञान म अन्तर्विरोध न हो। विनोबा क अनुसार इन दोनो के बीच बहुत घनिष्ठ सबध है। य दोनो एक दूसरे के पूरक है।[2] आत्मज्ञान जीवन की दिशा निर्धारित करता है, तो विज्ञान जीवन के लिए कार्यो को सपन्न करता है। एक यदि आख है तो दूसरा पैर।[3] दोनो के सहयोग स प्राणी अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। विनोबा क शब्दो मे 'जैसे पक्षी दो पखो स उडता है वैस ही मनुष्य आत्मज्ञान और विज्ञान—इन दो शक्तियो स अग्रसर हो सुखी होता है।[4]

मनुष्य के लिए विज्ञान आवश्यक है क्योकि इससे मानव जीवन म सुन्दरता आती है। मनुष्य को सृष्टि का जितना ज्ञान होगा उतना ही वह सृष्टि का रूप

१ उपरिवत् पृ० ३३।
२ उपरिवत् पृ० ९३।
३ उपरिवत् पृ० ९३।
४ भावे विनोबा, तीसरी शक्ति, पृ० ८२।

अच्छी तरह समझ कर उसकी शक्ति का उपयोग कर सकेगा।[1] परंतु विज्ञान को आत्मज्ञान की आवश्यकता है। यह नीति निरपेक्ष है।[2] इस भले-बुरे का ज्ञान आत्मज्ञान से प्राप्त होता है। स्वत अच्छा और बुरा का भेद यह नहीं जानता। इसका उपयोग सर्जन और संहार—दोनों में हो सकता है। अत विज्ञान शुभ अशुभ के ज्ञान के लिए आत्मज्ञान की अपेक्षा रखता है। आत्म ज्ञान को विज्ञान की आवश्यकता रहती है। जैसे-जैसे विज्ञान का विकास होता है वैसे वैसे ही आध्यात्मिकता भी बढ़ती है। मनुष्य सृष्टि का एक अंग है। आत्मज्ञान मनुष्य को ही होता है। परंतु जबतक हम विज्ञान का सहारा नहीं लेते हैं तबतक कार्य-कुशलता-पूर्वक जाना भी मुश्किल है। अत विज्ञान के बिना आत्मज्ञान पंगु है।

विज्ञान और आत्मज्ञान को आपस में मिलानेवाली कड़ी साहित्य या वाणी है। विज्ञान सत्य के बाह्य पहलू का अध्ययन करता है। इसलिए इससे जीवन के स्थूल रूप में परिवर्तन होता है जिसमें चित्त-परिवर्तन की परिस्थिति बनती है। आत्मज्ञान सत्य के आंतरिक पहलू का ज्ञान देता है। यह हमारे अंत करण को प्रकाशित करता है। वाणी मन से आगे बढ़कर सीधे हमारे हृदय पर असर डालती है। अत वाणी बाहर के विज्ञान और अन्दर के आत्मज्ञान को मिलाने के लिए पुल का काम करती है।[3] यहां भी आत्मज्ञान और विज्ञान की पूरकता स्पष्ट होती है।

एक दूसरी दृष्टि से भी आत्मज्ञान और विज्ञान की पूरकता देखी जा सकती है। विज्ञान सृष्टि का अध्ययन मन की भूमिका से ऊपर उठकर करता है।[4] अत इसमें राग द्वेष रुचि अरुचि का प्रश्न नहीं उठता। इसके अंतर्गत बाह्य सृष्टि और मन दोनों का ज्ञान आ जाता है। अत इसमें सार्वभौमता होती है। दृष्टिकोण प्रधान होने के कारण विज्ञान का प्रयोग जीवन के प्रत्येक पहलू पर किया जा सकता है। आत्मज्ञान राग-द्वेष से मुक्त ऐक्य का ज्ञान देता है। इसे भी हम सार्वभौम कह सकते हैं क्योंकि आत्मज्ञान सब के लिए समान रूप से लागू होता है। गांधी की भांति विनोबा ने इसका प्रयोग

१ उपरिवत पृ० ८०।

२ उपरिवत पृ० ८५।

३ सर्व विनोबा आत्मज्ञान और विज्ञान पृ० १०९।

४ सर्व विनोबा तीसरी शक्ति पृ० ७८

जीवन के हर पहलू में आवश्यक माना है। यहां भी दोनों का कोई विरोध नहीं झलकता।

विज्ञान और आत्मज्ञान—दोनों धर्म के विरोधी नहीं बल्कि सहायक हैं। विज्ञान धर्म का सहायक इसलिए है कि यह धर्म को यथार्थ ज्ञान पर आधारित करता है। आत्मज्ञान सभी प्राणों एवं धर्मों की एकता का ज्ञान देकर उनके अन्तर्विरोधों को दूर करता है। सच कहा जाय तो धर्म की लता को विकसित करने के लिए आत्मज्ञान जल एवं विज्ञान खाद प्रदान करता है। अतः विनोबा ने जीवन के हर पहलू में विज्ञान एवं आत्मज्ञान के सहयोग की आवश्यकता का अनुभव किया है। इसीलिए उनका कथन है कि विज्ञान को आत्मज्ञान का लगाम आवश्यक है। 'यदि उसे आत्मज्ञान की जोड़ दे दी जाय तो इसी भू पर स्वर्ण उतर आयेगा।[१]

१२ निष्कर्ष

विनोबा चिंतन में ज्ञान के जिन मनोदैहिक साधनों की चर्चा हुई है, उसकी प्रथम बड़ी विशेषता यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन के साथ नैतिक निर्धारक तत्त्वों को जोड़ दिया गया है। जैसे प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों का विषयों के साथ ज्ञान की दृष्टि से संयुक्त होना आवश्यक माना गया है, भोग की दृष्टि से नहीं। स्मृति ज्ञान के लिए वीर्य रक्षा, भले-बुरे का विवेक एवं आत्मज्ञान का आवश्यक माना गया है। बौद्धिक ज्ञान के लिए बुद्धि का मन और इन्द्रियों के नियंत्रण से मुक्त होना अनिवार्य समझा गया है। इसी प्रकार भावना के लिए जप, ध्यान और आचरण, प्रज्ञा के लिए ऋजुता और मेधा के लिए त्याग एवं पवित्रता इत्यादि नैतिक गुणों का पालन आवश्यक समझा गया है। ज्ञान के साथ नैतिक तत्त्वों को जोड़ने से इनके सिद्धांत में काफी वैज्ञानिकता आ गई है। विज्ञान में सफल प्रयोग के लिए परिस्थिति का नियंत्रण आवश्यक समझा जाता है। ज्ञान के साथ भी यही बात है। भिन्न भिन्न प्रकार के ज्ञान के लिए उनकी आवश्यक शर्तों का पालन करना अनिवार्य है।

विनोबा के प्रमाण विचार की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक साधन यद्यपि अपने अपने क्षेत्र में अलग अलग ज्ञान देते हैं परन्तु वे सभी आपस में एक दूसरे से संबंधित हैं। जैसे इन्द्रियाँ मन से, मन बुद्धि से तथा बुद्धि हृदय के साथ जुड़ी हुई हैं।[२] इसलिए ज्ञान को समग्र या अखंड कहा जा सकता है।

---

१ भावे विनोबा, **आत्मज्ञान और विज्ञान**, पृ० ९६।

२ भावे विनोबा **स्थित प्रज्ञ दर्शन**, पृ० १०६।

विनोबा के अनुसार ज्ञान के सभी मनोदैहिक साधन ज्ञान के मौलिक रूप को प्रकट नहीं करते हैं। इन साधनो के द्वारा मौलिक ज्ञान भिन्न भिन्न रूपो मे प्रतिबिम्बित होते है। मौलिक ज्ञान आत्मा के द्वारा मिलता है जो स्वय ज्ञान-स्वरूप है। आत्म-ज्ञान ही विभिन्न साधनो के द्वारा प्रतिबिम्बित होता है। अत स्वच्छ प्रतिबिम्ब आने के लिए इन्द्रियो की पवित्रता अनिवार्य मानी गई है। परन्तु विनोबा प्रतिबिम्बवाद की व्याख्या भलीभांति नही करते। यहाँ वे शकर से प्रभावित प्रतीत होते हैं। परतु आत्मा स्वय निराकार है तो वह किस प्रकार साकार शरीर के माध्यम म प्रतिबिम्बित होता है यह बात समझ मे नहीं आती। इसीलिए शकर के कुछ अनुयायियो ने प्रतिबिम्बवाद के स्थान पर अवच्छेदवाद को स्वीकार किया। विनोबा का प्रतिबिम्बवाद आलकारिकता एव काल्पनिकता म सीमित है। यह व्याख्यात्मक कम है।

विनोबा यह मानते है कि मनोदैहिक साधनो के द्वारा सपूर्ण आत्मशक्ति या विज्ञान-शक्ति का ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता है[१] क्योकि सपूर्ण शक्ति असीम है। मनुष्य उस शक्ति का एक अश है। पूर्ण शक्ति के समझने की क्षमता उसमे कैसे हो सकती है? परतु प्रयत्न के द्वारा अधिक-से अधिक वैज्ञानिक एव आध्यात्मिक ज्ञान की खोज की जा सकती है।

विनोबा आत्मा को सपूर्ण ज्ञान का स्रोत मानते है। इसलिए इसकी चर्चा मनोदैहिक साधन के अन्तर्गत करना उचित नही है। यह शरीर म पूर्णत भिन्न है। यह अपन आप म साधन और साध्य दोनो है।

आत्मा की भांति अन्य मनोदैहिक साधनो को भी साधन और साध्य दोनो माने जा सकते है। ज्ञान शक्ति स्वरूप है और ज्ञानेन्द्रिय भी शक्ति स्वरूप है। अत शक्ति और शक्तिमान मे कोई भेद नही रह जाता है।[२] इसलिए ज्ञान के साधन और साध्य दोनो एक हो जाते है।

मनोदैहिक साधनो की व्याख्या से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विनोबा के चितन मे प्रत्यक्ष एव अनुमान ज्ञान के साधन के रूप म आ जाते है। शब्द को भी विनोबा ने प्रमाण माना है परतु उसे अनुभव के आधार पर जाँचना आवश्यक समझा है।[३] गाधी ने शब्द ज्ञान को बुद्धि के आधार पर जाचना अनिवार्य माना था।

१ भावे विनोबा सप्त-शक्तियाँ, पृ० ४२।
२ भावे, विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० २४।
३ भावे, विनोबा, विचार-पोथी, पृ० ३९।

विनोबा के अनुसार आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द किसी से नही हो सकता है।[१] इसके लिए विशेष प्रकार के अनुभव की आवश्यकता पड़ती है जिसे 'ब्रह्मभाव' कहते हैं।[२] ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए भी कुछ नैतिक साधनों का अनुशीलन अनिवार्य माना गया है।

विनोबा ज्ञान की उत्पत्ति के साधन के संबंध मे गोतम के प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टांत से सहमत है।[३] संशय से उनका आशय बौद्धिक संशय से है।[४] बौद्धिक संशय के द्वारा हमें ज्ञान की खोज मे सहायता मिलती है। पश्चिमी दार्शनिक डेकार्ट ने भी असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिए बौद्धिक संशय को आवश्यक माना था।

पश्चिमी दर्शन मे ज्ञान की उत्पत्ति के संबंध मे अनुभववाद एवं बुद्धिवाद जैसे एकांगी सिद्धांत हैं जो एकमात्र अनुभव एवं बुद्धि को ज्ञान की उत्पत्ति का साधन मानते हैं। कांट का समीक्षावाद अनुभव और बुद्धि को एक साथ मिलाने का प्रयत्न करता है। परंतु इसकी सीमा ही इतनी संकुचित है कि संगत तरीके से आत्मज्ञान की व्याख्या के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता है। विनोबा के सिद्धांत मे बुद्धिवाद एवं अनुभववाद की एकांगिता मिट जाती है फिर भी ज्ञान की व्याख्या मे दोनों का समुचित स्थान मिलता है। इसलिए कि बाह्य जगत् का ज्ञान ज्ञानेन्द्रिया से आरंभ होता है तथा मन से उसका लगाव होते हुए बुद्धि तक पहुंचकर पूर्णता को प्राप्त करता है। दूसरी ओर आत्मज्ञान की भी पर्याप्त रूप से व्याख्या हो जाती है। इस ज्ञान का स्रोत बाह्य जगत नहीं बल्कि आतरिक चैतन्य है जो बुद्धि के माध्यम से ही अभिव्यक्त होता है। इस ज्ञान को न तो बौद्धिक कह सकते हैं और न आनुभविक क्योंकि इसका मूल स्रोत न तो बुद्धि है और न अनुभव। परंतु इसे अबौद्धिक नहीं कह सकते, इसलिए कि बुद्धि के द्वारा ही इसकी अभिव्यक्ति होती है भले ही सीमित मात्रा मे ही क्यो न हो। इस प्रकार विनोबा सभी प्रकार के ज्ञान की यथासंभव व्याख्या करने की कोशिश करते है, यह उनकी समन्वयवादी नीति का परिणाम है।

---

१ भावे, विनोबा, गीताई-चिंतनिका, पृ० १८२।

२ उपरिवत्, पृ० १५३।

३ भावे, विनोबा, विनोबा-चिंतन, १६ मई, १९६७, पृ० २००।

४ उपरिवत्, पृ० २००।

खण्ड—'स' तुलनात्मक विवेचन

गाँधी और विनोबा के ज्ञान सिद्धान्तों की पृथक-पृथक व्याख्या के पश्चात् हमें अब यह देखना है कि इस क्षेत्र में विनोबा की गाँधीवाद को क्या देन है ? सम्पूर्ण गाँधी एवं विनोबा के ज्ञान सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि विनोबा और गाँधी के विचारों में काफी दूर तक समानता है। इस समानता के रहते हुए भी विनोबा की यह देन है कि उन्होंने गाँधी के अस्पष्ट एवं धूमिल विचारों को काफी स्पष्ट एवं विकसित किया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विनोबा ने गाँधी-ज्ञान-मीमांसा का केवल पुष्टीकरण एवं पल्लवन ही किया है। बहुत जगहों पर उनका गाँधी के विचारों से मतभेद भी है। इनके विचारों में उपनिषद्, गीता के अतिरिक्त सांख्य, योग, न्याय एवं अद्वैत वेदान्त के विचारों का प्रभाव भी पाया है जो गाँधी के विचारों में नहीं है।

जहाँ तक दोनों के विचारों के साम्य का प्रश्न है, गाँधी की भाँति ही विनोबा भी ज्ञान को अनादि अनन्त कर्म निमित्त, समग्रात्मक एवं मुक्तिदायक मानते हैं। दोनों यथार्थ ज्ञान का सत्यापन उसकी जीवन में उपयोगिता एवं व्यावहारिकता के आधार पर करते हैं। दोनों के विचारों का मूल आधार गीता का तत्वज्ञान है। दोनों अवतक के प्राप्त ज्ञान को बहुत ही अल्प समझते हैं। गाँधी के अनुसार अबतक के प्राप्त सभी वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान धूल के कण के समान हैं।[1] विनोबा विज्ञान की भाँति आध्यात्मिक ज्ञान में भी नित्य नई-नई खोजों की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।[2] दोनों पूर्ण सत्य के ज्ञान को असम्भव मानते हैं। गाँधी के अनुसार हम हाड़ मांस के शरीर के द्वारा पूर्ण सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है।[3] तथा सभी प्रकार की गलतियों से मुक्ति ईश्वर की कृपा से ही हो सकती है।[4] विनोबा भी यह मानते हैं कि देह एवं इन्द्रियों के द्वारा सम्पूर्ण आत्म शक्ति या विज्ञान-शक्ति का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।[5] दोनों यथार्थ ज्ञान को आध्यात्मिक शक्ति पर आधारित

१ हरिजन १२-२-३८, पृ० ४।

२ भावे विनोबा आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० ४१ ४६।

3 Gandhi, M K *Unseen Power*, p 42

4 Bose, N K *Selections From Gandhi*, p 18

५ भावे, विनोबा, सप्त शक्तियाँ, पृ० ४२।

मानते है तथा बुद्धि को ज्ञान का अन्तिम साधन नही मानते। वह आध्यात्मिक शक्ति गाँधी के लिए 'सत्य' है तो विनोबा के लिए 'ब्रह्म'। दोनो ज्ञान के विकासात्मक स्वरूप को स्वीकार करते है। परतु इन समानताओ के अतिरिक्त विनोबा के चिन्तन मे कुछ भेद भी प्रकट हुआ है।

गाँधी के विचारो मे ज्ञान, धर्म दर्शन, राजनीति आदि का नैतिक आचरण का साधन माना गया है। ज्ञान नैतिक जीवन के लिए आवश्यक माना गया है। अतएव गाधी विचार मे नैतिकता की प्रधानता और ज्ञान की गौणता झलकती है। विनोबा चिन्तन मे नैतिकता को उचित महत्त्व तो मिला ही है, लेकिन यह इससे भी आगे जाता है। यहा स्पष्ट रूप से नैतिक जीवन को आत्मज्ञान और विज्ञान दोनो के लिए आवश्यक माना गया है इसलिए सदाचार दार्शनिक ज्ञान की आवश्यक भूमिका हो जाती है। फिर भी प्रधानता ज्ञान की ही रहती है।

ज्ञान मे एक विचार शक्ति होती है और दूसरी भाषा शक्ति, जिसके द्वारा विचार अभिव्यक्त होता है। गाँधी, विचार-शक्ति पर काफी बल देते हैं, परतु भाषा-शक्ति की समुचित महत्ता को स्वीकार नही करते।[1] विनोबा-चिन्तन मे विचार की प्रधानता को तो स्वीकार किया ही गया है उसके साथ-साथ शब्द-शक्ति के महत्त्व पर भी काफी बल दिया गया है। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—"दुनिया को बनाने वाली तीन ताकत है—विज्ञान, आत्मज्ञान और साहित्य।"[२] इसलिए ज्ञान-सबधी धारणाओ के प्रयोग मे विनोबा ने काफी सतर्कता एव स्पष्टता का ख्याल रखा है।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि गाधी को ज्ञान-सिद्धात-निर्माण का अवसर नही था। अधिकाशत ज्ञान सबधी समस्याओ पर प्रकाश उनको लोगो के द्वारा पूछे गये प्रश्नो के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ। विनोबा-चिन्तन मे ज्ञान-सबधी प्रश्नो पर मननपूर्वक विचार हुआ है। यह ठीक है कि यह विचार पारम्परिक दार्शनिको के विचारो की भाति एक स्थान पर सकलित नही है। परतु जहा कही भी उन्होने ज्ञान-सबधी प्रश्नो पर विचार किया है, वहा उन्होने शास्त्रीयता के साथ किया है।

---

1 *Young India*, 17-9-1925, p 320

२ भावे विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० १०८।

गाँधी ने बुद्धि को ज्ञान का साधन माना था अवश्य परन्तु उन्होंने उसकी समुचित व्याख्या नहीं की है। वे मात्र इतना ही कह कर कि बुद्धि का संबंध हमारे मस्तिष्क से है, चुप हो जाते हैं।

परन्तु विनोबा चिन्तन में बुद्धि की विशद् व्याख्या की गई है। यहाँ बुद्धि की विभिन्न शक्तियों प्रकारों एवं स्वरूप पर काफी स्पष्टता से विचार हुआ है। गाँधी ने भावना को हृदय की वस्तु माना था तथा यह भी स्वीकार किया था कि मनन विवेकपूर्ण जीवन जीने से बुद्धि भावना में परिणत हो जाती है। परन्तु बुद्धि भावना में क्या परिणत होती है, इसका स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता है। विनोबा ने इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दिया है। उन्होंने बतलाया है कि बुद्धि के एक छोर पर मन तथा दूसरे छोर पर हृदय है। हृदय बुद्धि का आन्तरिक भाग है। अतएव यह स्वाभाविक सा लगता है कि बुद्धि या विचारों से बार-बार प्रयोग करने से वह बुद्धि की गहराई अर्थात् हृदय में चला आता है। हृदय में जाने पर वही विचार भावना का रूप ले लेता है। विनोबा ने वैद्यकशास्त्र से उदाहरण देकर बुद्धि और भावना के संबंध को और भी स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त बुद्धि किस प्रक्रिया के द्वारा भावना में परिणत होती है, इसकी भी चर्चा विनोबा चिन्तन में हुई है। इस प्रकार मस्तिष्क और हृदय बुद्धि और भावना—इन दोनों का संबंध जो गाँधी के विचारों में अस्पष्ट है विनोबा चिन्तन में स्पष्ट हो जाता है।

पश्चिमी दर्शन में इन्द्रिय एवं बुद्धि को ही ज्ञान का साधन माना गया है। भावना को ज्ञान की कोटि से अलग रखा गया है। भाषा विश्लेषणवादियों ने भी ज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक वाक्यों का भेद किया है। अतः वे विचारक भावना को ज्ञान की कोटि में नहीं रखते हैं। परन्तु विनोबा भावना को ज्ञान की कोटि में रखते हैं। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भी आनन्द एवं प्रेम को ब्रह्मज्ञान का साधन माना है। प्रेम के द्वारा जो ज्ञान मिलता है वह ज्ञान पूर्णता का ज्ञान है जिसमें व्यक्ति अपनी पूर्ण सत्ता के द्वारा जानता है। इसमें वस्तु के साथ साक्षात्कार होने से तथा एकाकार होने से ज्ञान मिलता है। अतः यह ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है जिसमें संदेह के लिए थोड़ा सा भी स्थान नहीं है।[1] परन्तु गाँधी, विनोबा एवं टैगोर—तीनों की तीन स्थितियाँ हैं। गाँधी यह मानते हैं कि दूसरों के हृदय तक पहुँचने के लिए अत्यन्त पीड़ाओं का अनुभव आवश्यक

1 Tagore, Rabindranath, *Sadhana* (London Macmillan and Co, 1964), p 159

है तभी हमें गहरा ज्ञान मिल सकता है। विनोबा का बल विवेकपूर्ण जीवन के अभ्यास पर है। परन्तु टैगोर का बल आत्म प्रेम एवं आत्मानन्द पर है जिसे कला प्रधान एवं रहस्यात्मक कहा जा सकता है। जहां गांधी में समाज सेवा की भावना की प्रधानता है, विनोबा में चिन्तन की, वहाँ टैगोर में विशुद्ध भावना की प्रधानता है परन्तु मौलिक रूप में विचार करने पर तीनों में गुणात्मक दृष्टि-से कोई भेद नहीं है क्योंकि तीनों ने यह विचार उपनिषद् और गीता में ही लिया है।

गांधी के विचारों में ज्ञान के प्रकारों का केवल बीज तत्व छिपा हुआ है। इनका सूक्ष्मता में विचार नहीं हुआ है। विनोबा-चिन्तन में ज्ञान के विभिन्न प्रकारों पर गहराई में विचार हुआ है। एक ओर उन्होंने आत्मज्ञान को माना है तो दूसरी ओर बाह्य ज्ञान, विज्ञान, प्रत्यक्ष तथा बौद्धिक ज्ञान को स्वीकार किया है। विशेषकर आत्मज्ञान और विज्ञान पर विनोबा ने गहराई से चिन्तन किया है तथा उन्हें आपस में मिलाने का प्रयत्न किया है। गांधी ने अन्तर्बोध को सबसे उच्च कोटि का ज्ञान माना और विनोबा ने आत्मज्ञान को यद्यपि उन्होंने अन्तर्बोध को अस्वीकारा नहीं और न इसके महत्व को ही कम किया है। अन्तर्बोध और आत्मज्ञान वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न हैं। अन्तर्बोध गांधी के अनुसार अन्तरात्मा की आवाज है जो कठिन नैतिक अनुशासन के पालन के परिणामस्वरूप सुनाई पड़ती है। यह एक प्रकार की उत्तम सूझ है। आत्मज्ञान आत्मतत्व का ज्ञान है। यह प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द तीनों प्रकार के ज्ञान से परे है। इसकी प्राप्ति के लिए विनोबा ने कुछ आवश्यक श्रद्धाओं का उल्लेख किया है। संपूर्ण आत्मज्ञान का थोड़ा प्रकाश ही हमारे हृदय पर पड़ता है। अतः जहाँ हृदय पर आधारित अन्तर्बोध हमें सीमित ज्ञान देता है वहाँ आत्मज्ञान व्यापक एवं पूर्णता का ज्ञान है।

गांधी का अन्तर्बोध उनके दैनिक जीवन के अनुभव के कारण उद्भूत हुआ था। इसलिए यह आनुभविक है। परन्तु आत्मज्ञान शास्त्रीय शब्द है। इसका स्रोत उपनिषद् वेदान्त एवं भागवत धर्म है। फिर अन्तर्बोध या आत्म-साक्षात्कार के लिए गांधी ने केवल प्रेम, त्याग एवं पर-पीड़ानुभव जैसे साधन को स्वीकार किया है। परन्तु विनोबा चिन्तन में आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए विवेक, सत्य, सम्यक ज्ञान, तप एवं ब्रह्मचर्य को आवश्यक माना गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ज्ञान-संस्थापन की गांधी की दृष्टि जहाँ मूलतः

नैतिक एवं सामाजिक थी, वहां विनोबा की दृष्टि इनके अतिरिक्त ज्ञानात्मक भी है।

अन्तर्बोध एक प्रकार का आकस्मिक ज्ञान है जो विशेष समस्या के उपस्थित होने पर होता है जिसे ईश्वर की आवाज की संज्ञा दी गई है। परन्तु आत्म-ज्ञान एक प्रकार का भाव है जिसमें सबभूतों में एक ही चैतन्य अर्थात् आत्मा या ईश्वर दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार अन्तर्बोध और आत्मज्ञान—दोनों हृदय में प्रतिबिम्बित होते हैं फिर भी दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि गाँधी के अन्तर्बोध का विकास विनोबा चिन्तन में आत्मज्ञान के रूप में हुआ है।

गाँधी के ज्ञान विचार में मुख्य दृष्टि संश्लेषात्मक है। ज्ञान की विश्लेषात्मक पद्धति के महत्त्व को वहाँ स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु विनोबा ने पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिए विश्लेषण एवं संश्लेषण—दोनों की क्रियाओं की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। अर्थात् पूर्ण ज्ञान में विविधता एवं एकता दोनों का स्पष्ट ज्ञान रहना चाहिए।

श्रद्धा को गांधी और विनोबा—दोनों ने ज्ञान के लिए आवश्यक माना है। परन्तु गांधी ने ज्ञान के लिए संशय का कोई जिक्र नहीं किया है। विनोबा के दर्शन में ज्ञान की शुरुआत श्रद्धा से होती है, परन्तु उसका विकास विचारों से होता है। इसलिए नये नये विचारों के अनुसंधान के लिए श्रद्धा के साथ-साथ बौद्धिक संशय को भी स्वीकारा गया है यहाँ विनोबा गौतम के प्रमाण विचार से प्रभावित हैं। गाँधी ने किसी सुनियोजित ज्ञान-पद्धति की खोज नहीं की थी। उन्होंने केवल सत्य की अनेकता एवं स्याद्वाद के सिद्धांत को मान लिया था। परन्तु विनोबा ने स्याद्वाद एवं उपनिषदों के सिद्धांत के आधार पर एक विशेष प्रकार की पद्धति का अनुसंधान किया है जिसे वितर्क कहते हैं। इस वितर्क-पद्धति का प्रयोग विनोबा ने अपने संपूर्ण चिन्तन में किया है। भोग और त्याग का समन्वय, आत्मज्ञान और विज्ञान का समन्वय, सगुण और निर्गुण का समन्वय, कर्म और संन्यास का समन्वय, बुद्धि एवं भावना का समन्वय, तर्क एवं श्रद्धा का समन्वय, श्रद्धा एवं संशय का समन्वय इत्यादि—वितर्क की अविरोधी समन्वय-पद्धति से ही हुआ है। ईश्वर के गुणों के वर्णन में भी उन्होंने विभिन्न धर्मों के ईश्वर के गुणों को एक साथ जोड़ दिया है। इस प्रकार वितर्क पद्धति विनोबा के चिन्तन का ही परिणाम है।

गाँधी विज्ञान मे उतने प्रभावित नही थे जितने विनोबा। अत उन्होने विज्ञान पर समुचित ढग से विचार नही किया। विनोबा विज्ञान से काफी प्रभावित रहे हैं। इन्होने विज्ञान का विशद् विश्लेषण कर उसकी उपयोगिता एव सीमा पर समुचित रूप से विचार किया है। इसीलिए इन्होने जून १९७४ के भारत द्वारा किए गए आणविक परीक्षण का समर्थन किया। इसके अतिरिक्त इन्होने अध्यात्म को विज्ञान से तथा विज्ञान को अध्यात्म मे मिलाने का सभवत प्रथम प्रयास किया है। यह आधुनिक युग को विनोबा की देन है।

गाँधी ने ज्ञान प्राप्त करने की सूक्ष्म शक्तियो को बीज रूप से माना था। विनोबा ने अपने चिन्तन मे इन्द्रिय, मन, बुद्धि, स्मृति, मेधा, धृति आदि शक्तियो का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इसके अतिरिक्त ज्ञान का सूक्ष्म विश्लेषण, ज्ञान की असीमता को सिद्ध करने की युक्तियाँ, ज्ञाता-ज्ञेय सबध का विचार तथा ज्ञान की ज्ञान-गम्यता इत्यादि पर विनोबा का विचार गाँधीवाद मे नवीन है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विनोबा ने गाँधी के ज्ञान-सबधी विचारो को काफी पल्लवित एव पुष्पित किया है तथा युग की आवश्यकता को सामने रखकर उसमे कुछ नवीन धारणाओ का भी प्रवेश कराया है।

❁

तृतीय अध्याय



तत्त्व-मीमांसा

तत्त्व-मीमांसा

१ विषय-प्रवेश

ज्ञान तत्त्व का ही होता है। अतएव उस तत्त्व की सख्या स्वरूप इत्यादि का विवेचन अनिवार्य है। गाधी-दर्शन में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या गाधी तत्त्वमीमासक थे? इस प्रश्न का उत्तर आसानी से भावात्मक एव निषेधात्मक प्रत्ययो के साचे में ढाल कर नही दिया जा सकता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि क्या गाधी ने बौद्धिक विश्लेषण हेतु तात्त्विक प्रश्नो पर शास्त्रीय ढग से विचार किया है?—तो इसका उत्तर हम निषेधात्मक रूप में मिलेगा। गाधी सुकरात एव महात्मा बुद्ध की भाति मूलत नीति के प्रवक्ता एव मानवतावादी चिन्तक थे। वे भी इन महात्माओ की ही भाति मानव की मौलिक समस्याओ एव तत्कालीन परिस्थितियो से आजीवन जूझते रहे। इसीलिए उन्हे मानव की मूलभूत परिस्थितियो का चितक (Philosophy of Fundamental Human Situation) कहा गया है।[1] उनके दर्शन एव चिंतन में व्यक्ति एव समाज की मूलभूत समस्याओ का निदर्शन मिलता है। उनकी अहिंसा उनका सत्याग्रह उनके व्रतादि कल्पना लोक के प्रत्यय नही, अपितु वास्तविक जीवन के प्रकाश स्तभ है।[2]

परतु गाधी पाश्चात्य भाषा विश्लेषणवादियो की भाति तत्त्वज्ञान का प्रत्याख्यान नही करते और न महात्मा बुद्ध की भाँति तत्त्वज्ञान के प्रश्नो के प्रति मौन एव उदासीन ही रहते है। उनके समस्त क्रियाकलापो एव सिद्धातो का मूल आधार तत्त्वज्ञान का प्रत्यय शिरोमणि ईश्वर है, जिसका आगे चलकर उन्होने सत्य के साथ तादात्म्य सबध स्थापित किया। ईश्वर के प्रति उन्हे अखड आस्था एव जाग्रत विश्वास है। ईश्वर के प्रति अविश्वास मानो उनके

1 Achutan R (Ed *The Relevance of Gandhi to our times* (New Delhi Committee for National and International Seminar National Committee for Gandhi Centenary 1970) p 14

2 *Ibid* p 14

लिए आत्महत्या के समान है। उन्हीं के शब्दों में "मैं उसकी सत्ता के प्रति अधिक विश्वस्त हूँ अपेक्षाकृत इस तथ्य के कि आप और मैं इस कोठरी में बैठा हूँ। तब मैं इस बात को भी प्रमाणित कर सकता हूँ कि मैं हवा एवं जल के बिना जी सकता हूँ परन्तु उसके बिना नहीं। आप मेरी आँखें फोड़ सकते हैं परन्तु उससे मेरी हत्या नहीं हो सकती। आप मेरी नासिका काट कर अलग कर सकते हैं परन्तु उससे मेरी हत्या नहीं होगी। परन्तु मेरे ईश्वर-विश्वास का नाश कर दिया जाय तो मैं मर जाऊँगा।"[1] इतना ही नहीं, गांधी ने तात्त्विक प्रश्नों पर एक साधक की भांति विचार किया। परन्तु उनका मूल उद्देश्य चरम तत्त्व का अनुभव करना था उसका बौद्धिक विश्लेषण नहीं।[2]

गांधी-तत्त्व-मीमांसा का मूल स्रोत उपनिषद् एवं वेदांत का तत्त्वज्ञान, श्रीमद्भागवत गीता वैष्णव एवं अन्य मतों के विचार है। परन्तु उन्होंने अपनी अनुभूति में भी बहुत-कुछ सीखा और पाया था। ईश्वर को सत्य के रूप में समझने की उनकी युक्ति सचमुच तत्त्व मीमांसा को उनकी देन है। उनकी अपनी एक तत्त्वदृष्टि तथा जीवनदृष्टि थी। इसीलिए उनके नैतिक, समाजशास्त्रीय, राजनैतिक एवं आर्थिक—सभी प्रकार के सिद्धान्तों का अपना मूल आधार है। 'अन्तर्दर्शन', 'अहिंसा', 'सत्याग्रह' आदि धारणाएँ उनके ईश्वर, मानव एवं जगत्-सबंधी विचारों पर अवलम्बित है। परन्तु श्री आर० आर० दिवाकर के अनुसार वे अपने चिंतन में अधिक उपनिषद् एवं पुराने मतों के तत्त्वज्ञान पर भरोसा रखते हैं।[3]

---

1 "I am surer of His existence than of the fact that you and I are sitting in this room Then, I can also testify that I may live without air and water but not without Him You pluck my eyes, but that cannot kill me You may chop off my nose but that will not kill me But blast my belief in God, I am dead" —Hingorani, Ananda T, (ed) *The Supreme Power* (Bombay, Bhartiya Vidya Bhavan, 1963), p 21

2 Diwakar, R R, *Gandhi A Practical Philosopher*, p 26

3 "He relied for his metaphysics more on the Upanisads and the seers and saints of old than on his own speculations"—Diwakar R R, *Ibid*, p 26,

किंतु विनोबा के संबंध में संभवतः ऐसा प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता है कि वे तत्त्वमीमांसक हैं या नहीं हैं क्योंकि उन्होंने 'गुरुबोध' की प्रस्तावना में अपने समस्त तात्त्विक विचारों को शंकराचार्य की भाँति एक श्लोक में आबद्ध करते हुए लिखा है

वेद-वेदांत गीतानां विनुना सार उद्धृतः ।
ब्रह्म सत्यं जगत्स्फूर्तिः जीवनं सत्यशोधनम् ॥

विनोबा के तत्त्वशास्त्रीय विचारों पर गांधी के अतिरिक्त भारतीय अध्यात्म और पाश्चात्य आधुनिक विज्ञान का गहरा प्रभाव है। आध्यात्मिक साहित्य में वेद, उपनिषद्, गीता, शंकर और महात्मा बुद्ध के ग्रंथों ने उन्हें काफी प्रभावित किया है। आधुनिक वैज्ञानिक पुस्तकों में सर जेम्स जीन्स की प्रसिद्ध पुस्तक The Mysterious Universe के विचारों ने भी उनके तात्त्विक विचारों को काफी प्रभावित किया है।[1] तात्त्विक प्रश्नों को उन्होंने अपनी अविरोधी समन्वय पद्धति के आधार पर अनोखे ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें अनेक विचारों का अद्भुत ढंग से समन्वय हुआ है फिर भी उनकी भूमिका शांकर अद्वैत की ओर स्पष्ट है। उनके तत्त्वशास्त्रीय विचार किसी एक पुस्तक में क्रमबद्ध रूप में अभिव्यक्त नहीं हैं। ये विचार स्फुट रूप में मुख्यतः उनकी पुस्तकें **गीता प्रवचन, साम्यसूत्र, गीताई-चिंतनिका, प्रेरणा-प्रवाह, आत्मज्ञान और विज्ञान, विचार पोथी, गुरुबोध, ज्ञानदेव चिंतनिका** एवं विनोबा चिंतन के भिन्न-भिन्न अंकों में बिखरे हुए हैं। इन बिखरे हुए तत्त्वों के आधार पर विनोबा के विचारों को यथासंभव क्रमबद्ध रूप में रखा जा सकता है।

अब हम एक-एक कर गांधी और विनोबा की तात्त्विक धारणाओं पर अलग-अलग रूप में विचार कर यह देखेंगे कि विनोबा ने किस प्रकार गांधीवादी तत्त्व मीमांसा को आगे बढ़ाया है।

२ मूलतत्त्व (क) ब्रह्म और ईश्वर विचार

१ ब्रह्म तत्त्व : भारतीय दर्शन में जिसका आरंभ वेद और उपनिषदों से होता है विश्व के चरम तत्त्व को आध्यात्मिक माना गया है और उसे ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। *ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण ही मुख्यतः उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र,* शंकर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क आदि का ध्येय रहा है। गांधी इसी भारतीय परम्परा में उत्पन्न हुए और वे भी ब्रह्म को ही विश्व का चरम तत्त्व मानते हैं। वे शंकर के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' में विश्वास करते हैं। परंतु इनके अनु-

[1] आचार्य विनोबा : साम्यसूत्र, पृ० ११।

सार ब्रह्म, सत्य एवं ईश्वर में कोई भेद नहीं है। यह ठीक है कि वे ईश्वर और सत्य के संबंध में काफी विचार करते हैं और इनके स्वरूप निरूपण में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का समर्थन भी करते हैं। परन्तु 'ब्रह्म' के स्वरूप का गहरा एवं व्यापक निरूपण नहीं करते। वे मात्र इतना कहकर संतुष्ट हो जाते हैं

"The wonderful implication of the great truth *'Brahma Satyam Jaganmithya'* (Brahma is real all else unreal) grows on me from day to day It teaches us patience This will purge us of harshness and add to our tolerance It will make us magnify the molehills of our errors into moutains, and minimise the mountains of others errors into molehills The body persists because of egoism The utter extinction of the body or egoism is Moksa He, who has achieved this, will be the very image of truth or one may call it Brahman"[1]

इसके विपरीत विनोबा ब्रह्म के स्वरूप पर गहराई में विचार करते हैं। विनोबा द्वारा ब्रह्म की व्याख्या शंकर और रामानुज की व्याख्या से भिन्न है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म पारमार्थिक रूप में सजातीय, विजातीय और स्वगत सभी प्रकार के भेदों से मुक्त है। अतः उसे निर्गुण कहा गया है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म इस जगत् का सृष्टिकर्ता है तथा सभी प्रकार के शुभ गुणों से सम्पन्न है। ब्रह्म के इस रूप को ईश्वर कहते हैं। रामानुजाचार्य ब्रह्म को सभी प्रकार के भेदों से मुक्त नहीं मानते। वे ब्रह्म के स्वगत भेद को स्वीकार करते हैं इसलिए उनके अनुसार ब्रह्म सगुण है। यही इसका वास्तविक स्वरूप है।

संत विनोबा भावे शंकर एवं रामानुज—दोनों के विचारों का समन्वय करते हैं। शंकर की भाँति वे ब्रह्म का विचार पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दृष्टि को अलग रखकर नहीं करते। सत्य को इस प्रकार दो खण्डों में बाँट कर विचार करना उन्हें पसंद नहीं है।[2] ब्रह्म का सगुण और निर्गुण—दो भिन्न स्वरूपों में

---

1 Gandhi M K *The Supreme Power*, p 55

2 भावे विनोबा, अहिंसक शक्ति की खोज, (वाराणसी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६३), पृ० ३—४।

नहीं रखा जा सकता है क्योंकि सगुण एवं निर्गुण—दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, दोनों में आपस में कोई भेद नहीं है।[1] विनोबा यह मानते हैं कि ब्रह्म प्रचलित अर्थ में न तो सगुण है और न निर्गुण। यह दोनों से परे हैं। इस अर्थ में हम इसे निर्गुण कह सकते हैं। उनकी राय में—'ब्रह्म केवल नेति' नहीं है। ब्रह्म 'नेति-नेति' है जो सगुण भी नहीं निर्गुण भी नहीं, वही वास्तविक निर्गुण है'।[2] इस अर्थ में ब्रह्म शून्यता, एकता एवं अनन्तता का पर्यायवाची है।[3]

विनोबा ब्रह्म को 'अज्ञ' मानते हैं।[4] यों तो 'अज्ञ' का प्रचलित अर्थ 'अज्ञान' है, परन्तु इसके अतिरिक्त विनोबा इसके अन्य तीन अर्थों को भी स्वीकार करते हैं। ब्रह्म अज्ञ है वाक्य का अर्थ है—'अ' से लेकर 'ज्ञ' तक के सभी अक्षर ब्रह्म के प्रतीक हैं। परन्तु 'अ' और 'ज्ञ' ब्रह्म की विभूतियां हैं।[5]

'ब्रह्म अज्ञ है' वाक्य का दूसरा अर्थ है—'ब्रह्म अनासक्त ज्ञान है'[6] शंकराचार्य ब्रह्म को सच्चिदानंद मानते हैं। अतएव ब्रह्म शुद्ध सत्ता, शुद्ध ज्ञान एवं शुद्ध आनंद है। विनोबा शुद्ध सत्ता और शुद्ध ज्ञान की बात नहीं करते। सत् अर्थात् शुद्ध सत्ता (Being) उनके अनुसार आवश्यकता से अधिक दार्शनिक (Too Philosophical) है।[7] इसकी जगह पर वे मेरी सत्ता हैं चेतना को ही पर्याप्त मानते हैं।[8] इसी प्रकार शुद्ध ज्ञान के स्थान पर वे 'अनासक्त ज्ञान' का प्रयोग करते हैं। यह 'शुद्ध ज्ञान' शब्द की अपेक्षा अधिक सरल, बोधगम्य और वैज्ञानिक है। अनासक्त ज्ञान स्वरूप होने के नाते ब्रह्म सामान्य और विशिष्ट—दोनों प्रकार के ज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है। यह समन्वय विनोबा की वितर्क पद्धति का परिणाम है।

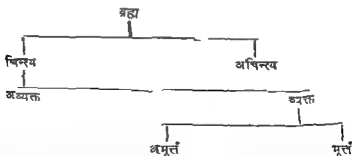
---

१ भावे, विनोबा, गीता-प्रवचन, पृ० १८१।
२ भावे, विनोबा, विचार-पोथी, पृ० ८०।
३ उपरिवत्, पृ० ३०।
४ उपरिवत्, पृ० ४०।
५ उपरिवत्, पृ० ४०।
६ उपरिवत्, पृ० ८०।
7 'Truth and Non violence—an interview with Vinoba by an American professor', *Sarvodaya* (English), (Tanjore, Jan, 1957), p 220
8 *Ibid*, p 220

'ब्रह्म अ-ज है' वाक्य का तीसरा अर्थ है—'ब्रह्म वाङ्मय मूर्ति है'।[1] 'अ' से 'ज्ञ' तक के सभी अक्षरों के सहारे ही शब्द, वाक्य और साहित्य की रचना होती है। अतः ब्रह्म केवल उच्च कोटि का दार्शनिक अथवा नैतिक ज्ञान ही नहीं, बल्कि समस्त भावों में संपन्न साहित्यिक ज्ञान भी है। यहाँ विनोबा के चिंतन में 'विश्व चिन्तनम्' का प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

'ब्रह्म अ-ज्ञ है' का चौथा अर्थ है 'ब्रह्म सगुण एवं निर्गुण—दोनों है'[2] क्योंकि ब्रह्म का चिंतन चाहे सगुण रूप में या निर्गुण रूप में किया जाय—दोनों अवस्थाओं में 'अ' से 'ज्ञ' के अंतर्गत आनेवाले अक्षरों का ही प्रयोग होता है। ब्रह्म को 'अज्ञान' के अर्थ में 'अ-ज्ञ' इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसके सम्पूर्ण रूप का ज्ञान संभव नहीं है। आगे ब्रह्म के भेद में हम देखेंगे कि ब्रह्म के अंतर्गत केवल चिन्त्य पदार्थ ही नहीं आते हैं बल्कि अचिन्त्य पदार्थ भी आते हैं। अतः ब्रह्म को अज्ञान कहना संगत ही है।

विनोबा के अनुसार जगत् में ब्रह्म ही सब कुछ है। ब्रह्म को उन्होंने दोन दृष्टियों से समझने का प्रयास किया है। प्रथमतः ब्रह्म की व्यापकता को आधार मानकर इसे विभिन्न वर्गों में विभाजित कर समझने का प्रयास किया गया है, जिसे निम्न सारणी में प्रस्तुत किया जा सकता है[1]



ब्रह्म को चिन्त्य एवं अचिन्त्य कहने का अर्थ यह है कि पूर्ण ब्रह्म न तो निरपेक्ष रूप में चिन्तन का विषय है और न उसे पूर्णरूपेण ज्ञेय अथवा अचिन्त्य ही माना जा सकता है। वास्तविक स्थिति यह है कि ब्रह्म के कुछ रूपों

---

१ भावे विनोबा विचार पोथी, पृ० ४०।

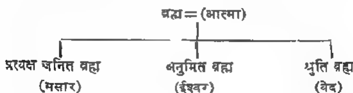
२ भावे विनोबा, विचार-पोथी, पृ० ८०।

३ पूर्वोक्त, पृ० ५१।

या अंशों द्वारा ही ज्ञान संभव है। आधुनिक विज्ञान भी चरम तत्त्व (विद्युत्-लहर) के संबंध में इसी प्रकार की बात स्वीकार करता है। विद्युत् तरंगों के कुछ अंशों के स्वभाव (Property) को ही जाना जा सकता है परंतु उनके संपूर्ण व्यवहारों का आकलन करना विज्ञान के लिए भी असंभव है। इसीलिए तो विज्ञान संभाव्यता के सिद्धांत का सहारा लेता है।

जिस ब्रह्म के बारे में हम चिन्तन कर सकते हैं उसके प्रकट एवं अप्रकट—दोनों रूप हो सकते हैं। व्यक्त ब्रह्म का प्रकटीकरण या तो अमूर्त विचारों के रूप में होता है या मूर्त वस्तुओं के रूप में। इस प्रकार एक ओर ब्रह्म अचिन्त्य, अव्यक्त एवं अमूर्त है तो दूसरी ओर वह चिन्त्य व्यक्त एवं मूर्त है। एक उसका आन्तरिक रूप है तो दूसरा बाह्य। आंतरिक रूप से वह निर्गुण है एवं बाह्य रूप से सगुण। फिर अंतर्बाह्य दोनों मिलाकर पूर्ण एवं असीम ब्रह्म के विचार में वह निर्गुण हो जाता है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्म को समझने का एक दूसरा प्रयास है[1] जो निम्न विश्लेषण में प्रकट होगा



प्रत्यक्ष ब्रह्म एवं अनुमित ब्रह्म के ऊपर हम आगे अलग में विशेष रूप से विचार करेंगे।

प्रत्यक्ष ब्रह्म को सामने रखकर ही शायद विनोबा ने ब्रह्म का एक तीसरा विभाजन किया है—सत्य ब्रह्म, ज्ञान-ब्रह्म एवं आनन्द ब्रह्म।[2] सत्य-ब्रह्म संसार के अंतर्गत सिद्ध होता है। ज्ञान-ब्रह्म को जीव ध्यान में लाता है एवं आनन्द ब्रह्म संत की आंखों में भरता है।[3] इस प्रकार अखण्ड रूप से देखने पर विनोबा के अनुसार ब्रह्म सब कुछ हो जाता है।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि गाँधी मूलतत्त्व के स्वरूप-निरूपण के प्रति उदासीन थे। अथवा वे परम्परा से प्राप्त ब्रह्म को उसी रूप में

१ भावे, विनोबा, विचार-पोथी, पृ० १९।

२ भावे, विनोबा, विचार-पोथी, पृ० ७७।

३ उपरिवत्, पृ० ७७।

चरम सत्ता के रूप में स्वीकार करते थे। विनोबा अपने तात्त्विक विचारों को सूत्रबद्ध रूप प्रस्तुत कर मूल तत्त्व के स्वरूप निरूपण की जिज्ञासा को स्पष्ट कर देते हैं। साथ-ही-साथ परम्परा में प्राप्त ब्रह्म की व्याख्या को उसी रूप में वे स्वीकार नहीं कर अपनी नवीन व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। अतः यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि गांधी की दबी एवं अस्पष्ट भावना को विनोबा ने एक निश्चित धरातल प्रदान किया है। ब्रह्म विषयक उनकी छिपी हुई भावनाओं की अभिव्यक्ति विनोबा ने अपने चिन्तन में की हैं।

चाहे जो भी कारण हो गांधी ईश्वर, ब्रह्म एवं सत्य को एक दूसरे से अलग नहीं कर पाते हैं। उनके दर्शन में ये तीनों प्राय: समानार्थक हैं। विनोबा की बुद्धि विश्लेषणात्मक है। वे ब्रह्म, ईश्वर एवं सत्य के बीच आवश्यक भेद भी प्रस्तुत करते हैं। हम देख चुके हैं कि ब्रह्म इतना व्यापक तत्त्व है कि उसके अन्तर्गत आत्म चैतन्य एवं विश्व चैतन्य अर्थात् ईश्वर दोनों अन्तर्व्याप्त हो जाते हैं। अतः विनोबा के चिन्तन में ईश्वर ब्रह्म का समानार्थक पद नहीं बल्कि एक महत्त्वपूर्ण पहलू है।

गांधी के लिए सत्य ही ईश्वर और विश्व का चरम तत्त्व है। इस संबंध में उनके 'ईश्वर सत्य है' एवं 'सत्य ही ईश्वर है'—वाक्य प्रसिद्ध हैं। विनोबा ब्रह्म को ही विश्व का परम तत्त्व मानते हैं। सत्य उनके अनुसार ब्रह्म का स्वरूप है। इस संबंध में उनके अनुसार 'ब्रह्म सत्य' एवं 'सत्य ब्रह्म'—वाक्य विचारणीय हैं। 'ब्रह्म सत्य' का दो अर्थ किया जा सकता है—(क) ब्रह्म सत्य है अर्थात् उसकी सत्ता है और (ख) ब्रह्म और कुछ नहीं बल्कि सत्य है अर्थात् ब्रह्म सत्य का स्वरूप है। विनोबा प्रथम अर्थ को व्यावहारिक उच्चार के रूप में स्वीकार करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से इसे अस्वीकार करते हैं।[1] उनके अनुसार सत्य का स्वरूप तो सत्य ही है। अतः ब्रह्म को सत्य का स्वरूप नहीं माना जा सकता।[2] उनके अनुसार 'सत्य ब्रह्म' ही तात्त्विक दृष्टि से वास्तविक है। इसका अर्थ है सत्य ही ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप सत्य है।[3] ब्रह्म

---

१ भाव, बालकोबा भगवद्गत विवेचन, (आश्रम पट्टीकल्याणा जि० करनाल ग्राम भावना प्रकाशन, १९७०) प्रथम संस्करण पृ० १७।

२ उपरिवत् पृ० १८।

३ उपरिवत् पृ० १८।

में "ईंधन" अनिवार्य रूप से जुड़ा है अतः सत्य इसका अनिवार्य लक्षण है। जहाँ सूर्य है वहाँ प्रकाश अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार जहाँ सत्य है वहाँ ज्ञान स्वाभाविक रूप से आ जाता है। जहाँ सत्य-ज्ञान है वहाँ शोक और दुःख टिक नहीं सकता अर्थात् आनन्द की प्राप्ति होती है। अतः ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा गया है। चूँकि सत्य विनोबा के अनुसार परमतत्त्व का सूचक है,[1] अतः "सत्य ब्रह्म" का अर्थ हुआ, 'चरमतत्त्व ब्रह्म है।' ब्रह्म मात्र सत्ता ही नहीं है, परम सत्ता अर्थात् व्यापक सत्ता है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ गांधी ने "सत्य ही ईश्वर है" वहाँ वहाँ विनोबा ने "सत्य ही ब्रह्म है" कहा है। गांधी की भाषा धार्मिक है, विनोबा की भाषा दार्शनिक और आध्यात्मिक है। अपने ब्रह्म विचार में इन्होंने गांधी और वेदान्त का सुन्दर समन्वय किया है।

ब्रह्म को चरम तत्त्व मान लेने में विनोबा के विचार में शास्त्रीयता तो आई ही है, गांधी का विचार भी सुरक्षित रहा है। गांधी ने सापेक्ष सत्य एवं निरपेक्ष सत्य की बात की थी परन्तु विनोबा द्वारा ब्रह्म का विश्लेषण अधिक व्यवस्थित एवं पूर्ण है। ब्रह्म का कुछ अंश चिन्तन करने लायक है तो कुछ अचिन्त्य भी है। फिर चिन्त्य ब्रह्म को मूर्त एवं अमूर्त मानने से विनोबा का ब्रह्म शून्यवत् नहीं रह जाता है। यह एक भावात्मक तत्त्व है जिसमें सापेक्ष एवं निरपेक्ष सभी सत्य इस खूबी के साथ आ जाते है कि उसमें केवल सामान्य सिद्धांत की ही नहीं बल्कि विशिष्टताओं की भी रक्षा होती है।

२ ईश्वर-तत्त्व (अ) गांधी-विचार में ईश्वर तत्त्व

प्राक्कथन ईश्वर प्रत्यय गांधी दर्शन का वह केन्द्र बिंदु है, जिसके चतुर्दिक उनकी अहिंसा, उनका सत्याग्रह, आदि सब घूमता है। यही उनके समस्त विचारों का मूल है तथा विश्व का चरम तत्त्व है। यदि इनको किसी भी भक्त की तरह ईश्वर भक्त कहा जाए तो कोई भी अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचजगत्या जगत्" उनके अंदर की श्रद्धा है।

गांधी विचार में ईश्वर पर दो दृष्टियों से विचार हुआ है—एक, धार्मिक दृष्टि से और दूसरा दार्शनिक दृष्टि से। पहली दृष्टि विशेषतः उनके जीवन के पूर्वार्द्ध में रही है तथा यहाँ उन्होंने ईश्वर का चित्रण मध्ययुगीन दार्श-

१ भावे, विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार, (आश्रम, पट्टीकल्याणा, जि० करनाल, ग्राम सेवा प्रकाशन, १९७०) पृ० ९।

निको की भांति ही किया है। दूसरी दृष्टि जिसमे ईश्वर को सत्य के रूप म देखा गया है, उनके जीवन की अनुभूतियों का अंतिम निष्कर्ष है। यहाँ गांधी का विचार ईश्वरशास्त्र म पूर्णत नावीन्य स्वर उपस्थित होता है। अत इन दोनो दृष्टियो स गांधी के ईश्वर की व्याख्या करना उचित होगा।

ईश्वरवादी दृष्टि के अनुसार ईश्वर एक प्रकार की अनिर्वचनीय रहस्यात्मक चेतन शक्ति का बोध कराता है जिसका पूर्ण विवरण देना मानव बुद्धि के पर है।[1] वस्तुत यह अनुभव के द्वारा ही समझा जा सकता है, फिर भी गांधी न थोडा बहुत इस शक्ति के सबध म वणन करन का प्रयास किया है। हम इसी के आधार पर ईश्वर के गुणो एव ऐश्वर्यों का अध्ययन करेंगे।

ईश्वर के गुण सुविधा के ख्याल स ईश्वर के सभी गुणो को हम चार वर्गों म विभाजित कर सकते हैं—सत्तात्मक नैतिक, धार्मिक एव ज्ञानात्मक गुण। हाँ, ईश्वर के उपर्युक्त सभी गुणो को अलग अलग कर देखने म गांधी की अभिरुचि नही रही है क्योंकि उनका चिंतन समग्र रहा है। अत जब हम इन गुणो को अलग अलग कर देखत हैं तो हमारा यह आशय नही है कि ये गुण सचमुच अलग अलग हैं। हमारा यह विश्लेषण केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही है।

सत्तात्मक गुण सत्ता की दृष्टि म ईश्वर विश्व की चरम सत्ता है तथा सभी प्रकार क परिवतनो के मध्य स्थायी तत्त्व है। यही सृष्टि का आधार स्रष्टा, सहारकर्त्ता एव पुनर्निर्माणकर्त्ता है।[2] ईश्वर सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्द का सत् सत्ता का बोधक है। ईश्वर एक सार्वभौम सत्ता है जिसक सिवा अन्य किसी की सत्ता नही है। सार्वभौम होने के कारण वह निरपेक्ष रूप से सत्य है तथा सभी प्रकार के सापेक्ष सत्य इस निरपेक्ष सत्य म समा जाते हैं।[3]

---

1 Gandhi M K *The Supreme Power*, p 5

2 Whilst everything around me is ever changing, ever dying there is underlying all that change a living power that is changeless that holds all together that creates dissolves and recreates that informing power or spirit is God —*Ibid* p 6

3 *Ibid* p 53

ईश्वर सभी प्रकार के भेदों से मुक्त है। 'वह स्वयं न तो नर है और न नारी'। उसके लिए न तो व्यक्ति भेद है न योनि भेद। वह नेति-नेति है।[1] वह केवल सत् अर्थात् सत्ता है। लेकिन यह सत्ता सत्य स्वरूप है जिसे गांधी ने एक प्रकार की अकथनीय अनाम तथा सर्वव्यापक शक्ति माना है। यह शक्ति विद्युत शक्ति की भाँति कोई भौतिक शक्ति नहीं बल्कि एक चेतन शक्ति है।[2] इसलिए इसे विशुद्ध चैतन्य एवं शाश्वत माना गया है। इस शक्ति का लाभ उसी को मिल सकता है जो इसके नियम को जानता है। विद्युत् शक्ति का लाभ भी बिना उसके नियम को जाने नहीं मिल सकता। भिन्न भिन्न धर्मों ने इसी शक्ति की साधना की है। राम रहीम गाड अहुरामजदा आदि इसी शक्ति के नाम हैं।[3] इसलिए गांधी ईश्वरीय नियम को जानने के लिए नैतिक अनुशासन का पालन आवश्यक मानते हैं।

कुछ पश्चिमी मनोवैज्ञानिक, जैसे फ्रायड[4] युंग[5] आदि ईश्वर को मात्र मानवीय कल्पना की उपज मानते हैं। गांधी के अनुसार ईश्वर काल्पनिक नहीं बल्कि वास्तविक शक्ति का नाम है। मनुष्य अपने मन में अनेक प्रकार से ईश्व

१ गाँधी, **प्रार्थना प्रवचन** (नई दिल्ली सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन १९४३) पृ० १२१

२ गाँधी, **हरिजन** २२-६-४७ पृ० २००

३ उपरिवत् पृ० २००

4 'The Psycho-analysis of individual human beings however teaches us with quite special insistence that the God of each of them is formed in the likeness of his father, that his personal relation to God depends on his relation to his father and at bottom God is nothing other than an exalted father —Freud Sigmund *Totem and Taboo* (London Routledge & Kegan Paul Ltd 1950) p 147

5 Singh Dashrath Jung's Approach to Religion *Research Journal Philosophy* (Ranchi University, Philosophy Deptt March 1972, Vol IV No 1) p 25

को चित्रित कर सकता है परन्तु मनुष्य जो एक तुच्छ टहनी या नदी की रचना करने मे असमर्थ है ईश्वर को कैसे अपने मन म रच सकता है ? अत ईश्वर ने मनुष्य की रचना की है यह विशुद्ध सत्य है। इसका विपरीत मात्र भ्रम है।[१]

गाँधी के अनुसार ईश्वर हम मानवो की भाँति व्यक्तित्ववान् नहीं है। वह विश्व का सार्वभौम नियम तथा नियामक दोना हैं।[२] ईश्वर को 'नियम' मान लेने से गाँधी की दृष्टि म बौद्ध-दर्शन जैसे प्रखर निरीश्वरवादियो का समाधान मिल सकता है क्योकि कर्मवाद के नियम मे वे भी विश्वास करते हैं। वह नियम ईश्वर ही हैं।[३] फिर जब गाँधी यह कहते हैं कि "मेरा राम दशरथ पुत्र एतिहासिक राम नहा है, वह शाश्वत तथा स्वयभू है"[४] तो इसके द्वारा भी वे यह स्पष्ट करते है कि उनका ईश्वर व्यक्तित्ववान् नहीं है परन्तु व्यक्तिगत साधना की दृष्टि म अलग अलग साधकों क लिए ईश्वर व्यक्तित्ववान् एवं अव्यक्तित्ववान दोनो है।[५] कोई साधक सगुण ईश्वर और कोई निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म की उपासना करते है। वस्तुत दोना एक ही ईश्वर की उपासना करते हैं परन्तु उनकी साधना की पद्धति भिन्न-भिन्न है।

ईश्वर सर्वव्यापी होने के कारण सभी के हृदय मे निवास करता है।[६] सृष्टि की सारी वस्तुएँ एक ही ईश्वर की अभिव्यक्तियाँ हैं। फिर भी वह देश-काल से परे तथा पारमार्थिक तत्त्व है। वह जगत म व्याप्त भी है और इससे बाहर भी है।[७] यहा गाँधी की तुलना उपनिषद् के "तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सवस्य तदु सर्वास्यास्य बाह्यत ॥" स की जा सकती है। इसलिए सृष्टि के साथ सबध के आधार पर देखने से गाधी

---

१ हरिजन, १४-४-१९४६ पृ० १०

2 Hingorani, Anand T, (ed) *The Supreme Power*, p 16

3 *Ibid*, p 16

4 *Ibid*, p 172

5 *Ibid*, p 27

6 *Ibid*, p 80

7 *Ibid*, p 80

निमित्तोपादानेश्वरवादी हैं।[1] चूँकि ईश्वर ससार मे व्याप्त भी है और इससे परे भी है इसलिए वह सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञाता, सर्वव्यापी एव सर्वशक्तिमान् है।[2]

सख्या की दृष्टि से गाँधी एक ही ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करते हैं यद्यपि वेदो मे अनेक देवी-देवताओ की चर्चा है, धर्मशास्त्र मे विष्णु आदि के सहस्रनाम की, परतु इनके द्वारा एक ही सर्वशक्तिमान ईश्वर का बोध होता है।[3] गाँधी का एकेश्वरवाद स्पिनोजा के ईश्वर की तरह सर्वभक्षी नही है। यहाँ मूल तत्त्व के एक होने पर भी अनेक तत्त्व की रक्षा अविरोधी समन्वय के सिद्धात पर हुई है। यह एक दूसरी बात है कि गाधी के एकेश्वरवाद मे शकर के अद्वैतवाद एव रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद—दोनो का प्रभाव दीखता है। कभी-कभी वे कहते हैं "मैं अद्वैतवादी हूँ फिर भी द्वैतवाद का समर्थन करता हूँ।" कभी वे यह भी कहते हैं कि मैं तत्त्व के बहुलवादी सिद्धात को बहुत पसद करता हूँ। इसलिए कभी वे जैन दार्शनिको के आधार पर असर्जनात्मक एव रामानुज की दृष्टि मे सृजनात्मक पक्ष को मानते हैं।[4]

---

१ श्री महादेव प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'दी सोसल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी' में गाँधी को सर्वेश्वरवादी (Pantheist) कहा है। परतु सर्वेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर केवल ससार में ही व्याप्त होता है तथा वह वही समाप्त होता है गाँधी का ईश्वर ससार से परे भी है। अत उन्हे *निमित्तोपादानेश्वरवादी* कहना अधिक उचित होगा।

2 Gandhi, M K, *Ashram Observances in Action*, (1959) p 36

3 Hingorani, Anand T, (ed) *The Supreme Power*, p 2

4 "I am advaitist yet I can support dvaitism" "I believe in Advait, I believe in essential unity of men when descend to the empirical level, we get two forces-God and Satan as Christianity calls them" "I very much like this doctrine of manyness of reality" "From the platform of the Jain I prove the non-creative aspect of God, and from that of Ramanuj the creative aspect"—*Ibid*, pp. 3-4

इस तरह की विरोधात्मक बातें उपनिषदों में भी मिलती हैं। परन्तु इनके द्वारा समन्वयात्मक दृष्टि की ही पुष्टि होती है। गांधी की भी दृष्टि समन्वयात्मक थी, जिसका समाधान उन्होंने जैनों की अनेकान्त-दृष्टि अपनाकर की है। यहाँ बहु-कोटिक तर्कशास्त्र का नियम चलता है। विनोबा ने इस वितर्क कहा है।

गांधी ने ईश्वर को सत्य अर्थात् अन्तरात्मा की वाणी भी कहा है। उसे प्रकाश स्वरूप तथा मानव-जीवन का आधार माना है परन्तु इतना होते हुए भी वह इन सभी प्रकार के गुणों से परे है।[1]

नैतिक गुण : गांधी का ईश्वर एक एवं सर्वव्यापक तो है ही, लेकिन यह केवल सत्तात्मक ही नहीं मूल्यात्मक भी है उसमें नैतिक एवं धार्मिक सभी प्रकार के मूल्य विद्यमान हैं। 'ईश्वर नैतिकता एवं निर्भयता है,[2] 'वह प्रेम है'[3]— ईश्वर के मूल्यात्मक स्वरूप को ही प्रकट करते हैं।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं कि गांधी ईश्वर और उसके नियम दोनों को एक ही मानते हैं इसलिए उनके अनुरूप ईश्वर और कर्म दोनों एक ही वस्तु हैं।[4] ईश्वरीय नियमों के द्वारा विश्व में व्यवस्था कायम रहती है। इस विज्ञान की भाषा में खिंचाव (attraction) या संयोग (Cohesion) कहते हैं।[5] इस प्रकार ईश्वर केवल नैतिक गुण ही नहीं है वह नैतिक नियम भी है। ईश्वर एवं नैतिक व्यवस्था दोनों को एक मानकर गांधी ने कर्मवाद एवं ईश्वर के बीच की खाई को भर दिया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को मात्र निमित्त कारण माना गया है। नैतिक व्यवस्था की व्याख्या 'अदृष्ट' नाम की अचेतन सत्ता के आधार पर हुई है अतः ईश्वर एवं अदृष्ट के द्वैत से विश्व-व्यवस्था की संगत व्याख्या नहीं हो पाती है। ईश्वर का महत्त्व कुछ भी स्पष्ट नहीं होता परन्तु गांधी का ईश्वर नैतिक नियम और नियामक—दोनों होकर ऋग्वेद के ऋत् का

---

1 Prabhu R K (ed) *Truth is God*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House 1959), p 10

2 *Ibid* p 10

3 *Ibid* p 10

४ गांधी धर्म-पथ पृ० ८

5 Prabhu R K *Truth is God* p 13

काम करता है।[1] ईश्वर कर्त्ता और कर्म दोनों है इसलिए विश्व की नैतिक व्यवस्था की व्याख्या सगत तरीके म हो जाती है।

ईश्वर परोपकारी है[2] वह शुभ है उसम किसी भी प्रकार की बुराई नहीं है। शुभत्व ईश्वर का गुण नहा बल्कि वह स्वय ही ईश्वर है।[3] परतु इसका अथ यह नहीं कि वह अशुभ का कारण नहा है। वह विधायक विनाश एव काय पालक सब है इसलिए वह कभी-कभी महाअन्यायी हो जाता है। अतएव उसके सामने मानवा को कोई हस्ती नहा है। यहा गांधी तात्त्विक वाक्य एव मूल्यात्मक वाक्य दोनो के बीच अतर नहीं कर पाते हैं। और इसीलिए थोडी सी भ्रांति उत्पन्न हो सकती है। जब हम कहते हैं—ईश्वर शुभ है वह अन्यायी है तो इसके द्वारा ईश्वर का तात्त्विक स्वरूप प्रकट होता है परतु जब व यह कह सकते हैं कि 'शुभत्व ही ईश्वर है' तो यह वाक्य विशुद्ध रूप से मूल्यात्मक हो जाता है और इसकी अभिव्यक्ति का व्याकरण प्रथम वाक्यो की अभिव्यक्ति के व्याकरण म बदल जाता है परतु समग्र दशन मे विश्वास करने के कारण गांधी ऐसा भेद नहा कर पाते।

ईश्वर के नैतिक गुणो पर इतना अधिक जोर देने का यह कारण हो सकता है कि गांधी शुरू से ही नैतिकवाद के समथक रहे। जिस नैतिकता को व भूमि

---

१ सिंह डा० रामजी (सपा०) आधुनिक युग मे गांधी विचार की सार्थकता, (गाँधी रामकाधिका समिति, भागलपुर वि० वि० भागलपुर १० ८)। पृ० ९५

2 The sum total of Karm is God That who impels man to do the right is God The sum total of all that lives is God That which makes man the mere plaything of fate is God —Gandhi M *Young India* 30 4 1925, p 155

3 I see it purely benevolent For I can see that in the midst of death life persists in the midst of untruth truth persists in the midst of darkness light persists —Hingorani Anand T *The Supreme Power* p 6

4 Ibid p 47

कल्पना नहीं की जा सकती, जो जड़-चेतन शून्य हो फिर भी जिसमें सभी आ जाएँ वही 'परम कारण' या 'केवल सत्' परमेश्वर है।'[1]

विनोबा ईश्वर को 'सत्य' एवं शुद्ध सत्ता से भी भिन्न मानते हैं।[2] 'सत्य' उनके अनुसार "वह है जिसे हम समझ सकते हैं। कोई ऐसा सत्य जिसे हम समझ नहीं सके हमारा निर्देशक नहीं बन सकता है।" परन्तु ईश्वर केवल सत् नहीं है। यह 'निरपेक्ष सत्य अथवा विश्व का वास्तविक सत्य है।" यह ऐसा सत्य है जो बिना जाने ही हमारी सुरक्षा करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गर्भस्थ शिशु को बिना जाने ही माँ के पेट में संरक्षण प्राप्त होता रहता है।[3] एक प्रकार के सत्य होने के नाते ईश्वर को माता पिता के रूप में नहीं बल्कि एक दिशासूचक तारे के रूप में समझा जा सकता है।[4]

'ईश्वर', 'सत्ता', से इस अर्थ में भिन्न है कि सत्ता शब्द अधिक व्यापक और दार्शनिक है परन्तु ईश्वर उतना व्यापक एवं दार्शनिक नहीं। सत्ता का अर्थ विनोबा नैतिक विचार को सामने रखने हुए 'सगी सत्ता' में भी लगाते हैं। ईश्वर निश्चय ही 'सगी सत्ता' का सूचक नहीं है, यह इन सबसे परे है।

ईश्वर की परिभाषा देते हुए विनोबा ने कहा है— 'ईश्वर प्रेम है।' यह उनके अनुसार सबसे उत्तम परिभाषा है जिसे मानव द्वारा ईश्वर के संबंध में समझा जा सकता है।[5] सत्य प्रेम और करुणा—इन्हीं के द्वारा ईश्वर को समझा जा सकता है। अतएव ईश्वर ब्रह्म का वह पक्ष है जो मानव की दृष्टि से समझा जाता है। यही कारण है कि अधिकांशतः ईश्वर की उपासना की जाती है।[6] लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर केवल मानवीय स्वरूप तक ही सीमित है। विनोबा यह मानते हैं कि ईश्वर विश्व में व्याप्त है परन्तु वह वहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। उसे हम प्रकृति के किसी भी हिस्से में बल्कि प्रकृति में सर्वत्र देख सकते हैं। वह जीवित और अजीवित अपने आत्मा एवं दूसरों के

---

१ भावे विनोबा, गीताई चिंतनिका पृ० ९०।

२ भावे विनोबा सर्वोदय (अंग्रेजी) (नवीन जनवरी १९६७) पृ० २२०।

३ उपरिवत् पृ० २२०।

४ उपरिवत् पृ० २२०।

५ उपरिवत् पृ० २२०।

6 Nargolkar Vasant *The Creed of St Vinoba Bhave*, (Bombay Bhartiya Vidya Bhavan 1963), p 55

आत्मा मे—सर्वत्र व्याप्त है।[1] ईश्वर एक सार्वभौम आत्मा है जो सभी जन्तुओ म विद्यमान है। फिर भी विनोबा के अनुसार वह आत्मचेतन अर्थात मानव जाति म विशेष रूप मे निवास करता है।[२]

विनोबा के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान् ह। वह हमार माता पिता एव गुरु के समान है। वह हम सकल्प शक्ति प्रदान करता है तथा माता पिता एव गुरु की भाति हमारा निर्देशन करता है। कुम्भकार की भाति वह हमारा निर्माण नही करता। 'हम मिट्टी के लोदा नही है। हम जीवित चेतना है। अत वह हमारे साथ मिट्टी के लोदे के समान व्यवहार नहा कर सकता।'[3]

सबसे बडी बात तो यह है कि ईश्वर एव मानवीय मूल्यो म कोई विशेष भेद ही नही है। इसलिए विनोबा इन सभी प्रकार की शुभ भावनाओ एव विचारो का सार मानत है। व कहत ह—' ईश्वर तो शुभ गुणो की मूर्ति है। वह गुणो के रूप म ही प्रकट होता है। पर गुणो के चारो ओर दोषो का आवरण जमा ही रहता है। जब हम गुण-ग्रहण करन की शक्ति प्राप्त करेंगे तभी ईश्वर-दर्शन होगा।'[४] गीता प्रवचन म तो व ईश्वर को स्थूल सूक्ष्म शुद्ध, अशुद्ध, सरल एव मिश्रित सभी म व्याप्त मानत ह।[5] आत्मज्ञान और विज्ञान म वे ईश्वर और उसके गुण—दोनो को एक ही मानत हैं।[६] गुण स्वरूप होन के कारण वह भिन्न भिन्न व्यक्तियो म सद्गुणो के रूप मे आवश्यकतानुसार प्रकट होता रहता है।[7] यदि कल्पना म चाहे तो हम किसी गुण को तत्त्व म अलग कर सोच सकत है। परन्तु वास्तव म एसा नहा किया जा सकता। ऐसा करन म यदि "तत्त्व की सत्ता मिट नहा जाती है तो बेस्वाद' अवश्य हो जाती है।" विनोबा ईश्वर-साक्षात्कार की दृष्टि म उसको गुण-स्वरूप मानना आवश्यक समझत है।[८] इसलिए ईश्वर का ज्ञान सत्य प्रेम एव करुणा के रूप म

१ उपरिवत्, पृ० ५१।
२ उपरिवत्, पृ० ५०।
3 Bhave Vinoba Talks on Gita p 9 10
४ विनोबा चितन, अक ८०–२१, पृ० ४०८।
5 Bhave, Vinoba Talks on Gita p 158
६ भावे विनोबा आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० ४।
7 Nargolkar, Vasant The Creed of St Vinoba Bhave, p 66
८ भावे, विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान पृ० २४।

ही हो सकता है। फिर भी इनके द्वारा पूर्ण ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि उसके अंशमात्र[1] की अभिव्यक्ति होती है। इसके अतिरिक्त ईश्वर के अनेक गुण हैं जिन्हें विनोबा ने 'और भी है' (and also) के सिद्धांत के द्वारा व्यक्त किया है।[2]

सर्व धर्म-समन्वय को ध्यान में रखकर विनोबा ने ईश्वर की कुछ प्रचलित विशेषताओं का उल्लेख प्रमुख धर्मों के आधार पर अपनी पुस्तक नामभाला में किया है। उनके अनुसार ईश्वर की अनन्त विशेषताएँ हैं अतः उनके अनन्त नाम हैं। प्रत्येक नाम के द्वारा ईश्वर की अलग अलग शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। अतः ईश्वर विनोबा के लिए अनुकूलता, स्वच्छता, पुण्यचर्या, शोभा, सामुदायिकता, गुणसम्पन्नता, दोषमुक्तता, पूर्णता, प्रबुद्धता, महत्ता, तारुण्य, विकरालता, निर्भयता, प्रभावशीलता, मंगलकारिता, सत्य, प्रेम, करुणा, विश्वरूपता, वाणीस्वरूपता, चैतन्य, आनन्द, तापहारिता एवं आत्मस्वरूपता आदि गुणों से सम्पन्न है।[3]

गांधी की भांति ही विनोबा यह मानते हैं कि ईश्वर का अवतार मनुष्यों में होता है। परन्तु ईश्वर के सगुण गुणों का अवतार न होकर एक विशेष अंश का अवतार होता है। उनके लिए 'पूर्ण' और 'अवतार'—ये दोनों आत्मविरोधी पद हैं।[4] यहाँ यह विचारणीय है कि गांधी अवतार में पुरुष के असाधारण धार्मिक-गुण[5] पर बल देते हैं, विनोबा इस प्रकार का विशेषीकरण नहीं करते। वे 'ईश्वरत्व' का प्रयोग कर ही संतुष्ट हो जाते हैं। ईश्वरत्व में सभी प्रकार के गुणों का समावेश हो जाता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि विनोबा का ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है। वह विभिन्न प्रकार की शक्तियों एवं मूल्यों का ही सूचक है। यही

१ उपरिवत्, पृ० ८।

2 Bhave, Vinoba, *Talks on Gita*, p 26

3 "ॐ तत् सत् श्री नारायण तू पुरुषोत्तम गुरु तू।
सिद्ध बुद्ध तू स्कंदविनायक सविता पावक तू।
ब्रह्ममज्द तू यह्व शक्ति तू, ईशु पिता प्रभु तू।
अद्वितीय तू अकाल निर्भय आत्मलिंग शिव तू।
वासुदेव गो विश्वरूप तू चिदानन्द हरि तू।

४ विनोबा, प्रेरणा प्रवाह, पृ० १४०।

५ यंग इंडिया, ६-८-३१, पृ० २०३।

कारण है कि विनोबा का यह दृढ विश्वास है कि ईश्वर रूपी मांगलिक मूल्यों के स्मरण से हमारे आत्मा में उन मूल्यों का जागरण होता है। यही ईश्वर-विश्वास से फायदा है। ईश्वर-विश्वास में कोई काम बिना मिहनत नहीं हो जाता। इसमें केवल आत्मशक्ति का उदय होना है। प्रार्थना या भजन के द्वारा आत्मशक्ति की खोज पर गांधी और विनोबा दोनों सहमत हैं। परन्तु गाँधी आत्मा की दुर्बलताओं को ढूंढने पर बल देते हैं, विनोबा आत्मा के सद्गुणों के स्मरण पर बल देते हैं। एक की दृष्टि अभावात्मक है, तो दूसरे की भावात्मक। परन्तु गांधी और विनोबा—दोनों की ईश्वर धारणा पुरुषार्थ के अनुकूल है। कर्मवाद से इसका कोई भी विरोध नहीं है। इसमें मानव की प्रगतिशील बुद्धि को तुष्ट करने की शक्ति है।

ईश्वर को मूल्यात्मक रूप में देखने के कारण विनोबा आस्तिक एवं नास्तिक दोनों प्रकार के विरोधी दर्शनों का आपस में समन्वय करते हैं। नास्तिक दर्शन आत्म प्रयत्नवाद में ही समाप्त होता है। इसमें ईश्वर कृपा का कोई स्थान नहीं है। बौद्ध-दर्शन का शून्यवाद इसका ज्वलन्त उदाहरण है। आस्तिक-दर्शन (वेदांत) मोक्ष की प्राप्ति के लिए ईश्वर विश्वास एवं उसकी कृपा आवश्यक मानता है। विनोबा के अनुसार इन दोनों प्रकार के दर्शनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। अंतर केवल इतना ही है कि पहला निषेधात्मक भाषा का प्रयोग करता है, परन्तु दूसरा भावात्मक का।[१] अर्थात् पहले के अनुसार "अशुभ स्मृतियों के समाप्त होने पर आत्मस्मृति जगती है तथा शुभ स्मृतियाँ आत्मसात होती है, तो दूसरे के अनुसार शुभ स्मृतियों के उदय में अन्य कुस्मृतियाँ समाप्त होती हैं।" एक अंधकार मिटने पर प्रकाश के उदय की बात करता है, तो दूसरा प्रकाश के उदय होने पर अंधकार के मिटने की बात करता है। परन्तु दोनों एक ही है। इसी प्रकार नास्तिक-दर्शन केवल आत्म प्रयत्नवाद में ही अटा करता है। आस्तिक दर्शन आत्म प्रयत्न में एक कदम आगे ईश्वर की कृपा की आकांक्षा रखता है।[२] गाँधी ने भी आस्तिक और नास्तिक दर्शन को एक साथ मिलाने का प्रयत्न किया था। परन्तु इसके लिए उन्होंने 'सत्य' का सहारा लिया जो सामान्य बुद्धि से बोधगम्य नहीं है। विनोबा 'आत्म-शक्ति के उदय' के सहारे दोनों को आपस में मिलाने का प्रयास करते हैं। अतः

---

१ भावे, विनोबा, प्रेरणा-प्रवाह, पृ० ११२।

२ उपरिवत्, पृ० ११३।

इनकी व्याख्या अधिक बोधगम्य है। यद्यपि इन्होंने ईश्वर-कृपा की चर्चा की है परंतु इसकी व्याख्या ईश्वरवादियों की व्याख्या से भिन्न तथा नूतन है।

कृपा की व्याख्या के लिए विनोबा ने यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे को सत्य माना है। पिण्ड की शक्ति बहुत ही सीमित है। इसकी सहायता के लिए असीम शक्ति (ब्रह्माण्ड शक्ति) की आवश्यकता है। उन्हीं के शब्दों में सारी शक्तियाँ पिंड में ही नहीं हैं ब्रह्माण्ड में भी कोई शक्ति है। कुछ देखने की शक्ति आँखों में ही नहीं है, शक्ति सूर्य में भी है। सारी शक्ति हमारे फेफड़ों में ही नहीं है कुछ शक्ति आकाश में भी है। इसी तरह हमारे शरीर में जो चेतना है जिसे हम आत्मा कहते हैं वैसे ब्रह्माण्ड में भी कोई चेतना संभव है जिसकी इस आत्मा को मदद मिल सकती है।[1] निश्चय ही कृपा की यह व्याख्या मध्ययुगीन व्याख्या से भिन्न तथा वैज्ञानिक है। आधुनिक विज्ञान यह मानता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विकिरण की क्रिया होती रहती है। इसके द्वारा पदार्थों के तोड़-फोड़ की क्रिया होती है तथा इसी के कारण परमाणुओं का नये-नये ढंग में संगठन होता है जिसके कारण नये-नये गुणों का प्रादुर्भाव होता है। नये-नये गुणों के उदय के कारण उनकी शक्ति घटती-बढ़ती रहती है। अर्थात् सम्पूर्ण भौतिक जगत की भौतिक शक्तियाँ पदार्थ विशेष का रूपान्तर उत्क्रमण एवं पतन में सहायक होती हैं। जेम्स जीन्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक रहस्यमय विश्व में इसका वर्णन किया है। इसी प्रकार आत्मोत्थान के लिए असीम चेतन शक्ति के सहयोग की अपेक्षा संगत रूप में की जा सकती है।

ईश्वर को गुण स्वरूप मानने से ईश्वरवाद की अवैज्ञानिकता एवं सर्वेश्वरवाद की अवास्तविकता का निराकरण आसानी से हो जाता है। ईश्वरवाद के सामने द्वैतवाद उत्पन्न होता है जिसके आपसी संबंध का समाधान न तो तार्किक ढंग से किया जा सकता है और न वैज्ञानिक ढंग से ही किया जा सकता है। सर्वेश्वरवाद अद्वैतवाद को मान कर संबंध निरूपण की तार्किक समस्या का हल तो ढूँढता है परन्तु इसका अतिशय बौद्धिकता से ईश्वर धार्मिक भावना को तुष्ट करने योग्य नहीं रह जाता है। परन्तु ईश्वर को गुणस्वरूप या मूल्यस्वरूप मान लेने से ऊपर की सभी समस्याएँ अपने आप समाप्त हो जाती हैं। गांधी और विनोबा के अनुसार ईश्वर गुण-स्वरूप होने के कारण इस संसार में व्याप्त भी है और अनन्त गुण सम्पन्न होने के कारण इससे बाहर भी है। चूँकि ईश्वर के समस्त गुणों का ज्ञान नहीं हो सकता अतः वह रहस्यपूर्ण

१ उपरिवत् पृ० १३८।

भी है। गांधी की ही भांति विनोबा यह मानते हैं कि ईश्वरत्व का वर्णन भाषा के द्वारा संभव नहीं है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव समाधि की अवस्था में किया जा सकता है। परन्तु ईश्वरत्व इस अनुभव से भी परे है।[1] ईश्वरत्व के अनुभव में व्यक्तिगत आत्मा बदल जाती है। अतः विनोबा भी ईश्वर को ज्ञानागम्य मानते हैं।

(स) तुलनात्मक अध्ययन

गांधी और विनोबा के विचारों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जहां गांधी, ईश्वर की व्याख्या 'सत्य' के आधार पर करते हैं वहां विनोबा के लिए 'सत्य' शुद्ध सत्ता के अर्थ में है। अतः वे 'प्रेम' को ईश्वर की व्याख्या का उत्तम साधन मानते हैं। गांधी ने भी पहले प्रेम को ही ईश्वर का रूप देना चाहा था, परन्तु कई प्रकार की कठिनाइयों के कारण वे ऐसा नहीं कर सके। हो सकता है कि जीवन में सत्य के साथ प्रयोग के कारण उन्हें सत्य की ही अधिक आवश्यकता हुई हो। परन्तु विनोबा बदलती हुई परिस्थितियों में इस सत्य के साथ प्रेम और करुणा पर अधिक बल देते हैं।

गांधी और विनोबा—दोनों ईश्वर के मूल्यात्मक स्वरूप पर बल देते हैं। विनोबा ने उनकी इस दृष्टि का और विस्तार किया है। गांधी ने ईश्वर को प्रेम, निर्भयता, सत्य, शिव एवं सुन्दर आदि शुभ मूल्यों के रूप में अभिव्यक्त किया था। विनोबा ने विश्व धर्मों में से और भी शुभ मूल्यों का संकलन कर उसे ईश्वर का स्वरूप प्रदान किया है। इतना ही नहीं, उनके अनुसार जिस किसी रूप में ईश्वर की उपासना की जाती है, उसके द्वारा उसके विभिन्न गुणों की ही उपासना होती है। अतः यहां भी विनोबा गांधी की तुलना में ईश्वर के मूल्यात्मक रूप पर अधिक तथा पारम्परिक व्यक्तित्ववान् ईश्वर के स्वरूप पर कम बल देते हैं।

आस्तिक और नास्तिक—दोनों प्रकार के विचारों के समन्वय का प्रयास गांधी और विनोबा करते हैं। गांधी नास्तिक का अर्थ संशयवादी एवं विज्ञानवादी से लेते हैं, अतः ईश्वर की व्याख्या 'सत्य' के माध्यम से करते हैं। 'सत्य' ईश्वरवाद और विज्ञानवाद को आपस में मिलाने का काम करता है। परन्तु विनोबा नास्तिक का अर्थ बौद्ध, जैन आदि दार्शनिकों जैसे आत्म प्रयत्नवादियों से लेते हैं। अतः आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में वे कोई मौलिक

१ भावे, विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० २५।

भेद ही नहीं देखते। उनके अनुसार नास्तिक आत्म-प्रयत्नवाद में विश्वास करने के कारण अपनी सीमित शक्ति पर ही भरोसा रखता है, परन्तु आस्तिक इससे एक कदम आगे बढ़कर असीम शक्ति में भी विश्वास करता है। पहला निषेधात्मक भाषा का प्रयोग करता है, दूसरा भावात्मक भाषा का। लेकिन आस्तिक और नास्तिक दोनों आत्म-चेतना का विकास चाहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि गांधी की तुलना में विनोबा के समन्वय की पद्धति अधिक व्याख्यात्मक है।

निर्गुण-सगुण का समन्वय—गांधी और विनोबा—दोनों का मुख्य विषय रहा है। गांधी का ईश्वर स्वयंभू शाश्वत एवं अव्यक्तित्ववान् होने के कारण निर्गुण है, परन्तु साधना की दृष्टि से सगुण—निर्गुण—दोनों है। गांधी इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाते हैं कि ईश्वर सगुण और निर्गुण—दोनों कैसे है? विनोबा सगुण और निर्गुण में कोई भेद ही नहीं मानते हैं। उनके अनुसार एक ही तत्त्व सगुण, निर्गुण साकार एवं निराकार के रूप में विद्यमान है। इसकी विशद व्याख्या आगे की जायगी। यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विनोबा सगुण और निर्गुण का समन्वय गांधी की तुलना में अधिक व्याख्यात्मक एवं यौक्तिक ढंग से करते हैं।

गांधी और विनोबा—दोनों वेदों के अनेकेश्वरवाद एवं शंकर के अद्वैतवाद का आपस में समन्वय करने का प्रयास करते हैं। गांधी के अनुसार ईश्वर के अनेक नामों के द्वारा एक ही तत्त्व का बोध होता है। परन्तु ऐसा क्यों और कैसे होता है—इसका समुचित उत्तर गांधी नहीं दे पाते हैं। अनेक ईश्वर की उपासना से एक ही की उपासना कैसे हो जाती है—इस पर गांधी स्पष्ट रूप से विचार नहीं करते। विनोबा ने 'एक' एवं 'अनेक' की युक्तिपूर्ण एवं शास्त्रीय व्याख्या की है। जिस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिक स्पीनोजा ने 'एक' का अर्थ इकाई में लिया था संख्या में नहीं, उसी प्रकार विनोबा 'एक' का अर्थ 'तत्त्वमसि' से लेते हैं। उनके अनुसार 'ईश्वर एक है' वाक्य का अर्थ है, 'वह हम सब में व्याप्त है'। परंतु अनेकेश्वरवाद को वे ईश्वरीय गुणों की अनेकता एवं अनन्तता के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इनके चिंतन में एकता तत्त्व की, एवं अनेकता गुणों की रह जाती है। अनंत गुणों से युक्त होने के कारण ईश्वर शून्यवत् भी हो जाता है। अतः विनोबा की व्याख्या अधिक सूक्ष्म, स्पष्ट, विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक है।

(३) ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण

(अ) गांधी द्वारा प्रतिपादित युक्तियाँ

गांधी और विनोबा—दोनों ईश्वर को अवर्णनीय, अपरिभाष्य एवं ज्ञानागम्य मानते हुए भी, सीमित क्षेत्र में ही सही, युक्तियों के सहारे उसके अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। गांधी ईश्वर की सत्ता को युक्लिड की रेखागणित की भांति स्वतः सिद्ध मानते है।[1] अतः इसके संबंध में कुछ भी तर्क करना व्यर्थ समझते हैं। वे कहते हैं—'जब हम अपनी सत्ता में विश्वास करते हैं, तो ईश्वर की सत्ता में अवश्य ही विश्वास करना चाहिए, क्योंकि ईश्वर सभी प्रकार के जीवन के संयोग का नाम है'।[2] ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करना अपनी सत्ता में अविश्वास करना है जो आत्म विरोधी बात है।[3] यहां पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट एवं भारतीय दार्शनिक शंकराचार्य ने भी आत्मा की सत्ता को स्वतः सिद्ध मान कर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया है। गांधी भी ईश्वर को स्वतः सिद्ध मान कर इसके अस्तित्व के प्रमाण में कुछ युक्तियां प्रस्तुत करते है। वे इस प्रकार हैं—

(क) कारण-संबंधी युक्ति गांधी के लेखों में कारण-कार्य सिद्धांत के आधार पर ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयत्न हम देख सकते हैं। वे कहते हैं—"हमलोगों का अस्तित्व है, हमारे माता पिता तथा उनके माता पिता का भी अस्तित्व है। अतः समस्त सृष्टि के कारण के रूप में ईश्वर में विश्वास करना उचित है।"[4] इस युक्ति को डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त कारण-संबंधी युक्ति कहते हैं।[5] परंतु गांधी की यह कारण-संबंधी युक्ति डेकार्ट से भिन्न है। डेकार्ट ने पूर्ण सत्ता की भावना के कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया था। गांधी के साथ ऐसी बात नहीं है। डेकार्ट ने सृष्टि के कारण के रूप में अनवस्था दोष से बचने के लिए ईश्वर को अन्तिम कारण मान लिया था।

1 Hingorani, Anand T, (ed), *The Supreme Power*, p 20

2 *Ibid*, p 20

3 *Ibid*, p 20

4 Datta, D M, *The Philosophy of Mahatma Gandhi*, (The University of Calcutta, 1968), p 43

5 *Ibid*, p 43

परंतु गांधी की युक्ति में अपनी सत्ता मान ली गई है और इसी के आधार पर समस्त सृष्टि के कारण के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया गया है। अतः अनवस्था दोष में बचना गांधी का लक्ष्य नहीं है। जहां डेकार्ट की युक्ति में तार्किकता एवं सूक्ष्मता है, वहाँ गांधी की युक्ति में इनके अतिरिक्त सहजता भी है। विनोबा, जैसा हम पहले देख चुके हैं कि गांधी की भाँति ही सृष्टि के "परम कारण" को ईश्वर मानते हैं। अतः वे गांधी की युक्ति को स्वीकार करते हैं।

(ख) **विश्व व्यवस्था संबंधी युक्ति** अन्य दार्शनिकों की भाँति गांधी भी विश्व में व्याप्त व्यवस्था के आधार पर एक चेतन व्यवस्थापक के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना चाहते हैं। इनकी युक्ति इस प्रकार है—"विश्व में व्यवस्था है। सृष्टि के सभी जड़-चेतन पदार्थ एक अटल नियम के द्वारा परिचालित होते हैं। यह नियम अचेतन नहीं है, क्योंकि जीवित प्राणियों को संचालित करनेवाला नियम अचेतन नहीं हो सकता। अतः वह नियम जो सभी प्राणियों के जीवन को प्रशासित करता है, ईश्वर है'।[१] फिर नियम और नियामक—दोनों का एक होना भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है। डा० दत्त के अनुसार इस युक्ति में विश्व एवं प्रयोजन संबंधी दोनों युक्तियां आपस में मिली हुई हैं। परंतु मूलतः इसे प्रयोजन संबंधी युक्ति ही मानना चाहिए।

(ग) **नैतिक युक्ति** गांधी के अनुसार व्यक्ति नैतिक नियमों का पालन अपनी अंतरात्मा की आवाज, आदेश या ईश्वर की आवाज के कारण करता है। इस आदेश की कठोरता एवं प्रबलता तो यहां दिखाई पड़ती है जहाँ यह अपने मित्र, पुत्र एवं धर्म-पत्नी के विरुद्ध अर्थात् समस्त संसार के विरुद्ध अकेले संघर्ष करने के लिए बाध्य करता है। इसी अंतरात्मा की ध्वनि के आधार पर दी हुई युक्ति को नैतिक युक्ति कहते हैं।[२] गांधी की यह युक्ति हमें कांट के निरपेक्ष आदेश की याद दिलाती है। गांधी यह मानते हैं कि निरपेक्ष नैतिकता का आधार ईश्वर ही हो सकता है। कांट का निरपेक्ष आदेश कर्त्तव्य भावना का आदेश है, ईश्वर का आदेश नहीं। ईश्वर को अलग से कांट नैतिकता की रक्षा के लिए आवश्यक

१ उपरिवत्, पृ० ८३।
२ उपरिवत, पृ० ८३।

मानते हैं जिससे उनके दर्शन मे एक दरार पैदा होती है जो गांधी मे नहीं है। गांधी के चिंतन म नैतिक नियम और ईश्वर—दोनो का ऐक्य हो जाता है।

(घ) ऐतिहासिक युक्ति गांधी के अनुसार ईश्वर धारणा सृष्टि के आदिकाल मे ही बुद्धिमानो एव मूर्खों—सभी मे चली आ रही है।[1] अतएव ईश्वर का अस्तित्व तथ्य है। गाधी का यह प्रमाण एक प्रकार म मौलिक और महत्वपूर्ण तो है लेकिन विवादास्पद भी है। बहुत ऐसी छोटी-छोटी जातिया है जिन्हे ईश्वर प्रत्यय का पता नहीं। बहुत हम लोग भी हैं जो ईश्वर का अस्तित्व बुद्धिपूर्वक स्वीकार नही करते। आधुनिक भाषा विश्लेषणवादी तो ईश्वर धारणा को ही अर्थहीन मानते है क्योकि उसका इन्द्रियानुभव नहीं होता है। परन्तु हम कह सकते है कि किसी भी धारणा की सार्थकता का इन्द्रियानुभव एकमात्र प्रमाण नही है। सामान्य भाषा की दृष्टि से देखन पर ईश्वर धारणा सार्थक है क्योंकि इसका प्रयोग बहुत लोग करते हैं। अत गाधी की इस युक्ति मे बहुत तो नहीं, थोड़ा बल जरूर है।

(ङ) श्रुति प्रमाण यद्यपि गांधी शास्त्र के अर्थ म श्रुति प्रमाण का प्रयोग नहीं करते परतु वे साधु-महात्माओ के अनुभव को भी ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण मानते हैं।[2] उनके अनुसार साधु सतो न ईश्वर का अनुभव साक्षात् रूप मे किया है। इसलिए उनके वचन झूठे नहा हो सकते। अत ईश्वर का अस्तित्व है। गांधी की यह युक्ति उनकी ज्ञान मीमासा के साथ सगति नहीं रखती है। जैसा हम ज्ञान-मीमासा के अध्याय मे देख चुके है कि वे अबौद्धिक होने पर शास्त्र वचन एव ईश्वर-प्रेरित वाक्यो को भी गलत एव युक्तिसगत होने पर बालक के कथनों को भी सत्य मानने के लिए तैयार है। परन्तु यहाँ पूर्णरूपेण सत महात्माओं की अनुभूतियो पर आश्रित हो जाते है। यह कोई आवश्यक नही कि सत महात्माओ की अनुभूतियाँ बौद्धिक हा ही। इसलिए

1 "Since belief in God is co-existent with the human kind, existence of God is treated as a fact more definite than the fact that the Sun is"—Kher, V B, *In Search of the Supreme*, (Ahmadabad, Navajivan Publication) Vol I, pp 24-25

2 Dutta, D M, *The Philosophy of Mahatma Gandhi*, p 44

यह प्रमाण उतना सबल प्रमाण नहीं है। यद्यपि शकर और विनोबा जैसे प्रखर तार्किकों ने भी अंतिम रूप में शब्द प्रमाण का सहारा लिया है।

(च) उपमान गांधी ने उपमान के सहारे यह सिद्ध किया है कि ईश्वर का ज्ञान नहीं होने पर भी उसका अस्तित्व निर्विवाद है। उन्होंने एक बार मैसूर राज्य की निर्धन एव अनपढ़ जनता से उस राज्य के राजा एव राज्य-नियम के संबंध में पूछा। परन्तु उन लोगों ने इनके संबंध में अपनी अज्ञानता प्रकट की। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि कोई भगवान मैसूर का शासन करता है। इस घटना से गांधी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जब एक छोटे-से राज्य के राजा के संबंध में वहाँ की जनता को ज्ञान नहीं हो सकता, तो ईश्वर, जो राजाओं का राजा है, जो समस्त ब्रह्माड में व्याप्त है—उसको एव उसके नियम को हमारे जैसे ससीम मानव कैसे जान सकते हैं? परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ईश्वर की सत्ता नहीं है।[1] वस्तुत सत्ता और ज्ञान—दोनों के दो क्षेत्र हैं। सपूर्ण सत्ता का ज्ञान सभव नहीं होने पर भी उसकी सत्ता को कोई आँच नहीं आती। विनोबा ने भी इस प्रमाण को दूसरी उपमा के सहारे प्रस्तुत किया है, जैसा हम पहले देख चुके हैं। उनकी उपमा 'राजा-प्रजा' के स्थान पर माता एव गर्भस्थ शिशु की है। परन्तु विचार दोनों का एक ही है।

(छ) प्रयोगवादी युक्ति उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त गांधी ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए प्रयोगवादी युक्ति भी दी है। उनके अनुसार ईश्वर में विश्वास रखने से हमारी जीवन-यात्रा आसान हो जाती है। उन्हीं के शब्दों में 'विनम्र एव मौन ईश्वर की प्रामाणिकता की स्वीकृति जीवन-यात्रा को आसान बनाती है। यहा तक कि पार्थिव नियम की स्वीकृति भी इसके अदर जीवन को अपेक्षाकृत आसान बना देती है।[2] गांधी का यह प्रमाण अमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स की युक्ति से बहुत कुछ साम्य रखता है। जेम्स के

1 Hingorani, Anand T (ed), *The Supreme Power*, p 5

2 "Humble and mute acceptance of Divine Authority makes life's Journey easier, even as the acceptance of earthly rule makes life under it easier"—*Ibid*, p 6

अनुसार भी ईश्वर-विश्वास मानव को दुःख में शांति प्रदान करता है।[1] गाँधी का यह विश्वास है कि ईश्वर विश्वास के अनुसार आचरण करने से हमारा हृदय परिवर्तित होता है तथा हमारे व्यवहार बदल जाते हैं।[2] यदि ईश्वर की सत्ता नहीं होती तो ऐसा परिणाम नहीं आता। यही कारण है कि निरीश्वरवादी बौद्धों एवं जैनों ने बुद्ध एवं महावीर में देवत्व का आरोप कर उन्हें भी ईश्वर बना दिया। बौद्ध-दर्शन की एक शाखा में तो ईश्वरवाद प्रकट होकर आया ही। लगता है मानव-मन को एक सहारा चाहिए। ईश्वर हमारे जीने के लिए उपयोगी है। इसलिए जैसा जेम्स ने कहा कि यदि ईश्वर नहीं भी है, तो हमें उसका निर्माण करना ही है।

यहाँ यह विचारणीय है कि प्रयोगवादी तर्क अवश्य ही अंतिम रूप से हमारे ज्ञान विज्ञान का आधार है, परन्तु इसके द्वारा सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती है। तत्त्वशास्त्रीय सत्ता एक अलग चीज है एवं मानसिक शांति दूसरी चीज। अतात्त्विक विश्वासों में भी मानसिक शांति मिल सकती है। अतः इसमें मनोवैज्ञानिक सत्य है। परन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं कि गाँधी का ईश्वर मनोवैज्ञानिक कल्पना नहीं है। वह वास्तविक सत्ता है जिसे उपयोगिता के आधार पर अकाट्य रूप से सिद्ध नहीं कर सकते।

---

1 "It (belief in God) guarantees an ideal order that shall be permanently preserved" and persuades us to believe that tragedy is only provisional and partial, and shipwreck and dissolution not the absolutely final things." It possesses "an extraordinary tonic and consoling power." —James, William *Pragmatism*, p 106 Quoted in Datta, D M, *The Chief currents of contemporary western Philosophy*, p 237

2 It is proved not by extraneous evidence but in the transformed conduct and character of those who have felt the real presence of God within Such testimony is to be found in the experiences of an unbroken line of prophets and sages in all countries and climes'—Bose, N K (ed) *Selections From Gandhi*, p 8

(ब) विनोबा द्वारा प्रतिपादित युक्तियाँ गांधी की ही भांति विनोबा भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वतः[१] सिद्ध मानकर उसकी सत्ता को प्रमाणित करने के लिए कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं जिन्हें हम निम्नलिखित रूप में उपस्थित कर सकते हैं—

(क) उपमान ईश्वर के बाद यदि किसी चीज में विनोबा आस्था रखते हैं तो वह है गणित। इसे इन्होंने कई बार अपने भाषण के क्रम में अभिव्यक्त किया है। अतः गणित की उपमा के आधार पर वे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार रेखागणित में कुछ काल्पनिक या पारिभाषिक धारणाएँ होती हैं, जैसे, त्रिभुज, रेखा, बिंदु इत्यादि। इनके बिना एक कदम भी रेखागणित आगे नहीं बढ़ सकता। इसी प्रकार भक्तिशास्त्र में ईश्वर के बिना एक कदम भी आगे बढ़ा नहीं जा सकता है। एक शालिग्राम की छोटी मूर्ति में सर्वव्यापी परमेश्वर को देखना पड़ता है। विनोबा यह तर्क करते हैं कि यदि भूमितिशास्त्र की कल्पना या "मानो" पागलपन का परिणाम नहीं है, तो फिर भक्तिशास्त्र की कल्पना या "मानो" कैसे पागलपन हो सकता है?[२] वस्तुतः इन कल्पनाओं को विशुद्ध रूप से काल्पनिक नहीं माना जा सकता है क्योंकि रेखा, बिंदु आदि कल्पना के आधार पर ही धरती पर हम वास्तविक परिवर्तन का कार्य करते हैं। इसी प्रकार ईश्वर धारणा की वास्तविकता का खण्डन इसके कार्य के आधार पर कभी भी नहीं किया जा सकता है। ईश्वर विश्वास में जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होते हैं। विनोबा का यह तर्क बहुत ही सबल एवं उचित है। यदि विज्ञान और गणित ही सत्य एवं वास्तविकता का मापदंड हो तो इस प्रकार के सत्य को दूसरे क्षेत्र में भी स्वीकार करना आवश्यक है।

आगे विज्ञान की उपमा को लेकर भी विनोबा यह सिद्ध करते हैं कि ईश्वर की सत्ता को असिद्ध नहीं किया जा सकता है। विज्ञान उसी निष्कर्ष को सत्य मानता है जिस पर शोध हो चुका होता है। जिस विषय पर शोध बाकी है, विज्ञान उसे न तो सत्य और न असत्य ही मानता है।[३] ईश्वर की सत्ता पर अबतक शोध, पूर्ण नहीं हुआ है। अतः इसके अस्तित्व को असिद्ध करना अवैज्ञानिक है। विनोबा का यह तर्क भी अकाट्य और अद्वितीय है।

---

१ भाव, विनोबा, विनोबा चिंतन, अंक ९ पृ० ३०।

२ विनोबा गीता प्रवचन, पृ० ६९-७०

३ विनोबा चिंतन, अंक ७ पृ० ७

(ख) आत्मा पर आधारित युक्ति विनोबा के अनुसार प्रत्येक वस्तु को केवल बुद्धि के सहारे प्रमाणित नहीं किया जा सकता। बुद्धि से भी ऊपर की वस्तु है हृदय जिसमें आत्मा का निवास है। आत्मा को ही ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होता है। यदि यह सिद्ध कर दिया जाय कि आत्मा की सत्ता नहीं है, तो ईश्वर की सत्ता अपने आप असिद्ध हो जायगी। परन्तु विनोबा शरीर, मन से भिन्न आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध मानते हैं[1]। अतः ईश्वर का अस्तित्व भी स्वाभाविक रूप से सिद्ध हो जाता है।

सादृश्यानुमान के सहारे विनोबा इस तथ्य को और स्पष्ट करते हैं। जैसा हम पहले भी देख चुके हैं कि विनोबा के अनुसार जो पिंड के लिए सत्य है वही ब्रह्माण्ड के लिए भी सत्य है। जैसे शरीर में आँख प्राण, पृथ्वी आदि का तत्त्व है, तो ब्रह्माण्ड में सूर्य, वायु एवं पृथ्वी का तत्त्व है। इसी प्रकार पिंड (शरीर) से भिन्न आत्मा है एवं ब्रह्माण्ड से भिन्न परमात्मा या ईश्वर।[2] यहाँ यह विचारणीय है कि जो दार्शनिक दर्शन को मात्र निष्पक्ष बौद्धिक प्रयत्न मानते हैं, वे ईश्वर की सत्ता को आत्मा या हृदय के आधार पर सत्य कैसे मान सकते? परन्तु यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि विनोबा की दार्शनिक परम्परा भिन्न है। उनके विचार में इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा—सभी समग्र एवं अखंड रूप में संगठित हैं। अतः दर्शन का विषय सपूर्ण अनुभव एवं उनके ज्ञान का साधन सम्पूर्ण ज्ञानतंत्र है। इस आधार पर आत्मा के द्वारा ईश्वर की सत्ता बिना किसी असंगति के सिद्ध की जा सकती है। आत्मा के आधार पर एक दूसरे प्रकार से भी ईश्वर की सत्ता को विनोबा ने सिद्ध किया है। शंकर की भाँति वे यह मानते हैं कि यदि आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया जाय तो भी इसका अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि यदि कोई यह कहे कि मैं नहीं हूँ, तो इससे भी उसकी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता ही है। परन्तु आत्मा के आधार पर सीमित चैतन्य का ज्ञान होता है। शरीर के अंदर और बाहर सीमित चैतन्य है। इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि एक व्यापक चैतन्य[3] है और वही ईश्वर है।

(ग) शब्दाधारित प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विनोबा ने मीमांसकों की भाँति 'ईश्वर शब्द' को ही पर्याप्त माना है। मीमा-

---

१ उपरिवत्, पृ० ६
२ उपरिवत्, पृ० ०
३ उपरिवत्, पृ० ०

सकों के अनुसार वैदिक देवताओं के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए उनके शब्द ही पर्याप्त हैं[१]। इन्द्र का अस्तित्व 'इन्द्र' एवं 'म' शब्द की ध्वनि के द्वारा ही सिद्ध होता है। वरुण की सत्ता (व+रु+ण) में तथा अग्नि की सत्ता 'अग्नि' में सन्निहित है। इसी प्रकार विनोबा यह युक्ति देते हैं कि सभी ईश्वर शब्द-खंडों में ही निर्मित हैं। ईश्वर प्रतिमा अथवा वह सत्य जिसे ईश्वर कहते हैं, किसी एक रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता है। अतएव प्रत्येक शब्द-खंड जो ईश्वर को अभिव्यक्त करते हैं, व ईश्वर के ही प्रतीक हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि ईश्वर कैसा है? तो इसका उत्तर यही दिया जायगा कि वह अपने समान है। इस प्रकार अंत में 'ॐ' को ही सपूर्ण ईश्वर का प्रतीक हम मान लेते हैं। विनोबा के अनुसार 'ॐ' केवल ईश्वर का प्रतीक ही नहीं बल्कि उसका रूप है[२]। अतः ईश्वर का अस्तित्व है। इस युक्ति के द्वारा विनोबा ने प्रत्यय, नाम, शब्द एवं सत्ता को एक साथ मिलाने का प्रयास किया है। इनकी योजना में संकेत एवं उसके अर्थ—दोनों समान हो जाते हैं। साथ ही-साथ सार्थकता एवं वास्तविकता का भी आपस में समन्वय किया जाता है। इस युक्ति की सार्थकता उनकी विलक्षण पद्धति से ही सिद्ध की जा सकती है। विश्लेषणात्मक तर्कशास्त्र के आधार पर तो इसे ऊटपटांग ही सिद्ध किया जा सकता [redacted]।

ऊपर की युक्ति को देखने से यह भी प्रतीत होता है कि यह अनसेल्म एवं डेकार्ट की तात्त्विक युक्ति के समान है। परन्तु विनोबा की युक्ति तात्त्विक युक्ति से भिन्न है। तात्त्विक युक्ति में भावना के अनुकूल सत्ता तार्किक अनिवार्यता से सिद्ध हो जाती है। परन्तु विनोबा, जैसा हम पहले देख चुके हैं, शब्द के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को इसलिए सिद्ध करते हैं, क्योंकि 'अ' से लेकर 'ज्ञ' तक सभी अक्षर एवं शब्द ईश्वर के प्रतीक हैं। कोई प्रतीक किसी सत्ता का ही हो सकता है एवं कोई भी सत्ता अपने को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त कर सकती है। इसीलिए शब्द या नाम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

प्रतीकों के सहारे ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में विनोबा की अपनी मौलिकता दिखलाई पड़ती है। जिस प्रकार गांधी ने नियम और नियामक—दोनों को एक ही समझा, उसी प्रकार विनोबा ने ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण में

---

१ गीता प्रवचन, पृ० ७०

२ उपरिवत्, पृ० ७१

प्रतीको एव उनमे सूचित होनेवाले सत्य—दोनो को एक साथ ही मिला दिया है। यह उनकी विशेषता है कि वे तथाकथित काल्पनिक प्रतीकात्मक, इत्यादि धारणाओ को भी सत्य से विलग नही मानते है क्योकि इनका प्रभाव व्यापक रूप मे हमारे जीवन पर पडता है। ध्यान योग के उदाहरण मे यह बात और स्पष्ट हो जाती है जिसमे हम किसी भी वस्तु को ईश्वर की प्रतिमा मान कर ध्यान करते हैं और इसका चमत्कार हमारे व्यक्तित्व पर देखने को मिलता है। अतएव इन प्रतीको को असत्य का सूचक न मानकर वास्तविक मानना पडेगा। विनोबा की यह युक्ति अद्वितीय है।

वस्तुत मनुष्य विशाल ईश्वर के शरीर पर एक कीडे के समान है। सब कुछ ईश्वर है। वह सर्वात्म रूप से हमारे सामने खडा है। हम उसे पहचान नही पाते हैं। हम ऐसा लगता है कि हम पहाड पर चढ रहे हैं और नदी मे तैर रहे हैं। परतु हमारा सारा खेल ईश्वर के शरीर पर ही होता है।[1] अज्ञेयवादी यह मानते है कि अज्ञेय होने के कारण ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। परतु विनोबा ईश्वर को अज्ञेय नही मानते। उनकी युक्ति है कि यदि हम यह कहें कि 'ईश्वर अज्ञेय है' तो इससे यह अर्थ निकलता है कि 'वह है'। यदि हम यह कहते हैं कि वह है तो फिर उसे अज्ञेय मानना युक्ति सगत नही है।[2]

(ख) तुलनात्मक विचार गाधी और विनोबा के ईश्वर को सिद्ध करने की युक्तियो को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि गाधी की युक्तियाँ प्राय मध्ययुगीन सप्रदायवादियो की युक्तियो के समान ही हैं। उसमे कोई मौलिकता विशेष रूप से दृष्टिगत नही होती है। इन युक्तियो को पारपरिक युक्ति ही कह सकते हैं। विनोबा ने अपनी युक्तियो मे विज्ञान, गणित तथा अध्यात्म का सहारा लिया है। इसलिए इनकी युक्तिया आधुनिक तो हैं ही, साथ-ही-साथ इनमे पूरी मौलिकता और नवीनता भी है। इन्होंने अपनी युक्तियो मे शकर और मीमासको को भी आत्मसात कर लिया है। अत यहाँ यह कहना उचित होगा कि विनोबा ने गाधी की युक्तियो को स्वीकार कर उसमे

---

१ विनोबा चितन, अक ९ पृ० ३०

२ भावे विनोबा विनोबा विचार पोथी, पृ० ३९

विज्ञान के प्रकाश में नई युक्तियां जोड दी हैं जो गांधी की युक्तियों की तुलना मे अधिक सूक्ष्म एव शास्त्रीय हैं। गांधी उपमान प्रमाण का सहारा लेते हैं, परतु इनके उदाहरण जन-साधारण के उदाहरण हैं, जैसे मैसूर राज्य की अनपढ जनता का उदाहरण। परन्तु विनोबा का उपमान प्रमाण जन साधारण का नही बल्कि भिन्न-भिन्न विज्ञानो का है, जैसे, गणित, जीवशास्त्र, भाषा-विज्ञान इत्यादि। अत विनोबा ने गाधी के विचारो मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण अश को जोड दिया है।

४ सत्य और ईश्वर

(क) 'सत्य' के अर्थ गाधी के सत्य पर विचार करने के पूर्व 'सत्य' का प्रचलित अर्थ हमे समझना चाहिए। हमारे लिए वही सत्य है जो दूसरे से पृथक किया जा सके तथा उसपर विचार करना सभव हो। अर्थात् सत्य तार्किक दृष्टि से सोचा जा सकता है, प्रमाणित और अप्रमाणित हो सकता है। यदि हम किसी विशेष समय मे एक विशेष अर्थ रखते हुए कोई कथन करते हैं और फिर दूसरे कथन मे पहले कथन का अर्थ रखते हुए कुछ कहते हैं, तो ऐसे सगत वाक्यो को सत्य से विभूषित किया जाता है। इसके विपरीत यदि हम हर क्षण अपने कथनो का अर्थ बदलते रहें तो ऐसे असगत वाक्यो को असत्य कहा जायगा।[1] परतु 'सत्य' का यह अर्थ उचित नही है। इसे हम आत्म-सगति या आत्म-सामजस्य कह सकते है। तर्कशास्त्र मे 'सत्यता', 'सगति' और 'यथार्थता',— तीनो अलग-अलग अर्थ रखते हैं। सगति का धर्म दो कथनो के आपसी सबध

1 "Truth, for us is the sum of what can be isolated and counted It is what can be logically accounted for, what can be proved to have happened or what you really mean at the moment when you say it, while keeping it somehow consistent with what you meant earlier or expect to say later" —Erikson, Erik H, *Gandhi's Truth on the Origins of Militant Non violence*, (London, Farber & Farber Ltd, 1970), p 41

म देखा जा सकता है। सत्यता और असत्यता किसी भी प्रतिज्ञप्ति के गुण हैं, परन्तु यथार्थता और अयथार्थता किसी भी तर्क प्रणाली (argument) के धर्म होते हैं।[1] इस प्रकार इस अर्थ में सत्य ज्ञान का धर्म हो जाता है। सत्य के इस अर्थ को ज्ञान मीमांसीय अर्थ कहते हैं।

सत्य का दूसरा अर्थ है—वास्तविक सत्ता। इस अर्थ म सत्य तत्त्वमीमांसा की धारणा है। यह सभी प्रकार की सत्ता के मध्य रहनेवाली निरपेक्ष सत्ता का सूचक है। इसके अतर्गत सापेक्ष सत्य भी आ जाते हैं परन्तु अस्तित्ववादियों के सत्य की भांति सत्य केवल देश कालिक सत्य नहीं है। इन दो अर्थों के अतिरिक्त सत्य का एक मूल्यात्मक अर्थ भी है। इस दृष्टि म यह एक प्रकार के नैतिक मूल्य का सूचक है। इस प्रकार ऊपर के तीनों अर्थों को सामने रखने पर सत्य के तीन विपरीतार्थक शब्द हो जाते हैं—असत्य, आभास, और शठ।

गांधी की सत्य धारणा इन तीनों अर्थों म व्यवहृत हुई है। जब गांधी सत्य की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'सत्' से करते हैं, और इसका अर्थ निरपेक्ष सत्ता म लेते हैं, तो वे सत्य का प्रयोग तात्त्विक अर्थ में करते हैं।[2] फिर वे जब सत्य को पारिभाषित करते हुए उसे अन्तरात्मा म स्थित ईश्वर की वाणी मानते हैं, तो यहाँ वे सत्य का प्रयोग नैतिक मूल्य के अर्थ म करते हैं।[3] भारतीय प्रत्ययवाद म ज्ञान और तत्त्व का एक्य स्वीकार किया गया है। अतः जो परम तत्त्व है वह ज्ञान स्वरूप भी है। गांधी भी सत्य को ज्ञान मानते हैं।[4] इस प्रयोग को ज्ञान मीमांसात्मक प्रयोग कह सकते हैं। परन्तु यह अर्थ आधुनिक तर्कशास्त्र के अर्थ से भिन्न है क्योंकि गांधी ज्ञान के लिए केवल निर्णय को ही पर्याप्त नहीं मानते हैं। गांधी का सत्य किसी निर्णय का धर्म नहीं बल्कि स्वतः ज्ञान स्वरूप है।

गांधी ने अपने चिंतन म सत्य धारणा का प्रयोग उपर्युक्त तीनों अर्थों म विश्लेषात्मक ढंग म नहीं कर समग्रात्मक ढंग से किया है। यह उनकी अपनी

1 Copi Irving M *Symbolic Logic*, (New York Macmillan Co 2nd edn 1965), p 4

2 Hingorani Anand T (ed) *The Supreme Power*, p 62.

3 Prabhu, R K (ed) *Truth is God*, p 15

4 Hingorani Anand T (ed) *The Supreme Power*, p 56.

दृष्टि है। जीवन की मौलिक समस्याओं के चिंतक होने के नाते वे तात्त्विक धारणा को ज्ञान एवं नीति के आदर्श मूल्यों से वंचित नहीं रख सकते। अतः सत्य का अखंड रूप में प्रयोग उचित ही है। परन्तु इस नीति के कारण कुछ पाश्चात्य विचारक और लेखक गांधी के सत्य को ठीक से समझ नहीं पाते हैं। वे हमेशा इनके सत्य को 'सगति' के अर्थ में विश्लेषणात्मक दृष्टि से स्थायी रूप में देखना चाहते हैं जिसमें उन्हें नैराश्य मिलता है। वे गांधी के सत्य को अपने सांचे में ढाल कर समझना चाहते हैं, गांधी के अर्थ में नहीं। जैसे एरिक एरिक्सन ने गांधी के सत्य को प्रयोजनमूलक प्रवाह[1] (meaningful flux)माना है जिसका कोई निश्चित और सुदृढ आधारबिंदु नहीं है।[2] परन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। सर्वप्रथम सत्य को उन्होंने मात्र सगति' के अर्थ में समझना चाहा है जो अपने आप में बहुत ही संकुचित है। गांधी ने अपनी समन्वयवादी नीति के कारण सत्य का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। दूसरी बात यह कि सर्जनशील दार्शनिक के विचारों को विश्लेषणात्मक तर्कशास्त्र के माध्यम से समझना भूल है। इनके लिए रचनात्मक और मूल्यात्मक तथा प्रयोगात्मक तर्कशास्त्र का सहारा लेना पड़ेगा। फिर एरिक्सन गांधी को मात्र मनोविश्लेषणवाद के आधार पर समझना चाहते हैं। गांधी-जैसे महान् व्यक्तित्व को समझने के लिए मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के साथ-साथ उनके वास्तविक जीवन तथा उनके जीवन के लक्ष्य को समझना भी महत्त्वपूर्ण है। आचार्य कृपलानी ने ठीक ही यह माना है कि समन्वयात्मक विचार में तार्किक विरोध पाना आसान है क्योंकि समन्वय में विरोधियों को आपस में मिलाने का प्रयास रहता है जो आकारिक तर्कशास्त्र के नियम के विरुद्ध है। परन्तु आकारिक तर्कशास्त्र समय के साथ बदलता हुई जीवित परिस्थितियों के आवश्यक परिवर्तन

---

1 Gandhi had tried to erect a bulwork based on radical factualness obsessive punctuality and absolute responsibility—all within a meaningful flux which he called Truth —Erikson Erik H *Gandhi's Truth on the orig n of Militant Non violence* p 44

2 *Ibid*, pp 395 96

को नहीं समझ सकता।[1] फिर गांधी ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—"मैं जब कभी लिखता हूँ तो यह नहीं सोचता हूँ कि मैंने पहले क्या कहा है, मेरा उद्देश्य पूर्व कथनों और प्रश्नों के प्रति संगति रखना नहीं बल्कि सत्य के साथ संगति रखना है जो दी हुई परिस्थिति में सामने आता है। इसका परिणाम यह हुआ कि मैं एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर प्रगति कर रहा हूँ।"[2] इन सब कारणों से गांधी के सत्य के प्रति एरिक्सन की धारणा भ्रमपूर्ण मालूम पड़ती है।

गांधी की ईश्वर-धारणा की सबसे बड़ी विशेषता है—सत्य के साथ इसका एकीकरण। अपने अनुभव के पश्चात् गांधी इस निष्कर्ष पर आए कि ईश्वर सत्य के सिवा कुछ और नहीं है। उन्होंने ईश्वर और सत्य का संबंध दो प्रकार से निरूपित किया है। 'ईश्वर सत्य है' वाक्य के द्वारा एक विशेष प्रकार का संबंध सूचित होता है और 'सत्य ईश्वर है' वाक्य से दूसरे प्रकार का। अतः यहाँ विचार कर हम यह देखेंगे कि दोनों प्रकार के वाक्यों के द्वारा 'सत्य' और 'ईश्वर' का संबंध किस प्रकार निरूपित हुआ है।

---

1 "It is easy to find logical inconsistencies in synthetic thought Synthesis implies the union of opposites that would appear contradictory in formal logic One sided and partial propositions, granted the basic postulates and presuppositions, can be proved by the rules of formal logic But the conclusions of such thought and reasoning, having been arrived by abstraction, as in mathematics, are only formally and theoretically valid Their application to life is strictly limited Organic situations which grow through the flux of time and the changes brought about by conscious human thought and effort escape strict analysis or rules of formal logic "—Kriplani, J B, *Gandhi His Life and Thought* p 317

2 *Ibid*, p 330

(ख) सत्य और ईश्वर[1]

(अ) 'ईश्वर सत्य है' इस वाक्य के द्वारा गांधी यह बतलाना चाहते हैं कि ईश्वर को पारिभाषित करने का एकमात्र व्यापक शब्द 'सत्य' है।[1] अतएव ईश्वर परिभाष्य और सत्य इसकी परिभाषा है। हिन्दू, ईसाई या इस्लाम धर्मों मे ईश्वर के जिन गुणो और नामो की चर्चा हुई है, वे ईश्वर को समुचित रूप मे पारिभाषित करने मे असमर्थ हैं क्योंकि अंतिम रूप से व सत्य पर ही आश्रित है।[2] 'ईश्वर सत्य है' वाक्य के द्वारा ही ईश्वर का 'सबसे पूर्ण विवरण'[3] प्रस्तुत होता है।

'ईश्वर सत्य है' वाक्य के विश्लेषण मे कई प्रकार के अर्थ लगाए जा सकते है और तदनुरूप 'ईश्वर' और 'सत्य' के बीच सबंध भी भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। सामान्यत हमे ऐसा लगता है कि 'ईश्वर', वाक्य के उद्देश्य होने के कारण द्रव्य या सत्ता का द्योतक है तथा 'सत्य', वाक्य के विधय होने के कारण गुण का सूचक है। इस अर्थ मे 'ईश्वर' और 'सत्य' मे द्रव्य-गुण सबंध स्थापित हो जाता है। परन्तु यह व्याख्या सटीक और सुन्दर नहीं मालूम पड़ती। दूसरी व्याख्या, यह की जा सकती है कि 'सत्य' ईश्वर का गुण नहीं बल्कि ईश्वर ही है। गांधी ने एक जगह ऐसा माना भी है।[4] इस अर्थ को लेने पर 'ईश्वर' और 'सत्य' के बीच मे तादात्म्य सबंध स्थापित होता है। यदि हम सत्य को ईश्वर का गुण नहीं मानकर ईश्वर मानते हैं तो यहा सत्य का अर्थ 'चरम तत्त्व या 'निरपेक्ष सत्य' हो जाता है। फिर निरपेक्ष सत्य को अनन्त ज्ञान और अनत आनद सपन्न मानना ही पड़ेगा। अत 'ईश्वर सत्य है' वाक्य का अर्थ हुआ 'ईश्वर सच्चिदानन्द है।' निरपेक्ष सत्य का कोई विशिष्ट रूप नहीं होता ? अत ईश्वर एक प्रकार को

1 "Truth is the only comprehensive attribute of God Other attributes are only partial expressions of the reality that is God" Hirgorani Anand T (ed) *The Supreme Power*, p 62

2 *Ibid* p 58

3 *Ibid* p 59

4 "Truth is not a mere attribute of God, but He is that"—Gandhi *The Diary of Mahadeo Desai* p 218

निर्गुण भावात्मक[1] सत्ता का रूप ले लेता है। इस प्रकार चाहे हम 'ईश्वर सच्चिदानन्द है' कहें या 'वह निर्गुण भावात्मक सत्ता है' कहें—दोनों के द्वारा यह सूचित होता है कि 'ईश्वर चरम तत्त्व है'। 'ईश्वर' और 'चरम तत्त्व'—दोनों की व्याप्ति बराबर है, अत दोनों में तादात्म्य सबंध हुआ। इस तादात्म्य वाक्य से कोई नई सूचना नहीं मिलती। इसके द्वारा केवल इतना ही प्रकट होता है कि ईश्वर स्वयभू और शाश्वत सत्ता है। परतु यह अर्थ भी 'ईश्वर' और 'सत्य' के तादात्म्य को भलीभाँति प्रकट नहीं कर पाता है।

'ईश्वर सत्य है' वाक्य का एक तीसरा भी अर्थ लग सकता है। इस अर्थ के अनुसार नैतिक मूल्यों में सत्य को गांधी ने सर्वोच्च माना है। इसीलिए तो वे आजन्म सत्य के लिए कष्ट झेलते रहे। अपनी सभी गलतियों को पिता के सामने कहना, शिक्षक के बतलाने पर भी चोरी से नकल नहीं करना, सत्य हरिश्चन्द्र नाटक से प्रभावित होना और स्वराज्य की तुलना में सत्य को श्रेष्ठ मानना—इत्यादि ऐसे उदाहरण हैं जो सत्य के प्रति उनकी गहरी आस्था को व्यक्त करते हैं। अत 'ईश्वर सत्य है' वाक्य का यह अर्थ हो सकता है कि 'सत्य ही आराध्य है'। यही वास्तव में ईश्वर है। इस अर्थ में भी ईश्वर और नैतिक सत्य के बीच तादात्म्य सबंध ही स्थापित होता है।

इस प्रकार पहला अर्थ तात्त्विक दृष्टि को सामने रखता है, दूसरा धार्मिक दृष्टि को और तीसरा नैतिक दृष्टि को। अत 'ईश्वर सत्य है' वाक्य में ईश्वर वस्तुत धर्म और नैतिकता की गगा-यमुना तथा तत्त्वमीमांसा की गुप्त सरस्वती के सगम पर खड़ा मालूम पड़ता है।

(ब) 'सत्य ही ईश्वर है' 'ईश्वर' और 'सत्य' का दूसरा सबंध 'सत्य ही ईश्वर है' वाक्य से प्रकट होता है जिसे गांधी ने अपने बाद के जीवन में अनुभव किया। गांधी के अनुसार यह सबंध अपेक्षाकृत अधिक उचित और पूर्ण है। इस वाक्य के भी भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए जा सकते हैं। एक अर्थ तो यह लगाया जा सकता है कि "तथ्यात्मक सवाक्यों का विशेषण (सत्य) व्यक्तित्वपूर्ण आध्यात्मिक वास्तविकता (ईश्वर)

---

1 Ram Nathan, P S, 'God is Truth', *The Philosophical Quarterly*, October 1952, p 179

२ उपरिवत्, पृ० १७९

है।"[1] परन्तु यह अर्थ संगत नहीं है। जैसा हम देख चुके हैं कि गांधी का सत्य तथ्यात्मक सवाक्यों का विशेषण नहीं है। इसी प्रकार गांधी के ईश्वर को भी व्यक्तित्वपूर्ण आध्यात्मिक वास्तविकता नहीं कहा जा सकता क्योंकि गांधी का ईश्वर अव्यक्तित्वपूर्ण और व्यक्तित्वपूर्ण दोनों है। वस्तुत 'ईश्वर' का अर्थ मात्र व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर से लेना ही भूल है। यदि इस अर्थ को लिया जाय तो सचमुच 'ईश्वर' और 'सत्य' के बीच कोई संबंध स्थापित नहीं होगा और वाक्य निरर्थक घोषित हो जायगा।

इस वाक्य का दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि 'सत्य शुभत्व के गुणों से सपन्न है'[2]। 'ईश्वर सत्य है' वाक्य में ईश्वर का चरम सत्व माना गया था, परन्तु उस चरम तत्त्व का स्वरूप निरूपण नहीं हुआ था। इस वाक्य में चरम तत्त्व का स्वरूप निरूपण होता है। अर्थात चरम तत्त्व शुभ मूल्यों से समाविष्ट हो जाता है। ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञाता, सर्वान्तर्यामी, और सभी शुभ मूल्यों का सगम माना जाता है। सत्य का स्वरूप भी कुछ ऐसा ही है। अत 'सत्य ही ईश्वर है' का अर्थ है—'सत्य' सभी शुभ मूल्यों से परिपूर्ण है। यह अर्थ लेने से 'सत्य' और ईश्वर में द्रव्य-गुण संबंध स्थापित हो जाता है। 'सत्य' द्रव्य, आधार और ईश्वर गुण या धर्म बन जाता है।

तीसरे अर्थ में 'ईश्वर' को 'सत्य' का एक उपलक्षण माना जा सकता है जो विचारणीय है।[3] वस्तुत 'सत्य' एक व्यापक पद है। हम शकर और विनोबा के ब्रह्म के समान व्यापक मान सकते हैं। परतु ईश्वर उस सत्य के अन्दर की चीज है। शकर और विनोबा दोनों ने ब्रह्म की तुलना में ईश्वर को कम व्यापक माना है। परन्तु ब्रह्म के सबसे समीप ईश्वर तत्त्व है। ठीक इसी प्रकार यह लगता है कि गांधी का सत्य भी सर्वोच्च सत्ता है, जिसका वर्णन उसके समीप की सत्ता ईश्वर के द्वारा किया जा सकता है। इस अर्थ को लेने

1 Masih, Y, Presidential Address, *Proceedings of the Ninth Session of the Bihar Darshan Parishad*, (Deoghar, 1968), p 15

2 Ram Nathan, P S, 'God is Truth', *The Philosophical Quarterly*, October, 1952, p 180

3 सिंह, डा० रामजी, 'सत्य ही ईश्वर है', अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के १६वें अधिवेशन में पठित निबंध से, पृ० ५।

से ईश्वर और 'सत्य' का तादात्म्य संबंध खंडित हो जाता है तथा इस वाक्य के द्वारा कुछ नावीन्य का प्रतिपादन होता है।[1]

इस वाक्य का एक चौथा अर्थ भी किया गया है। 'ईश्वर सत्य है' वाक्य के द्वारा हम मात्र ईश्वर का विवरण सत्य गुण के आधार पर देते हैं जो आवश्यक रूप से अन्य गुणों की अपेक्षा प्रमुख नहीं भी हो सकता है। अतः 'सत्य' के द्वारा 'ईश्वर' का आंशिक विवरण प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु जब हम 'सत्य ईश्वर है' वाक्य पर आते हैं तो सत्य और ईश्वर के बीच संबंध पूर्ण हो जाता है। 'सत्य', ईश्वर का विवरण नहीं रह कर उसका सार बन जाता है, अतः यह ईश्वर की परिपूर्ण परिभाषा हो जाती है।[2]

इस दृष्टि से 'सत्य ईश्वर है' का अर्थ यह हो सकता है कि ईश्वर चाहे किसी विशेष प्रतिज्ञप्ति या प्रतिज्ञप्तियों के समूह अथवा संपूर्ण प्रतिज्ञप्तियों के सत्य के साथ तादात्म्य संबंध रखता है। ऐसी परिस्थिति में किसी भी सत्य प्रतिज्ञप्ति को ईश्वर मानना पड़ेगा।[3] कोई विशिष्ट सत्य प्रतिज्ञप्ति अपनी सत्यता दूसरी सार्वभौम सत्य प्रतिज्ञप्ति में प्राप्त करती है जो नियम कहलाता है। नियम का यहाँ अर्थ केवल प्राकृतिक नियम ही नहीं बल्कि नैतिक, सौंदर्य बोधक और अन्य सभी नियम हैं। इस प्रकार ईश्वर ज्ञात और अज्ञात सभी प्रकार के नियमों का पर्यायवाची हो जाता है तथा सत्य सभी सत्य प्रतिज्ञप्तियों का मंगल-

१ उपरिवत्, पृ० ५।

2 "When we say 'God is truth'', we are only ascribing one property to him which need not have priority over other properties that may so be ascribable What is offered here is a partial description of God But when to this is added its converse "Truth is God", the identification of God with truth is complete Truth is no loger part of the description of God, but it's entire essence, its complete definition"—Thakur, S C, "Gandhi's God", *International Philosophical Quarterly*, Vol XI, No 4, December 1971, pp 485-495, p 487

3 *Ibid*, p 487

व्यापी अर्थ रखने लगता है।[1] इस प्रकार यहाँ ईश्वर का अर्थ सभी सत्य नियम या प्रतिज्ञप्तियों के अर्थ में ही लिया गया है।[2] समीक्षात्मक दृष्टि से देखने पर इस व्याख्या की सार्थकता केवल विश्लेषणात्मक दृष्टि में है। परन्तु गांधी का सत्य शक्ति स्वरूप भी है जो इसके तत्त्वशास्त्रीय स्वरूप को प्रकट करता है।

'सत्य ईश्वर है' का एक अर्थ यह हो सकता है कि 'सत्य से बढ़कर कोई फलदायक तत्त्व नहीं है।'[3] गांधी के अनुसार सत्य पर चलने में असीम आत्म शक्ति प्राप्त होती है। असंभव से असंभव कार्य भी मनुष्य अपने जीवन में सत्य के बल पर कर लेता है जैसा गाँधी ने किया भी। अतएव जो शक्ति हम ईश्वर भजन, पूजा या ईश्वर कृपा में प्राप्त नहीं होती वह शक्ति हम सत्याचरण में मिलती है। सत्य की साधना को गाँधी सर्वोच्च मानते भी है और इसके लिए निष्काम कर्म पर बल देते हैं। अतः ऊपर का वाक्य यह व्यक्त करता हुआ प्रतीत होता है कि जो कार्य ईश्वर में विश्वास करने से नहीं होता है वह कार्य सत्य में विश्वास करने से होता है। अतः 'सत्य ही ईश्वर है' कहना उन्होंने उचित समझा। इस अर्थ के अनुसार 'सत्य' और 'ईश्वर' में कारण-कार्य संबंध स्थापित हो जाता है।

अब हम देखना है कि गांधी 'ईश्वर सत्य है' वाक्य से 'सत्य ही ईश्वर है' वाक्य पर क्यों आये?

सत्य की प्राथमिकता के पक्ष में गाँधी ने कई प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। एक तो अर्थ की दृष्टि से सत्य व्यापक और काफी स्पष्ट है। साधना के विचार से 'प्रेम' का प्रयोग किया जा सकता था परन्तु एक तो आंग्ल भाषा में कभी-कभी प्रेम का प्रयोग 'वासना' के अर्थ में भी होता है और यदि 'प्रेम' के अर्थ में ईश्वर को माना भी जाय, तो इसका बोध सर्वसामान्य को नहीं होता। अतः अर्थ की दृष्टि से 'प्रेम' भ्रामक और व्यापकता की दृष्टि से सीमित है। परन्तु 'सत्य' के साथ ऐसी बात नहीं है।[4]

---

1 *Ibid*, p 487

2 *Ibid* p 489

३ 'सत्य की अस्तित्व की व्याख्या या आत्यन्तिक यथार्थवादी व्याख्या गाँधी की उदात्त आध्यात्मिक नैतिक रहस्यानुभूति के अतिरिक्त उनकी फलवादी दृष्टि भी प्रकट करती है'—सिंह डा० रामजी सत्य ही ईश्वर है पृ० ९।

4 Hingorani, Anard T (ed), *The Supreme Power*, p 59

ईश्वर शब्द स्वयं व्यापकता की दृष्टि से सत्य की तुलना मे तुच्छ है क्योंकि ईश्वर मे विश्वास न करने वाले कुछ ही इने गिने लोग है। परन्तु दर्शन के इतिहास मे बहुत से ऐसे निरीश्वरवादी देखने को मिलते है जो संशयवादी अथवा अनात्मवादी होने पर भी सत्य में विश्वास करते है। सत्य में ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी—दोनो आस्था रखते है।[1] अतः सत्य ईश्वर है विशेष उपयुक्त वाक्य है।

ईश्वर के नाम पर दुर्भाग्य से ही सही, अनेक प्रकार के घृणित व्यापार होते हैं, जिसका इतिहास साक्षी है। ईश्वर और धर्म के नाम पर अनेक खून खराबियां होती रहती है। इस्लाम और सिक्ख धर्म के प्रचार मे खून-खराबी ही छिपी है। सत्य के नाम पर भी विज्ञान मे प्रयोगादि मे पशुओं के साथ क्रूरता बरती जाती है, परन्तु वह धर्म आदि के नाम पर हुई हिंसा की तुलना में नगण्य है। गांधी की राय मे जब हमारी बुद्धि ही सीमित है, तो किसी भी शब्द का प्रयोग हम क्यों न करें, उसमें कुछ त्रुटियां रहेगी ही।[2] परन्तु सत्य सर्वश्रेष्ठ है।

पुनः गाँधी यह युक्ति देते है कि गुजराती में 'गाड' का अर्थ ईश्वर (गाल्कि) से लिया जाता है जिसका अर्थ होता है शासक।[3] यदि शासकों के शासक के अर्थ में ईश्वर को लिया जाए तो हमारी सम्पूर्ण नैतिकता का आधार ईश्वर दण्ड भय हो जाएगा। फिर ईश्वर को शासकों का शासक मानना भी बोधगम्य नहीं है। अतः विशुद्ध शुभ को नैतिकता का आधार मानने तथा बोधगम्यता लाने के लिए 'ईश्वर की तुलना में सत्य' अधिक महत्त्वपूर्ण है।[4]

यदि यह कहा जाए कि ईश्वर का दर्शन होता है, या हम ईश्वर की आवाज सुनते हैं तो यह बात भले ही कुछ रहस्यवादियों के अंतर्मन को स्पर्श करे किन्तु यह हमारी सामान्य बुद्धि को नहीं जँचती है। परन्तु सत्य का दर्शन

1 *Ibid*, p 59

2 *Ibid*, p 60

3 *Ibid*, p 62

4 Pondering over the matter like this I found that God is Truth is an incomplete sentence 'Truth is God' is the fullest expression of our meaning in so far as it can be set forth in human speech' *Ibid*, p 62

और तत्य की आवाज का श्रवण बोधगम्य है।[1] सच सबके सामने है। साच को आँच नहीं।

हिंदू और इस्लाम धर्मों म ईश्वर को निरपेक्ष सत्ता का भी सूचक माना गया है। उपनिषद् म 'सत्य ज्ञानमनत ब्रह्म' है तो महाभारत मे 'सत्य ब्रह्म सनातनम्' कहा गया है। अत सत्य ब्रह्म के अर्थ मे प्रयुक्त है। इस्लाम के कलाम मे भी कहा गया है—एक ही ईश्वर सत्य है (ला इलाह इल्लल्लाह)। अत गाधी न सत्य ही ईश्वर है वाक्य को सबस अधिक सतोषप्रद माना है।[2]

गाधी का 'ईश्वर सत्य है वाक्य म 'सत्य ईश्वर है वाक्य पर आना कई दृष्टियो स महत्त्वपूर्ण है। यहाँ मानो श्रद्धा से विवेक की ओर, धर्म स आध्यात्मिकता की ओर ससीम स असीम की ओर तथा सापेक्ष नैतिकता म निरपेक्ष नैतिकता की ओर हम प्रगति कर रहे हैं। यह परिवतन मानो गाधी के अखड सत्य के प्रति बोध अथवा जीवन की गहरी अनुभूति का प्रतिफल है जिसे अनुमित ज्ञान नहा कहा जा सकता है। सचमुच यह ईश्वरवाद स अद्वैत वाद की ओर प्रगति है तथा अधविश्वास और निष्क्रियता के ऊपर खुली दृष्टि तथा कत्तव्य परायणता का प्रहार है। इसम मात्र ईश्वर पर आधारित विवादास्पद दर्शन को सत्य पर आधारित सवमान्य समग्र-दशन स मिलाने का प्रयास है।

'ईश्वर सत्य है वाक्य तार्किक परिभाषा की दृष्टि स भी दोषपूर्ण है। तार्किक परिभाषा का एक नियम है कि परिभाष्य स परिभाषा की व्याप्ति न तो अधिक होनी चाहिए और न कम। यदि परिभाषा की व्याप्ति कम रही तो अव्याप्ति का दोष और अधिक रहने पर अतिव्याप्ति का दोष आ जाता है। ईश्वर सत्य है वाक्य म ईश्वर की व्यापकता है—ईश्वरवादियो की कल्पना का ईश्वर। सत्य की व्यापकता है—ईश्वरवादियो का ईश्वर नास्तिकों का वैज्ञानिक सत्य और अन्य अज्ञात सत्य। अत परिभाष्य स परिभाषा अधिक हो जाती है, इसलिए अतिव्याप्ति का दोष उत्पन्न होता है। परतु 'सत्य ही ईश्वर है वाक्य इस दोष स मुक्त है। गाधी के मतानुसार सत्य और ईश्वर समव्याप्त है क्योकि सत्य ही ईश्वर है। परतु यहाँ ध्यान देन की बात यह है कि सत्य और ईश्वर गणितिक अर्थ मे नहा बल्कि व्यावहारिक अर्थ म एक दूसरे के बराबर है। डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त यह मानत हैं कि आधार

1 *Ibid* p 62

2 'The definition Truth is God gives me greatest satisfaction —*Ibid*, p 60

वाक्य 'ईश्वर सत्य है' से निष्कर्ष वाक्य 'सत्य ही ईश्वर है' पर प्रस्थान आकारिक तर्कशास्त्र के नियम के भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि यहाँ पर सरल आवर्त्तन संभव है।[1] सरल आवर्त्तन तभी संभव होता है जब किसी वाक्य के उद्देश्य और विधेय की वस्तुवाचकता समान होती है। डॉ० दत्त शायद यह मान्य कर चुके हैं कि 'ईश्वर' और सत्य की वस्तुवाचकता समान है और इसीलिए वे सरल आवर्त्तन की बात करते हैं। यह ठीक है कि हमारे शास्त्रों ने ईश्वर को 'सत्य ज्ञान अनन्तम्' कहा है और गाँधी ने भी ईश्वर को सत्य स्वरूप समझा है और इस दृष्टि से यह सरल आवर्त्तन क्षम्य समझा भी जा सकता है, किंतु वह व्यक्ति जो ईश्वर को मानता ही नहीं उसके लिए 'ईश्वर सत्य है' वाक्य तो निरर्थक हो जायगा। शायद इसी कठिनाई को दूर करने के लिए उन्होंने 'ईश्वर सत्य है' की अपेक्षा 'सत्य ईश्वर है' कहना अधिक ठीक समझा। ईश्वर को लोग भले न मानें, सत्य को तो कोई अस्वीकार नहीं करता। अतः सरल आवर्त्तन गाँधी चिंतन के संदर्भ में सही हो सकता है किंतु जो ईश्वर को मानते ही नहीं हैं उनके लिए यह प्रश्न ही व्यर्थ है। अतः इस युक्तिवाद को आकारिक तर्कशास्त्र में संपुष्ट करने से कोई लाभ नहीं।

(ग) मूल्यांकन

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गाँधी के अनुसार ईश्वर और सत्य दोनों में तादात्म्य संबंध है। विनोबा ईश्वर और सत्य में तादात्म्य और भेद—दोनों प्रकार के संबंध को मानते हैं। जैसा हम पहले देख आए हैं कि सत्य वह है जिसके जानने पर हमारी सुरक्षा होती है। परंतु ईश्वर विश्व का आधारिक सत्य और निरपेक्ष सत्य है जो बिना जाने भी हमारी सुरक्षा करता है। इस दृष्टि से ईश्वर और सत्य में भेद का संबंध है। परंतु अभंगव्रत[2] में विनोबा ने सत्य को विश्व का आधारिक कारण माना है। व्यक्ति समाज तथा विश्व—तीनों के आधार होने के कारण इसे परमाधार भी कहा है। सत्य उनके लिए "है-पन" है, स्वव्याख्येय है तथा उसमें भिन्न जो कुछ है वह शून्य या मिथ्या है। सत्य के इस अर्थ के अनुसार ईश्वर न तो शून्य है और न जगत के समान मिथ्या। वह स्वयं सत्य ही है। सत्य ही उसका नाम और रूप दोनों है। सत्य ही उसका संकल्प है। अतः सत्य और ईश्वर—दोनों अलग-अलग तत्त्व नहीं बल्कि तादात्म्यसूचक तत्त्व हो जाते हैं। परंतु 'ईश्वर' शब्द समाज में रूढ़ हो गया है। सृष्टि की दृष्टि से हम एक शासक या

1 Datta, D M, *The Philosophy of Mahatma Gandhi* p 40

२ भावे, बालकोबा, अभंगव्रत विवेचन, पृ० ८

नियता की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। निरपेक्ष रूप से सत्य ही ईश्वर का नाम है जो पूर्णता का सूचक है। इस प्रकार परम तत्त्व के अर्थ मे सत्य ब्रह्म और ईश्वर तीनो—विनोबा की दृष्टि म समानार्थक हो जाते है। परन्तु सामान्य अर्थ मे इनका भेद कायम रहता है। फिर भी विनोबा का आकर्षण सत्य और ईश्वर की अपेक्षा वेदात की ओर अधिक है जिसम सत्य के विभिन्न पहलुओं के समन्वय का विचार है। सत्य के किसी पक्ष का आग्रह नही है। अत उन्होंने सत्य ही ईश्वर है के स्थान पर सत्य ही ब्रह्म है कहना उचित समझा।

५. ईश्वर और अशुभ की समस्याएँ

(क) गाधी के विचार अशुभ के सबंध म मुख्यत तीन प्रश्न उठते हैं— अशुभ क्या है ? यह क्यो है ? तथा शुभ मूल्यो स युक्त ईश्वर की सत्ता के साथ इसकी सगति कैसे हो सकती है ? गाँधी इन तीनो का उत्तर अपने चिंतन मे देते हैं। प्रथम दो प्रश्नो के उत्तर देने म गाधी मानव बुद्धि को सीमित पाते हैं। फिर भी यथासाध्य वे उत्तर देने की कोशिश करते है। उनकी राय म अशुभ की सत्ता क्यो है और यह क्या है—ये ऐसे प्रश्न हैं जो हमारी सीमित बुद्धि क बाहर हैं। इस सबध म इतना ही जानना पर्याप्त है कि शुभ और अशुभ—दोनो की सत्ता है। परन्तु शुभ और अशुभ का भेद केवल मानवीय स्तर का है। ईश्वर की दृष्टि मे कुछ भी शुभ अशुभ नही है।[1]

शकराचाय न अशुभ की व्याख्या माया क आधार पर की थी। किन्तु गाधी इसका खडन करते ह। हिंगोरानी क विचार म गाधी दृष्टि स शकर की यह व्याख्या 'अपूण मानवता की बड़बड़ाहट'[2] (babbling of imperfect humanity) है। गाधी यह मानत है कि साधक क लिए यह जानना आव श्यक नही है कि अशुभ क्या है। उस इतना ही जानना चाहिए कि ईश्वर शुभ कर्म करन वालो की सहायता करता है।

अशुभ मानव निर्मित प्रत्यय है। इस रूप म शुभ और अशुभ प्रकाश और अधकार के समान परस्पर विरोधी है।[3] शुभ की अपनी स्वतत्र सत्ता है परन्तु अशुभ क साथ ऐसी बात नही। यह अपनी सत्ता के लिए शुभ पर

1 Hingoran Anand T (ed) *The Supreme Power*, p 11

2 *Ibid* p 11

3 *Ibid* p 11

अर्जित रहता है। विशुद्ध अशुभ असभव है। साधन-साध्य की एकता को मान कर गाधी यह भी बतलाते है कि जो एक परिस्थिति मे शुभ है वही दूसरी परिस्थिति मे अशुभ हो जाता है। परन्तु गाधी ईश्वर और शैतान जैसी दो स्वतत्र शक्तियो की कल्पना नही करते। वे शुभ और अशुभ प्रवृत्तियो के बीच सनातन सघर्ष की बात करते है।[1] इस सघर्ष मे कभी अशुभ विजयी होता है, तो कभी शुभ। परन्तु अतिम विजय शुभ की होती है। विश्व की सत्ता तभी तक बनी रहती है जब तक एक भी व्यक्ति शुभ होता है।

ईसाई धर्म की भाति गाधी यह मानते है कि ईश्वर ने शुभ और अशुभ दोनो की रचना की है। परन्तु उसने मानव को इन दोनो मे से किसी एक के ही चयन करने की स्वतत्रता दी है। जब मानव अपनी इच्छा शक्ति का दुरुपयोग कर गलत कदम उठाता है तो उसे अशुभ का सामना करना पडता है।[2] यहा यह प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर क्यो नही हम केवल शुभ कर्म करने के लिए प्रेरित करता है? इसके उत्तर मे गाधी का कहना है कि ईश्वर के पास सत्य असत्य, हिंसा और अहिंसा कुछ भी नही है। अत यह सवाल ही नही पैदा होता है कि वह शुभ की ओर हमे क्यो नहीं प्रवृत्त करता है। वह हमे शुभ की ओर नही ले जाता है, ऐसा कहा भी नही जा सकता। वस्तुत ईश्वर के सबध मे यह प्रश्न ही नही पूछा जाना चाहिए कि वह बुराइयो से हमे क्यो नही मुक्त करता है क्योकि ऐसा प्रश्न बराबरी वालो से ही किया जा सकता है।[3] मानव का स्तर ईश्वर के स्तर से भिन्न है। हम ससीम है, वह असीम है, हम अल्पज्ञ है, वह सर्वज्ञ है।

गाधी की विशेषता यह है कि वे अशुभ का सृजनकर्ता भी ईश्वर को ही मानते है।[4] यह सुनने मे थोडा-सा अप्रिय मालूम पडता है परन्तु तथ्य यही है। प्राय दयालु ईश्वर और अशुभ धारणा को असगत माना जाता है। परन्तु गाधी के अनुसार यह असगत इसलिए लगता है क्योकि हम ईश्वर को व्यक्ति मान लेते है।[5] वास्तव मे वह नियम और नियामक दोनो है। एस ईश्वर और अशुभ मे किसी भी प्रकार का विरोध नही है। ईश्वर सत्य स्वरूप है। शुभ

1 Ibid, p 9
2 Ibid, p 13
3 Ibid, p 11
4 Ibid, p 12
5 Ibid, p 13

और अशुभ दोनों सत्य के दो पहलू हैं। फिर यदि ईश्वर नियम है, तो इसमें शुभ-अशुभ का रहना अनिवार्य है। एक ही नियम किसी के लिए अशुभ और किसी के लिए शुभ होता है। इसलिए व्यापक नियम की दृष्टि से देखने पर शुभ-अशुभ का भेद विलीन हो जाता है क्योंकि असीम सत्य के सामने ससीम की क्या हस्ती है?

यहाँ सचमुच अशुभ की व्याख्या हो जाती है, किंतु यह व्याख्या इसीपर आधारित है कि मानव ससीम है इसलिए वह असीम के विषय में कोई प्रश्न खड़ा नहीं कर सकता। इस युक्ति से भक्त-हृदय तो सन्तुष्ट हो सकता है किंतु मानव-विवेक की स्वायत्तता को एक ठेस लगती है। लगता है कि हम अपनी मर्यादा को नहीं लाँघ सकते हैं। ससीम और असीम की मर्यादा भी तो आखिर मानव-बुद्धि की ही मर्यादा है।

(ख) विनोबा के विचार विनोबा के अनुसार यह विश्व मंगलमय है क्योंकि ईश्वर इसकी देखभाल करता है। संसार की कोई वस्तु अशुभ नहीं है, यदि यहाँ कुछ बुरी वस्तुएँ हैं, तो वे हमारी दृष्टि के कारण बुरी मालूम पड़ती हैं। सचमुच विनोबा तो यह मानते हैं कि सम्पूर्ण विश्व ही मानव की दृष्टि पर निर्भर है।[1] यदि संसार को हम शुभ देखना शुरू करें, तो यह शुभ होगा। इस संबंध में विनोबा मार्क्स के इस सिद्धान्त का खंडन करते हैं कि प्रकृति संघर्षपूर्ण है। उनके अनुसार प्रकृति में कहीं भी घृणा और संघर्ष नहीं है। सर्वत्र सहयोग, प्रेम और पारस्परिक निर्भरता का साम्राज्य है। समाज में भी यही नियम लागू है। इसीलिए तो नवजात शिशु को देखकर माँ के स्तन में दूध टपकने लगता है। यह प्रेम और सहयोग का नियम नहीं तो और क्या है? यदि मार्क्स इस को संघर्ष का परिणाम मान तो यह हास्यास्पद ही होगा।[2] इस प्रकार विनोबा लाइबनीज की भाँति इस विश्व को ही शुभ मान लेते हैं।

परन्तु विश्व को केवल शुभ मान लेने से काम नहीं चल सकता। संसार में जन्म-मरण तथा नाना प्रकार के दुःख हैं। इनकी व्याख्या तो होनी ही चाहिए। विनोबा ने सभी प्रकार के दुःखों की व्याख्या चार प्रकार से की है।[3] पहला है

१ विनोबा गीता-प्रवचन, पृ० ८९

2 Nargolkar, Vasant, *The Creed of Saint Vinoba*, P 180

३ बजाज, रामकृष्ण, (सम्पा०), विनोबा के पत्र (वाराणसी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन), पृ० ८८–८९

शरीर वेदनात्मक दुख। यह अपने जीवन मे शारीरिक नियमो के उल्लघन करने से होता है। रोगोत्पन्न दुख इस श्रेणी मे आते हैं। दूसरा दुख है—पापस्मरणात्मक दुख। जब हम अपने जीवन मे दुष्कर्म करते हैं, तो इसका स्वाभाविक रूप से हमे स्मरण होता है। इन पापो के स्मरण से भी हमे दुख मिलता है। तीसरा है सुहृन्मोहात्मक दुख। यह दुख मृत्यु के भय मे उत्पन्न होता है। मृत्यु से मनुष्य इसलिए घबराता है कि उसे अपने सबन्धियो और मित्रो का साथ छोड देना पडेगा। अर्थात यह दुख बधु-बाधवो के मोह के कारण उत्पन्न होता है। अन्तिम दुख है भावी चिंतात्मक दुख। यह दुख हमारे अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। हम प्राय सोचते है कि मृत्यु के बाद क्या होगा? परतु ईश्वर की न्याय बुद्धि पर भरोसा करने पर सभी दुख निस्सार प्रतीत होते है।

इस प्रकार विनोबा बहुत कुछ शकर से साम्य रखते हुए अशुभ की सत्ता ही नही मानते और यदि दुखो के रूप मे उसकी सत्ता है तो उसका कारण मनुष्य का अपना अज्ञान है। ईश्वर सदैव न्यायप्रिय है, अत अज्ञान का फल दुख और ज्ञान का फल शुभ देगा ही। परतु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर विनोबा की व्याख्या इस सबध मे वैज्ञानिक और पूर्ण नही हो सकी है। उनके वर्गीकरण मे सभी प्रकार के दुखो का समावेश भी नही हो सका है। फिर ईश्वर और अशुभ एक साथ कहाँ तक सगत है—इसपर स्पष्ट रूप से विनोबा कुछ भी विचार नही करते। शायद ऐसा लगता है कि यहाँ वे महात्मा बुद्ध की भाति अशुभ से मानव को मुक्ति दिलाने मे विशेष रुचि रखते हैं अपेक्षाकृत दुख और ईश्वरवाद की समस्या को हल करने के। इसलिए एक ओर तो वे विश्व के प्रति दृष्टि बदलने का उपदेश देते हैं, तो दूसरी ओर अधिकाश दुखो के लिए मनुष्य को स्वय जिम्मेवार घोषित करते हैं। अत दुखो से मुक्ति के लिए पुरुषार्थ का रास्ता ही पसद करते हैं।

गाधी ईश्वर और अशुभ की समस्या पर हल्के ढग से ही सही विचार करते हैं, परतु विनोबा इसपर विचार नही करते। जहाँ गाँधी दुख की व्याख्या कभी मानव और कभी ईश्वर के सहारे करते हैं, वहाँ विनोबा इसकी व्याख्या विशुद्ध रूप से मानवीय आधार पर करते हैं। फिर भी अशुभ की समस्या पर गहराई से न तो गाँधी विचार करते है और न विनोबा। इसलिए यह समस्या ज्यो-की-त्यो पडी रह जाती है।

६ सामान्य मूल्यांकन

गांधी के ईश्वर के स्वरूप के संबंध में अनन्त दो विचार प्रचलित हैं। एक विचार गांधी के ईश्वर को वैष्णववादी ईश्वर मानता है और दूसरा इस शंकर का ईश्वर घोषित करता है। डा० धारेन्द्र मोहन दत्त गांधी के ईश्वर को शंकर विरोधी मतावलम्बी वैष्णव ईसाई और इस्लाम धर्म के ईश्वर की भांति मानते हैं जिन्हें हम ईश्वर विज्ञान की भाषा में ईश्वरवाद (Theism) कहते हैं। ईश्वरवाद ईश्वर को निर्गुण नहीं मानकर सगुण मानता है। अतएव यह एक व्यक्तित्वपूर्ण सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी, परोपकारी और दयालु ईश्वर की कल्पना करता है। यह विश्व को शंकर की भांति विवर्त नहीं मानकर, ईश्वर की वास्तविक रचना मानता है। गांधी यद्यपि ईश्वर संबंधी विचारों को अनेक स्रोतों से ग्रहण करते हैं परन्तु वैष्णव परिवार में जन्म लेने के कारण वे ईश्वरवाद को ही परिपुष्ट करते हैं।[1] ईश्वरवाद में मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग भक्ति, ईश्वरकृपा, भक्त की श्रद्धा और आत्म-समर्पण आदि के रूप में देखा जाता है। इसमें प्रार्थना और भजन का विशेष स्थान रहता है। गांधी मोक्ष की प्राप्ति के लिए ईश्वर की कृपा को आवश्यक मानते हैं। वे अपने जीवन के आरंभिक काल में ही राम नाम तथा सभी वैष्णव तथा ईश्वरवादी धर्मों के प्रति श्रद्धा रखते हैं। इसी कारण इनके लिए सभी ईश्वरवादी सिद्धांतों को मानना आसान हो जाता है और उन धर्मों में विश्वास करनेवाले इनसे काफी प्रभावित होते हैं।[2]

गांधी अपने कथनों में कई जगह अपने को अद्वैतवादी और संसार को माया भी कहते हैं। फिर भी उनकी वृत्ति और उनका विशेष झुकाव वैष्णव मत की ओर है। संसार को जब वे अवास्तविक या माया कहते हैं तो शंकर के अर्थ में नहीं अपितु लीला के अर्थ में। जगत को वे क्षणिक या अस्थायी मानते हैं जो किसी भी ईश्वरवादी को अस्वीकार्य नहीं है।[3] यह ठीक है कि ईश्वरवाद के विवरण में कभी वे अद्वैतवाद कभी द्वैतवाद कभी स्याद्वाद और 'अनेकान्तवाद' जैसे शब्दों का भी प्रयोग करते हैं परन्तु इन शब्दों का व्यवहार पारम्परिक दर्शन के अर्थ में नहीं है क्योंकि अद्वैतवाद और द्वैतवाद

1 Datta D M *The Philosophy of Mahatma Gandhi*, pp 23 24

२ उपरिवत पृ० २५।

३ उपरिवत पृ० २८।

परस्पर विरोधी तत्वज्ञान है और फिर स्याद्वाद भी एक भिन्न दृष्टि है। वैष्णव ईश्वरवादी अद्वैत के साथ द्वैत का समर्थन कर सकते हैं[1] क्योंकि वे जगत के नानात्व के साथ-साथ ईश्वर की एकता को भी स्वीकार करते है।

यद्यपि शंकर की भांति गांधी व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का निषेध करते हुए प्रतीत होते हैं, तथापि उन्होंने व्यक्तित्ववान ईश्वर का निषेध ईश्वर का मनुष्य के रूप मे अवतार लेने के अर्थ में किया है। यदि व्यक्तित्व का अर्थ आत्मचेतन और सकल्पयुक्त सत्ता से लिया जाय, तो इस अर्थ में व्यक्तित्ववान् ईश्वर में विश्वास करना गांधी के लिए मान्य हो जाता है क्योंकि वे ईश्वर को सर्व शक्तिमान और सर्वान्तर्यामी स्रष्टा मानते हैं।[2] इस प्रकार डा० दत्त गांधी पर ईश्वर पर ईश्वरवाद और वैष्णववाद का प्रभाव पाते है।

प्रो० टी० एम० पी० महादेवन डा० दत्त के विचारों का खंडन कर गांधी के ईश्वर को अद्वैतवादी मानते हैं।[3] इनके अनुसार गांधी जैसे विवेकशील पुरुष के लिए यह आवश्यक नहीं कि वैष्णव परिवार में जन्म लेने के कारण वैष्णव ईश्वर को ही स्वीकार करें। यद्यपि गांधी ने अद्वैतवाद का गहरा अध्ययन नहीं किया था, फिर भी यह अद्वैत विचार के लिए आवश्यक नहीं है। परंतु उनके विचारों पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव अद्वैत में विश्वास करने के लिए पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करता है। फिर 'गीता एकारडिंग टु गांधी' अद्वैत की शिक्षा देता है।[4] वास्तविकता तो यह है कि वैष्णव सम्प्रदाय अद्वैत का विरोधी सिद्धात नहीं है। यह अद्वैतवाद का ही एक रूप है जो विष्णुरूप ईश्वर की उपासना पर बल देता है।[5]

यह ठीक है कि गांधी प्रारंभिक काल में ही राम नाम में विश्वास करते है, परन्तु अपनी परिपक्वावस्था मे उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'मेरे राम दशरथ पुत्र राम नहीं हैं।' उनके लिए राम एक शाश्वत और स्वयंभू सत्ता का द्योतक है।[6] यदि हम मान भी ले कि गांधी सगुण ईश्वर में विश्वास करते हैं,

१ उपरिवत् पृ० ८

२ उपरिवत् पृ० २८–२९

3 Mahadevan T M P 'The Advait of Mahatma Gandhi', *Gandhi Marg* (English), Vol III, No 2 April 1970

४ उपरिवत् पृ० १६२

५ उपरिवत् पृ० १६२

६ उपरिवत्, पृ० १६३,

तो इससे उनके अद्वैत विचार का खडन नही होता, क्योंकि अद्वैतवाद निरीश्वरवादी नही बल्कि ईश्वरवादी सिद्धात है। सच तो यह है कि उसम ईश्वर का केंद्रीय महत्त्व है।[1] शकर ने स्पष्टत अद्वैत की ओर प्रवृत्ति के लिए ईश्वर-कृपा, प्रार्थना इत्यादि को आवश्यक माना है। परतु अद्वैतवाद ईश्वर से भी आगे जाता है और चरम तत्त्व को निरपेक्ष तथा अवैयक्तिक मानता है।[2]

यदि अद्वैतवाद मे हम सगुण ईश्वर का स्थान नही भी देते हैं, तो इसमे भी गाँधी के पक्ष मे अद्वैत सिद्ध होता है। उनका अतिम रूप मे ईश्वर के बारे मे यह मानना कि 'सत्य ही ईश्वर है'—अद्वैतवाद का सूचक है।[3] कारण यह कि सत्य अर्थात निरपेक्ष सत्य एक और अवैयक्तिक होता है। साथ-ही-साथ इसे निर्गुण भी कह सकते हैं।

अद्वैत का 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' गाधी को पूरे रूप मे मान्य है।[4] अद्वैत की भाँति ही वे आत्मा और ब्रह्म की एकता को भी स्वीकार करते है। वे कहते हैं—"यह अनुभव करना कि हमलोग कुछ हैं, ईश्वर और अपनी आत्मा के बीच पट खडा करना है। इस अनुभूति का समाप्त होना कि हम कुछ हैं, ईश्वर के साथ एकाकार होना है।[5] अद्वैत की भाँति ही गाँधी सभी धर्मों की पारमार्थिक एकता मे विश्वास करते हैं। फिर उनकी समाज-सेवा की भावना भी अद्वैत भावना के अनुकूल है। स्वामी विवेकानन्द ने भी अद्वैत अनुभव के लिए सेवा के मार्ग को ही उचित समझा था। इस प्रकार प्रो० महादेवन इस

---

1 "The place of God in advaita is neither pernicious nor precarious, on the contrary, the concept is quite pertinent to and precious for, the advaita experience" —*Ibid*, p 163

2 *Ibid*, p 164

3 *Ibid*, p 166

4 *Ibid*, p 166

5 "To feel that we are something is to set up a barrier between God and ourselves, to cease feeling that we are something is to become one with God" —*Ibid*, p 167

निष्कर्ष पर आते हैं कि गांधी का ईश्वर वैष्णव न होकर अद्वैतवादी है। अब हम यह देखें कि ऊपर के विचार कहाँ तक सगत हैं ? गहराई से चिंतन करने पर डॉ० दत्त और प्रो० महादेवन—दोनो के विचार कुछ एकागी जैसे प्रतीत होते है। डॉ० दत्त की युक्तियाँ स्पष्टत गांधी के ईश्वर को वैष्णव ईश्वरवादी सिद्ध करती हैं तथा शकर के अर्थ मे अद्वैतवाद का खडन करती हैं। परतु प्रश्न है क्या सचमुच गांधी का ईश्वर धार्मिक ईश्वरवाद (Theism) का ईश्वर है ? यदि गांधी वास्तव मे ईश्वरवादी हैं तो उनके यह कहने का कि "आप जो कुछ भी कहते हैं या करते है उसमे ईश्वर विज्ञान कम और सत्य अधिक होना चाहिए"[1] का क्या अर्थ रह जाता है ? फिर 'ईश्वर सत्य है' वाक्य से 'सत्य ही ईश्वर है' वाक्य पर प्रस्थान का अर्थ समझ मे नही आता। इन बातो स तो यही सिद्ध होता है कि गांधी के विचार मे ईश्वर की तुलना मे सत्य का ऊँचा स्थान है। यद्यपि कोई भी ईश्वरवादी चाहे वह वैष्णव हो या ईसाई या इस्लाम धर्म का समर्थक, ईश्वर की यह व्याख्या स्वीकार नही कर सकता।

ईश्वर के लिए गांधी ने अंग्रेजी का 'ही' (He) और इट (It) दोनो सर्वनामो का प्रयोग किया है। प्राय सभी ईश्वरवादी ईश्वर के लिए 'ही' (He) का ही प्रयोग करते है, 'इट' (It) का नही, क्योकि वे विचारक ईश्वर को पिता के समान ही व्यक्तित्वपूर्ण मानते है। फिर ईश्वरवाद ईश्वर और उसके नियम— दोनो को एक नहीं मानता। यह ईश्वर को नियमो का विधायक और सचालक मानता है। परतु गांधी ईश्वर को नियम और नियामक—दोनो मानते हैं। अत ईश्वर की स्थिति ऋग्वेद के 'ऋत्' के समान हो जाती है।

इसी प्रकार ईश्वरवाद उपासक और उपास्य के द्वैत को भी स्वीकार करता है। परतु गांधी सभी जीवो के समूह का नाम ही ईश्वर देते है तथा आत्मा और ईश्वर की एकता को स्वीकार करते हैं। यद्यपि वे यदा-कदा कहते हैं 'आदम खुदा नही लेकिन खुदा के नूर स आदम जुदा नहीं,' परतु इस युक्ति के द्वारा

---

1 "There should be less of theology and more of truth in all that you say and do" —Gandhi, M K, *Christian Missions*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 2nd edn, 1957), p 207

जीव और ईश्वर का द्वैत सिद्ध न होकर जीव में ईश्वर की सभी सम्भावनाएँ सिद्ध होती हैं।

ईश्वरवादी सभी नैतिक मूल्यों के आधार के रूप में ईश्वर को मानते हैं। अतः ईश्वर और मूल्यों के बीच विशेष्य विशेषण सम्बन्ध हो जाता है। परन्तु गाँधी स्पष्ट रूप से कहते हैं 'ईश्वर प्रेम है' 'वह निर्भयता है' 'वह सत्य है' इत्यादि। इस प्रकार गाँधी का ईश्वर मूल्यों का आधार नहीं रहकर स्वतः मूल्य बन जाता है। ऐसे ईश्वर को वैष्णवी ईश्वर मानना भूल है।

ईश्वरवादी धार्मिक भावना की तुष्टि के लिए भजन, प्रार्थना, श्रद्धा, ईश्वर कृपा आदि को आवश्यक मानते हैं परन्तु इनके द्वारा उपासक या तो ईश्वर से कुछ वस्तु की चाह रखता है अथवा अपने को विशुद्ध रूप में ईश्वर पर समर्पित कर देना चाहता है। गाँधी भी प्रार्थना के महत्त्व को धार्मिक भावना की तुष्टि के लिए स्वीकार करते हैं। परन्तु प्रार्थना के द्वारा वे ईश्वर से किसी वस्तु की चाह नहीं रखते। इसके द्वारा वे अपने आत्मा के सद्गुणों की याद करते हैं। यह शायद सामान्य ईश्वरवाद से कुछ भिन्न है।

यदि गाँधी के ईश्वर को रामानुज का ईश्वर माना जाय, तो इसमें भी कठिनाई उपस्थित होती है। रामानुज ईश्वर में स्वगत भेद को स्वीकार करते हैं। परन्तु गाँधी ईश्वर को सभी प्रकार के भेदों से मुक्त मानते हैं। उसमें न तो जाति भेद है और न व्यक्ति भेद।

फिर अशुभ की समस्या के विवेचन में गाँधी ने यह स्वीकार किया है कि ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है। इसलिए अशुभ और ईश्वर में कोई विरोध नहीं है। ईश्वर सत्य और नियम स्वरूप है अतः उस ईश्वर के साथ शुभ और अशुभ—दोनों रह सकते हैं। जो हमारे लिए शुभ और अशुभ है आवश्यक नहीं है कि उच्च सत्ता के लिए अथवा सत्य तथा नियम की दृष्टि से भी उसी रूप में शुभ और अशुभ हो। अतः यह सब स्पष्ट करता है कि गाँधी पारम्परिक अर्थ में ईश्वरवादी नहीं हैं।

सच तो यह है कि गाँधी किसी भी विशेष विचार और सम्प्रदाय के बंदी नहीं हैं। समन्वय उनकी दृष्टि है। सत्य की उपासना उनका उद्देश्य है। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि वैष्णव ईश्वर की पुष्टि हेतु ही उन्होंने अनेक विचारों को लिया—उनके विचारों के साथ न्याय नहीं है। परन्तु हमारा यहाँ पर यह अभिप्राय नहीं कि गाँधी वैष्णव ईश्वर के विरोधी हैं या उनके ईश्वर में

वैष्णव ईश्वर की कोई विशेषता नहीं है। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि गांधी ने ईश्वरवाद की बहुत-सी विशेषताओं को ग्रहण किया परंतु इसके अतिरिक्त भी कुछ विशेषताओं को अपनाया जिनसे एक अनूठे प्रकार की ईश्वर धारणा के सर्जन में इन्हें सहायता मिली।

प्रो० महादेवन जहाँ तक डॉ० दत्त के विचारों का खंडन करते हैं, वहाँ तक वे ठीक हैं। परंतु इसके आधार पर उनका यह निष्कर्ष निकालना कि गांधी शंकर के अर्थ में अद्वैतवादी हैं—हम कुछ देर तक सोचने के लिए बाध्य करता है।

यद्यपि गांधी अनेकेश्वरवाद के विरोधी हैं, फिर भी उन्हें शंकर के अर्थ में अद्वैतवादी नहीं कहा जा सकता। शंकराचार्य ईश्वर पर विचार हमेशा व्यावहारिक और पारमार्थिक—दो दृष्टियाँ से करते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर सगुण है, परंतु पारमार्थिक दृष्टि से वह निर्गुण है। गांधी के चिंतन में सत्य को दो टुकड़े करके विचार करने की नीति नहीं है। अद्वैत की भाँति नैतिक नियम के लिए केवल साधन नहीं है बल्कि वह साध्य भी है। उनकी योजना में साधन साध्य एक है। कहीं-कहीं पर विशेषकर अशुभ के विवेचन में उन्होंने अद्वैतवाद की आलोचना भी की है।

शंकराचार्य के दर्शन में अद्वैत के साथ द्वैत का कोई स्थान नहीं है। उनके अनुसार जगत् भ्रम है। ऐसी स्थिति में ईश्वर का संसार के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं रह जाता है। अतः यहाँ पर डॉ० दत्त ने ठीक ही कहा है कि अद्वैत के साथ द्वैत, स्याद्वाद और अनेकांतवाद का कभी संयोग नहीं हो सकता। परंतु गांधी ने अद्वैत के साथ द्वैत, स्याद्वाद और अनेकांतवाद को मिलाया है। यह उनकी समन्वयवादी नीति का परिणाम है।

प्रो० महादेवन अपनी युक्तियों में यह सिद्ध करना चाहते हैं कि गांधी शंकर-वादी हैं। परंतु जब वे डा० दत्त के विचारों का खंडन करते हैं, तो 'अद्वैत' का प्रयोग सामान्य अर्थ में करते हैं। अतएव वे इस दृष्टि से समस्या को उलझा देते हैं। बल्कि यह कहकर कि अद्वैतवाद वैष्णववाद का विरोधी नहीं है, वे अपने को एक अजीब स्थिति में ला देते हैं। एक ओर तो वे गांधी के ईश्वर का वैष्णव ईश्वर के रूप में विरोध भी करते हैं तथा इसके लिए अनेक तर्क उपस्थित करते हैं और फिर यह भी कहते हैं कि वैष्णववाद का अद्वैतवाद से कोई विरोध नहीं है। यदि गांधी को सामान्य अर्थ में अद्वैतवादी कहा जाय, तो इसमें कोई

विरोध नहीं। परंतु अंत में निष्कर्ष रूप में प्रो० महादेवन उन्हें स्पष्ट शब्दों में शंकरवादी मानते हैं। वास्तव में गांधी शंकरवादी नहीं हैं।

सभी धर्मों की आधारभूत पारमार्थिक एकता और स्वामी विवेकानंद की सेवा भावना के रूपक के आधार पर भी गांधी को शंकरवादी घोषित नहीं किया जा सकता है। सर्वप्रथम तो यह युक्ति ही बहुत दुर्बल है। यदि इसके सत्य को स्वीकार भी करें तो हमें मानना होगा कि गांधी का सभी धर्मों की पारमार्थिक एकता में विश्वास का कारण उनका तत्त्वज्ञान नहीं, बल्कि उनका सत्य अहिंसा का सिद्धांत भी हो सकता है। फिर इस विश्वास का कारण उनका मानवतावाद भी हो सकता है। स्वामी विवेकानन्द की सेवा भावना, वेदान्त-दर्शन तथा उनके चिंतन का परिणाम है, मात्र शंकरवाद का परिणाम नहीं।

प्रो० महादेवन यह तर्क देते हैं कि गांधी 'द्वैत', 'स्याद्वाद' और अनेकान्त-वाद का प्रयोग जैन आदि दार्शनिकों के अर्थ में नहीं करते हैं। इसी तर्क-प्रणाली में उन्हें यह भी मानना चाहिए कि वे 'अद्वैत' का प्रयोग भी शंकरवाद के अर्थ में नहीं करते। परंतु इतना तो अवश्य ही सत्य प्रतीत होता है कि गांधी की नीति समन्वयवादी है। वास्तव में डा० दत्त और प्रो० महादेवन—दोनों अपनी-अपनी विशेष दृष्टि ही सामने रखकर विरोधी विचार का खंडन करते हैं। दर्शन शास्त्र में यह प्रवृत्ति विशेषकर तत्त्व संबंधी प्रश्नों पर सनातन रूप में चली आ रही है। तत्त्व संबंधी प्रश्नों पर एक विचारक अपनी मौलिकता और दूसरे सिद्धांतों में पार्थक्य घोषित करने के लिए दूसरे की बातों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते हैं। ऐसा करने में उन्हें अपने सिद्धांत का खंडन होता-सा प्रतीत होता है।[1] किंतु दर्शन का यह पूर्वाग्रह हम सत्य के समीप पहुंचने से वंचित रखता है। तत्त्व की समस्या एक सरल और जीवित समस्या है। हर व्यक्ति अपनी दृष्टि में इसपर अपने ढंग से प्रकाश डाल सकता है। अतः तत्त्व के संबंध में अनेक मत हो सकते हैं। सभी की सत्ता रह सकती है। अतः दूसरे

---

1 'When I try to formulate our difference of opinion, on the other hand I seem to be in a predicament I cannot admit that there are somethings which Mr MCX countenances and I do not, for in admitting that there are such things I should be contradicting my own rejection of them'' —Quine, *From Logical Point of View*, (Harvard, University Press, 1953), P 1

के विचारों के खंडन करने की दृष्टि रखना पूर्वाग्रहपूर्ण है। सत्य को समझने के लिए पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर किसी के विचार का वैज्ञानिक की भांति उसी रूप में समझने का प्रयत्न करना चाहिए जिस रूप में वह विचार स्वतः हमारे सामने आता है। किसी कृत्रिम आकारों में बाँधने में विशेष लाभ नहीं होगा।

निष्पक्ष चिंतन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गांधी समन्वयवादी नीति के कारण तथा लोक-मंगल की भावना से प्रेरित होकर असीम सत्य में विश्वास रखते हुए भी अनेक धर्मों से ईश्वर संबंधी विचारों को लेते हैं, उन विशेषताओं का अविरोधी समन्वय करते हैं, जिसे स्पष्ट शब्दों में न तो ईश्वरवाद की संज्ञा दी जा सकती है और न अद्वैतवाद की। उनकी ईश्वर की कल्पना वास्तव में एक विशेष प्रकार की है जिसमें अनेक प्रकार के शुभ मूल्यों का संगम है। साथ-साथ यह विचार इतना उन्मुक्त और व्यापक है कि इसे हम अन्य प्रकार के प्रत्ययों के माध्यम से भी समझ सकते हैं।

विनोबा भी गांधी की समन्वयवादी नीति को ही अपनाते हैं। जैसा हम देख चुके हैं कि नाममाला में उन्होंने अनेक धर्मों में से ईश्वर की मुख्य विशेषताओं को लेकर समन्वित किया है। इसी प्रकार एक और अनेक तथा सगुण और निर्गुण का भी उन्होंने अद्भुत समन्वय किया है। शंकर, रामानुज और गांधी को एक साथ मिलाने का इनका अद्वितीय प्रयास है। जैसा हम देख चुके हैं कि 'एक' और 'अनेक' का समन्वय इन्होंने स्पीनोजा की भांति द्रव्य-गुण संबंध निरूपित कर दिया है। उनके अनुसार तथाकथित अनेकेश्वरवाद एक ही ईश्वर के अनन्त गुणों के भिन्न-भिन्न प्रतीक है। ईश्वर के अनन्त गुणों की अभिव्यक्ति मूर्त्त पदार्थों के द्वारा अनेक रूपों में होती है। इन्द्र, वरुण, राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा, काली, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, महावीर, नानक इत्यादि ईश्वरत्व के विभिन्न रूप हैं। परन्तु ईश्वर के अनन्त गुणों के होते हुए भी आधार रूप में एक ही ईश्वर को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं "ईश्वर एक है क्योंकि वह अन्तर्यामी है"।[१] यह सुनने में थोड़ा-सा उटपटांग लगता है। परन्तु इसका आशय इतना ही है कि वैविध्यपूर्ण विश्व के आधार के रूप में एक ही तत्त्व व्याप्त है। अतः ईश्वर सृष्टि के अणु-अणु, में, जड़ चेतन में, सर्वत्र व्याप्त है। इस अनेकता के मध्य एकता के तत्त्व को विज्ञान की भाषा में भी समझा जा सकता है। आधुनिक विज्ञान समस्त भौतिक जगत का रूपांतर विद्युत धारा के रूप में कर दिया

---

१ विनोबा चिन्तन, अंक १२, पृ० २२।

है।[1] इस रूप में भौतिक पदार्थ शक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। अतः जितने भी प्रकार के भौतिक पदार्थ हैं वे सभी अंतिम रूप में एक ही विद्युत् लहर हैं। परंतु इसके बावजूद भिन्न भिन्न पदार्थों के स्वभाव संगठन के अनुपात में भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी प्रकार व्यापक चैतन्य के रूप में ईश्वर एक है परंतु विशिष्ट वस्तुओं के माध्यम में उसके भिन्न भिन्न गुण प्रकट होते हैं। अतः तात्त्विक एकता के मध्य गुणों की अनेकता का समन्वय उचित ही है।

इसी प्रकार विनोबा सगुण निर्गुण का भेद ही मिथ्या मानते हैं। उनके अनुसार एक ही तत्त्व सगुण, निर्गुण साकार और निराकार के मध्य विद्यमान है। इसे उन्होंने उदाहरण से स्पष्ट करते हुए कहा है, जैसे, 'घी' अक्षर निर्गुण है, कंठ से निकली हुई घी ध्वनि सगुण है, परंतु भोजन में पड़ोसा हुआ गाय का घी साकार है,[2] उसी प्रकार विश्व में 'निर्गुण की चारपाई बिछी है, उसपर सगुण की शय्या सजी है, उस शय्या पर साकार मूर्ति लेटी है'।[3] अर्थात् ईश्वर का ऊपरी रूप साकार है, मध्य रूप सगुण तथा इसका आधार निर्गुण है। इस प्रकार के समन्वय का भाव विनोबा रखते हैं।

गांधी के समन्वयात्मक विचार में जोड़ मालूम पड़ता है। इसी हेतु विभिन्न विचारक इसके विभिन्न अंशों पर ही बल देकर उसका स्वरूप निरूपित करते हैं। परंतु विनोबा का समन्वय कलापूर्ण है। अतः इसके संबंध में मतवाद की गुंजाइश नहीं रह जाती है। यह ठीक है कि इन्होंने अद्वैत को भी स्वीकार किया है और सगुण रूप का भी परंतु इनकी व्याख्या शंकर और रामानुज दोनों से भिन्न है। इनका ईश्वर रामानुज की भांति न तो सर्वोच्च सत्ता है और न शंकर की भांति वह केवल व्यावहारिक रूप में ही सत्य है। ईश्वर में ऊपर की सत्ता है ब्रह्म और ईश्वर भी वास्तविक सत्ता है। उसे असत्य नहीं कहा जा सकता। अतः यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि विनोबा ने ईश्वर के संबंध में गांधी के ढीले ढाले समन्वय को काफी चुस्त और दुरुस्त बनाया है।

1 Jeans, James *Physics and Philosophy*, (United States of America, the University of Michigan Press, Ann Arbor Paperback, 1958) P 160

२ विनोबा चिन्तन, अंक १२ पृ० ४७

३ भावे विनोबा, ज्ञानदेव चिन्तनिका (वाराणसी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६१), तीसरा संस्करण, पृ० २०३

(ख) आत्म-विचार

१ गांधी विचार मे आत्म तत्व

गाधी आत्मा के सबध मे विशेष रूप म गीता-दर्शन पर अवलंबित हैं। इनके अनुसार आत्मा सभी प्राणियो म एकता[1] स्थापित करने वाला एक शाश्वत और अजर अमर[3] तत्व है। शरीर की सख्या अनन्त है। इनके साथ प्राण जुडे रहते हैं। परन्तु अनेक शरीरो के बीच एक ही आत्मा निवास करता है तथा शरीर के समाप्त हो जाने के बाद भी उसकी सत्ता समाप्त नही होती।[4] यही कारण है कि सत्याग्रही वर्तमान जीवन म विफलताओ को देखकर अधीर नही होता।[4] गाधी आत्मा को प्राण म भिन्न मानते है।[5] प्राण के लिए शरीर आवश्यक है परन्तु आत्मा के लिए यह आवश्यक नही। आत्मा सचमुच मानव के अदर ईश्वर का निवास है।[6] यह ज्ञान की विषय वस्तु[7] नही है। यह स्वय ज्ञाता है अतएव बुद्धि स ऊपर की वस्तु है। आत्मा के कारण ही हम अन्तअनुभूतिजन्य ज्ञान प्राप्त होता है। आत्मा का सृजन ईश्वर भी नही कर सकता है।[8] यह एक स्वयभू तत्व है। आत्मा शरीर से भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है परन्तु इन्हे गाँधी चरमतत्व नही मानते। इनके अनुसार चरम तत्व तो ईश्वर है जो विश्व का सगठन और विनाश करता है। आत्मा ईश्वर से नीचे की वस्तु है।

आत्मा के सबध म भी भारतीय दर्शन म कई मत है। साख्य दर्शन आत्मा को असख्य मानता है। शकराचार्य आत्मा को ब्रह्म से भिन्न नही मानते।

1 The Soul is one in all its possibilities are therefore, the same for every one '—*Harijan*—18 5 40

2 Datta D M *The Philosophy of Mahatma Gandhi* p 71

3 *Harijan*, 12 1 38 pp 326-27

4 *Speeches And Writings of Mahatma Gandhi*, (Madras S Ganeshan, 1934) p 504

5 Soul is apart from life The latter is conditioned by the body the former is not —*Harijan* 12 2 30 p 55

6 *Harijan*, 12 11 47 pp 326-27

7 Dhiman O P *Gandhian Philosophy A Critical And Comparative Study* (Ambala Cantt, Indian Publication, 1972) p 40

8 *Ibid* p 40

अज्ञान के कारण आत्मा ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है। ज्ञान की अवस्था में आत्मा और ब्रह्म का भेद मिट जाता है। रामानुजाचार्य और अन्य वैष्णव सम्प्रदाय के माननेवालों का यह कहना है कि आत्मा ब्रह्म से भिन्न है। यह वस्तुतः ब्रह्म का एक अंश है। यदि भौतिक पदार्थ ब्रह्म का शरीर है, तो आत्मा उसका मन है। डॉ॰ डी॰ एम॰ दत्त गांधी के आत्म-विचार को वैष्णव विचार के समीप पाते हैं,[1] क्योंकि गांधी के कुछ उद्धरणों से आत्मा और ईश्वर का द्वैत स्पष्ट हो जाता है। एक बार वे कहते हैं— "आदम खुदा नहीं लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।"[2] इसी प्रकार जीव मात्र को वे ईश्वर का अवतार मानते हैं।[3] इनसे तो यही सिद्ध होता है कि आत्मा सचमुच ब्रह्म या ईश्वर से भिन्न है। परन्तु यहाँ भी वास्तव में गांधी का विचार समन्वयवादी है। जैसा हम पहले देख आये हैं गांधी आत्मा और ईश्वर के बीच में परदा डालने वाले तत्त्व के रूप में अहंकार को मानते हैं। अहंकार समाप्त होते ही हम ईश्वर के साथ एकाकार हो जाते हैं। यहाँ गांधी शंकर के नजदीक मालूम पड़ते हैं। परन्तु हम संसार को वे वास्तविक मानते हैं, अतः उन्हें अंगरशः शंकरवादी कहना भूल होगा। जो भी हो इतना तो स्पष्ट लगता है कि आत्मा संबंधी गांधी का विचार पूर्ण नहीं है। आत्मा ईश्वर से कैसे सबंधित है? इसका जीव से क्या संबंध है? इन प्रश्नों पर गांधी अधिक विस्तार से विचार नहीं करते।

१ विनोबा विचार में आत्म तत्त्व

विनोबा आत्मा के ऊपर गहराई से विचार करते हैं। वे आत्मा के स्वरूप, प्रमाण और इसका जीव, ईश्वर आदि के साथ संबंध पर अलग से विचार करते हैं। अब हम यहाँ पर एक एक कर अलग से विचार करेंगे।

(क) **आत्मा का स्वरूप** आत्मा विनोबा के चिन्तन में तीसरे प्रकार का द्रव्य है। यहाँ पर जब हम प्रकार की बात करते हैं तो इसका आधार केवल व्यापकत्व ही है, गुण नहीं। व्यापकत्व की दृष्टि से ब्रह्म सबसे अधिक व्यापक, ईश्वर उससे कम व्यापक और आत्मा उससे भी कम व्यापक चैतन्य है। ऐसा विश्लेषण के लिए समझा जा सकता है।

---

1 Datta, D M , *The Philosophy of Mahatma Gandhi*, p 71

2 *Ibid* , p 69

3 *Ibid* , p 70

शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से विनोबा यह मानते है कि आत्मा शब्द की उत्पत्ति 'आत' धातु से हुई है जो मूलत 'अस' और 'भू' के बीच का शब्द है।[१] 'अस' का अर्थ है केवल 'होना'। अर्थात् यह निर्गुण तत्त्व का सूचक है। 'भू' का अर्थ है विविध 'भावयुक्त होना'। यह सगुण का सूचक है। अतएव 'आत' का अर्थ है 'हो सकनेवाला होना'—बीच की स्थिति। अर्थात सगुण गर्भ निर्गुण।[२] अत जहा ब्रह्म निर्गुण, परमात्मा सगुण है, आत्मा सगुण निर्गुण है। लेकिन यह सब भेद केवल विश्लेषण के लिए है। अंतिम रूप मे "ईशावास्यमिद सर्वं" ही यथार्थ है।[३]

विनोबा के अनुसार आत्मा शक्यता मूर्ति है। इसके लिए कुछ भी असभव नहीं है।[४] सभी शक्तिया समाव्य रूप से आत्मा मे विद्यमान है। शरीर जैसे आँख, कान, नाक इत्यादि शक्ति के मूल स्रोत नही है। इसीलिए आत्मा को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान माना जाता है।[५]

आत्मा को समझने के लिए हमे शरीर और ईश्वर के साथ तुलनात्मक रूप से देखना आवश्यक है। आत्मा शरीर से कई बातो मे भिन्न है।[६] शरीर की मुख्य विशेषता उसकी परिवर्तनशीलता क्षणभगुरता और सकीर्णता है। परतु आत्मा एक सनातन, अविनाशी और व्यापक तत्त्व है।[७] यह एक ऐसा तत्त्व है 'जो मानो एक अखड बहता हुआ झरना है। उसपर अनेक कलेवर आते और जाते हैं।'[८] शरीर की क्षणभगुरता, परिवर्तनशीलता और सकीर्णता आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी मान्य हो चुकी है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार हर सात वर्षों मे समूचा पुराना रक्त बदल जाता है।[९] अत इस दृष्टि से शरीर की परिवर्तनशीलता और क्षणभगुरता तो विज्ञान को मान्य हो ही जाती है। हाँ, जब भौतिक पदार्थ शक्ति मे रूपातरित हो जाता है तो उस रूप मे वह

१ विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० ३२।

२ उपरिवत् पृ० ३२।

३ उपरिवत्, पृ० ३२।

४ विनोबा विचार पोथी पृ० ४०।

५ विनोबा साम्यसूत्र, पृ० २०।

६ विनोबा अध्यात्म-तत्त्व सुधा, पृ० १०३।

७ विनोबा, गीता प्रवचन पृ० २४।

८ उपरिवत् पृ० २४।

९ उपरिवत् पृ० २३।

नित्य माना जाता है। परन्तु विनोबा शरीर को एक आकार या खोल के समान मानते हैं। इसलिए इसकी क्षणभंगुरता अनिवार्य सिद्ध होती है। शरीर की सम्कीर्णता तो इसके आयतन से ही सिद्ध है। परन्तु आत्मा चैतन्य और शक्ति स्वरूप है, अतः अविनाशी होना स्वाभाविक है। चूँकि चैतन्य का कोई अपना आकार नहीं होता, हम विशेष आकारों या प्रतीकों के माध्यम से उसे समझते हैं, इसलिए आत्मा को किसी सीमा में बाँधना सम्भव नहीं है। इसीलिए आत्मा का प्रवाह व्यापकत्व की ओर ही होता है। विनोबा की राय में "हमारा आत्मा व्यापक होने के लिए छटपटाता रहता है, वह चाहता है कि सारे जगत को गले लगा लें परन्तु उसे हम कोठरी में बंद कर देते हैं।"[1] शरीर ससीम है अतः उसके आनन्द के लिए वस्तु-सम्पर्क चाहिए। वस्तु-सम्पर्क के लिए हम अपनी सीमा को मानना ही पड़ता है। परन्तु आत्मा को किसी वस्तु में बाँधने से आनंद नहीं मिलता, उसे तो आनंद उन्मुक्तता, एकता और समूह के साथ तादात्म्य में मिलता है। फिर जब आत्मा अविनाशी है तथा व्यापकत्व उसके स्वभाव में है, तो इसे सनातन मानना स्वाभाविक ही है।

शरीर जन्म, बाल्य, यौवन, जरा और मरण का विषय है। परन्तु आत्मा शरीर की उपर्युक्त अवस्थाओं में साक्षी का काम करता है। इसके अतिरिक्त शरीर के साथ इसका कोई संबंध नहीं है। अतः निर्गुण दृष्टि से विचार करने पर आत्मा अजर, अमर और स्वयंभू है। परन्तु सगुण दृष्टि से यह प्रतिक्षण जन्म लेता है और मरण का विषय बनता है।[2] निर्गुण और सगुण—दोनों विचारों को सामने रखते हुए विनोबा आत्मा में दो प्रकार की नित्यता को स्वीकार करते हैं। एक है **कूटस्थ नित्यता** और दूसरा है **परिणामी नित्यता**। **कूटस्थ नित्यता** के अनुसार आत्मा में जन्म मृत्यु लागू नहीं होते परन्तु परिणामी नित्यता में जन्म मरण आवश्यक है।[3]

आत्मा की इस प्रकार की विशेषता प्रकट करने में विनोबा की समन्वयवादी दृष्टि सामने आती है। एक ओर गीता और वेदांत (खासकर शंकर का वेदांत) के निर्गुणी आत्मा और दूसरी ओर महात्मा बुद्ध के अनात्मवाद जिसमें आत्मा को चैतन्य प्रवाह माना गया है—का विनोबा ने समन्वय किया है। आत्मा को जैसा ऊपर हमने देखा सनातन माना गया है। सनातन का अर्थ केवल

१ उपरिवत् पृ० २६।

२ विनोबा, गीताई चिंतनिका, पृ० २०।

३ उपरिवत्, पृ० २०।

यह नहीं है कि अमुक तत्त्व सदा से एक रूप में विद्यमान रहा है। बल्कि सनातन का अर्थ विनोबा करते हैं—'नित्य नूतन सनातन'। अर्थात सनातन वही है जो नित्य नूतन होता रहे। अतः आत्मा की इस विशेषता को अपनाकर कि प्रतिक्षण वह जन्म लेता है और मरता है—सदा नूतनता की रक्षा की गई है। फिर इन दोनों दृष्टियों को सामने रखने पर भी आत्मवाद का भेद जड़वाद से स्पष्ट दिखलाई पड़ता है क्योंकि जड़वाद किसी भी मूल्य पर मृत्यु के बाद जन्म की कल्पना नहीं कर सकता।

पुनः शरीर, इंद्रिय, मन तथा बुद्धि—ये सभी प्रकृति के परिणाम हैं। अतएव ये प्रकृति के किसी न किसी गुण के विषय अवश्य होते हैं। जैसे देह में तमस का, इंद्रियों में रजस का तथा बुद्धि में सत्त्व गुण का प्रभाव रहता है। परन्तु विनोबा आत्मा को गुणातीत मानते हैं।[1] प्रकृति का कोई गुण आत्मा में नहीं होता। आत्मा का निश्चित और वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त करना भी मुश्किल है। विनोबा की राय में—'पहले आत्मा को कोई देख नहीं सकता। अगर देख सका भी तो वह वाक्शक्ति खो बैठता है—बोल नहीं सकता। यदि बोलनेवाला मिल भी जाय, तो सुननेवाला नहीं मिलता है। अगर कुतूहलवश सुननेवाला भी प्राप्त हो जाय, तो भी समझने के नाम से शून्य ही होता है।'[2] इसीलिए आत्मा को अचिंत्य कहा गया है। हाँ, यह ठीक है कि हम आत्म चिंतन शब्द का प्रयोग करते हैं परन्तु इसका अर्थ आत्मा का चिंतन नहीं **आत्मभावित का चिंतन** है।[3] आत्मा तो अचिंत्य है ही।

आत्मा शरीर से पृथक होते हुए भी उसमें व्याप्त है। यह आकाश सहित समस्त विश्व में व्याप्त है। यह समस्त देहों में व्याप्त है[4] तथा इसीके कारण शरीर चेतना प्राप्त करता है। शरीर में चेतना या प्राण शक्ति आत्मा के चैतन्य के ही प्रतिबिम्ब हैं।[5] आत्मा की सबसे प्रधान विशेषता इसकी अलिप्तता है। यह समस्त भूतों में व्याप्त रहते हुए भी सबसे अलिप्त है। इसी गुण के कारण आत्मा में अनादित्व, निर्गुणत्व, अव्ययत्व, अकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, सूक्ष्मतरत्व,

---

१ विनोबा: **विचार पोथी**, पृ० ८०।

२ उपरिवत् पृ० ४०।

३ उपरिवत्, पृ० ९१।

४ विनोबा: **गीताई चिंतनिका**, पृ० १६९-७०।

५ उपरिवत् पृ० १६०-६१।

प्रकाशवत्व और एकत्व के गुण स्वाभाविक रूप में आ जाते हैं।[१] इसीलिए विनोबा निर्विकारता को आत्मा का शाश्वत सार और अमरता को प्रासंगिक सार मानते हैं।[२]

जैन और सांख्य दार्शनिक आत्मा की संख्या अनेक मानते हैं। परन्तु विनोबा आत्मा को एक मानते हैं। उन्होंने यह कहा कि आत्मा एक है, माया शून्य है। इसी एक और शून्य से असत्य संसार की सृष्टि होती है।[३] आत्मा का नानात्व हमारे अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। जब हम गुण-दोषों को सामने रखकर आत्मा का विचार करते हैं, तो आत्माओं में गुण दोषों का वैषम्य दिखलाई पड़ता है। यही गुण वैषम्य आत्मा आत्मा के भेद का कारण है। विनोबा की राय में—"जबतक गुण वैषम्य अर्थात् गुणों का चढ़ाव-उतार जारी रहेगा, तबतक आत्मा का नानात्व बना रहेगा। तबतक एक ही आत्मा अलग-अलग दीखेगा। अर्थात् आत्मा में भेद रहेगा"[४] अत आत्मा की एकता को समझने के लिए गुण वैषम्य की अविद्या से ऊपर उठना होगा।

यहाँ पर आत्मा की एकता अद्वैत वेदांत के प्रभाव को सामने लाती है। फिर गुण वैषम्य के आधार पर अनेक आत्मा की सत्ता का बहिष्कार विनोबा की अपनी देन है। इस युक्ति के सहारे जैन और सांख्य दार्शनिकों को संतोषप्रद उत्तर मिल जाता है।

(ख) आत्मा परमात्मा का भेद जिस प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न है उसी प्रकार यह परमात्मा या ईश्वर से भी भिन्न है। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि जड़ या शरीर से आत्मा प्राकारिक या गुणात्मक दृष्टि से भिन्न है। परन्तु परमात्मा से इसकी भिन्नता प्राकारिक नहीं, जातिगत भिन्नता है। आत्मा और परमात्मा के भेदों को विनोबा ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

(क) आत्मा पवित्र या पूतात्मा का नाम है। परन्तु जब यह पूतात्मा व्यापकत्व को प्राप्त कर लेती है, तो यह परमात्मा या ईश्वर में परिणत हो जाती है।[५]

---

१ उपरिवत्, पृ० २६९।

२ उपरिवत्, पृ० २९।

३ भावे, विनोबा, **विचार पोथी**, पृ० ५०।

४ **मैत्री**, मार्च, १९६८, पृ० ५०।

५ विनोबा, **आत्मज्ञान और विज्ञान**, पृ० ३२।

(ख) आत्मा शुद्ध और असिद्ध हैं। परंतु ईश्वर शुद्ध और सिद्ध है।[१]

(ग) रूपक के सहारे व्यक्त करते हुए विनोबा ने बतलाया है कि "गंगा का जल लोटे में रखकर वह लोटा सीलबन्द करके पूजा के लिए पूजा के घर में रखते हैं। आत्मा इस गंगा के लोटे के समान है। परमात्मा गंगा नदी जैसा है। दोनों की पाप-निवारक शक्ति समान है, ताप-निवारक शक्ति में अंतर है।"[२]

(घ) आत्म-दर्शन मोक्ष का स्वाद लेना है। परमात्मा-दर्शन मोक्ष का पेट भर भोजन करना है। पहले का अनुभव इसी शरीर में संभव है परंतु दूसरे का देहपात के अनन्तर।[३]

(ङ) परमेश्वर एक मूल सत्ता है। परंतु भिन्न-भिन्न शरीरों में साक्षी रूप से रहनेवाला आत्मा इस परमेश्वर का भिन्न-भिन्न आभास है।[४]

ऊपर के आत्मा और परमात्मा के भेदों को देखने से यह स्पष्ट लगता है कि आत्मा और परमात्मा में कोई मौलिक भेद नहीं है। इससे केवल इतना ही प्रकट होता है कि एक की शक्ति सीमित है, परंतु दूसरे की शक्ति व्यापक। न्याय-वैशेषिक आत्मा को ईश्वर से पूर्णतः भिन्न मानता है। यहाँ आत्मा एक प्रकार का शाश्वत द्रव्य है। परंतु ईश्वर इन द्रव्यों के सहारे संसार की सृष्टि करता है। इसी प्रकार रामानुज के अनुसार आत्मा ईश्वर के संपूर्ण अंगों का एक भाग है। पूर्ण रूप में ईश्वर आत्मा से एकदम भिन्न है। ईश्वर की कृपा हो सकती है परंतु आत्मा की नहीं। शंकर की तरह विनोबा यह भी नहीं मानते कि आत्मा और ब्रह्म दोनों एक ही हैं। इस प्रकार विनोबा का विचार अपने आप में मौलिक है।

(ग) जीव और आत्मा जीव और आत्मा—दोनों ईश्वर के सनातन अंश हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि जीव ईश्वर का एक टुकड़ा है। इसका अर्थ इतना ही है कि जीव जल्प-इवत् ईश्वर का एक प्रतिबिम्ब है।[५] परंतु

१ विनोबा, **विचार पोथी**, पृ० ५।

२ उपरिवत्, पृ० २२।

३ उपरिवत्, पृ० २३।

४ विनोबा, **गीताई चिंतनिका**, पृ० ११०।

५ उपरिवत्, पृ० १८।

यह प्रतिबिम्ब आत्मा की भाँति स्वच्छ और निर्मल नहीं है। इसमें मलिनता रहती है अत इसे 'पापात्मा' कहा गया है।[1] पापात्मा होने के नाते जीव-गुण-दोषो से ग्रस्त रहता है। जब इसके दोष समाप्त हो जाते हैं, यह पूर्णत पवित्र हो जाता है, तो यह आत्मा मे परिणत हो जाता है। अत जीव और आत्मा मे यह भेद है कि पहला अशुद्ध और असिद्ध है, दूसरा शुद्ध और सिद्ध।[2]

ऊपर के विवेचन से यह लगता है कि आत्मा जीव और परमात्मा के बीच मे बिम्ब प्रतिबिम्ब का सबध है। परन्तु दर्शन मे यह सबध काफी आलोचना का विषय रहा है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब होने के लिए निश्चित आकार की वस्तु का होना आवश्यक है। परन्तु हम जानते हैं कि चैतन्यस्वरूप होने के नाते न तो आत्मा का कोई आकार है और न ईश्वर का। फिर दोनो मे बिम्ब प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है? इसीलिए कुछ वेदातियो ने प्रतिबिम्बवाद के स्थान पर अवच्छेदवाद का सहारा लिया।

(घ) ब्रह्म, ईश्वर और आत्मा विनोबा, ब्रह्म, ईश्वर और आत्मा मे दो प्रकार के सबध को मानते है—एक समानता का सबध है और दूसरा भेद का सबध। समानता के सबध के आधार पर हम ब्रह्म, ईश्वर और आत्मा—तीनो को समान मानते है क्योकि तीनो मे एक ही ब्रह्म तत्त्व व्याप्त है तथा तीनो आध्यात्मिक और चैतन्य तत्त्व हैं। इन तीनो मे गुणो की समानता और शक्ति तथा सामर्थ्य का भेद है। समानता के कारण ही विनोबा चार महावाक्यो के द्वारा अद्वैत की चार भूमिकाओ को बतलाते हैं। जैसे, 'प्रज्ञान ब्रह्म—अद्वैतज्ञान।' 'अयमात्मा ब्रह्म—ईश्वर साक्षात्कार।' "अह ब्रह्मास्मि—आत्मानुभव" और "तत् त्वम् असि—विश्वोद्धार।

भेद के सबध के आधार पर विनोबा ईश्वर और आत्मा को ब्रह्म से भिन्न मानते है। ब्रह्म चरम तत्त्व है और आत्मा तथा ईश्वर उसकी भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियाँ है। इन तीनो मे भेद करते हुए विनोबा ने कहा है—"जिसकी हमे अनुभूति होती है हम महसूस करते हैं कि हम है, वह आत्मा है। सामने सृष्टि खडी है, उसमे परमेश्वर अन्तर्यामी रूप मे विराजमान है, वह परमेश्वर है और ब्रह्म वह है, जिसमे यह परमेश्वर और यह आत्मा—दोनो डूब जाते हैं।'[3] अर्थात् आत्मा शरीर-गत शरीर से भिन्न शरीर को पहचानने वाला

1 विनोबा आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० ३२।

२ विनोबा विचार पोथी पृ० ५।

3 विनोबा, प्रेरणा प्रवाह, पृ० ११०।

तत्त्व है, ईश्वर सृष्टि के अंदर रहनेवाला सृष्टि को पहचानने वाला तत्त्व है।[१] परंतु ब्रह्म इन दोनों से ऊपर है। इसलिए विनोबा ने ईश्वर को ब्रह्म का भेद मान कर अनुमित ब्रह्म की संज्ञा दी है। विनोबा के अनुसार आत्मा ब्रह्म ही है परंतु ईश्वर अनुमित ब्रह्म। आत्मा की साक्षात् अनुभूति के आधार पर ही हम ईश्वर का अनुमान करते हैं।

इस स्थल पर विनोबा की स्थिति बहुत ही जटिल हो जाती है। यह बतलाना मुश्किल हो जाता है कि प्रधानता किसकी है—आत्मा की, ईश्वर की या ब्रह्म की ? एक जगह पर वे स्पष्टतः कहते हैं कि तीनों का भेद केवल विश्लेषण के लिए है। सब मिलाकर 'ईशावास्यमिदम्' ही सत्य है। इसलिए यहाँ पर ईश्वर की प्रमुखता सूचित होती है। परंतु जब वे ईश्वर को अनुमित ब्रह्म मान लेते हैं तथा उसे केवल अनेक प्रकार के शुभ गुणों का धाम मानते हैं, तथा चरम तत्त्व को अंतिम रूप में निर्गुण मानते हैं, तो आत्मा और ब्रह्म की प्रधानता झलकती है। अतएव पहली स्थिति में वे रामानुज के तथा दूसरी स्थिति में शंकर के सन्निकट जान पड़ते हैं। कभी-कभी ईश्वर सत्य और ब्रह्म को समान अर्थ में प्रयोग कर उन्हें चरम तत्त्व मानते हैं। अतः वास्तविक स्थिति का पता लगाना मुश्किल हो जाता है।

परंतु विनोबा का समन्वयवादी नीति और अखण्ड दर्शन को सामने रखने पर यह कठिनाई थोड़ी-सी हल्की हो जाती है। वस्तुतः यहाँ पर विनोबा ने शंकर, रामानुज, ज्ञानेश्वर, बुद्ध और गांधी को एक साथ मिलाने का प्रयास किया है। खण्डित दृष्टि से देखने पर एक प्रधान और एक गौण मालूम पड़ता है। परंतु समग्र दृष्टि से देखने पर यह भेद मिट जाता है। कुएँ का जल, तालाब का जल और समुद्र का जल—भिन्न भिन्न दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं परंतु अंतिम रूप से जल की महत्ता में कोई संदेह नहीं। इस दृष्टि से देखने पर सब बराबर हैं। आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म और सत्य अखण्ड दर्शन के रूप में समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। तर्क में यह बात विरोधपूर्ण मालूम पड़ सकती है परंतु वितर्क में नहीं। विनोबा की पद्धति वितर्क की पद्धति है।

(च) आत्मा और सौंदर्यबोध विनोबा के अनुसार आत्मा का समावेश समस्त विभूतियों में है। इन विभूतियों में जहाँ कहीं भी आत्मतत्त्व प्रकट होता है, वहीं सौंदर्य, सुख, संतोष और आनंद प्रकट होता है। इसलिए सौंदर्य-

१ उपनिषद्, पृ० ११०।

बोध का कारण आत्मा ही है। एक बार उन्होने मदालसा अग्रवाल को पत्र लिखते हुए कहा था—"बाह्य विभूति-दर्शन से जो आनद होता है, उसका भी कारण यही है कि उसमे आत्मा का गुण प्रकट होता है। समुद्र को देखकर आत्मा की गभीरता, कमल को देखकर आत्मा की अलिप्तता, रात को देखकर आत्मा की अव्यक्तता, सूर्य को देखकर आत्मा की तेजस्विता, चद्र को देखकर आत्मा की आह्लादकता, हिमालय को देखकर आत्मा की स्थिरता इत्यादि आत्मभावो का अनुभव होता है, इसलिए आनद-लब्धि होती है। छपे हुए अक्षर सुदर प्रतीत होते हैं, क्योकि उसमे आत्मा की व्यवस्थितता प्रकट होती है और व्यवस्था के मानी है समता। लिखे हुए अक्षर सुदर प्रतीत होते है। उसका कारण यह है कि उसमे आत्मा की स्वच्छदता प्रकट होती है। जहाँ आत्मा की यत्किंचित् भी उपलब्धि होती है, वहाँ सौदर्य, सतोष, समाधान और सुख का वास होता है।"[1]

इस सबध मे यह बतलाना आवश्यक है कि कवीन्द्र रवीन्द्र ने सौदर्य को सत्य की अभिव्यक्ति के रूप मे देखा था। उनके लिए "सौदर्य सत्य है और सत्य सौदर्य है।"[2] परतु विनोबा की व्याख्या मे आत्मनिष्ठता गर्भित है। वे सौदर्य की रहस्यवादी व्याख्या नही कर व्यावहारिक व्याख्या करते है। सचमुच सौदर्यबोध मे बाह्य सामजस्य और सुव्यवस्था का उतना महत्त्व नही है जितना महत्त्व द्रष्टा की दृष्टि का है। आगे भी हम देखेंगे कि विनोबा ने पश्चिमी दार्शनिक शोपेनहावर की भाँति विश्व को हमारी दृष्टि पर आश्रित मान लिया है।

(ख) आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण विनोबा के अनुसार 'आत्मा' और 'अस्तित्व'—दोनो समानार्थक हैं अत 'आत्मा का अस्तित्व' शब्द उनके लिए अनावश्यक है।"[3] फिर भी उन्होंने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कुछ युक्तियाँ दी हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(१) **तात्त्विक युक्ति** आत्म प्रत्यय हमारे मन मे है। अत इसका अस्तित्व होना स्वाभाविक है। यह विनोबा के इस कथन से सिद्ध होता है—"आत्मा कैसे सिद्ध होता है ? तेरे इस प्रश्न मे सिद्ध होता है। मेरा यह उत्तर यदि मुझे जचे, तो उस जचने से सिद्ध होता है। अगर न

---

१ बजाज, रामकृष्ण, (सम्पा०) विनोबा के पत्र, पृ० ८२।

2 Tagore, Rabindra Nath, *Sadhana* p 141

३ विनोबा, विचार-पोथी, पृ० ८६।

जचे, तो उस न जचने से सिद्ध होता है"[1] अत आत्मा का अस्तित्व स्वत सिद्ध है। इसी प्रकार की युक्ति शंकराचार्य तथा पश्चिमी दार्शनिक डेकार्ट ने भी दी है।

(२) **अनुभव पर आधारित प्रमाण** आत्मा का दूसरा प्रमाण हमारे दैनिक जीवन का अनुभव है। जब हमारा शरीर रुग्ण हो जाता है, तो हम इसे डाक्टर के पास ले जाते हैं। जब हमारे चर्खे मे खराबी आ जाती है, तो इसे बढई के पास ले जाते है। चर्खा स्वय बढई के पास नही जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हम अपने शरीर और चरखे से भिन्न है जो इनके निमित्त काम करते है। हम अपने मन और बुद्धि से भी भिन्न है क्योकि प्राय हम कहा करते हैं कि "हमारी बुद्धि इन दिनो ठीक से काम नही करती।" "बहुत थकान आती है।" इत्यादि। इसका अर्थ है कि हम बुद्धि से भिन्न हैं और यही आत्मा है।[2] यह युक्ति सचमुच ग्राह्य मालूम पड़ती है। परन्तु तर्क के लिए यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस युक्ति से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि शरीर भौतिक पदार्थ और बुद्धि से भिन्न हमारे अदर एक सत्ता है। परन्तु इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि वह आत्मा ही है? आत्मा के स्थान पर वह कोई अन्य सत्ता हो सकती है।

(३) **दोष-सुधार पर आधारित प्रमाण** विनोबा के अनुसार आत्मा देह से भिन्न चैतन्य है तथा इसका अस्तित्व है। प्राय यह देखा जाता है कि दोषो के ज्ञान हो जाने पर हम अपने को उनसे अलग कर सुधार कर लेते हैं। सुधार की चेतना आने पर केवल वर्तमान के लिए ही नही मरणोपरान्त जीवन के लिए भी व्यवस्था कर डालते है। इस प्रकार की चेतना किसी जड पदार्थ मे नही होती है। यही जो अपने पहचानने का चैतन्य है वह आत्मा है।[3]

उपर्युक्त प्रमाणों के रहते हुए भी विनोबा की यह धारणा है कि आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द मे से किसी भी साधन द्वारा नहीं हो सकता

१ उपरिवत्, पृ० ३८।

२ विनोबा अध्यात्म-तत्त्व-सुधा, पृ० १०२–१०३।

३ उपरिवत् पृ० १०३।

है।[1] यह अनुभव की वस्तु है जो नैतिक अनुशासन के पालन करने में ही प्राप्त हो सकता है।

(ज) एअर और विनोबा समसामयिक भाषा विश्लेषणवादी दार्शनिक ए० जे० एअर ने भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने वाले आत्मा की सत्ता का विरोध किया है। विनोबा ने जिस अर्थ में आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है, उसे शायद वे यह कहकर विरोध करेंगे कि इस प्रकार की आत्मा का इन्द्रियानुभव के द्वारा प्रमाणीकरण नहीं होता अतः यह निरर्थक शब्द है जिसके बारे में कुछ भी कहा जा सकता है।[2] वे यह भी कहेंगे कि सत्ता शब्द का प्रयोग भी ठीक नहीं है। इसके बदले इन्द्रिय प्रदत्त की घटना शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए।[3] फिर प्रमाणित हो सकनेवाली कोई घटना है तो वह इन्द्रिय-प्रदत्त है जो न तो भौतिक है और न आध्यात्मिक। वह तटस्थ वृत्ति का है।[4]

परंतु भाषा विश्लेषणवादियों के उपयुक्त तर्कों में आत्मा की सत्ता का खंडन विशुद्ध रूप से न तो तार्किक आधार पर होता है और न सामान्य बुद्धि के आधार पर ही। प्रथमतः एअर महोदय का यह मानना कि केवल इन्द्रियानुभव के द्वारा प्रमाणित हो सकने वाले वाक्य ही सार्थक हैं —पूर्वाग्रहपूर्ण है। इसके पीछे कोई सबल तर्क नहीं है। यदि इसे विज्ञानगोपी तर्क भी मान लें तो भी यह गलत सिद्ध होता है क्योंकि आधुनिक विज्ञान कम तत्वों के बारे में भी कथन करता है जिसका अवलोकन प्रमाणीकरण नहीं हो सका है। इसी आधार पर विज्ञान के प्रयोग आगे बढ़ते हैं।

फिर विज्ञान के वाक्यों का प्रमाणीकरण भी अनिवार्यतः साक्षात् तरीकों से नहीं हो पाता है। जैसे यदि वैज्ञानिक से पूछा जाय कि क्या आप एलक्ट्रोन, प्रोटोन, पोजिट्रोन और न्यूट्रान को साक्षात् रूप से देख सकते हैं? शायद उनका उत्तर यही होगा कि इन सबका ज्ञान विभिन्न प्रकार के गुणों व्यवहारों आदि से संबंधित पूर्व कल्पनाओं के सिद्ध होने पर होता है। अतः अन्तिम रूप से इनके प्रमाणीकरण का आधार परिणाम ही रह जाता है जो असाक्षात् प्रमाणीकरण है।

१ विनोबा **गीताई चिंतनिका**, पृ० १८२।

2 Ayer A J *Language Truth And Logic* (London, *Victor* Gollancz Ltd 1964) p 126

३ उपरिवत् पृ० १२३।

४ उपरिवत् पृ० १२३।

यदि आत्मा की सत्ता को भी असाक्षात् रीति से प्रमाणित कर दिया जाय, तो उसकी सत्ता मे विश्वास करना चाहिए तथा उसे सार्थक शब्द मानना चाहिए। विनोबा ने शरीर, मन और बुद्धि से भिन्न जिस आत्मा की पूर्वकल्पना की है उसका प्रमाणीकरण सामान्य बुद्धि मे और परोक्षत आसानी से हो सकता है। आत्मज्ञान के जिन साधनों को विनोबा ने बतलाया है उनके अभ्यास करने मे अनुकूल परिणाम आता है, चैतन्य की वृद्धि होती है। अत इस परिणाम के द्वारा आत्मा की सत्ता प्रमाणित हो जाती है।

दूसरी बात यह कि भाषा-विश्लेषणवादी दर्शन का कार्य भाषा का विश्लेषण मानते हैं, तो फिर आत्मा या ईश्वर जैसे तत्त्वो का निषेध या भाव वे सगत तरीके से नही कर सकते। यह उनकी सीमा के बाहर की चीज है। भाषा के आधार पर यदि वे किसी सत्ता का निषेध करते हैं, तो यह सीमा का अतिक्रमण है। हाँ यदि ईश्वर या आत्मतत्त्व की खोज करने वाला कहे कि ईश्वर या आत्मा नही है, तो वह बात मान्य हो सकती है।

यदि शब्दार्थ विश्लेषण की दृष्टि से भी देखा जाय, तो 'आत्मा' और 'ईश्वर' शब्द निरर्थक प्रतीत नही होते। एअर को ये निरर्थक इसलिए लगते है कि उनकी सार्थकता की कल्पना बहुत ही सकुचित है। यदि वस्तु, गुण, सबध आदि की सूचना देने वाले पद सार्थक हैं जैसा एअर मानते है, तो फिर व्यापक चैतन्य और चैतन्य जिसके द्वारा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से भिन्न—इन सभी को सचालित और नियन्त्रित करने वाली सत्ता या भाव है, इन्हें सूचित करनेवाले आत्मा शब्द को क्यो नही सार्थक माना जाय ? भले ही इसके लिए एक तीसरे प्रकार के ही सार्थक पद की धारणा बनानी पडे।

फिर विनोबा का यह तर्क तो अकाट्य मालूम पडता है कि जब हम आत्मा के बारे मे प्रश्न करते हैं और उसके उत्तर से सतुष्ट या असतुष्ट होते हैं, तो यह तभी सभव है जब आत्मा शब्द सार्थक है। बिना इसके अर्थ को समझे कैसे कह सकते हैं कि यह निरर्थक है ? अत आत्मा को निरर्थक कहने वाले दार्शनिक उस व्यक्ति के समान हैं जो जग रहने पर भी सोये रहने का स्वाग भरते है। सोया हुआ व्यक्ति पुकारने पर जग सकता है परतु सोये रहने के स्वाग रचने वाला को कदापि नही जगाया जा सकता। भाषा-विश्लेषणवादी दार्शनिक आत्मा और ईश्वर का अर्थ समझते हैं, अर्थ समझ कर उसके बारे मे कथन करते हैं और आश्चर्य की बात यह है कि वे इतने पर भी निरर्थक घोषित करते हैं।

एअर आत्मा को इन्द्रिय प्रदत्त मान सकते हैं, उसे तटस्थ वृत्ति का मान सकते हैं, परन्तु उसे गुणातीत मानना उन्हें स्वीकार्य नही है। यह इसलिए कि उनका अर्थ सबसे सिद्धात भिन्न है। वस्तुत उन्हे मानना चाहिए कि जिस प्रकार तार्किक जगत मे कोई वस्तु भौतिक और मानसिक धर्म से परे हो सकती है, तो तात्त्विक जगत् मे भी कुछ सत्ता ऐसी हो सकती है जिनको अवर्णनीय, अचिंत्य और गुणातीत समझा जा सकता है।

आत्मा के सबध मे गाँधी के विचार सामान्य मनुष्य के विचार हैं। उन्होंने आत्मा के स्वरूपनिरूपण, इसका भिन्न भिन्न तत्त्वो के साथ क्या सबध है, इसके अस्तित्व को कैसे सिद्ध किया जा सकता है, इत्यादि प्रश्नो पर विचार नही किया है। विनोबा इन प्रश्नो पर शास्त्रीय ढग से विचार करते हैं। इसके अतिरिक्त विनोबा गीता की भाँति आत्मा को अजर, अमर और अविकारी मान कर चुप नही हो जाते हैं। वे आत्मा को शक्यता मूर्ति मानकर तथा उसकी परिणामी नित्यता को स्वीकार कर एक वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जो हमे प्रगति पथ की ओर उत्प्रेरित करता है। वैज्ञानिक बुद्धि किसी भी स्थिर और स्थायी वस्तु को स्वीकार नही करती। यह तो नूतनता और प्रगति-शीलता म विश्वास करती है। अत विनोबा ने गाँधी की आत्मा की धारणा को शास्त्रीय आधार तो प्रदान किया ही उसे विज्ञान युग के अनुकूल भी बनाया है।

३ पुनर्जन्म विचार

(क) गाँधी के विचार आत्मा के पुनर्जन्म मे विश्वास भारतीय दर्शन की एक विशेषता है। इस सिद्धात का लगाव आत्मा की अमरता के सिद्धात स है। गाँधी भी अन्य भारतीय दार्शनिकों की भाति पुनर्जन्म म विश्वास करते हैं। उनके लिए पुनर्जन्म सिद्धात नही बल्कि तथ्य है।[1] इसीलिए शायद वे इसकी स्थापना के लिए न कोई युक्ति प्रस्तुत करते हैं और न इस सिद्धात की व्याख्या करने का ही प्रयास करते हैं। पुनर्जन्म मे विश्वास गाँधी के सत्याग्रह कार्यक्रम के अनुकूल है। कोई सत्याग्रही अत-अत तक क्यो सत्य के

1 (a) ' Transmigration and rebirth are not mere theories with me but facts as patent as the daily rise of the sun''—A Jack, Homer *Wit and Wisdom of Gandhi*, p 22

(b) ' I believe in rebirth as much as I believe in the existence of my present body —*Young India*, Vol 2, p 1204

लिए पीडा उठाता रहेगा यदि उसे भविष्य जीवन मे विश्वास[1] न हो ? वह क्या सत्य के लिए अपने सगे सबधियो का छोडने के लिए तैयार होगा ? पुनर्जन्म मे विश्वास ही गाधी को अपने कार्यक्रमो को शताब्दियो मे भी करने के लिए प्रेरित करता है।[2] फिर भी गाधी यह मानते हैं कि पिछले जन्मो की बात याद नही रखना एक प्रकार से वरदान है। जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए अनावश्यक स्मृतियो का बोझ उतरना ही चाहिए।[3] इस प्रकार हम यह देखते हैं कि पुनर्जन्म पर गाधी केवल अपनी आस्था व्यक्त करते है। इसपर विशेष रूप से प्रकाश नही डालते।

(ख) **विनोबा के विचार** विनोबा गाधी की भाँति पुनर्जन्म मे केवल आस्था ही व्यक्त नही करते बल्कि इसके समर्थन के लिए कुछ युक्तियाँ भी प्रस्तुत करते हैं जो इस प्रकार हैं—

(अ) **सृष्टि का अनादि और अनत होना** विनोबा सृष्टि को अनादि और अनत मानते हैं। मानव इस सृष्टि मेकब से है और कबतक रहेगा—यह किसी को मालूम नही है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह पहले भी सृष्टि मे था और बाद मे भी रहेगा। यदि यह कहा जाय कि मानव पहले मे नही था और मरने के बाद नही रहेगा, तो इसमे कई प्रकार की समस्या उत्पन्न होगी। अत सृष्टि को अनादि और अनत मानना ही उचित है। ऐसा मान लेने पर पुनर्जन्म मे विश्वास स्वाभाविक हो जाता है।[4] विनोबा की इस युक्ति मे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि इस सृष्टि मे मानव अनादि काल से है और अनत काल तक रहेगा। इसन यह सिद्ध नही होता कि एक ही आत्मा बार-बार जन्म लेगी। नये-नये व्यक्ति भी तो जन्म ले सकते है ? अत यह प्रमाण उतना सबल नही है।

(ब) **कर्मविपाक पुनर्जन्म को सिद्ध करता है** प्राय ऐसा देखा जाता है कि स्वस्थ माता-पिता से जन्म लेने के बाद भी कोई बच्चा जन्म लेने के कुछ समय बाद मे ही सुख-दु ख भोगना शुरू कर देता है। प्रश्न है कि उसके सुख-दु ख के लिए कौन जिम्मेवार है ? अवश्य

1 *Speeches and Writings of Mahatma Gandhi*, p 504

2 Rolland, Romain *Mahatma Gandhi*, p 42

3 A Jack, Homer, *Wit And wisdom of Gandhi*, p 22.

४ विनोबा चिन्तन, अक ७, पृ० ११।

ही उसका पुण्य और पाप ही इसका कारण है। परन्तु यदि वह अपने जन्म के पूर्व नहीं होता, तो फिर पाप और पुण्य भी असभव था। इससे यह सिद्ध होता है कि वह पहले भी था और बाद मे भी रहेगा। ऐसा नहीं मानने पर कर्म और कर्मफल का नियम ही टूट जाता है।[१]

निश्चय ही यह युक्ति पहले की अपेक्षा अधिक सबल मालूम पडती है परन्तु इस युक्ति का आधारवाक्य कर्म सिद्धान्त है, जो विवाद से मुक्त नहीं है। कुछ विचारक जैसे, चार्वाक यह मानते हैं कि वर्तमान जीवन के सुख-दुख की व्याख्या प्राकृतिक नियम से ही की जा सकती है। पिछले कर्म के अनुसार वर्तमान जीवन मे फल मिलता है या नहीं, यह स्वय शोध का विषय है। अत सशयपूर्ण आधारवाक्य का निष्कर्ष कैसे असदिग्ध हो सकता है?

(ख) साक्षात् अनुभव साक्षात अनुभव के द्वारा कभी-कभी पिछले जन्म की बातो का स्मरण होता है। जैसे-जैसे हमारी बुद्धि पूर्व सस्कारो मे मुक्त होती जाती है, और चित्त निर्मल होता जाता है, वैसे-वैसे हमे अपने पिछले जन्म की बहुत-सी बातो का मोटा-मोटी स्मरण होने लगता है। यह कहा जाता है कि गौतम बुद्ध, ज्ञानदेव, और डॉ० अनीबीसेंट को अपने पूर्वजन्म की बहुत-सी बात मालूम थी। विनोबा ने स्वय अपने जीवन के अनुभवो के सहारे भी इसे प्रमाणित करने का प्रयास किया है।[२] इन अनुभवो मे पुनर्जन्म की यथार्थता सिद्ध होती है।[३] इस युक्ति के सबध मे अभी इतना ही कहना उचित होगा कि इस दिशा मे अभी शोध चल रहे हैं। बहुत-सी ऐसी घटनाएँ मिली हैं जिसमे व्यक्ति अपने पूर्वजन्म की

१ उपरिवत् पृ० १२।

२ एक बार विनोबा अपनी माता के साथ पूना में ही किसी दूसरी जगह जाने वाले थे। उस समय उनकी अवस्था तीन चार साल की थी। उन्होंने उस स्थान पर पहुँचने के पूर्व ही बतलाया कि वह कैसा स्थान है। इस घटना से उन्होंने यह अनुमान किया कि वे अवश्य ही उस स्थान से पिछले जन्म में परिचित थे। दूसरी बात यह कि विनोबा को बगला सीखने में सबसे कम समय लगा। इससे वे यह अनुमान करते हैं कि वे पिछले जन्म में बगाली थे। वे सिनेमा में अपनी अरुचि का कारण मानते हैं कि पिछले जन्म में वे इसकी बुराइयों का काफी अनुभव कर चुके होंगे। इन सभी अनुभवों से वे पुनर्जन्म को प्रमाणित करते हैं।—**विनोबा चिंतन**, अक ७, पृ० १२ १३।

३ उपरिवत्, पृ० १२-१३।

सारी घटनाओं को कह देना है और वे प्रमाणित भी हो जाती है। परंतु अभी इसपर निर्णय देना उचित नही। विनोबा ने जिन अपने अनुभवो की चर्चा की है, उनकी व्याख्या दूसरे प्रकार से भी की जा सकती है। अत उसे एकमात्र प्रमाण नही कह सकते।

(ह) **अन्य लोगो का समर्थन** विनोबा के अनुसार इस्लाम धर्म भी मृत्यु के बाद के जीवन को स्वीकार करता है। यह ठीक है कि इस्लाम धर्म मृत्यु के बाद भी सूक्ष्म शरीर के कब्रिस्तान मे पडे रहने की कल्पना करता है। यह शरीर नया शरीर धारण करता है या नही, इसपर वह कुछ भी नही कहता। परतु मृत्यु के बाद भी जीवन है, इसमे विश्वास करता है।[1]

अब प्रश्न है कि मानव का पुनर्जन्म केवल उच्च योनियो मे होता है या निम्न योनि मे भी ? श्री अरविन्द यह मानते हैं कि मानव का पुनर्जन्म उच्च योनि मे ही होता है। परंतु विनोबा के अनुसार यह कोई सामान्य नियम नही है। पुनर्जन्म किस योनि मे होगा—यह मनुष्य की वासना के प्रकार और तीव्रता पर निर्भर है। मनुष्य को यह पूरी स्वतत्रता है कि वह निम्न कोटि की वासना रखे या उच्च कोटि की। जैसी वासना रहेगी वैसी ही योनि उसे प्राप्त होगी।[2]

जहाँतक पुनर्जन्म के चक्र से बचने का प्रश्न है, विनोबा यह मानते है कि जब कोई ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेता है जिसमे उसके मन मे किसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न नही होती, तो वह व्यक्ति दूसरे जन्म मे स्वाभाविक रूप मे स्थितप्रज्ञता या साम्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार के दो-तीन जन्म के बाद वह पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाता है तथा उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3]

पुनर्जन्म का रहस्य अब दिन-प्रतिदिन सुलझता जा रहा है। यह केवल अंधविश्वास और दर्शन की वस्तु ही नही रह गया है, बल्कि वैज्ञानिक तरीके से भी इसकी सत्यता को सिद्ध किया जा रहा है। परामनोविद्यावालो ने इस पर कुछ रिसर्च भी किए हैं। अत विनोबा की युक्तियाँ भले ही उतनी संगत

१ उपरिवत्, पृ० १२–१३।

२ उपरिवत् पृ० १७।

3 *Vinoba in Pakistan* (Varanasi, Sarva Seva Sangha Prakashan), p 71

और सर्वत्र न हो, परन्तु आगे के होनेवाले अन्वेषण में इसका अवश्य ही योग दान रहेगा ।

गांधी के लिए पुनर्जन्म केवल आस्था का विषय था। जिसपर उन्होंने अपने समस्त सत्याग्रह के कार्यक्रम को आधारित किया उसके बारे में उन्हें कुछ कहना आवश्यक था। उसे युक्तियों से सबल बनाना भी चाहिए था। विनोबा ने गांधी के इस कार्य को पूरा करने का प्रयास किया है। उन्होंने शास्त्रीय ढंग से, अपेक्षाकृत संगत तरीके से पुनर्जन्म के सिद्धांत को रखा है।

जगत-विचार

१ गांधी के विचार

गांधी का जगत-संबंधी सिद्धांत उनके सत्य संबंधी सिद्धांत पर आधारित है। उनके अनुसार यह जगत सत्य या ईश्वर की अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। विश्व की नाना प्रकार की वस्तुएँ —सजीव, निर्जीव, चर अचर, ग्रह-नक्षत्र, तारे, सूर्य आदि एक ही सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।[1] अतः ईश्वर से अलग विश्व की सत्ता संभव नहीं है। ईश्वर की अभिव्यक्ति होने के कारण जगत् को हेय दृष्टि से भी नहीं देखा जा सकता है। उनके अनुसार ईश्वर का अमूर्त या प्रच्छन्न रूप उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उसका व्यक्त, मूर्त मानव रूप में अवतरित होना है।[2]

गांधी शंकर की भाँति न तो जगत् को मिथ्या मानते हैं और न रामानुज की भाँति इसे ईश्वर का वास्तविक परिणाम ही मानते हैं। इनका विचार

---

1 "I recognize that God manifests Himself in innumerable forms in this universe, and every such manifestation commands my spontaneous reverrence"—*Young India*, 26 [illegible] '29, p 320

2 "Abstract truth has no value unless it incarnates in human beings" *Young India*, 22 12 '21, p 424

समन्वय का है। एक ओर तो वे जगत् को सर्वोच्च सत्ता की वास्तविक[1] अभिव्यक्ति मानते हुए प्रतीत होते हैं, तो दूसरी ओर कभी-कभी इस ससार को परिवर्तनशील और अवास्तविक भी कह डालते हैं। गाधी जब जगत् को अवास्तविक कहते हैं, तो उनका अभिप्राय इसको परिवर्तनशीलता से है। परिवर्तनशीलता और अवास्तविकता उनकी योजना मे एक समान है।[2]

तात्त्विक दृष्टि से गाँधी के अनुसार यह जगत् वास्तविक है, परतु ऊपर-ऊपर से शायद हमे मालूम पडे कि यह अवास्तविक है। चूँकि जगत का आधार सत्य है, अत यह भी सत्य है। यह भी सत्य है कि प्रकृति मे हर क्षण परिवर्तन होते रहते है। यह ससार परिवर्तनशील और क्षणभगुर है और इस दृष्टि से यह अनित्य भी है। परतु किसी भी मूल्य पर इस जगत् को शकर की तरह विवर्त्त या भ्रम नही कहा जा सकता। अत शकर की तुलना मे गाधी का स्थान जगत् के सबध मे यथार्थवादी है। फिर भी व विश्व की वास्तविक स्थिति को सफलतापूर्वक स्पष्ट नही कर पाये हैं। आगे हम देखेंगे कि विनोबा ने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तुत गाँधी के जगत् विचार पर बुद्ध के क्षणिकवाद, जैनो के अनेकान्तवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद और शकर के अद्वैत का प्रभाव है और लगता है कि यहा सभी का समन्वय है।

जगत् की उत्पत्ति के सबध म गाँधी ने विशेष ढग से विचार नही किया है। हा, इसके सबध मे भारतीय दर्शन का विकासवाद और देश-काल की अनन्तता उन्हे स्वीकार्य है। फिर भी इनके समर्थन मे उन्होने कोई युक्ति उपस्थित नही की है। गाधी जगत् को शुभ मानते है क्योकि इसम जीवन,

1 "From the Imperishable Unmanifest down to the perishable atom everything in the universe is the supreme and an expression of the supreme" "The world of sense is every moment in a state of flux But even though it is perpetually changing, as its root is Brahman or the supreme, it is imperishable" —Desai, Mahadeo, *The Gita According to Gandhi*, p 254 & p 337

2 "The World is changing every moment, and is there fore, unreal, it has no permanent existence" —*Young India*, 21 1 '26, p 30

नियम, सौन्दर्य और व्यवस्था है। जगत् प्रयोजनपूर्ण है। इसमें कहीं भी अस्त-व्यस्तता नहीं है। सर्वत्र नियमों का साम्राज्य है। इसी कारण विश्व का विध्वंस नहीं हो पाता है। जगत् प्रेम के नियम से ही व्याप्त है। ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि सभी प्रेम या आकर्षण के नियम से ही बँधे हुए हैं। इसीके कारण प्रकृति की सत्ता है।

वस्तुतः गाँधी के जगत् के शुभत्व का आधार ही उनकी तत्त्व-मीमांसा है। जब यह जगत् सच्चिदानन्द ईश्वर की अभिव्यक्ति है तो इस शुभ होना ही चाहिए। पश्चिमी दार्शनिक शोपेनहावर ने संकल्प को विश्व का आधार तत्त्व माना। इसके परिणामस्वरूप विश्व का दुःखपूर्ण चित्रण हुआ क्योंकि संकल्प या इच्छा के कारण भोग की लिप्सा जगती है जो कभी हमें शान्ति और सुख से जीने नहीं देता। परन्तु गाँधी के अनुसार जगत् का आधार ज्ञान और प्रेम स्वरूप तत्त्व है। अतः प्रकृति में जहाँ कहीं भी विनाश, अव्यवस्था और मृत्यु की दुःखान्त घटनाएँ दिखलाई पड़ती हैं, उन्हें प्रेम के द्वारा दूर कर विश्व के आनन्द को कायम रखा जा सकता है।

२ विनोबा के विचार

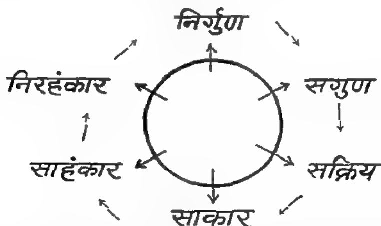
(अ) स्फूर्तिवाद जगत् के संबंध में विनोबा का विचार स्फूर्तिवाद कहलाता है। स्फूर्तिवाद इस विश्व को ब्रह्म की स्फूर्ति मानता है। 'स्फूर्ति' संस्कृत के स्फुरण क्रिया से बना है जो 'स्फुर' और 'स्फुट्' प्रत्ययों से निर्मित है। 'स्फुरण' का अर्थ 'विकास'[1] या 'प्रसार' में लिया जाता है हिन्दी शब्दकोश के अनुसार स्फुरण का अर्थ 'कम्पन'[2] होता है। विनोबा ने स्फूर्ति का प्रयोग 'शक्ति', 'ताजगी', 'प्रेरणा' आदि के अर्थों में किया है।[3] परंतु जब विश्व को ब्रह्म की स्फूर्ति कहा जाता है, तो इसका अर्थ ब्रह्म के विकास, उसकी शक्ति और उसके आकस्मिक और गतिशील रूप से है। ब्रह्म अपनी मौलिक अवस्था में निर्गुण, निष्क्रिय और निराकार रहता है। इस अवस्था को हम ब्रह्म का अव्यक्त रूप भी कह सकते हैं। विश्व ब्रह्म का व्यक्त रूप है। इसलिए इस विनोबा

१ भट्टाचार्य श्री तारानाथ (संकलित) वाचस्पत्यम्, वाराणसी, चौखंभा संस्कृत ग्रंथमाला) ६वाँ भाग पृ० ५३७१।

२ वर्मा, रामचन्द्र, (सम्पा०), संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर, (काशी, नागरी प्रचारिणी सभा) पृ० ११२२—२३।

३ देखें, प्रेरणा प्रवाह, पृ० १७० त्रिवेणी, पृ० २२ गीता-प्रवचन, पृ० १८० और ज्ञानदेव चिन्तनिका, पृ० १२४।

ने 'प्रत्यक्ष ब्रह्म' कहा है। अर्थात् अव्यक्त ब्रह्म आगे चलकर सगुण सक्रिय और साकार भूमिका ग्रहण करता है। यह उसका आध्यात्मिक स्वरूप है। फिर भावातीत ब्रह्म स्वभावयुक्त हो जाता है। यह उसकी प्रकृति युक्त अवस्था है। इसमें से सगुण, सक्रिय और निराकार दशा होती है। उसे विनोबा ने कर्म सज्ञित-ब्रह्म कहा है। फिर जब कर्म सज्ञित ब्रह्म आकार को ग्रहण करता है, तो उससे आधिभौतिक सृष्टि का निर्माण होता है। आधिभौतिक सृष्टि मे से ही उसे सभालने के लिए अहकार का उदय होता है। इसे जीव या पुरुष कहते हैं। चूँकि यह इस आकार का अभिमानी देवता है इसलिए इसे "अधिदैवत" भी कहते हैं। जब पुरुष यज्ञ, ज्ञान और तप के द्वारा अपने को परिशुद्ध कर लेता है, तो इसे ब्रह्म की अधि यज्ञ अवस्था कहते हैं। यह प्राणी की जीवन मुक्ति की अवस्था है। परन्तु जब शरीर से भी पिंड छूट जाता है, तो प्राणी विशुद्ध ब्रह्म की अवस्था म लीन हो जाता है। इस सपूर्ण प्रक्रिया को विनोबा ने अपनी पुस्तक गीताई-चिन्तनिका म बतलाने का प्रयत्न किया है।[1] इसे चित्र के द्वारा निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।



इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि जगत् जो जड आव और चैतन्य आदि नाना प्रकार की वस्तुओ से पूर्ण है—ब्रह्म का स्फुरण मात्र है। ब्रह्म के विविध रूप विकास का ही यह जगत् परिणाम है।

ब्रह्म म जगत की व्याख्या की पुरानी परम्परा भारतीय दर्शन को प्राप्त है। उपनिषद् म तो ब्रह्म के आधार पर समस्त विश्व की उत्पत्ति की व्याख्या

१ विनोबा, गीताई चिन्तनिका, पृ० ९८-९९।

की ही गई है। वेदांत दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से ब्रह्म के आधार पर विश्व की व्याख्या की है जिसमें शंकर का 'विवर्तवाद' और रामानुज का 'परिणामवाद' प्रसिद्ध है। विनोबा की व्याख्या इन दोनों से भिन्न है। शंकर के मायावाद के प्रति विनोबा का यह आक्षेप है कि यदि रस्सी में पहले से सर्प का धर्म विद्यमान नहीं हो, तो लाख कोशिश करने पर भी वह सर्प की तरह दिखाई नहीं पड़ सकता क्योंकि असत् से किसी भी वस्तु का प्रादुर्भाव नहीं होता। यदि ब्रह्म में जगत् का धर्म विद्यमान नहीं हो, तो वह कभी भी विश्व की भाँति प्रतीत नहीं हो सकता। अतएव यह संसार ब्रह्म का विवर्त नहीं बल्कि परिणाम है। इसे उन्होंने 'रज्जु-सर्पवत् परिणाम' कहा है।[१]

रामानुज के प्रति असहमति प्रकट करते हुए विनोबा उनके 'कांचन-कंकणवत्-परिणाम' के न्याय को भी खंडित करते हैं। इसके अनुसार वास्तविक सत्ता केवल कांचन की ही होती है। कंकण का अलग से कुछ भी मूल्य नहीं होता। स्वर्णकार आभूषण और सोना—दोनों का बराबर मूल्य आँकता है। इसी प्रकार ब्रह्म और विश्व—दोनों में ब्रह्म ही वास्तविक है। विश्व एक प्रकार से मिथ्या है। इसे विनोबा ने 'कंकणवत्‌विवर्त' की संज्ञा दी है।[२] इस प्रकार विनोबा के अनुसार संसार न तो शंकर की तरह अवास्तविक है और न यह रामानुज की तरह वास्तविक है। अतः जगत् को माया कहकर इसमें भागकर सन्यास लेने वाले तथा जगत् को वास्तविक मानकर इसमें रमण करनेवाले—दोनों सत्य से दूर हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि एक रज्जु-सर्प से डर कर भागता है और दूसरा उसे सत्य समझ कर उसकी पिटाई करता है।[३]

विनोबा स्फूर्तिवाद का मूल स्रोत महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर (१३वीं शताब्दी) के विचारों में पाते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर अपनी पुस्तक अमृतानुभव में अविद्यावाद और मायावाद का खंडन करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म केवल विश्व का आधार ही नहीं है बल्कि जगत् का प्रत्येक कण ब्रह्म के द्वारा निर्मित है। संसार में कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो ब्रह्म से अलग है तथा उससे भिन्न है। इसलिए आध्यात्मिक अनुभव के लिए जगत् से अलग होने की आवश्यकता नहीं

१ विनोबा-चिंतन, अंक १६, पृ० २०८।
२ उपरिवत्, पृ० २०८।
३ विनोबा. विचार पोथी, पृ० २९।

है।[1] चरम तत्त्व और यह ससार अवियोज्य रूप से एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। आलकारिक भाषा मे ज्ञानेश्वर ने कहा है जिसका समर्थन विनोबा ने किया है—"निर्गुण की चारपाई बिछी है। उसपर सगुण की शय्या सजी है। उस शय्या पर साकार मूर्त्ति लेटी है। ऐसा है विश्व का स्वरूप।"[2] इस प्रकार ज्ञानेश्वर के अनुसार सारा विश्व ब्रह्ममय है।[3] यह ब्रह्म की स्फूर्ति है। विनोबा इसी 'स्फूर्ति' का समर्थन करते हैं। स्फूर्ति, जैसा हम देख चुके है कि शक्ति और गतिशीलता का सूचक है, इस अर्थ मे जगत् शक्तिस्वरूप और परिवर्तनशील है। सृष्टि मे कुछ भी स्थूल और स्थायी नही है। बौद्ध दार्शनिको की भाति विनोबा यह मानते हैं कि सृष्टि हर क्षण बदलती रहती है तथा नये-नये रूपो को धारण करती है। परिवर्तनशीलता के कारण इसमे नवीनता, ताजगी और अमरता बनी हुई रहती है।[4] इसी कारण सृष्टि का शाश्वत रूप कायम रहता है तथा हमे स्फूर्ति मिलती रहती है।

आधुनिक विज्ञान आज इस निष्कर्ष पर आया है कि भूत का कोई भी कण अन्तिम रूप मे विद्युत्, चुम्बकीय तथा ईथर शक्ति और तरगो के रूप मे परिणत हो जाता है। यह तो भूत के एक कण की बात हुई। परन्तु यदि विश्व को सपूर्णता मे भी लिया जाय, तो वैज्ञानिक यह मानते है कि जड पदार्थ और विकिरण की क्रिया के कारण सपूर्ण ब्रह्माड परिवर्तित होता रहता है। पुराने ग्रह टूटते हैं, नये ग्रहो के वातावरण मे परिवर्तन होता है तथा नई-नई परिस्थितियाँ बनती जाती हैं। अत चाहे विश्व के सूक्ष्म रूप को लें या विशाल रूप को लें—दोनो परिस्थितियो मे इसकी परिवर्तनशीलता, नवीनता और शक्तिस्वरूपता विज्ञान-सम्मत मालूम पड़ती है। इसीलिए विनोबा ने जगत् को स्फूर्ति कह कर एक ओर वेदात और दूसरी ओर आधुनिक विज्ञान का अद्भुत समन्वय किया है। जगत् के सबध मे एक प्रमुख प्रश्न इसकी उत्पत्ति और वास्तविक

1 Tikekar, Indu, *Integral Revolution An Analytical Study of Gandhian Thought* (Vararasi Sarva Seva Sangha Prakashan, 1970), p 139

२ विनोबा, **ज्ञानदेव-चिंतनिका**, पृ० ११३।

३ उपरिवत्, पृ० १३१।

४ विनोबा, **गीता-प्रवचन**, पृ० २३७ ३८।

स्वरूप के संबंध में है। मध्यकालीन सृष्टिवादियों और आधुनिक विकासवादियों ने सृष्टि की व्याख्या के लिए ऐतिहासिक विधि का सहारा लिया। परिणामस्वरूप उन्हें यह मानना पड़ा कि सृष्टि का एक विशेष समय से प्रारंभ है। इसके कारण ईश्वरवादियों के सामने यह प्रश्न उठा कि जब ईश्वर ने विशेष काल में सृष्टि की, तो वह काल में परे कैसे हो सकता है? डार्विन ने नीहारिका के द्वारा सभी ग्रहों और अमीबा के द्वारा सभी प्राणियों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। परंतु क्या ब्रह्मांड नीहारिका तथा उसके कुछ इने गिने ग्रहों तक ही सीमित है? आधुनिक विज्ञान बतलाता है कि संपूर्ण तारों और ग्रहों की संख्या समुद्र की बालुका-राशि के समान है। ऐसी परिस्थिति में जगत् का प्रारंभ मानकर चलना हमारी बुद्धि की सीमा के बाहर है। फिर अमीबा की व्याख्या में डार्विन ने ईश्वर की मदद ली। ये सारी कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं।

विनोबा भारतीय परंपरा को मानते हुए तथा आधुनिक विज्ञान के साथ कदम रखते हुए यह मानते हैं कि सृष्टि अनादि और अनंत है। इसके स्वभाव के बारे में कुछ भी कहना तार्किक दृष्टि से असंगत ही नहीं बल्कि हास्यास्पद भी है। सेठ गोविन्द दास के प्रश्नों का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि इस सृष्टि की तुलना में मनुष्य एक गूलर फल के कीड़े के समान है। फिर यह छोटा कीड़ा सृष्टि के अनन्त रूपों की व्याख्या कैसे कर सकता है? इसी कारण से शास्त्रकारों ने इसे ईश्वर की माया या लीला कह कर संतोष किया।[1] सृष्टि के संबंध में विनोबा का यह मत है कि ईश्वर का ज्ञान संभव है परंतु सृष्टि का ज्ञान असंभव है। फिर भी इतना कहना पर्याप्त होगा कि ईश्वर के समान ही सृष्टि अनादि और अनंत है। जिस प्रकार सूर्य से उसकी रश्मियाँ उससे अनिवार्य रूप से स्फुरित होती रहती हैं, जल में लहरें अवियोज्य रूप से व्याप्त रहती हैं, उसी प्रकार यह सृष्टि ईश्वर के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। छोटे-मोटे प्रलय होते हैं, परंतु सृष्टि का अंत नहीं है।[2] जिस प्रकार यह विशाल सृष्टि ईश्वर का एक पहलू है, उसी प्रकार दूसरा पहलू काल है। काल भी सृष्टि के समान ही अनादि और अनन्त है। जिसे हम भूत काल कहते हैं वह अनादि और भविष्यत् काल अनन्त है। केवल इन दोनों के बीच का

१ *विनोबा चिंतन*, अंक ७, पृ० ११ और २२।
२ उपरिवत्, पृ० २२।

वर्तमान जो बहुत ही तुच्छ है प्रवाह मात्र दिखलाई पड़ता है।[1] अतः यह काल भी ब्रह्म की स्फूर्ति है।

(ब) गणितवाद जेम्स-जीन्स आदि वैज्ञानिकों ने विश्व के स्वरूप को गाणितिक माना है। विनोबा का स्फूर्तिवाद इसके काफी समीप है। विश्व की गणितिक व्याख्या में प्रकृति स्वयं क्या है —इसका वर्णन हम नहीं करते हैं। यहाँ हम प्रकृति के व्यवहारों और घटनाओं की पद्धतियों पर विचार करते हैं। इस पद्धति का क्या अर्थ है इसकी उत्पत्ति कैसे होती है—इसका ज्ञान हमें नहीं मिल पाता है। इस पद्धति के द्वारा हम सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकते। सत्य रहस्यमय हो बना रहता है। जेम्स जीन्स की राय में— भौतिकशास्त्र घटनाओं के नमूनों की खोज करता है। परंतु हम यह कभी नहीं जान सकते कि इस नमूने का क्या अर्थ है अथवा यह कैसे उत्पन्न होता है। यदि कोई वरिष्ठ बुद्धि वाले व्यक्ति भी हम इसके बारे में कहें तो हमारे लिए यह व्याख्या अबोधगम्य ही रहेगी। हमारा अध्ययन तत्त्व के संपर्क में नहीं ला सकता और इसका सच्चा अर्थ तथा स्वभाव हमसे सदा के लिए छिपा ही रहता है।[2] सृष्टि के संबंध में विनोबा भी यह कहते हैं कि इसके स्वरूप और उत्पत्ति के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हम केवल प्रकृति की कुछ घटनाओं को ही देखते हैं। इसके आधार पर संपूर्ण सृष्टि को नहीं जान सकते।

विश्व की गाणितिक व्याख्या में समस्त विश्व को विचारस्वरूप माना जाता है जो पूर्णतः अमूर्त है। आधुनिक भौतिक विज्ञान की विद्युत् चुम्बक और ईथर आदि की धारणाएँ भी एक प्रकार से अमूर्त हैं। वे गणित के विशुद्ध विचार (Pure thought) के समान हैं[3]। इस आधार पर यह कहा जाता है कि विश्व न तो पूर्णरूपेण नियतिवादी है जैसा वस्तुवादी विचारक मानते हैं और न प्रत्ययवादियों के विचार के समान काल्पनिक। जब पूर्ण सत्य का ज्ञान ही संभव नहीं है तो फिर उसे वास्तविक या प्रात्ययिक मानना ही गलत है। इसलिए इन

---

१ विनोबा **गीता प्रवचन** पृ० ३६२।

2 Jeans, James *Physics And Philosophy* (Cambridge University Press, 1948) p 16

3 Jeans, James *The Mysterious Universe*, (Cambridge University Press) p 129

दोनों से भिन्न विश्व गाणितिक स्वाभाव का है।[1] विनोबा ने भी कहा है कि यह ससार विवर्त नहीं है और रामानुज के परिणामवाद की तरह वास्तविक भी नहीं है। परिणामवाद और वस्तुवाद का अनिवार्य निष्कर्ष नियतिवाद, यन्त्रवाद तथा असदिग्धतावाद है। विवर्तवाद का आवश्यक परिणाम विश्व का अनस्तित्व है। विनोबा विश्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उस प्रयोजनपूर्ण और चैतन्य-स्वरूप मानते हैं। इसलिए वास्तविक सत्ता के रूप मे ब्रह्म ही बच जाता है। जैसे विज्ञान भूत के कणो के अस्तित्व को मानते हुए भी अतिम रूप से ईथर-स्ट्रट को ही वास्तविक मानता है, उसी प्रकार स्फूर्तिवाद विश्व की सत्ता को वास्तविक मानते हुए भी अतिम रूप मे ब्रह्म को ही वास्तविक मानता है। इस प्रकार स्फूर्तिवाद में अस्तित्ववाद और प्रयोजनवाद—दोनो का समन्वय हो जाता है।

न्यूटन का भौतिकशास्त्र हर घटना की व्याख्या कारण-कार्य सिद्धात के साचे मे डालकर नियतिवादी ढग से करता था तथा सभी प्रकार के निष्कर्षों को असंदिग्ध मानता था। आधुनिक भौतिक विज्ञान जो गाणितिक ढग से विश्व की व्याख्या करता है—कारण-कार्य सिद्धात का विरोध करता है।[2] मैक्सप्लान्क, नील्सभोर, आदि ने यह बतलाया है कि विश्व के अतर्गत जो परिवर्तन होते हैं, उसमें सातत्य (Continuity) का अभाव रहता है। भूत के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण की गति रेलगाड़ी की तरह नहीं बल्कि कगारू जानवर की तरह है। इसीका विस्तार करते हुए रदरफोर्ड एव सॉडी ने रेडियो एक्टिव कण के विघटन के सबध मे बतलाया कि यह क्रिया किसी विशेष निर्धारित परिस्थिति मे नहीं होकर स्वत (Spontaneously) होती रहती है। आइंस्टीन ने इस क्रिया को नील्सभोर के सिद्धात के समान ही माना है।

---

1 "We have no right to assume if we label them as either 'real' or 'ideal' The true label is, I think, 'mathematical', if we can agree that this is to connote the whole of pure thought, and not merely the studies of the professional mathematician Such a label does not imply anything as to what things are in their ultimate essence, but merely something as to how they behave"—Jeans, James, *The Mysterious Universe*, p 127

2 Jeans, James, *Physics And Philosophy*, pp 126 27

इन वैज्ञानिक निष्कर्षों से स्पष्ट होता है कि कारण-कार्य की जगह पर स्फूर्तिवाद, नियतिवाद के बदले स्वतन्त्रतावाद, असंदिग्धता के स्थान पर संभाव्यतावाद और स्थूलवाद की जगह पर अमूर्त्तवाद ने स्थान ग्रहण किया है। संक्षेप में आधुनिक भौतिक विज्ञान विशुद्ध विचार को चरम तत्त्व मानने की दिशा में बढ़ा है। यह विचार केवल कल्पना जगत् से ही मेल नहीं रखता बल्कि वस्तु जगत् से भी मेल रखता है। यह है गाणितिक व्याख्या का स्वरूप। विनोबा का विश्व संभवतः इसी प्रकार से सत्य और वास्तविक है। अतः स्फूर्तिवाद की वास्तविकता गाणितिक वास्तविकता है। परन्तु आधुनिक विज्ञान मुक्त कंठ से विश्व को चेतन या ब्रह्म का परिणाम नहीं मानता। विनोबा जेम्स जीन्स और शंकराचार्य दोनों का समन्वय करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि विश्व में कोई भी पदार्थ जड नहीं है। विश्व में सर्वत्र प्रयोजन भरा हुआ है।

(स) चेतन एवं प्रयोजनवाद

दर्शनशास्त्र के इतिहास में भौतिकवाद और प्रत्ययवाद का विवाद प्रसिद्ध है। भौतिकवाद समस्त विश्व को भौतिक मानकर जीव और चैतन्य को, उसका प्रतिबिंब या परिणाम मानता है। दूसरी ओर प्रत्ययवाद जड पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता का विरोध कर उसे चैतन्य का परिणाम मानता है। विनोबा इन दोनों सिद्धांतों को एकांगी मानते हैं। उनके अनुसार जड और चेतन दोनों का महत्त्व बराबर है। इनमें से किसी को प्रधान और किसी को गौण मानना गलत है। दोनों संपूर्ण सत्य के दो पहलू हैं—एक इसका सूक्ष्म रूप है और दूसरा स्थूल रूप। जड और चेतन एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं, अतः दोनों तात्त्विक हैं।[1] फिर भी दोनों को पारमार्थिक रूप से सत्य नहीं माना जा सकता है। पारमार्थिक रूप से एक ही ब्रह्म सत्य है जो जड-चेतन—दोनों में व्याप्त है।[2]

विनोबा के अनुसार संपूर्ण सृष्टि की रचना आत्मा और अष्टधा प्रकृति के संयोग से ही हुई है। उन्हीं के वाक्यों में—"एक ही प्रकार के कागज पर एक ही कूची से चित्रकार नानाविध चित्र अंकित करता है। कोई सितारिया सात स्वरों से ही अनेक राग निकालता है। वाङ्मय के बावन अक्षरों की सहायता से हम नाना प्रकार के विचार और भाव प्रकट करते हैं। वैसे ही इस सृष्टि को समझो। सृष्टि में अनन्त वस्तुएँ एवं अनन्त वृत्तियाँ दिखाई देती हैं। परन्तु यह सारी अंतर्बाह्य सृष्टि एक ही अखंड आत्मा और एक ही

१ विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० २१
२ उपरिवत्, पृ० २३

अष्टधा प्रकृति, इस दोहरे मसाले से बनी हुई है।"[1] ईश्वर अपनी कला के द्वारा जिसे शास्त्रीय भाषा मे माया कहते हैं, इन्ही आत्मा और जड प्रकृति के सहारे समस्त सृष्टि की रचना करता है[2]। साख्य की तरह विनोबा प्रकृति मे सत्व, रज और तम—तीनो गुणो का निवास मानते हैं। ये तीनो गुण केवल सृष्टि मे ही नही, हमारे चित्त और समाज मे भी अपने अपने ढग से व्याप्त होते हैं।[3] जैसे, कलम, मूर्ति और पुस्तक—ये सभी जड पदार्थ के उदाहरण हैं। इन सब मे त्रिगुण का निवास है। इनमे भी हमे चैतन्य प्राप्त होता है अत साख्य की प्रकृति का गुण-सिद्धात विनोबा को मान्य है।

जड पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी विनोबा यह मानते हैं कि वास्तव मे जड पदार्थ मे भी चैतन्य है। उनके लिए वह "सुप्त चैतन्य" के अतिरिक्त कुछ भी नही है। सृष्टि को चेतन बतलाते हुए विनोबा कहते हैं—"सारी सृष्टि समाविष्ट है। हमारे सामने जो पुस्तक है जड दीखती है। परतु वह हमारे साथ बोलती है, उसका हमारे दिमाग पर असर होता है। वह अगर पत्थर जैसी जड हो तो असर कैसे होगा? इसलिए इसका रूप चैतन्यमय है। यह पुस्तक हजारो चेतनो को हिलाती-डुलाती है, इसलिए वह चेतन है, सुप्त चेतन है। पत्थर को हम जड समझते हैं, परतु कितने चेतनो को वह प्रेरणा देता है, कितने लोग उसकी पूजा करते हैं, इसलिए वह सुप्तचेतन है।"[4] यह विनोबा की कोई अपनी नवीन वस्तु नही है। पश्चिमी दार्शनिक लाइबनित्ज, शेलिंग एव हीगेल तथा भारतीय दार्शनिक श्री अरविन्द जड मे चेतन को व्याप्त मानते ही हैं। हाँ, विनोबा के कहने का ढग दूसरा अवश्य है।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है। एक ओर विनोबा अद्वैतवादी हैं, क्योकि ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, दूसरी ओर वे आत्मा और प्रकृति के द्वैत को भी स्वीकार करते हैं। यहाँ यह समझना कठिन हो जाता है कि वे अद्वैतवादी हैं या द्वैतवादी। परतु वास्तव मे वे अद्वैतवादी ही हैं। जड, प्रकृति, आत्मा और ईश्वर—सभी एक ही सत्ता ब्रह्म मे समाविष्ट हो जाते हैं। अतिम रूप से प्रधानता ब्रह्म की ही रहती है। विनोबा की तुलना यहाँ पश्चिमी दार्शनिक डेकार्ट से की जा सकती है। एक ओर डेकार्ट ने ईश्वर को

१ विनोबा, गीता-प्रवचन, पृ० ९६-९७
२ उपरिवत्, पृ० ९८
३ विनोबा, साम्यसूत्र, पृ० ४२
४ उपरिवत्, पृ० ३३

ही वास्तविक अर्थ मे द्रव्य माना, दूसरी ओर उन्होने आत्मा और भौतिक पदार्थ को भी दो स्वतत्र पदार्थ के रूप मे स्वीकार कर लिया। परतु उनकी सत्ता ईश्वर पर आश्रित माना। इसलिए डेकार्ट ने उन्हे गौण द्रव्य की सज्ञा दी। ठीक उसी प्रकार विनोबा ब्रह्म को ही मूल तत्त्व मानते हैं परतु आत्मा और प्रकृति—दो तत्त्व होते हुए भी दोनो ब्रह्म के ही दो पहलू है।

परतु इसका यह अभिप्राय नही कि विनोबा पूर्णत डेकार्ट के समान ही है। बहुत बातो मे डेकार्ट से उनका भेद है। डेकार्ट सृष्टिवाद के समर्थक है, विनोबा विकासवाद के, डेकार्ट जड और पशु जगत् को यात्रिक मानते है, परतु विनोबा जड जगत को भी प्रयोजनपूर्ण मानते हैं। डेकार्ट का दर्शन खडित दर्शन है, परतु विनोबा का दर्शन समग्र दर्शन है। अत डेकार्ट जहाँ केवल निमित्तेश्वरवाद के समर्थक हैं, वहाँ विनोबा निमित्तोपादानेश्वरवाद के समर्थक हैं। डेकार्ट को मन और शरीर, ईश्वर और ससार के बीच सबध को स्थापित करने मे हार खानी पडी थी। परतु विनोबा सत्य के विभिन्न पहलूओ के रूप मे मानकर उनके बीच आगिक सबध स्थापित करते हैं।

गाधी की भाँति ही विनोबा विश्व के प्रति आशावादी दृष्टि रखते है। उनके अनुसार यह विश्व मगलमय है, क्योकि ईश्वर इसकी देखभाल करता है। ससार मे कोई भी वस्तु बुरी नही है। यदि कही कुछ बुरी वस्तुएँ है, तो वे हमारी दृष्टि के कारण बुरी मालूम पडती हैं। अत विनोबा इस निष्कर्ष पर आते है कि ससार का स्वरूप हमारे दृष्टिकोण[१] पर निर्भर है। विनोबा ने विश्व के शुभ स्वरूप का स्मरण चित्त की एकाग्रता के लिए भी आवश्यक माना है। बिना चित्त की एकाग्रता के स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति नहीं हो सकती है। विश्व को आत्मनिष्ठ मानकर विनोबा ने गाणितिक व्याख्या के अनुकूल काम किया है। यह अवैज्ञानिक नही है। विज्ञान के क्षेत्र मे भी अब वस्तुवाद और यत्रवाद उठता जा रहा है। यहाँ भी विश्व की व्याख्या हमारी दृष्टि पर निर्भर करता है। इसीलिए तो कोई विद्युत्-तरग का सिद्धात (ह्यूगेन) और कोई तत्त्व सिद्धात (न्यूटन, काम्पटन और रमण) से विश्व को समझने की कोशिश करते हैं और कोई दोनो को साथ लेकर चलते हैं (डीब्रागली)। परतु विश्व की व्याख्या सभी करते है। विनोबा प्रकृति को केवल शुभ ही दृष्टि से देखने को कहते हैं। यह मनोवैज्ञानिक, नैतिक और सामाजिक सभी दृष्टियो से लाभप्रद है।

---

१ विनोबा, **गीता प्रवचन**, पृ० ८०

३ मूल्यांकन

गाँधी और विनोबा के जगत् सबधी विचारो को देखने मे यह पता चलता है कि जगत् के सबध मे गाँधी के विचार बहुत सुनिश्चित और सुनियोजित नही हैं। कभी वे जगत् को माया और लीला कहते हैं और इसकी परिवतनशीलता को देखकर क्षणिक तथा अवास्तविक मानते हैं, तो कभी ईश्वरतत्त्व आधार मे रहने के कारण इसे वास्तविक मानते हैं। इस प्रकार उनका जगत्-विचार वास्तविकता और अवास्तविकता के बीच झूलता नजर आता है। विनोबा गाँधी की इस कमी को स्फूर्तिवाद से दूर करने का प्रयास करते हैं। स्फूर्तिवाद विश्व को चैतन्यपूर्ण, विकासशील और नित्य नूतन मानता है। परतु इसमे गाँधी के विचारो के समान तुच्छता और अवास्तविकता नही झलकती, बल्कि इससे विश्व का सनातन रूप प्रकट होता है। विनोबा के स्फूर्तिवाद मे जगत् की स्थिति न तो काल्पनिक है और न वास्तविक। इसमे वस्तुवाद और कल्पना का सुन्दर समन्वय हुआ है। यह स्फूर्तिवाद गाँधीवाद को ही नही, समस्त भारतीय दर्शन को विनोबा की देन है।

गाँधी विश्व की विकास प्रक्रिया की व्याख्या नहीं करते। वे विश्व की असीमता के लिए कोई तर्क भी प्रस्तुत नही करते हैं। परतु विनोबा ने बहुत ही रोचक शैली मे विश्व की असीमता को तार्किक ढग मे रखा है। वे विश्व के विकास की प्रक्रिया का भी वर्णन शास्त्रीय ढग से करते हैं। इनके दर्शन मे जड, जीव और चैतन्य—सभी की व्याख्या ब्रह्म के आधार पर सगत तरीके से हो जाती है।

गाँधी और विनोबा—दोनो विश्व को शुभ मानते हैं। परतु जहाँ गाँधी इसका आधार मात्र ईश्वरीय नियम को मानते हैं, वहाँ विनोबा मानव की दृष्टि पर बल देकर व्यावहारिक युक्ति प्रस्तुत करते हैं। गाँधी की युक्ति ईश्वरीय है, विनोबा की युक्ति नैतिक एव मनोवैज्ञानिक है। इससे साधारण व्यक्ति को भी समाधान तथा लाभ मिल सकता है। अतिम रूप से यह कहा जा सकता है कि गाँधी की व्याख्या एक सामान्य व्याख्या है परतु विनोबा की व्याख्या दार्शनिक व्याख्या है। यद्यपि विनोबा ने शकर और रामानुज के विचारो पर ही अपने विचार का विकास किया है परतु इसका गाँधीवाद से कोई विरोध नही है। इसलिए यदि इसे हम गाधीवाद को विनोबा की देन कहें, तो अनुचित नहीं होगा।

●

चतुर्थ अध्याय



नीति और धर्म-मीमांसा

नीति और धर्म-मीमासा

१ विषय-प्रवेश

गांधी और विनोबा मूलत नीति के प्रवक्ता और समाज के उद्धारक माने जाते हैं। नैतिकता उनका जीवन था और वे स्वय धर्मप्राण थे। इसीलिए उनकी समाज-नीति या राजनीति भी नैतिकता और आध्यात्मिकता पर आधारित थी। गांधी न कहा ही था कि वे राजनीति का अध्यात्मीकरण करने आये थे। गांधी मनु और याज्ञवल्क्य[१] की भांति स्मृतिकार तथा महात्मा बुद्ध और ईसा की तरह पैगम्बर थे, जिन्होने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, धर्म और अधर्म, के सबध मे अज्ञानी और दिग्भ्रात मानव को एक नई रोशनी प्रदान की। इसीलिए गाधी को युग-पुरुष[२] माना जाता है।

गांधी ने अपनी रचनात्मक बुद्धि से पूरब और पश्चिम के नैतिक विचारो के दिव्य अशो का समन्वय किया और हिंदू धर्म पर आधारित नीति धर्म को नये परिवेश म उसकी पुनर्व्याख्या प्रस्तुत कर उसे वैज्ञानिक, मानवतावादी और वस्तुवादी रूप प्रस्तुत किया। अत एक ओर रस्किन का अनटू दिस लास्ट थूरो का सिविल डिसओबिडिएन्स, बाइबिल का "सरमन आन दि माउन्ट" तथा टाल्सटाय का ब्रेड लेबर ने उन्हे प्रभावित किया, तो दूसरी ओर, हिन्दू सस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा, अहिंसा का विशाल वाङ मय और गीता का निष्काम कर्मयोग से उन्ह प्रेरणा मिली। कार्ल मार्क्स के साधन-साध्य के द्वैत और शुभ लक्ष्य को प्राप्ति के लिए हिंसा या खूनी क्रांति की नीति उन्हें पसद नही आयी तथा अपने अनुभव स इस पर चिन्तन करना आरम्भ किया। इन सभी परिस्थितियो का लाभ उठाकर गांधी न सार्वभौम नैतिकता के सिद्धात की स्थापना को। धर्म और नीति के बीच बढती हुई खाई को पाट कर उन्होने नीति को धम का साधक और धर्म को नीति का आधार मान कर, इन दोनो मे अद्भुत समन्वय किया। इस व्यापक समन्वय की नीति के परिणामस्वरूप जो नीति-धम का रूप गाधी ने हमारे सामन रखा

---

१ शाह कान्तिभाई, गांधी जैसा देखा समझा विनोबा ने, पृ० ७।

२ उपरिवत्, पृ० ७।

उसे आर्नेनेस ने "आत्मानुभव के लिए सत्य की खोज", "हिंसा से आत्मानुभव असंभव" और "साधन-साध्य के निर्धारक" सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है[1] तथा विनोबा ने उसे "साधन-शुद्धि के विचार", "आध्यात्मिक साधना और समाज-सेवा का संगम" तथा किसी साधना का सामूहिक अनुष्ठान के रूप में देखा है।[2]

विनोबा के समस्त क्रिया-कलापों के पीछे अपने को शून्य में परिणत करने और गांधी की अहिंसा के आधार पर नये-नये प्रयोग करने की प्रेरणा रही है।[3] अहिंसा का भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान कर आपस में बिखरे हुए द्वेष-ग्रस्त मानव को प्रेम-सूत्र में बांधना इनके जीवन का लक्ष्य रहा है। आधुनिक विज्ञान की बौद्धिकता और वेदांत की आध्यात्मिकता को एक साथ मिला कर आधुनिक युग के लिए विश्व मानव धर्म की स्थापना की नीति रही है। अतः स्पष्ट है कि इनके चिन्तन का भी मुख्य लक्ष्य नैतिक और धार्मिक उत्थान ही है। ये गांधी की भांति पैगम्बर तो नहीं परंतु आधुनिक काल के विश्व के एक मात्र संत, ऋषि,[4] "घूमते हुए मसीहा,"[5] और महर्षि[6] माने जाते हैं। ये गांधी की भांति मात्र द्रष्टा ही नहीं बल्कि चिन्तक और शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान हैं। इन्होंने महाराष्ट्र के संतों और गांधी की विरासत से जो कुछ भी प्राप्त किया है, उसके आधार पर अपने चिंतन से नये युग के अनुकूल नीति-धर्म की स्थापना करने का प्रयत्न किया है। संस्कृत के मर्मज्ञ पंडित होने के कारण इन्होंने वेदों और शास्त्रों की नवीन व्याख्या की है। उनके अवांछनीय तत्त्वों का बहिष्कार किया है। धर्म-समन्वय की दृष्टि से इन्होंने प्रायः सभी धर्मों के धर्म-ग्रंथों का संपादन किया। विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए विनोबा ने जितनी पाठ्य-सामग्री दी है, शायद इस जमाने में वह अद्भुत है।

---

1 Naess, Arne, *Gandhi and the Nuclear Age*, pp 29-33.

२ विनोबा-चिंतन (अंक ३२–३३, सि० अ० १९६८), पृ० ४४२

३ भावे, विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० ३।

4 Narayan, Shriman, *Vinoba His Life and Work* p 330.

5 *Ibid*, pp 339-40

6 *Gandhi Marg*, (English) 14 (4 Oct, 1970), editorial, p 311

पाश्चात्य-दर्शन मे नीति और धर्म पर अलग-अलग रूप से विचार किया गया है किन्तु भारत मे धर्म और नीति पर समग्र रूप से चिन्तन हुआ है। यहाँ नैतिकता को धर्म से अलग करने की चेष्टा नही की गई है। 'धर्म' और 'नीति' समानार्थक माने गये हैं। गांधी और विनोबा के चिन्तन मे भी धर्म और नीति पर समग्र रूप से विचार हुआ है।

२ नीति और धर्म के आधार तत्त्व

नैतिकता और धर्म की समस्याओ को तीन श्रेणियो मे विभाजित किया गया है—वस्तुगत नैतिकता, आत्मगत नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता।[1] तीनो प्रकार के सिद्धातो के तीन आधार है। वस्तुगत नैतिकता का अध्ययन, बाह्य नियम सहिताओ के आधार पर कर्मों के औचित्य अनौचित्य के निर्धारण की दृष्टि से की जाती है।[2] आत्मगत नैतिकता का आधार मनोवैज्ञानिक है। इसमे मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियो और निवृत्तियो के आधार पर किसी कार्य के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण होता है। पारमार्थिक नैतिकता का अध्ययन मोक्ष और मोक्ष-साधन के विचार से किया जाता है। गाधी और विनोबा के नीति और धर्म सबधी विचारो को भी इन्ही तीन व्यापक आधारो पर समझा जा सकता है। अत एक एक कर इन पर अलग-अलग विचार करेगे।

(क) वस्तुगत आधार नैतिकता के वस्तुगत आधार के अन्तर्गत हम निम्नलिखित विषयो पर विचार करेंगे—

१ स्वधम विचार
२ वर्णाश्रम धर्म
३ सामान्य धर्म और व्रत विचार
४ सर्व-धर्म समन्वय
५ सर्वोदय सिद्धात

इन्हे वस्तुगत नैतिकता के अतगत इसलिए रखा गया है कि इनका सबध नैतिकता के स्थूल और सामाजिक पक्ष मे है।

---

1 Maitra, S K, *The Ethics of the Hindus*, (Calcutta Calcutta University, 3rd Edn, 1963), Introduction, p 4

2 *Ibid*, p 4

१ स्वधर्म विचार

गांधी विनोवा के नीतिशास्त्र मे स्वधर्म की चर्चा हुई है। इस दृष्टि से नैतिक सिद्धातो मे यह अपना विशिष्ट स्थान रखता है। नीतिशास्त्र की समस्या केवल उचित अनुचित कर्मों के विवेचन म ही समाप्त नही होती है। इसकी एक मुख्य समस्या है—व्यावहारिक जीवन म उचित अनुचित के भ्रम म पडनवाले नैतिककर्त्ता का दिशा निर्देशन करना।[१] कभी-कभी व्यक्ति ऐसी परिस्थिति म आ जाता है जब उस उचित अनुचित स्पष्ट रूप से समझ मे नही आता है। जबतक यह मानसिक सघर्ष की स्थिति बनी रहती है, तबतक उस शाति नही मिलती और किसी कार्य की ओर वह प्रवृत्त नही होता। अर्जुन के सामने भी ऐसी ही समस्या थी। ऐसी स्थिति में नैतिककर्त्ता का स्वाभाविक प्रश्न होता है—उमे क्या करना चाहिए ? नैतिक चितक इस प्रश्न का उत्तर भिन्न भिन्न ढग से देते है। गांधी के अनुसार वैसा कर्म नही करना चाहिए जो आसक्ति क विना कभी उत्पन्न ही नहीं होता हो—जैसे हत्या, झूठ, व्यभिचार इत्यादि।[२] परतु अनासक्तिपूर्वक स्वधर्म का पालन ईश्वरार्पण वृत्ति से करना चाहिए। *स्वधर्म से शायद उनका अभिप्राय वर्णाश्रम*[३] *धर्म के पालन अथवा योग्यता* के अनुसार दिये गय दायित्वो का पालन[४] है। उनके अनुसार स्वधर्म के पालन के पीछे उपयोगिता[५] की दृष्टि तो है ही, इसस मोक्ष की भी सिद्धि होती है, क्योंकि ईश्वर की दृष्टि मे सभी कर्मों का मूल्य बराबर है।[६] जो स्वधर्म का त्याग करता है वह नैतिक दृष्टि से गलत काम करता है।[७] अत नैतिक जीवन का प्रारभ ही स्वधर्म पालन से होता है। ऊपर के विवेचन म यह लगता है कि गांधी ने स्वधर्म विषयक प्रश्न पर विचार किया है अवश्य परतु उन्होने सूक्ष्म और शास्त्रीय ढग से विचार नही किया है। किन्तु विनोवा न

---

1 Baier, Kurt, *The Moral Point of View* (Newyork, Cornell University Press, 1964), 4th edn P 57

२ गांधी, मोहन दास करमचद, अनासक्ति योग, (नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, १९५७) पृ० ८।

३ उपरिवत् पृ० २९।

४ उपरिवत् पृ० ४६।

५ उपरिवत् पृ० २९

६ उपरिवत्, पृ० ४६।

७ उपरिवत्, पृ० ४६।

इस धारणा के ऊपर अपनी पुस्तक 'गीता प्रवचन' में काफी गहराई से विचार किया है। उनके अनुसार स्वधर्म का अर्थ है वह दायित्व या कर्त्तव्य जो हमें निसर्गत प्राप्त हो।[1] यह दायित्व हमें जन्म के पूर्व से ही प्राप्त होता है, अत इच्छा करने पर भी हम इससे अपने को विलग नहीं कर सकते हैं। इसके साथ हमारा संबंध माता और संतान का है। जैसे हम अपनी माता से संस्कारों और भावों के आधार पर अपने को अलग नहीं कर सकते, उसी प्रकार कर्त्तव्य के क्षेत्र में स्वधर्म के संस्कारों और भावों से अपने को अलग नहीं किया जा सकता है।[2] यह हमें सहज रूप में प्राप्त होता है जिसकी[3] पूर्ति हेतु हम पैदा होते हैं अत इसे टालना पाप है।[4] विनोबा की राय में 'स्वधर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे बड़ा समझ कर ग्रहण करें और छोटा समझ कर छोड़ दें। वह न बड़ा होता है और न छोटा, वह अपने व्यौंत का होता है।'[5] यहाँ एक प्रश्न उठता है—यदि स्वधर्म हमें निसर्गत प्राप्त ही है, तो इसके करने और न करने का प्रश्न ही कहाँ उठता? और यदि इस कर्म को मनुष्य टाल नहीं सकता तो इच्छा-स्वातंत्र्य के अभाव में उसे नैतिक-अनैतिक कैसे ठहराया जा सकता है? विनोबा यह मानते हैं कि स्वधर्म के पालन में मोह सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है।[6] अत मोह को रखने और त्याग करने की स्वतन्त्रता मनुष्य को प्राप्त है। व्यक्ति अपनी देहासक्त-बुद्धि से ऊपर उठ सकता है। अत स्वधर्म का पालन नीतिशून्य-कर्म नहीं है। यद्यपि विनोबा के अनुसार यह नीति धर्म से भिन्न है,[7] फिर भी व्यापक अर्थ में यह नैतिककर्म के अन्तर्गत आ जाता है।

स्वधर्म के अन्तर्गत स्वदेशी, स्वजातीय और स्वकालीन धर्म—सभी आ जाते हैं।[8] विनोबा के अनुसार मनुष्य को हर भौगोलिक भूखंडों में जीवन की सुरक्षा के लिए अलग अलग ढंग से कार्य करना पड़ता है। शीत प्रदेशों में जीने के लिए मांसाहार और मदिरा आवश्यक है, यहाँ जीने के लिए प्रतिदिन स्नान

---

१ भावे विनोबा, गीता प्रवचन, पृ० २०।

२ उपरिवत् पृ० २१।

३ विनोबा चिंतन, अंक ४४-४५ ४६ १९६९ पृ० ३६०-६१।

४ उपरिवत्, पृ० ३६१।

५ भावे विनोबा, गीता प्रवचन पृ० १५।

६ उपरिवत् पृ० २१।

७ विनोबा चिंतन, अंक ४४ ४५-४६ १९६९ पृ० ३६०।

८ भावे विनोबा गीता प्रवचन, पृ० २८९।

करना आवश्यक नही। परन्तु गर्म प्रदेशों मे सात्विक आहार तथा नित्य स्नान आवश्यक है। इसी प्रकार अलग अलग देशो के राजनीतिक और सामाजिक नियम अलग-अलग होते हैं। इन नियमो का पालन करना वहाँ के देशवासियो का स्वधर्म है। यदि कोई अपने देश की नीति और नियम का परित्याग कर दूसरे भूखडो की नीति को बिना विवेक-बुद्धि के ग्रहण करे, तो इसे नैतिकता की दृष्टि से अनुचित ही माना जायगा।

स्वजातीय धर्म प्रकृति के सत्व, रज और तमोगुण के कारण प्राप्त होते हैं। इसे वर्णधर्म भी कहा जा सकता है। सत्व गुण की प्रधानता के कारण किसी व्यक्ति का धर्म ज्ञान, वैराग्य और चिंतन प्रधान हो जाता है। रजोगुण की प्रधानता के कारण कुछ व्यक्ति साहसी और अपेक्षाकृत अधिक क्रियाशील होते हैं और तमोगुण की प्रधानता के कारण व्यक्ति न तो चिंतन ही कर सकता है और न साहसपूर्ण सुरक्षात्मक कार्य ही कर सकता है। वह स्थूल सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नही कर सकता। इसी प्रकार विशेष जाति मे जन्म लेने के कारण व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अपने पूर्वजों की आजीविका को वश-परम्परा और वातावरण—दोनों के कारण प्राप्त करता है। ये सभी स्वजातीय धर्म के उदाहरण हैं। विनोबा ऐसे कार्यों को करना उचित मानते हैं। यदि चिंतन-प्रधान व्यक्ति पुलिस के कार्य को अच्छा समझ कर अपना कार्य बदलना चाहे तथा एक मद-बुद्धि व्यक्ति सेवा के कार्य को छोटा समझ कर शिक्षण-कार्य करना चाहे, तो यह अनुचित है। इसी प्रकार यदि लोहार वश मे जन्म लेने वाला व्यक्ति अपनी आजीविका को तुच्छ समझ कर क्षत्रिय अथवा वैश्य की आजीविका को स्वीकार करे, तो यह अनुचित है क्योंकि ऐसा करने से अपने पूर्व सस्कारों का लाभ नही मिल पाता है। इसके पीछे विनोबा का यह आशय नहीं है कि एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण का कार्य कर ही नहीं सकता। उनका केवल इतना ही कहना है कि सेवा यार्ईश्वरार्पण भाव से कार्य करने पर सभी प्रकार के कर्मों के नैतिक मूल्य बराबर हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में स्वभाव से प्राप्त गुणो का परित्याग कर दूसरे के धर्मों को स्वीकार करना एक प्रकार का मोह है जो अनुचित है।

स्वकालीन धर्म युग और काल विशेष मे व्यक्ति के लिए अनिवार्य माना जाता है। सभ्यता और सस्कृति के विकास के साथ साथ हमारे दायित्वो और कार्यों मे परिवर्तन की आवश्यकता होती है। हर युग की अपनी माग होती है। उस माग के अनुरूप कार्य नही करना भी नैतिक दृष्टि से अनुचित है।

सभ्यता के आदि काल में जब मनुष्य की जनसंख्या बहुत ही कम थी, उस समय संतति नियमन करना उचित नहीं था। परंतु आज जब विश्व के सामने बढ़ती हुई आबादी की विस्फोटक परिस्थिति आई है, तो ब्रह्मचर्य का पालन और सन्तानोत्पत्ति पर शुद्ध साधन के द्वारा नियंत्रण करना सामाजिक नैतिकता की तीव्र माँग हो गई है।[१] इसी प्रकार एक समय में चोरी करना बुरा और संग्रह करना नैतिक दृष्टि से मान्य था। परंतु आज संग्रह करना उतना ही बुरा है जितना चोरी और व्यभिचार।[२] अतः असंग्रह-वृत्ति युग धर्म हो गया है। विनोबा के अनुसार—"चोरी करना पाप है' यह विचार ठीक है पर एकांगी है। जब संग्रह करना पाप है,-यह विचार भी समाज को मान्य हो जायगा तो दोनों मिलकर पूर्ण विचार बन जायगा।"[३] इसी प्रकार सत्ता के नीतिशास्त्र के संबंध में भी कहा जा सकता है। सत्ता का विभाजन और भोग का सबको समान रूप से अवसर मिलना[४] इस युग की माग है। मनुष्य में धर्म और भोग—दोनों की प्रेरणा है। अतः किसी कार्य में धर्म की प्रधानता और भोग पर नियंत्रण होना चाहिए।[५] सत्ता की वासना का नियंत्रण सत्ता के विभाजन द्वारा स्वार्थ बुद्धि का नियंत्रण मनुष्य के सुख के सामान्य साधन सबको समान रूप में उपलब्ध करने के प्रयत्नों द्वारा होता है।[६] इसलिए विनोबा भूमिहीनों को जमीन देना नैतिक दृष्टि में युग-धर्म समझते हैं।[७] इसी प्रकार वे धर्माचरण के संबंध में भी 'मूर्ति के सामने कपूर और दिये जलाने के बदले मानवता के सामने कपूर और दिये जलाने की आवश्यकता को' युग धर्म मानते हैं।[८] सामाजिक अधिकार भेद के आधार पर प्राप्त धर्म भी स्वधर्म के अंतर्गत आता है। समाज में जिन दायित्वों को हम लेते हैं उनका पालन करना स्वधर्म है। इसे ब्रेडले की अभ्युक्ति 'माई स्टेशन एण्ड इट्स ड्यूटिज" के आधार पर भी समझ सकते हैं।

---

१ विनोबा-चिन्तन, अंक १०–११ पृ० ४५।
२ भावे विनोबा लोक नीति पृ० १८४–८५।
३ उपरिवत् पृ० १८४–८५।
४ उपरिवत्, पृ० १८६।
५ उपरिवत् पृ० १८६।
६ उपरिवत्, पृ० १८७।
७ उपरिवत् पृ० १८७।
८ भावे विनोबा आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० ६८।

स्वधर्म के प्रकार

स्वधर्म के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। प्रथम विभाजन के अनुसार इसे भावात्मक और क्षतिपूर्त्यात्मक या प्रतिरोधक के रूप में रख सकते हैं। भावात्मक प्रकार के अंतर्गत वे सभी स्वधर्म आते हैं जो हमें प्रकृति, अवस्था, देश और काल इत्यादि के परिणामस्वरूप स्वतः कार्य करने के लिए भावात्मक रूप से प्रेरित करते हैं तथा जिसके पालन करने से हमारा विकास होता है। इसके दो भेद हैं—स्थायी और अस्थायी। स्थायी स्वधर्म वह है जो बदलता नहीं है। परन्तु यह गाय के गोरस और बकरी के बकरीपन की भाँति स्थिर नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर समाज-व्यवस्था को ठीक करने के लिए अपवादस्वरूप ही यही कभी-कभी परिवर्तन होता है।[1] परन्तु सामान्य अवस्था में यह स्थिर ही रहता है। वर्णधर्म इसका उदाहरण है जिस पर हम अलग से विचार करेंगे। अस्थायी स्वधर्म परिवर्तनशील होता है।[2] इसके अंतर्गत आश्रम-धर्म के अतिरिक्त सभी देशकालिक, जातीय और अधिकार-भेद पर आश्रित धर्म आते हैं। क्षतिपूर्त्यात्मक स्वधर्म वह है जो हम सृष्टि, समाज और शरीर से काम लेने के कारण क्षति-पूर्ति के रूप में करना पड़ता है।[3] इसके पालन नहीं करने पर सृष्टि, समाज और शरीर का काम नहीं चल सकता। जिस प्रकार गाड़ी चलाने के लिए इंजिन में कोयला देना और साख कायम रखने के लिए कर्ज का चुकता करना अनिवार्य है, उसी प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर को क्रिया-शील रखने के लिए कुछ कर्मों को करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसे कर्मों को विनोबा "स्वभाव प्राप्त कर्म"[4] मानते हैं।

विनोबा के अनुसार क्षतिपूर्त्यात्मक धर्म तीन प्रकार के हैं—यज्ञ, दान, और तप। "सृष्टि की जो हानि हुई है उसे पूरा करना ही" विनोबा के अनुसार यज्ञ है।[5] मनुष्य सृष्टि के अंतर्गत रहने के कारण इसके विभिन्न तत्वों का उपभोग करता है। इस सृष्टि के अंतर्गत क्षय की क्रिया होती रहती है। इन विनष्ट तत्वों की पूर्ति के बिना सृष्टि में व्यवस्था कायम नहीं रह सकती है। यज्ञ की क्रिया के द्वारा सृष्टि के विनष्ट तत्वों का संवर्धन किया जाता है।

१ भावे, विनोबा, गीता-प्रवचन, पृ० २९०–९१।

२ उपरिवत्, पृ० २९०–९१।

३ उपरिवत्, पृ० २६४।

४ उपरिवत्, पृ० २६५।

५ उपरिवत्, पृ० २६८।

वस्तुतः यज्ञ का उद्देश्य उपयोग में लाई हुई वस्तुओं का शुद्धिकरण है।[1] परन्तु यज्ञ के अन्तर्गत कुछ सर्जनात्मक कार्य जैसे अनाज पैदा करना और सूत कातना भी आता है।[2] वेदों में स्वार्थसिद्धि के लिए यज्ञ का विधान हुआ है। परन्तु विनोबा यज्ञ के पीछे किसी भी स्वार्थ की प्रेरणा नहीं मानते। इसमें विशुद्ध कृतज्ञताजनित त्याग और सेवा की कल्पना है। इसे परोपकारजन्य कर्म भी नहीं कहा जा सकता। इसमें सृष्टिजनित नैतिक बाध्यता है। अतः इसके पालन से पुण्य नहीं परन्तु उल्लंघन से पाप होता है। 'दान' का अर्थ विनोबा केवल देना ही नहीं मानते हैं। वे दान का अर्थ 'दा' धातु से लगाते हैं जिसका अर्थ 'काटना' होता है। अतः दान का अर्थ सम्यक् विभाजन है।[3] "(दानं संविभागः)"। अर्थात् देने की क्रिया के द्वारा सम्यक् विभाजन करना दान है। शंकराचार्य और महात्मा बुद्ध ने भी दान को इसी अर्थ में लिया था।[4] विनोबा दान का अर्थ अंग्रेजी के "चैरिटी" या भिक्षा, दया या कृपा के अर्थ में नहीं लेते हैं।[4] इनका 'दान' व्यक्तिगत नैतिकता (परलोक और आत्म-शुद्धि की प्रेरणा) से कम सम्बन्ध रखता है, इसका मुख्य सम्बन्ध सामाजिक नीति-शास्त्र से है। इसके पीछे समाज-परिवर्तन और समाज में संतुलन लाने की प्रेरणा विद्यमान है।[5]

विनोबा यह मानते हैं कि जिस प्रकार सृष्टि के ऋण से मुक्त होने के लिए यज्ञ अनिवार्य है उसी प्रकार समाज के ऋण से मुक्त होने के लिए दान की क्रिया अनिवार्य है। सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति माता, पिता, गुरु, मित्र इत्यादि से अनेक प्रकार की सेवाएँ प्राप्त करता रहता है। अतः मानव समाज को आगे बढ़ाने के लिए उसकी सेवा तन-मन-धन से करनी चाहिए—यही दान है।[6] समाज में संतुलन लाने के लिए मनुष्य को अपनी शक्ति का एक भाग हमेशा देते रहना चाहिए चाहे वह शक्ति मालकियत, सम्पत्ति, बुद्धि या श्रम के रूप में ही क्यों न हो।[7] यज्ञ की भाँति विनोबा यह मानते हैं कि

---

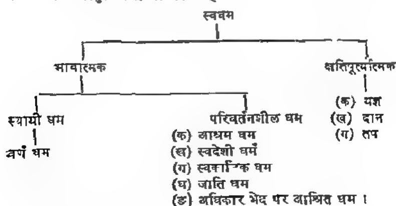
१ उपरिवत्, पृ० २६४।
२ उपरिवत्, पृ० २६८।
३ भावे, विनोबा, प्रेरणा प्रवाह, पृ० १८।
४ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० ११९।
५ उपरिवत् पृ० १२०।
६ भावे, विनोबा, गीता-प्रवचन, पृ० २६५।
७ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद पृ० ११९।

दान करने से कोई पुण्य नहीं परन्तु नहीं करने से पाप होता है। दान की यह विशेषता है कि दान में व्यक्ति देने के साथ-ही साथ प्राप्त भी करता है। बल्कि यह कहा जाय कि देने की मात्रा कम लेकिन प्राप्त करने की मात्रा अधिक रहती है क्योंकि देता है अपनी शक्ति का एक अंश और उसे मिलता है सम्पूर्ण समाज की सेवा। इस प्रकार विनोबा दान का मौलिक अर्थ लगाते हैं। इसी दान और यज्ञ की धारणा के आधार पर भूदान ग्रामदान इत्यादि कार्यक्रम को खड़ा करते हैं। दान करना स्वधर्म का पालन करना है।

तप का अर्थ स्वर्ग या किसी उच्च वस्तु की प्राप्ति के लिए की गई तपस्या नहीं है। विनोबा के अनुसार तप शरीर रूपी सरणा को शुद्ध करने के लिए किया जाता है।[1] हम शरीर से काम लेते हैं इससे इसकी शक्ति का क्षय होता रहता है तथा उसमें कुछ विकार उत्पन्न होने लगते हैं। पुनः शक्ति को प्राप्त करने तथा विकारों को दूर करने के लिए कठिन शारीरिक श्रम करने पड़ते हैं। यही तप कहलाता है। बिना तप के शरीर सतुलन को कायम नहीं रखा जा सकता है।

व्यापक रूप से विचार करने पर यज्ञ दान और तप—तीनों एक ही प्रकार की क्रिया के अन्तर्गत आ जाते हैं क्योंकि शरीर और समाज भी सृष्टि के अंदर ही हैं। इन तीनों प्रकार के कर्मों के द्वारा सृष्टि समाज और शरीर में साम्यावस्था बनी रहती है।[2] अतः इनका पालन स्वधर्म है।

सभी प्रकार के स्वधर्मों के विभाजन को संक्षेप में सारणी के द्वारा नीचे लिखे रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—



१ भावे, विनोबा गीता प्रवचन पृ० २६५।

२ उपरिवत पृ० २६६।

समीक्षात्मक विचार

स्वधर्म-नीति-दर्शन का आधार वाह्य नियम अथवा वाह्यगत दायित्व है। इस दृष्टि से यह पश्चिमी नियमवाद के समीप है जो शारीरिक, सामाजिक, प्राकृतिक, राजकीय और धार्मिक नियम को नैतिकता का मापदंड मानता है। परन्तु नियमवाद के साथ-साथ प्रयोजनवाद भी उसमे व्याप्त है जो लक्ष्य, परिणाम, अथवा उपयोगिता को नैतिकता का मापदण्ड मानता है। नियमवाद वहाँ पर दिखलाई पडता है जहाँ पर वे सभी प्रकार के स्वधर्मो के पीछे सृष्टि-गत, सामाजिक, शारीरिक, जातिगत, दैशिक और कालिक नियमो को मानते हैं। समस्त स्वधर्मों का मूल आधार अपराप्रकृति का नियम ही है। अत एक शब्द मे इसे सृष्टि का नियम ही कह सकते हैं। इस प्रकार की नैतिकता को पाश्चात्य नीतिशास्त्र मे नैतिक सापेक्षवाद की सज्ञा दी गई है। नैतिक सापेक्ष-वाद के पाँच अर्थ ओल्डेनक्विस्ट ने बतलाया है। वे इस प्रकार है[1]—

(क) कोई कार्य एक स्थान और समाज मे उचित तथा दूसरे स्थान और समाज मे अनुचित हो सकता है।

(ख) हमारे नैतिक मत सामाजिक और धार्मिक प्रशिक्षण के परिणाम हैं।

(ग) उचित वह है जिसे समाज का बहुमत प्राप्त है।

(घ) जो मनुष्य अपने लिए उचित समझता है वह उचित है।

(च) औचित्य और अनौचित्य को प्रमाणित नही किया जा सकता।

विनोबा के स्वधर्म विचार मे केवल 'ग' अर्थ को छोडकर सभी प्रकार के नैतिक सापेक्षवाद का स्थान आ जाता है। 'ग' का प्रावधान इसलिए नहीं है क्योकि उन्होने बहुमत पर जोर न देकर अल्पमत पर जोर दिया है। 'क' और 'ख' की सापेक्षता दैशिक, कालिक और आश्रम धर्मों मे देखी जा सकती है। 'घ' अर्थ को वर्ण धर्म (स्वधर्मे निधन श्रेय पर धर्मो भयावह) अर्थात् सत्व, रज और तमो गुण पर आधारित धर्म म देखा जा सकता है। 'च' को भी विनोबा स्पष्ट रूप से स्वीकार कर अनोखे ढग से निरपेक्ष नीति की ओर बढे हैं। उनके अनु-

---

1 Oldenquist, Andrew, (ed), *Readings in Moral Philosophy*, (Boston, Houghton Mifflin Company, 1965), Introduction, p 20

सार नैतिक सापेक्षवाद का आधार बुद्धि है।[१] परंतु बुद्धि के द्वारा नैतिकता के शाश्वत मूल्य को नहीं जाना जा सकता है।[२] इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं। हम विनोबा के अनुसार संपूर्ण नैतिक कर्मों के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण नहीं कर सकते हैं। अतः एक अर्थ में यहाँ नैतिक संशयवाद है। एक विशेष प्रकार की नैतिक सापेक्षता भी विनोबा के दर्शन में देखी जाती है। यह सापेक्षता शाश्वत नैतिक मूल्यों के संबंध में है जिसपर हम आगे विचार करेंगे। शाश्वत नैतिक मूल्यों के संबंध में विनोबा का कहना है कि वह पात्र-सापेक्ष है। उनके अनुसार सत्य, अहिंसा इत्यादि शाश्वत नैतिक मूल्यों को हम श्रद्धा के आधार पर ग्रहण करते हैं परंतु नीतिशास्त्री इन मूल्यों का पालन परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में करते हैं।[३] अतः यहाँ पर भी एक प्रकार की सापेक्षता है। विनोबा यह मानते हैं कि नीति की सापेक्षता और निरपेक्षता का यह संघर्ष इस लोक में मिट या नहीं परंतु ईश्वर की कृपा होने पर अवश्य मिट जाता है।[४] व नैतिकता के प्रश्न को ईश्वर विश्वास के साथ जोड़ देते हैं। फिर जहाँ विश्वास है, वहाँ विचार और विवाद का प्रश्न सीमित हो जाता है।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है। डॉ० विश्वनाथ टंडन विनोबा के स्थायी और परिवर्तनशील स्वधर्म के विभाजन से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वे नैतिकता के सापेक्ष सिद्धांत का खंडन करते हैं।[५] यह ठीक है कि वे नैतिकता के मौलिक सिद्धांतों को गणित की भाँति निश्चित और निरपेक्ष मानते हैं[६] परंतु स्वधर्म विचार में वे नैतिक सापेक्षवाद के सिद्धांत का ही समर्थन करते

१ **विनोबा चिंतन** अंक २८, १९६८, पृ० १८३।
विनोबा कई प्रकार के विवेक को मानते हैं—
(१) नैतिक विवेक—इससे धर्म-अधर्म की पहचान होती है।
(२) कर्त्तव्य विवेक—इससे स्वधर्म और परधर्म की पहचान होती है।
(३) व्यवहार विवेक—इससे सभी प्रकार के कर्त्तव्यों की निर्दोष पहचान होती है।

२ उपरिवत्, अंक २९, १९६८, पृ० १८५।

३ **विनोबा चिंतन**, अंक २६ २७, पृ० १२९ ३०।

४ उपरिवत्, पृ० १२९–३०।

4 Tandon, Vishwanath *The Social and Political Philosophy of Sarvodaya After Gandhi*, p 61

६ **भूदान यज्ञ**, बिहार, २ ७ १९५-, पृ० १

है। जैसा हम पहले देख चुके हैं कि स्थायी स्वधर्म को भी समाज-व्यवस्था-परिवर्तन की स्थिति में वे कभी-कभी परिवर्तित करने की अनुमति देते है। फिर इसे निरपेक्ष नीति कैसे कह सकते हैं ? इसमें नैतिक सापेक्षवाद का खण्डन भी नहीं होता क्योंकि यदि एक भी परिस्थिति में स्थायी स्वधर्म को बदल देते हैं तो वह निरपेक्ष कहलाने लायक ही नहीं रह सकता। अतः डा० टंडन की युक्ति समीचीन नहीं मालूम पड़ती। स्वधर्म विचार में प्रयोजनवाद वहाँ पर दिखलाई पड़ता है जहाँ विनोबा यह मानते हैं कि वर्णाश्रम धर्म अन्य परिवर्तनशील धर्म, दान तप और यज्ञ के पालन में व्यक्ति समाज और सृष्टि सभी में सन्तुलन कायम रहता है। विनोबा के अनुसार मानव जीवन का चरम लक्ष्य परम साम्य की प्राप्ति करना है जिसमें ये छोटे छोटे साम्य सहायक होते हैं।[१] इस दृष्टि से स्वधर्म का औचित्य व्यापक प्रयोजन के आधार पर निर्धारित होता है। अतः प्रयोजनवाद है। सचमुच विनोबा का यह सिद्धांत पश्चिमी विचारक स्टीफेन एडेलसटन टुलमिन के विचार से बहुत समीप है। टुलमिन ने कर्मों के औचित्य और अनौचित्य के निर्धारण के लिए नियमवाद और प्रयोजनवाद—दोनों को आवश्यक समझा है।[२] उनके अनुसार पहले हम कार्य का औचित्य प्रचलित सामाजिक और धार्मिक नियम के आधार पर निर्धारित करते हैं और अन्त में जब उन नैतिक नियमों के औचित्य का प्रश्न उठता है तो उसका निर्धारण परिणाम के आधार पर होता है। शायद विनोबा इस विचार से सहमत होंगे।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि गांधी यद्यपि स्वधर्म को नीति धर्म के रूप में स्वीकार करते थे परन्तु उन्होंने इसपर उतना बल नहीं दिया था। उनका विशेष झुकाव निष्कमता की ओर था। शायद इसीलिए उन्होंने अपनी पुस्तक अनासक्ति योग के दूसरे अध्याय में इसके संबंध में कृष्ण की युक्ति को केवल उपयोगितावादी युक्ति मान कर चुप हो जाना उचित समझा। तीसरे अध्याय में भी उन्होंने परधर्म का विगुण बतलाया है परन्तु उसपर गहरा विचार नहीं किया है। विनोबा के लिए स्वधर्म बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है। वे इसपर सूक्ष्मता और शास्त्रीयता से व्यापक रूप में विचार करते हैं। गांधी

---

१ भावे विनोबा साम्यसूत्र, पृ० १०।

2 Oldenquist Andrew *Reading in Moral Philosophy* p 14

ने यज्ञ पर विशेष बल दिया था। परतु वे यज्ञ को स्वधर्म का रूप नहा दे सके थे। विनोबा मूल रूप से गांधी की यज्ञ धारणा को ही लेते हैं परतु उसकी व्याख्या क्षतिपूर्त्यात्मक धर्म के रूप म रोचक ढग से करते है। यज्ञ के साथ-साथ दान और तप को भी वे स्वधर्म मान लेते हैं जो गाधी न नहा किया था। अत यह कहा जा सकता है कि स्वधर्म की व्यापक और शास्त्रीय व्याख्या ही इस सदर्भ मे गांधीवाद को विनोबा की देन है।

२ वर्णाश्रम धर्म

गांधी का विचार गांधी सनातन हिन्दू-धर्म के सही अर्थ मे समर्थक हैं। सनातन हिन्दू धर्म का अर्थ है वेद, उपनिषद, पुराण, अवतार, वर्णाश्रम धर्म मे विश्वास, गाय-पूजा और मूर्त्ति-पूजा मे अविश्वास नही करना। इसी अर्थ मे गांधी अपने को सनातनी हिन्दू मानते हैं।[1] वर्णाश्रम-धर्म उनके अनुसार अन वरत रूप से सत्य की खोज का भव्य परिणाम है।[2] परतु वर्तमान समय म जो वर्णाश्रम धर्म का रूप है, वह मूल विचार से कोसो दूर है। इस गांधी मूल विचार की मखौल (Caricature) मानते हैं।[3] वे वर्तमान अर्थ म वर्णाश्रम धर्म मे विश्वास नही कर पूरी सतनता के साथ वैदिक अर्थ म करते हैं।[4] उन्होने कहा है—"मैं यह विश्वास करता हू कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने पूवजो से आकार प्राप्त करता है, इसी प्रकार विशिष्ट गुणो और लक्षणा को भी वह अपने पूर्वजो स ही प्राप्त करता है। इसकी स्वीकृति का अर्थ है किसीकी शक्ति का सरक्षण करना। यदि इस स्वीकृति के अनुसार कोई कार्य करता है, तो इससे हमारी महत्त्वाकाक्षाओ का वैध रूप से दमन होता है तथा आध्यात्मिक शोध और विकास के लिए हम स्वतत्र हो जाते हैं। ऐसे ही वर्णाश्रम धर्म के सिद्धात को मैंने अपनाया है।"[5] 'वर्णाश्रम हिन्दू धर्म मे एक विशेष प्रकार

---

1 Gandhi M K *Hindu Dharma*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1950 Ist Edn), p 7

2 *Ibid*, p 8

3 *Ibid*, p 6

4 "I believe in the Varnashram Dharma in a sense, in my opinion, strictly vedic but not in its present popular and crude sense" *Ibid*, p 7

5 *Young India*, 29-9-'27, p 329, Bose, N K, *Selections From Gandhi*, p 263

की समाज-व्यवस्था और एक विशेष प्रकार के नीति धर्म का भी सूचक रहा है। नीति धर्म के रूप मे गीता ने इसे स्वधर्म की सज्ञा दी है। गाधी और विनोबा भी इन्हे स्वधर्म के अन्तर्गत ही मानते हैं। अत वर्णाश्रम का विवेचन यहाँ धर्म के रूप मे ही किया जायगा न कि समाज व्यवस्था के रूप मे। वर्णाश्रम धर्म मे चूँकि वर्ण धर्म और आश्रम धर्म—दोनो एक साथ मिले हुए हैं अत इन दोनो प्रकार के धर्मों का अलग अलग विवेचन करना ही उचित होगा।

वर्ण धर्म

गाधी के अनुसार वर्ण धर्म के दो अर्थ है। एक अर्थ मे यह उन नीति सम्मत आजीविकाओ का सूचक है जो कुटुम्ब विशेष म जन्म लेने के कारण कर्त्तव्य भावना से ग्रहण किया जाता है।[१] इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वर्ण को, अपने पूर्वजो की परपराओ और सस्कारो का लाभ उठाकर उनकी आजीविका को ग्रहण कर, बचे हुए धन को समाज हित मे लगाने का कर्त्तव्य है।[२] यद्यपि वर्ण का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है, फिर भी अन्तिम रूप से इसका निर्धारक कर्म ही है।[३] ब्राह्मण परिवार म जन्म लेने वाला व्यक्ति भी यदि स्वधर्म का पालन नही करता है तो वह सचमुच ब्राह्मण नही है। दूसरी ओर ब्राह्मण परिवार म जन्म नही लेकर भी जिनके आचरण से ब्राह्मणत्व प्रकट होता है वह ब्राह्मण है। इसी प्रकार शूद्र के लिए भी वैश्य का कम करना सभव है यद्यपि उसे वैश्य की लेबुल लगाने की आवश्यकता नही है।[४] वर्ण-व्यवस्था गाधी के अनुसार मानव निर्मित सस्था नही बल्कि मानव जीवन के शाश्वत नियमो द्वारा सचालित सस्था है अत इसकी सार्थकता केवल हिन्दू-समाज के लिए ही नही विश्व-समाज के लिए भी है।[५] इसस यह निष्कर्ष निकलता है कि गाधी वर्ण धर्म को शाश्वत और सार्वभौम धर्म मानते हैं।

वर्ण धर्म के अनुसार ब्राह्मण का कर्त्तव्य ब्रह्म को पहचानने, और उसका उपदेश कर धर्म भाव मे जीने का है। क्षत्रिय का कर्त्तव्य प्रजा-पालन तथा

१ मशरूवाला, किशोरी लाल घनश्याम लाल **गांधी विचार दोहन,** (नई दिल्ली सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, १९३९), पृ० ३६।

२ उपरिवत् पृ० ३६।

३ यग इडिया, २३-४-१९२५ पृ० १४५।

४ उपरिवत् २३ ४-१९२५ पृ० १४५।

5 Narayan, Shriman, (ed), *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol VI, p 476

मर्यादित रूप से उसके लिए द्रव्य लेना है। वैश्य को प्रजा पालन के लिए कृषि गोपालन और व्यापार का अधिकार प्राप्त है तथा शूद्र का कर्त्तव्य धर्म समझ कर सभी की सेवा करना है। परन्तु सभी वर्णों का यह कर्त्तव्य है कि अपनी आवश्यकता की पूर्ति के बाद बचे हुए धन को समाज सेवा के कार्य में लगावें।[१]

वर्ण धर्म का दूसरा अर्थ गांधी जी में धर्म से लगाते हैं जिसमें सभी वर्णों के बीच आपस में ऊँच नीच का भेद भाव न पैदा कर समानता का भाव पैदा किया जाता है।[२] अर्थात् इसके अनुसार राजा मन्त्री और भंगी सभी की सेवा का मूल्य बराबर है[३] ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमारे शरीर के सभी अंगों का महत्त्व बराबर है। इस आधार पर किसी भी वर्ण को कर्त्तव्य के मामले में कोई छूट नहीं दी जा सकती। मनुस्मृति में शूद्रों की तुलना में ब्राह्मण को विशेष रूप से श्रेष्ठता प्रदान की गई है।[४] शायद इसीलिए शूद्रों के प्रति दंड विधान में क्रूरता तो अपनायी ही गई है,[५] इन्हें वेद पठन से भी वंचित किया गया है।[६] गांधी इसके सख्त विरोधी हैं। इनके अनुसार जो शूद्र धर्म समझ कर सेवा का काम करता है, वह हजारों से वन्दना करने योग्य है और सर्वोपरि है।[७] गांधी की यह दृष्टि उनके सर्वोत्कृष्ट समाजवाद का सूचक है। जाति-व्यवस्था में भले ही विषमता के लिए स्थान रह जाता है, परन्तु वर्ण धर्म के पालन से, समाज की झूठी स्पर्धा और ईर्ष्या मिट सकती है तथा सर्वत्र सन्तोष का वातावरण फैल सकता है—गांधी का ऐसा दृढ़ विश्वास है। परन्तु मनुस्मृति से भिन्न[८] वर्ण धर्म के पालन में गांधी विवेक के महत्त्व[९] को स्वीकार करते हैं। केवल निर्दोष वर्ण धर्म का पालन ही वे आवश्यक मानते हैं।

समीक्षात्मक रूप से विचार करने पर गांधी के वर्ण धर्म का विचार कई दृष्टियों से दोषपूर्ण हैं। धर्म की दृष्टि से यह अस्पष्ट है। प्रथम अर्थ के अनुसार

---

१ मशरूवाला, कि० ध०, गांधी विचार दोहन, पृ० ३७।
२ उपरिवत् पृ० ३७।
३ उपरिवत् पृ० ३९।
४ मनुस्मृति (वाराणसी चौखम्भा संस्कृत बुक सिरीज) १।९३।
५ उपरिवत् ८।२७० २७१, २७९, २८०, ३५९ और ३७९।
६ उपरिवत्, पृ० २।१५६।
७ मशरूवाला, कि० ध० गांधी विचार दोहन, पृ० ३८।
८ मनुस्मृति, २।१०।
९ मशरूवाला, कि० ध०, गांधी विचार-दोहन, पृ० ३५।

यह विशेष कुटुम्ब में रहने के कारण उसकी आजीविका अपनाने का धर्म है। इस दृष्टि से वर्ण का आधार जन्म और आजीविका हो जाता है। फिर वे कर्म या संस्कार को ही अन्तिम रूप से वर्ण का निर्धारक मानते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि जन्म और पेशा मनुष्य के संस्कार या कर्म का निर्धारक है या मनुष्य की मनोवृत्ति या संस्कार उसके वर्ण के निर्धारक हैं? इसका स्पष्टीकरण गाँधी के विचार में नहीं मिलता है। यदि कर्म, संस्कार या मनोवृत्ति को ही वर्ण का निर्धारक मान लें, जैसा गाँधी मानते भी हैं, तो फिर चार ही वर्ण क्यों अनन्त वर्ण हो जायेंगे? गाँधी एक प्रकार से इसे मानते भी हैं।[1] परन्तु अनन्त वर्ण मानने पर तथाकथित चातुर्वर्ण-व्यवस्था पर आधारित नैतिकता के सिद्धांत खंडित हो जाते हैं। यदि वर्ण धर्म का आधार प्रकृति का त्रिगुण-सिद्धांत मान लिया जाय, तो फिर समस्या का थोड़ा समाधान होता है। परन्तु इसके आधार पर वर्तमान समाज में यह बतलाना कठिन है कि किसमें किस प्रकार का गुण है। व्यक्ति स्वयं अपने गुणों के संबंध में निर्णय दे सकता है। ऐसी स्थिति में नैतिकता को सामान्य, निश्चित और निष्पक्ष आधार प्रदान करना मुश्किल है। अतः इस अस्पष्ट धारणा के आधार पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विधान नहीं किया जा सकता।

गाँधी का दर्शन समग्र दर्शन है। अतः नैतिकता के निर्धारण का आधार भी समग्र समाज होना चाहिए। वर्ण का आवश्यक परिणाम जाति है जिसके आधार पर समाज के टुकड़े बनते हैं तथा ईर्ष्या और स्पर्धापूर्ण एकांगी समाज की स्थापना होती है। शायद ऐसा लगता है कि गांधी ने हिन्दू धर्म को अपनी[2] पत्नी मानकर उसके विकल्प में कुछ सोचा ही नहीं है। किन्तु यह एक प्रकार की भावुकता और आसक्ति ही है। इसमें उनका परंपरावादी और कुछ दूर तक अप्रगतिवादी दृष्टिकोण ही सामने आता है। विवेक और आधुनिकता को उचित स्थान नहीं मिल पाता। परन्तु कभी-कभी गाँधी की उक्ति से लगता है कि वे किसी भी प्रकार के वर्ण धर्म में विश्वास नहीं करते हैं। जब अहमदाबाद की अदालत में उनसे उनको पेशा के विषय में पूछा गया, तो उन्होंने कहा—"मैं जुलाहा हूँ, और किसान हूँ।"[3] फिर भंगी का काम तो

---

१ उपरिवत्, पृ० ४१।

2 Gandhi, M K, *Hindu Dharma*, p 8

३ धर्माधिकारी, दादा, सर्वोदय दर्शन, (वाराणसी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९५७), पृ० ८०।

वे करते ही थे। राज्य संबंधी नीति में भाग लेते ही थे। इससे लगता है कि वे सभी वर्ण के थे। दादा धर्माधिकारी ने भी वर्ण-व्यवस्था के आधार पर कार्य विभाजन की आलोचना की है। उनके अनुसार "वर्ण जातिनिष्ठ ही रह सकता है, व्यवसायनिष्ठ नहीं"।[१] समन्वयात्मक समाज का आधार व्यवसाय-निष्ठता नहीं हो सकता।[२]

विनोबा का विचार गांधी की भांति विनोबा भी वैदिक वर्ण-धर्म मे विश्वास करते हैं। परंतु इस विश्वास का आधार न तो केवल आध्यात्मिक है और न केवल भौतिक बल्कि[३] दोनों है। गांधी की भांति ही ये वर्ण-व्यवस्था को आधुनिक जाति-व्यवस्था से भिन्न मानते हैं। परंतु गांधी से एक कदम आगे बढ़कर वर्ण और जाति का ये सूक्ष्मतापूर्वक भेद करते हैं। वर्ण-व्यवस्था का आधार वे गुण को मानते हैं। परंतु जाति व्यवस्था का आधार कर्म है।[४] गांधी भी मानते थे, वर्ण-व्यवस्था में ऊँच-नीच या किसी कर्म के छोटा या बड़ा होने का सवाल नहीं रहता है। परंतु जाति-व्यवस्था में ऊँच नीच का भेद-भाव पाया जाता है।[५] वर्ण-धर्म में कर्तव्यनिष्ठ होना गुण और नहीं होना दोष है।[६] परंतु जाति-धर्म में एक प्रकार की लाचारी रहती है।

विनोबा इस बात से सहमत हैं कि आधुनिक समाज-व्यवस्था मे जातियों के आधार पर वर्ण का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था टूट चुकी है, अतः वर्ण-धर्म का निर्धारण संस्कार के आधार पर ही करना अनिवार्य है।[७] यहाँ पर इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण धर्म वास्तव में समाज के किसी संस्था विशेष का नहीं बल्कि व्यक्ति विशेष का धर्म है क्योंकि संस्कार हर व्यक्ति का भिन्न होता है। यह वर्ण-धर्म की एक-दम नवीन और स्पष्ट व्याख्या है। परंतु इसके अनुसार बाह्य नियम नहीं बल्कि आंतरिक नियम नैतिकता का मापदंड हो जाता है।

---

१ उपरिवत्, पृ० ८०।
२ उपरिवत्, पृ० ७६।
३ **विनोबा-चिन्तन**, अंक ४४-४५-४६, १९६९, पृ० ३६६।
४ उपरिवत्, अंक ४० ४१, १९६९, पृ० १४९।
५ उपरिवत्, पृ० १४९।
६ उपरिवत्, पृ० १४९।
७ **विनोबा-चिन्तन**, अंक ४४-४५-४६, १९६९, पृ० ३६७।

विनोबा यह मानते हैं कि सूक्ष्म रूप से देखने पर मूलतः दो ही वर्ण हैं। एक गुण-प्रधान वर्ण जिसके अंतर्गत ब्राह्मण और क्षत्रिय को लिया जा सकता है। इसे साधक वर्ण भी कहते हैं और दूसरा कर्म प्रधान वर्ण अर्थात् आम जनता।[1] शान्ति, क्षमा, तप, श्रद्धा—ये सभी ब्राह्मणों और क्षत्रियों के गुण हैं कार्य करना आम जनता के लिए विहित है। परन्तु यहां कर्त्तव्य की दृष्टि से वे गुण और कर्म—दोनों का समन्वय करना चाहते हैं। अर्थात् गुण प्रधान वर्ण को भी कार्यनिष्ठ और कर्म प्रधान वर्ण को गुणनिष्ठ होने का विधान करते हैं। उनकी राय में—'गुण प्रधान लोग भी सेवा करेंगे और कर्म प्रधान लोग भी गुण-ग्रहण करेंगे। एक का प्रवेश गुणों द्वारा होगा, तो दूसरे का प्रवेश कर्म द्वारा होगा। ये शान्ति द्वारा खेती करेंगे, तो वे खेती द्वारा शान्ति पायेंगे।"[2] परन्तु ऐसा ब्रह्मार्पण भाव से कर्म करने पर ही हो सकता है।[3]

विनोबा की इस व्यवस्था में स्पष्ट रूप से विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय मालूम पड़ता है तथा युक्ति के आधार पर भी इसे संगत माना जा सकता है। यह समग्र-दर्शन की दृष्टि से भी उचित है क्योंकि समाज के किसी भी वर्ण के कर्त्तव्यों के बीच लक्ष्मण रेखा खींचने का प्रयास नहीं किया गया है। ज्ञान और कर्म का समन्वय होना ही चाहिए। परन्तु आज होता क्या है? ज्ञानी कार्य करना अच्छा नहीं समझते और न करने का प्रयत्न ही करते हैं। हमारे यहाँ अनेक तकनीकी संस्थाएँ हैं परन्तु उसके विशेषज्ञ केवल उन विषयों पर सैद्धान्तिक रूप से व्याख्यान देना सुगम मानते हैं परन्तु अपने ज्ञान से ठोस कार्य नहीं करते। इसी प्रकार आम लोग जो कर्म में तल्लीन रहते हैं वे अपने कर्मों के आधार पर ज्ञान-संग्रह करना नहीं जानते। वस्तुतः हमारी दृष्टि एक डाक्टर की भाँति होनी चाहिए। डाक्टर रोगी को देखता है। लड़के सामने रहते हैं, वे भी रोगी को देखते हैं। इससे रोगी का इलाज भी होता है और सैद्धांतिक ज्ञान भी मिलता है। इसी प्रकार की बात कृषि संस्थानों में भी देखी जाती है। अतः ब्रह्म के उपदेश देनेवालों को भी कार्य से अलग नहीं होना है। ज्ञान का क्षेत्र ही कार्य को मानना चाहिए। शान्ति, क्षमा इत्यादि की साधना करनेवालों को भी आम जनता का कार्य करना चाहिए। फिर कार्यों के मध्य शान्ति प्राप्त करने की साधना भी अपने आप

---

१ उपरिवत्, अंक १०–११ पृ० ३१।

२ उपरिवत्, पृ० ३१।

३ उपरिवत् पृ० ३५।

मे दिव्य है। अत नैतिकता का सिद्धात आधुनिक युग की माग के अनुकूल है। ब्रह्मार्पण वृत्ति होने से आपस मे द्वेष और स्पर्धा भी नही हो सकती है, समाज का सर्वांगीण विकास हो सकता है। आध्यात्मिक भूख की भी तृप्ति हो सकती है।

वर्ण-धर्म पर गाधी ने जो समन्वयात्मक विचार रखा है, उसमे शायद कुछ अस्पष्टता हो सकती है। परतु विनोबा के द्वारा उपस्थित समन्वय मे अस्पष्टता की कम सभावना है। अन्तिम रूप से मात्र सस्कार के आधार पर वर्ण का विभाजन दो वर्गों मे कर इन्होने गाँधी के विचार को अधिक स्पष्ट, निश्चित और शास्त्रीय बनाया है। इस द्विवर्गीय-वर्ण-व्यवस्था के आधार पर आधुनिक व्यक्ति के लिए ही नही समाज-व्यवस्था के लिए भी कर्त्तव्य का निरूपण करना सरल और बोधगम्य हो गया है। जाति और वर्ण का युक्तियुक्त भेद गाँधी की अपेक्षा विनोबा ने अधिक किया है। गाधी की व्याख्या मे सनातनी हिन्दू-धर्म की ही प्रधानता है। विनोबा की व्याख्या आधुनिक और प्रगतिशील है। इन्होने भावना से नही विवेक से इस धर्म पर विचार किया है। अत यह कहा जा सकता है कि विनोबा ने गाधी के वर्ण-धर्म के विचार को आधुनिकता और शास्त्रीयता प्रदान की है।

आश्रम-धर्म

गाँधी के विचार हिन्दू-धर्म मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास—चार आश्रमो मे बाँटता है तथा प्रत्येक आश्रम के लिए अलग अलग कर्त्तव्यो का विधान करता है। जीवन की प्रथम २५ वर्ष (पुरुष के लिए) और १८ वर्ष (स्त्री के लिए) की अवस्था ब्रह्मचर्यावस्था कहलाती है जिसमे व्यक्ति का मुख्य कर्त्तव्य अध्ययन और इन्द्रिय सयम के द्वारा पवित्रता-पूर्वक जीवन व्यतीत करना है। यह आध्यात्मिक दृष्टि से मुख्य अवस्था है, जिसमे प्रवेश के बिना कोई अन्य आश्रमो मे प्रवेश नही कर सकता।[1] गार्हस्थ्य-आश्रम मे मुख्य कर्त्तव्य राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाना है।[2] कुछ लोग इस आश्रम को भोग-विलास का आश्रम मानते हैं। परतु गाँधी इस विचार का विरोध कर सयम और सादगी की आवश्यकता पर बल देते हैं।[3] परतु जो सयम के बाद भी भोग-

१ मशरूवाला, कि० घ०, गाँधी-विचार-दोहन, पृ० ४१।

२ उपरिवत्, पृ० ४२।

३ उपरिवत्, पृ० ४२।

लिप्सा के आकर्षण में अपने को रोक नहीं सकते, उनके लिए भोगों की मर्यादा और उनको सेवन विधि का विधान किया गया है। सामान्य रूप से संतानोत्पत्ति की इच्छा ही गार्हस्थ्य में प्रवेश करने की स्वीकृति प्रदान करता है। गांधी को मनुस्मृति का यह विचार स्वीकार्य नहीं कि पुरुष या स्त्री को ऋतुगामी होना ही चाहिए। इनके अनुसार स्त्री-पुरुष में से कोई भी एक इन्द्रिय संयम की इच्छा रखते हैं, तो दूसरे को कष्ट सहकर भी उसमें साथ देना चाहिये।[१] गांधी के अनुसार गार्हस्थ्य जीवन संयमित रूप से व्यतीत करने के बाद ही वानप्रस्थ में प्रवेश करने का अधिकार मिल सकता है। गांधी वानप्रस्थी उसे कहते हैं जिसने अपनी इन्द्रियों को संयमित कर लिया है परन्तु राग-द्वेष पर विजय प्राप्त नहीं किया है।[२] राग-द्वेष को पूर्णरूपेण जीत लेने वाला तथा मनसा, वाचा, कर्मणा, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि नियमों का पालन करने वाला, गांधी के अनुसार सन्यासी है। सन्यासी निष्काम भाव से सेवा करता हुआ भिक्षा के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करता है।[३]

गांधी के अनुसार प्रत्येक आश्रम सीढ़ी की भांति एक दूसरे से सबद्ध हैं। प्रत्येक सोपान से गुजरने के बाद ही कोई दूसरे सोपान पर पहुंच सकता है।[४] इन चारों आश्रमों में प्रवेश करने का अधिकार प्रत्येक वर्ण के सदस्यों को है।

गांधी के आश्रम धर्म के संबंध में दो प्रश्न विचारणीय हैं। पहला प्रश्न है—क्या मनुष्य के लिए चारों आश्रमों के धर्मों का पालन करना अनिवार्य है या किसी आश्रम को छोड़कर आगे बढ़ा जा सकता है? दूसरा प्रश्न है क्या विवाहित या गार्हस्थ्य जीवन में वासना का निषेध करके दाम्पत्य जीवन के लिए उचित है?

प्रथम प्रश्न के संबंध में गांधी का उत्तर है कि हर आश्रम से गुजरना अनिवार्य है। परन्तु ऐसा मानने में कुछ कठिनाई है। ब्रह्मचर्य और सन्यास तो सभी के लिए अनिवार्य सिद्ध किए जा सकते हैं, परन्तु गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ सबके लिए आवश्यक नहीं है। वस्तुतः व्यक्ति चारों अवस्थाओं से गुजरेगा या नहीं—यह उसके संस्कार पर निर्भर करता है। पूर्व जन्म का संस्कार उत्तम रहने पर ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ—तीनों को छोड़ कर एकाएक सन्यास में

१ उपरिवत् पृ० ४२।
२ उपरिवत् पृ० ४३।
३ उपरिवत् पृ० ४३।
४ उपरिवत् पृ० ४१।

प्रवेश करना अनुचित नहीं है। स्वामी विवेकानंद और संत विनोबा ब्रह्मचर्य के बाद एकाएक सन्यास में प्रवेश कर गये। क्या इन्हें हम अनुचित कहेंगे? अत गांधी का विचार सामान्य व्यक्ति के लिए भले सत्य हो परंतु वह सार्वभौम नहीं दीखता।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में आधुनिक मनोवैज्ञानिक विलियम हावेल मास्टर्स आदि यह मानते हैं कि सफल दाम्पत्य जीवन के लिए वासनातृप्ति या सफल यौन व्यापार आवश्यक है।[1] इससे एक प्रकार की मुक्ति मिलती है।[2] अत ये विचारक गांधी के गार्हस्थ्य जीवन में वासना निषेध का खंडन करते हैं। इनके अनुसार वासना मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है, इसके दमन से अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। असफल दाम्पत्य जीवन भी यौन क्रिया की असफलता के कारण ही होता है।[3] इस दृष्टि से गांधी के विचार को अमनोवैज्ञानिक, कठोर और अति आदर्शवादी माना जा सकता है।

परंतु सही उत्तर न तो गांधी के विचार में मिलता है और न आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों में ही। यदि गांधी का विचार आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी है, तो आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का विचार समस्या को आवश्यकता से अधिक सरल मान लेता है। नैतिकता का निवास न तो मनोवृत्तियों की अबाध तुष्टि में है और न अप्राप्य और असंभव आदर्शों की कल्पना में। केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही संभोग का विचार सचमुच अव्यावहारिक है। इससे तो अच्छा यह होता कि वे यह कहते कि जब मनोवेग का उत्पात असह्य हो, तो दाम्पत्य जीवन में व्यक्ति संभोग वासना की तृप्ति के लिए भी करे परंतु दृष्टि सदैव इन्द्रिय संयम की ओर हो। गांधी का यह विचार कि एक पक्ष के इन्द्रिय संयम की आकांक्षा की पूर्ति के लिए दूसरा कष्ट उठाकर भी साथ दे, लाभप्रद मालूम नहीं पड़ता, भले ही यह नैतिकता की अत्यन्त ऊँची उड़ान हो। इसका आवश्यक परिणाम यह होगा

1 "If you cannot communicate in bed, you cannot communicate in marriage"—Dr William Howell Masters, see *Times Weekly*, October 3, 1971, p 9

2 *Ibid* p 9

3 Saggar, R L *"Role of Sex in Marriage*, Gandhi Vs *Modern Psychologists,"* *Times Weekly*, October 3, 1971, p 9

कि एक पक्ष अति आदर्शवादी और दिव्य होगा और दूसरा पक्ष दमन से उत्पन्न रोगों का शिकार होगा। फिर स्त्री-पुरुष के जीवन का संतुलन समाप्त हो जायगा। वह नीति किस काम की जो दाम्पत्य जीवन का संतुलन ही समाप्त कर दे?

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का यह कहना कि सफल दाम्पत्य जीवन के लिए यौन-तृप्ति आवश्यक है—पूर्णत सत्य नहीं। शायद यह निष्कर्ष कुछ खास भौतिकवादी समाज के अध्ययन पर ही आश्रित है। परंतु जहाँ की संस्कृति आध्यात्मिक है, वहाँ सफल दाम्पत्य जीवन का आधार एक-दूसरे के प्रति त्याग और सेवा की भावना है। वस्तुत श्रेयस्कर जीवन के लिए वासना से ऊपर उठकर हमें अपनी मूल प्रवृत्तियों को शुभ कार्यों की ओर मोड़ना ही होगा। नैतिकता का निवास इन प्रवृत्तियों के परिमार्जन में है, तृप्ति में नहीं। गाँधी के गार्हस्थ्य जीवन में यौन-संयम का शायद यही रहस्य है।

विनोबा का विचार विनोबा गाँधी की भाँति मानव जीवन के चार आश्रमों को स्वीकार कर उनके कर्त्तव्यों का पालन, स्वधर्म मानते हैं। इन्होंने व्यापक रूप से चारों अवस्थाओं का विभाजन दो वर्गों में किया है—एक वह अवस्था जिसमें कार्य पक्ष की प्रधानता होती है तथा दूसरी वह अवस्था जिसमें मन और हृदय की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है।[1] प्रथम आश्रम में ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य तथा दूसरे में वानप्रस्थ और संन्यास आते हैं। ब्रह्मचर्य अवस्था का मुख्य कर्त्तव्य है ब्रह्मचर्य का पालन करना, गुरु की सेवा करना, वेद, धर्मग्रंथों और विज्ञानों का अध्ययन करना।[2] गार्हस्थ्य अवस्था के धर्म को विनोबा नागरिक धर्म कहते हैं। इसमें सभी प्रकार के कर्त्तव्य जैसे उत्पादन बढ़ाना इत्यादि अनिवार्य माना जाता है।[3] वानप्रस्थ अवस्था का अर्थ विनोबा "अनुभव-स्थिरवृत्ति और इन्द्रिय निग्रह" की अवस्था से लेते हैं।[4] यह अवस्था वास्तव में शिक्षक होने की अवस्था मानी जाती है। अत संपूर्ण समाज को तालीम देना और मार्ग दर्शन करना इस अवस्था का कर्त्तव्य

1 Tondon, Vishwanath, *The Social and Political Philosophy of Sarvodaya After Gandhi*, p 101

२ **विनोबा-चिन्तन**, अंक ४०-४१, १९६९, पृ० १५२।

३ उपरिवत्, पृ० १५२।

४ भावे, विनोबा, **विचार पोथी**, पृ० ३५।

है।[१] इस अवस्था का यह अर्थ नही है कि व्यक्ति घर छोड कर जगल की शरण ले। आज समाज की वैसी रचना भी नही है कि व्यक्ति समाज छोडकर जगल मे निवास करे और राज्य उसका खर्च चलावे। विनोबा वानप्रस्थ अवस्था के पुनरुद्धार पर बल देते हैं।[२] इस अवस्था मे ही अधिक-से-अधिक समाज-सेवा का कार्य किया जा सकता है। सन्यास-आश्रम का अर्थ विनोबा उस अवस्था मे लेते हैं जिसमे व्यक्ति आत्मज्ञान और भक्ति का मार्ग समाज को बतलाता है।[३] यह जीवन से पलायन की अवस्था नहीं है बल्कि वास्तविक और शाश्वत आनद प्राप्त करने की अवस्था है। इस अवस्था मे व्यक्ति अपनी आत्म-पवित्रता और हृदय की शुद्धि के बल से बिना कुछ किये और कहे समाज को सूर्य की भाति क्रियाशील करता है।[४] इस अवस्था मे आकर व्यक्ति अपने आप मे नियम बन जाता है और वह अति नैतिक अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[५] इसी अवस्था मे आकर वह राज्य-स्वतन्त्र समाज की स्थापना मे सहायक हो सकता है।[६] सन्यास के बारे मे विस्तार से विनोबा ने अपनी पुस्तक 'गीता-प्रवचन' मे विचार किया है।

गाँधी की अपेक्षा विनोबा ने आश्रम-धर्म को अधिक व्यावहारिक और वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया है। यद्यपि ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रम के सबध मे दोनो के विचारो की प्राय पूरी समता है केवल विनोबा ब्रह्मचर्य मे विज्ञान के अध्ययन को अध्यात्म के साथ मिलाते हैं तथा गार्हस्थ्य जीवन को 'नागरिक धर्म' की सज्ञा देकर सर्वव्यापकता प्रदान करते हैं। फिर भी गार्हस्थ्य जीवन की समस्याओ के प्रति विनोबा कुछ उदासीन मालूम पडते हैं। गाँधी इस आश्रम के सबध मे अधिक सजग मालूम पडते हैं। परतु वानप्रस्थ और सन्यास पर विनोबा का विचार अत्याधुनिक शास्त्रीय और नवीन है। गाधी के लिए वानप्रस्थ केवल साधारण रूप से राग-द्वेष की शुद्धि की अवस्था ही रह जाता है। विनोबा ने इसे अनुभव की गहराई और चित्त की पूर्ण

१ विनोबा चितन, अक ८०-८१, १९६०, पृ० ११२।

2 Tondon, Vishwanath, *Social and Political Philosophy of Sarvodaya After Gandhi*, p 102

३ विनोबा-चिन्तन, अक ८० ८१, पृ० ११२।

४ भा वे, विनोबा, गीता प्रवचन, पृ० ६६ और पृ० ७८।

५ उपरिवत्, पृ० २०-।

6 Tondon, Vishwanath, *op. cit*, p 102

स्थिरता की अवस्था मान कर सामाजिक जीवन के लिए सर्वोत्कृष्टता प्रदान की है। यहाँ पर आत्मशुद्धि की क्रिया विशुद्ध रूप से समाज-सेवा के माध्यम से होती है। इस अवस्था में राजनीतिज्ञों को भी सक्रिय राजनीति से अलग होकर राजनैतिक प्रशिक्षण के कार्य में भाग लेने का सुझाव दिया गया है। सचमुच यह विनोबा की अपनी देन है। गांधी ने सन्यास का गहरा विवेचन नहीं किया था। परन्तु विनोबा ने सन्यास का गहरा विवेचन किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि गांधीवाद में वानप्रस्थ और सन्यास के संबंध में जो अस्पष्ट विचार था उसे विनोबा ने काफी स्पष्ट कर दिया है।

३ व्रत विचार

विषय प्रवेश अबतक स्वधर्म और वर्णाश्रम धर्म का विचार नैतिक सापेक्ष वाद के रूप में विशिष्ट धर्म के आधार पर किया गया। परन्तु हिन्दू-नीति शास्त्र नैतिक सापेक्षवाद के विधान के साथ-ही-साथ कुछ निरपेक्ष और सामान्य नैतिक मूल्यों का भी विधान करता है जिसे विनोबा ने अपने 'भागवत धर्म' में 'सार्ववर्णिक धर्म' और '**विनोबा चिंतन**' में 'नीति धर्म' की संज्ञा दी है। सामान्य धर्म में कुछ शाश्वत और तात्कालिक—दोनों प्रकार के धर्म आते हैं। इनका पालन सभी व्यक्ति के लिए बिना किसी वर्ण जाति और आश्रम का विचार किए अनिवार्य माना जाता है। वास्तव में इन्हीं नैतिक मूल्यों के पालन और विकास पर सामाजिक जीवन का अस्तित्व निर्भर है। समाज का समुचित विकास स्वधर्म और सामान्य धर्म—दोनों के पालन पर आधारित है।

गांधी और विनोबा केवल नैतिक नियमों और मूल्यों का विचार सैद्धांतिक विवेचन के लिए ही नहीं करते हैं बल्कि इन मूल्यों को वास्तविक रूप में जीवन में उतारने का विधान करते हैं। अतएव कुछ नैतिक मूल्यों का पालन व्रत के रूप में आवश्यक मानते हैं। गांधी के अनुसार व्रत किसी करने योग्य काम को किसी भी मूल्य पर करना है।[1] अतः कुछ सामान्य धर्मों का व्रत के रूप में पालन का अर्थ है सुविधा या अपनी शक्ति के अनुसार नहीं बल्कि जीवन के अन्तिम परिणामों का भी सामना कर निश्चित रूप से इनका पालन करना। गांधी यह मानते हैं कि इन व्रतों का यदि कोई 'यथा-संभव' पालन की बात करता है, तो इसका अर्थ है वह या तो अपने अहंकार या अपनी कमजोरी को

1 'To do at any cost something that one ought to do constitutes a vow'—Gandhi M K *Hindu Dharma*, p 246.

धोखा देता है।"[१] 'यथासंभव' से कमजोरियों के आने के लिए बगल से रास्ता मिल जाता है।[२] विनोबा ने भी कहा है—"जिस प्रकार छोटे-से छिद्र होने पर भी संपूर्ण घड़े का पानी खाली हो जाता है, उसी प्रकार जीवन में थोड़ा-सा भी संयम को तोड़ने पर समस्त जीवन बर्बाद हो जाता है।"[३] सत्य का पालन सदैव पूर्ण रूप से होता है। 'यथासंभव' सत्य का पालन कोई अर्थ नहीं रखता।[४] गाँधी यह मानते हैं कि व्रतों का पालन कमजोरी का लक्षण नहीं है। इससे हमें आत्मशुद्धि और आत्मानुभव में काफी बल मिलता है।[५] अतएव व्रत की महत्ता को सामने रखकर उन्होंने कुछ शाश्वत तथा कुछ परिवर्तनशील धर्मों को मिलाकर ग्यारह व्रतों का विधान किया था। इन ग्यारह व्रतों में अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—पाँच शाश्वत नियम हैं जिन्हें वेदों में 'पंचविधयम्', जैन दर्शन में 'पंचयाम', बौद्ध दर्शन में 'पंचशील' और योग दर्शन में 'पंचयम' की संज्ञा दी गई है।[६] इनके अतिरिक्त शरीर श्रम, अस्वाद, अभय, सर्वधर्म समानत्व, स्वदेशी और स्पर्श भावना—छः नये व्रत हैं जिन्हें मात्र आध्यात्मिक मूल्यों के लिए ही नहीं, सामाजिक मूल्यों की सिद्धि के लिए भी आवश्यक माना गया है। यद्यपि इन व्रतों का पालन सभी को करना अपेक्षित है फिर भी गाँधी समाजसेवी के लिए इन व्रतों का पालन करना बहुत ही आवश्यक मानते हैं। विनोबा ने गाँधी के इन सभी व्रतों को स्वीकार किया है और कुछ नये व्रतों का भी विधान किया है। इन सभी व्रतों में सत्य और अहिंसा दो मौलिक व्रत हैं बाकी सभी अहिंसा के ही आवश्यक परिणाम या शर्तें हैं। अतः अब हम एक एक कर इन व्रतों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

सत्य

सत्य गाँधी-तत्वमीमांसा का ही मूल प्रत्यय नहीं, नैतिकता का भी मूल प्रत्यय है। यद्यपि इसपर हम पीछे काफी विस्तार से विचार कर आये

1 "One, who says that he will do something 'as far as possible', betrays either his pride or his weakness—Gandhi, M K, *Ibid*, p 246

2 Gandhi, M K, *Ibid*, p 246

३ १६-१०-१९६७ के आकाशवाणी, पटना के "आज के चिन्तन" के कार्यक्रम से।

4 Gandhi, M K, *Ibid* p 246

5 Gandhi, M K, *Ibid*, p 247

६ विनोबा चिन्तन, अंक २९, पृ० २९६-९७।

हैं, फिर भी संक्षेप में नैतिक नियम की दृष्टि से हम यहाँ विचार करेंगे। जैसा पहले भी कहा गया है कि गाँधी सत्य का अर्थ केवल वचन में सत्य से नहीं, विचार, वचन और कर्म—तीनों में सत्य के पालन से लेते हैं। उनके अनुसार सत्य हमारी अंतर्ध्वनि का सूचक है। अतएव सत्य के पालन का अर्थ है अपनी अन्तरात्मा के आदेशों का पालन करना जिसे काट निरपेक्ष आदेश कहते हैं। यह ठीक है कि अन्तरात्मा के आदेशों के पालन में कभी एक व्यक्ति का सत्य दूसरे व्यक्ति के सत्य का विरोधी मालूम पड सकता है, परतु वास्तव में वे सभी एक ही ईश्वर रूपी वृक्ष की विभिन्न पत्तियाँ हैं।[1] अत अपने-अपने सत्य के अनुसार ईमानदारीपूर्वक कार्य करने में किसी प्रकार की अनुचित बात नहीं है बल्कि वह प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।[2]

गाँधी के अनुसार सत्य हमारे सम्पूर्ण जीवन के क्रिया-कलापों का केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए। यदि हम एक बार सत्य को अपने जीवन का सार-तत्त्व मान लेते है, तो फिर नैतिक जीवन के अन्य नियमों के पालन करने में प्रयास की आवश्यकता नहीं पडती है, वह सहज ही हो जाता है। परतु सत्य के बिना जीवन में किसी भी नियम का पालन करना असभव है।[3] सत्य का पूर्ण-रूपेण अनुभव कर लेने से किसी प्रकार का ज्ञान बाकी नहीं रहता है क्योंकि सभी प्रकार के ज्ञान का निवास सत्य में ही है। सत्य ज्ञान की प्राप्ति में ही सच्चा आनन्द है। सत्य ज्ञान के अभाव में हम कभी भी आन्तरिक शान्ति का अनुभव नहीं कर सकते हैं। अत गाँधी कहते हैं कि जो एक बार सत्य का स्वाद चख लेता है वह यह जान जाता है कि उसे क्या करना चाहिए, क्या देखना चाहिए और क्या पढना चाहिए।[4]

इस प्रकार के सत्य की सिद्धि गीता के अनुसार अभ्यास और वैराग्य के द्वारा हो सकती है। गाँधी सत्य की साधना के लिए नि स्वार्थ जीवन व्यतीत करना और तपस्या अनिवार्य मानते हैं जो वस्तुत गीता के विचार का ही सार है। सक्षेप में अहिंसा ही सत्य प्राप्ति का मार्ग है। सत्य ही गाँधी के

---

1 Gandhi, M K , *Ibid*, p 248

2 *Ibid*, p 248

3 *Ibid* , p 247

4 *Ibid*, P 248

अनुसार सही भक्ति है।[१] यही शाश्वत जीवन है जिसमें भय का कोई स्थान नहीं है।

गांधी की भांति विनोबा ने भी सत्य का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया है। उनके अनुसार अनुभव के निमित्त सत्य आत्मा है, प्रार्थना के निमित्त यह ईश्वर है और जब व्रत के रूप में इसका अभ्यास किया जाता है, तो यह नैतिक नियम या धर्म हो जाता है।[२] उनके अनुसार यद्यपि सत्य अव्याख्येय है किन्तु नैतिक दृष्टि से इसकी व्याख्या की जा सकती है। नैतिक दृष्टि से सत्य वह है जिसके द्वारा हमारी अन्तरात्मा की पहचान होती है तथा उसे समाधान मिलता है। जिस कार्य से अन्तरात्मा को धक्का लगता है, वह असत्य है। अतः सत्य-असत्य का साक्षी अन्तरात्मा है।[३] परन्तु इस अर्थ में यह प्रश्न किया जा सकता है कि एक डाकू भी अपने कर्मों को सत्य कह सकता है क्योंकि उसकी अन्तरात्मा बच्चों के पालन के लिए डाका डालना कर्त्तव्य मान सकती है। परन्तु ऐसा प्रश्न उठा नहीं सकते, क्योंकि विनोबा सत्य के लिए समत्व, समाधान और चित्त का संतुलन आवश्यक मानते हैं।[४] डाका डालने के कार्य को सत्य इसीलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें न तो समत्व का भाव है और न कार्य के द्वारा चित्त के संतुलन को ही कायम रखा जा सकता है। सत्य की साधना विनोबा के अनुसार विनम्रता, तटस्थता और अनाग्रह के द्वारा होती है।[५] सत्य की अभिव्यक्ति के लिए "मित भाषण" इसका "सिद्ध-कवच" है।[६] अभ्यास और वैराग्य अर्थात् सत्य का सतत स्मरण और अन्य विषयों से विमुख रहना सत्य-दर्शन के साधन हैं।[७]

सत्य एक प्रकार का बुनियादी गुण है जो सर्वश्रेष्ठ नीति धर्म है। विनोबा की राय में—"यदि एक बाजू सारा नीतिशास्त्र और दूसरी बाजू केवल सत्य

---

1 *Ibid*, p 248

२ भावे, विनोबा, भूदान-गंगा, (वाराणसी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६७), खंड ६, पृ० ७८–७९।

३ **विनोबा-चिंतन**, अंक ७, पृ० २२।

४ उपरिवत्, पृ० २३।

५ उपरिवत्, पृ० २४।

६ **विनोबा चिंतन**, अंक २९, पृ० २२४।

७ भावे, बालकोबा, **अभंगव्रत विवेचन**, पृ० ३१।

हो, तो दोनों की तुलना में सत्य का पलड़ा ही भारी सिद्ध होगा।"[१] इसी प्रकार नैतिक अधर्मों या दोषों में सबसे मुख्य दोष असत्य है।[२] अन्य दोष व्यावहारिक दोष हैं जो गौण हैं। इन्हें नैतिक दोष की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अतएव सत्यव्रती के लिए विनोबा तीनों प्रकार के असत्य (हँसी-मजाक में बोले जाने वाले असत्य, देश या परार्थ के लिए कर्त्तव्य समझ कर बोले जाने वाले असत्य और शादी ब्याह में बोले जाने वाले असत्य) का त्याग आवश्यक मानते हैं।[३] सत्य-पालन में मनसा, वाचा, कर्मणा—तीनों का सामंजस्य आवश्यक है। सत्य के लिए कोई अपवाद नहीं है। यह केवल बच्चों और सन्यासियों के लिए ही नहीं बल्कि राजनीतिज्ञों, व्यापारियों, सबके लिए विहित है।[४] अदालत इत्यादि में भी असत्य का सहारा नहीं लिया जा सकता है।

विनोबा का यह दृढ़ विश्वास है कि सत्य के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार तो होता ही है, इसके द्वारा समाज-सुधार की पूरी संभावना है। उनकी राय में "यदि नीति-शास्त्र में यह विचार रूढ़ हो जाय कि सत्य ही एक नैतिक तत्त्व है, बाकी सारे नैतिक तत्त्व नहीं, सामान्य ही गुण या दोष है, तो समाज, में शीघ्र ही सुधार हो जाय और आध्यात्मिक साधना में भी मदद मिले।"[५]

विनोबा के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य सत्य का शोधन करना है— "जीवन सत्य शोधन"। अतः मानव की सारी क्रियाएँ सत्य के अनुभव के लिए ही होनी चाहिए। उनका यह विश्वास है कि सद्वृत्ति की साधना कर लेने के बाद जीवन के अन्य नियम सहज ही सिद्ध हो जाते हैं। श्री बालकोबा भावे ने विनोबा के विचार को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"इस प्रकार की आदत पड़ जाय कि जो कुछ भी हम करते हैं और जीवन हम जो जीते हैं वह सब सत्य की आंतरिक प्रेरणा से चलते हुए सत्य का अनुभव करने के लिए है, यह भान सतत् रहने लगे, तो जीवन के नियम सहज ही ध्यान में आ जायेंगे कि कर्त्तव्य क्या है, कौन-सा ज्ञान प्राप्त करना है और कौन-सा नहीं, योग्य क्या है और अयोग्य

१ विनोबा-चिंतन, अंक ३०, पृ० २५६।

२ उपरिवत्, पृ० २५७।

३ विनोबा-चिंतन, अंक २९, पृ० २२४।

४ विनोबा-चिन्तन, अंक ३०, पृ० २५७।

५ उपरिवत्, पृ० २५७।

क्या है, तथा किस प्रकार चलें, क्या निर्णय लें, कौन से नियम पालें आदि। इसके लिए अलग से विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।'[१]

विनोबा यह मानते हैं कि सत्य के बिना किसी भी नियम का पालन करना शुद्ध रूप से संभव नहीं है। सत्यनिष्ठा के बिना किसी भी नियम का पालन दम्भ या आभास है।[२] दम्भ इसलिए कि बहुत-से लोग दिखावे के लिए भी कई प्रकार के नियमों का पालन करते हैं। आभास इसलिए कि सत्य की दृष्टि के अभाव में लौकिक दृष्टि प्रधान हो जाती है। लौकिक या सांसारिक दृष्टि ही तो मिथ्यात्व या आभास का कारण है।

काण्ट ने नैतिकता के निर्धारण में प्रथमतः बुद्धि के आदेश अर्थात् ज्ञान तथा अंततः आनन्द की कामना को आवश्यक माना था। विनोबा के अनुसार ज्ञान और आनन्द स्थायी तत्त्व नहीं हैं। उनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वे अपनी सत्ता के लिए इन्द्रियगम्य विषयों पर आधारित है जो किसी भी समय हमें भुलावे में डाल सकते हैं। अतः इन्हें कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के निर्धारण का निरपेक्ष मापदंड नहीं माना जा सकता।[३] सत्य ही एक ऐसी वस्तु है जो नैतिकता के निर्धारण में निरपेक्ष मानक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।[४]

सचमुच विनोबा गांधी के सत्य का विवरण रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। गांधी ने सत्य साधना में धर्म, नैतिकता और आध्यात्मिकता—तीनों के समन्वित रूप को लिया था। अतः नैतिककर्त्ता को इससे दिशा निर्देशन में थोड़ी कठिनाई हो सकती है। परन्तु विनोबा ने गांधी की समग्र दृष्टि को रखते हुए विश्लेषणात्मक ढंग से उसका वर्णन किया है जिसमें नैतिककर्त्ता का उचित निर्देशन होता है। जैसे आध्यात्मिकता में विश्वास रखनेवाला सत्य की साधना आत्मानुभव के रूप में करेगा। धर्म में विश्वास रखनेवाला सत्य की उपासना ईश्वर समझ कर करेगा और नैतिकता या कर्त्तव्य में विश्वास रखनेवाला अपने दैनिक व्यवहारों में इसका आचरण करेगा। इस प्रकार यहाँ पर सत्यव्रती को किसी भी प्रकार के संशय का सामना नहीं करना पड़ता है। दूसरी बात यह है

१ भावे, बालकोबा, अभगवत विवेचन, पूर्वक्त पृ० २२।

२ उपरिवत् पृ० २३।

३ उपरिवत् पृ० २८।

४ उपरिवत् पृ० २९।

कि गांधी ने अंतर्ध्वनि मान कर सत्य को अंतरात्मा पर पूर्णत आश्रित कर दिया था जिससे उनके विचार मे रहस्यवाद प्रवेश कर गया। परन्तु विनोबा ने कार्य की प्रधानता दी है और अंतरात्मा को मात्र साक्षी माना है। अतः इनकी दृष्टि प्रयोगवादी हो जाती है जो अधिक बोधगम्य है। फिर गांधी ने आलंकारिक ढग से विरोधी सत्यों को एक सत्य के साथ मिलाने का प्रयास किया था जो चित्त को समाधान नहीं दे पाता है। परन्तु विनोबा ने सत्य मे सतुलन, समाधान और समत्व को जोड कर तथा डाकू का उदाहरण देकर गांधी के विचारो को स्पष्ट कर दिया है। गांधी के अनुसार सत्य की प्राप्ति का मार्ग नि स्वार्थता, तपस्या अर्थात् सक्षेप म अहिंसा है। यह सामान्य ढग का विवरण है। विनोबा सत्य की प्राप्ति मे अनाग्रह, तटस्थता, विनम्रता, मितभाषण, अभ्यास और वैराग्य को जोडकर विशिष्ट और यथार्थवादी व्याख्या देते हैं। वे गांधी के इस विचार से असहमति प्रकट करते है कि सत्य की प्राप्ति अहिंसा से होती है।[१] वे गांधी के "सत्य के मेरे प्रयोग" के बदले "सत्य की खोज" शब्द को अधिक पसन्द करते हैं।[२] फिर भी जहाँ तक सत्य की श्रेष्ठता का प्रश्न है, इस पर दोनो एकमत है।

अहिंसा

अहिंसा गांधी दर्शन की मौलिक धारणा है।[३] यहाँ पर इसका विचार अर्थ और व्रत दोनो दृष्टि से अभिप्रेत है। इन दोनो दृष्टि से गांधी ने मूल रूप मे अपनी पुस्तक फ्रोम यरवदामदिर मे विचार किया है जिसे उनकी पुस्तक हिंदू धर्म मे भी सकलित किया गया है। इस पुस्तक मे अहिंसा-व्रत पर जो विचार हुआ है, उसमे यह लगता है कि अहिंसा धर्म गौण रूप से व्यावर्तक और मुख्य रूप मे भावात्मक वस्तु है तथा इसके पालन की आवश्यकता सत्य-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। सपूर्ण सत्य के अनुभव की असभवता ही इसके

१ विनोबा-चिन्तन, अक ७, पृ० २४।

२ उपरिवत्, पृ० २३।

3 Non-Violence along with the other cardinal concepts 'Truth' and 'Swaraj', thus provides the core of Gandhism" —Gupta, S, "The hard Core of Gandhi's Social and Economic thought", *Khadi Gramodyoga*, (Bombay, July 1969, pp, 704-711, p 711

पालन का मूल रहस्य है।[1] विरोधी सत्यों के संघर्ष के निराकरण की यह कुंजी है। परन्तु इसका पूरा अर्थ व्यावर्तक और भावात्मक—दोनों पक्षों को देखने से लगता है, ठीक उसी प्रकार जैसे विद्युत्-धारा प्रवाहित होने के लिए धन और ऋण—दोनों ध्रुवों के मिलने की आवश्यकता पड़ती है।[2]

निषेधात्मक दृष्टि से अहिंसा के अंतर्गत दो प्रकार की हिंसाओं का निषेध किया जाता है[3]—एक बाहरी हिंसा जैसे हत्या करना[4] और दूसरा मानसिक या आंतरिक हिंसा जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, असत्य जैसे षड्-विकार इत्यादि।[5] अतः आंतरिक अहिंसा का अर्थ है अक्रोध, अस्तेय, अपरिग्रह, असंग, अभय, अस्वाद, अपीडण और अहिंसा।[6] प्रथम निषेधात्मक अहिंसा को स्थूल और दूसरे को सूक्ष्म निषेधात्मक अहिंसा की संज्ञा दी गई है।[7] भावात्मक रूप से अहिंसा का अर्थ करुणा, मानवता, पौरुष, भद्रता, सरलता, शांति, हृदय की विशालता, भूत-दया, मैत्री, सेवा, त्याग, आत्म-पीडन, साहस, आस्था, अपरोक्ष क्रियावादी विचार, विवेक, स्पष्ट दृष्टि, पवित्रता, विनम्रता, क्षमा, सहिष्णुता, सत्यवादिता और ईश्वरार्पण है।[8] अहिंसा व्रत में इन दोनों प्रकार के सद्गुणों का आचरण मनसा, वाचा, कर्मणा किया जाता है। गांधी अहिंसा के पालन में शुभ संकल्प और अभिप्राय पर विशेष बल देते हैं, परिणाम पर नहीं। इसीलिए वे "एक कदम मेरे लिए पर्याप्त है" या "पूर्ण प्रयत्न ही पूर्ण विजय है" में विश्वास करते हैं। यदि सभी भावात्मक गुणों को एक में

---

1 Gandhi M., K., *Hindu Dharma*, p 249

2 Tiwari, S M, "The Concept of Non-Violence in the Philosophy of Mahatma Gandhi", *Gandhi Marg*, (English) 13, 4, and 14, 1 Oct 1969 and Jan 1970, p 105

3 *Ibid*, p 100

4 Prabhu, R. K & Rao, U R, (ed), *The Mind of Mahtama Gandhi*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1961), p 157.

5 Gandhi, M. K., *Hindu Dharma*, p. 240

6 Tiwari, S M, *Ibid*, p 100

7 *Ibid*, p 100

8 *Ibid*, p 100

मिला दिया जाय तो अहिंसा का अर्थ सर्व व्यापक और असीम प्रेम है। डॉ० सुगत दास गुप्ता अहिंसा का अर्थ 'अशोषण' 'विकेन्द्रीकरण' और 'तन्त्रमुक्ति' म लगाते हैं।[1] यद्यपि यह अर्थ अहिंसा के सामाजिक अनुप्रयोग को सूचित करता है। फिर भी व्रत के रूप म भी 'अशोषण' का पालन किया जा सकता है। जैसे शार्प ने अहिंसा की धारणा को 'generic non violence' की संज्ञा देकर इसकी नौ विशेषताओं का उल्लेख किया है।[2] ये है—

१ अप्रतिरोध (Non Resistence)

२ सक्रिय समझौता (Active Reconciliation)

३ चयनात्मक अहिंसा (Selective Non violence)

४ नैतिक दबाव (Moral Resistence)

५ निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistence)

६ शांतिपूर्ण प्रतिरोध (Peaceful Resistence)

७ साक्षात् अहिंसक कार्य (Non Violent Direct Action)

८ सत्याग्रह

६ अहिंसक क्रांति (Non Violent Revolution)

अहिंसा के उपर्युक्त अर्थों और विशेषताओं को देखकर यह नहीं मान लेना चाहिए कि वे इसके अन्तिम अर्थ और विशेषताएं है। वस्तुत 'अहिंसा' एक विकासशील धारणा है अत नये नये युगो म इसके अर्थ बदल सकते हैं और इसके क्षेत्र का विकास हो सकता है।

ऊपर अहिंसा के जिस स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है गाँधी के अनुसार उसका पूर्णरूपेण पालन शरीरधारी मानव से असम्भव है।[3] पूर्ण अहिंसा युक्लिड के बिन्दु और सरल रेखा के समान है जो पूर्णत सैद्धान्तिक है।[4] हम

1 Dasgupta S 'The hard Core of Gandhi's social and economic thought' *op cit* pp 704-711 & Social sciences for the seventies The Challenge of Gandhi, Vidyarthy, L. P & et al (ed) *Gandhi And Social Sciences* (New Delhi Book hive Publishers & Booksellers 1970), p 81

2 Gandhi M K *Harijan* 21 7 1940

3 Sharp, Gene 'Meanings of Non Violence, Types or Dimensions', *Journal of Peace Research* (Olso Inter National Peace Research) 2 (1971) (pp 155 164), p 155

4. Gandhi, M K *Harijan* 21 7 1940

निषेधात्मक अहिंसा विनोबा के अनुसार अहिंसा का अर्थ है हिंसा से निवृत्त होना। हिंसा से निवृत्त होने का अभिप्राय है आत्मरक्षार्थ और आक्रामक—दोनों प्रकार की हिंसा से निवृत्त होना।[१] यहाँ पर विनोबा जैन दार्शनिकों के विचार से अधिक प्रभावित मालूम होते हैं। जैन दार्शनिक अमितगति (विक्रम की ११वीं शती) ने अहिंसाणुव्रत में मन्त्रौषधादि[२] के लिए की गई हिंसा, हिंसक जीव की हिंसा[३] पापी की हिंसा[४] तथा सुखी और दुःखी जीव की हिंसा—सभी का निषेध किया है।[५] जिसमें आत्मरक्षार्थ और आक्रामक सभी प्रकार की हिंसा का त्याग आ जाता है। अहिंसा के पालन में पूर्णरूपेण हिंसा के त्याग के पीछे विनोबा की यह युक्ति है कि हिंसा की कोई सीमा नहीं होती है। महाभारत का इतिहास यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति हिंसा में

---

१ विनोबा चिंतन अंक २९ पृ० २२४।

२ देवातिथिमन्त्रौषधिपित्रादिनिमित्ततोऽपि सम्पन्ना।
हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता॥
अमितगति श्रावकाचार अ० ६ श्लो० २९ उद्धृत—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री की अहिंसा और पाँच जैनाचार्य, जैन सिद्धांत भास्कर सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, जैन सिद्धांत भवन आरा प्रकाशन, पृ० ३०
आत्मवधो जीववधस्तस्य च रक्षात्मनो भवति रक्षा।
आत्मा न हि हन्तव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्यः॥ उपरिवत अ० ६, श्लो० ३०।

३ केचिद्वदन्ति मूढा हन्तव्या जीवघातिनो जीवाः।
परजीव रक्षणाय धर्माय पापनाशार्थम्॥
युक्तं तन्नैव मतिः हिंस्राणां प्राणिनामशेषाणाम्।
हिंसायाः कर्तृणां विघ्नते जायमानायाः॥
—उपरिवत अ० ६ श्लो० ३३ ३८ और उपरिवत पृ० ३१

४ पापनिमित्तं हिंसनं पापस्य विनाशने न भवति शक्तम्।
छेदनिमित्तं परशुः शक्नोति लता न वर्द्धयितुम्॥
हिंसायाः यदि धर्मः संभवति विपुलफलदायी।
सुरविनाशं हिं तन् परं नावविघातिना घातः॥
यस्मात् गच्छन्ति यतिं निहिता दुःखं नशाक्या हिंसा।
तस्मात् स दुःखं पापं न भवति कर्थं घोरम्॥
—उपरिवत् अ० ६, श्लो० ३६ ३८ और उपरिवत पृ० ३१।

५ शास्त्री, नेमिचन्द्र 'अहिंसा और पाँच जैनाचार्य' जैन सिद्धांत भास्कर (सम्पा०) ए० एन० उपाध्ये और अन्य (आरा जैन सिद्धांत भवन प्रकाशन, १९५१), पृ० ३२

निर्धारित सीमा का भी पालन नहीं करता है। विजय की लिप्सा में वह सीमा का उल्लंघन करता है। अतः सीमित रूप में भी हिंसा का वरण करना अग्राह्य है।[1] परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विदेशी आक्रमण होने पर कोई देश अपनी तैयारी करना बंद कर दे। यहाँ तैयारी से विनोबा का अभिप्राय केवल बंदूक की तैयारी से नहीं है। 'तैयारी' मन की एक अवस्था का सूचक है। जब मन की यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तो हम संयमित रूप से बंदूक का प्रयोग तब करते हैं जब कोई विकल्प शेष नहीं रह जाता है। फिर भी हममें विपक्षी के प्रति दया और पश्चात्ताप की भावना बनी रहती है।[2]

विनोबा हिंसा की भाषा का भी निषेध करते हैं। किसी सेवा के कार्य के लिए संगठन की अपेक्षा रखना यह हिंसा की भाषा है। उनकी राय में संगठन में हिंसा छिपी रहती है। इसीलिए जितना प्रभाव शुद्ध चित्तवाले व्यक्ति का समाज पर पड़ता है उतना किसी संस्था जैसे चर्च, राज्य सत्ता, शासिमना इत्यादि का नहीं। जितना प्रभाव ईसा के व्यक्तित्व का धर्म प्रचार में हुआ उतना चर्च और सरकार का नहीं। महात्मा बुद्ध ने तो अहिंसा का प्रचार राज्य-सत्ता छोड़ कर किया। इसका कारण यह है कि अहिंसा का प्रचार देह से नहीं होता है। देह हिंसामय है देह से ऊपर उठने पर ही अहिंसा को ग्रहण किया जाता है। निश्चय ही संगठन और तंत्र देह का सूचक है। इससे हिंसा होना अनिवार्य है। अतः विनोबा कहते हैं कि अहिंसा की ज्योति का प्रचार बाह्य तांत्रिक संगठनों से होनेवाला नहीं है।[3] परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि

1 Bhave Vinoba Impossibility of Controlled Use of non violence —*Harijan* 4 24 1954 p 67

2 We must all be prepared But preparedness is not a matter of guns it is a state of mind when that quality of mind is attained it can control the gun and use it only when the proper times arrives It will do make every effort to see that the time for firing never comes in spite of its efforts the time does come it will fire with reluctance and regret —Vinoba The Sino Indian Conflict, *Gandhi Marg* Vol 7 (14) 1963 p 4

3 विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० १२५

अहिंसा के पूर्ण पालन के लिए विनोबा स्थूल रूप में देह का त्याग आवश्यक मानते हैं। वे देहभाव के त्याग पर बल देते हैं।[१] वे जैनों की साम्प्रदायिक अहिंसा को क्षीण और संकुचित मानते हैं[२] जिसमें खेती करना इसलिए बुरा माना जाता है क्योंकि इसमें हिंसा होती है परन्तु खेती में प्राप्त सामग्रियों के व्यापार को उचित ठहराया जाता है। दया और करुणा के नाम पर छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं को पालना अहिंसा समझा जाता है। विनोबा के अनुसार सत्य के अभाव में व्यापार में भी हिंसा होती है तथा इसके बिना दया के उपयोग में हिंसा को बढ़ावा मिलता है।[३] अहिंसा के साथ मर्म सदैव जुड़ा रहता है। पशुओं को संहार से बचाने की जिम्मेवारी मनुष्य नहीं ले सकता। उनकी राय में—"जिसने पालन करने की जिम्मेवारी उठायी उसको संहार की और जन्म देने की भी जिम्मेवारी उठानी चाहिए। मनुष्य इतनी भारी जिम्मेदारी नहीं उठा सकता। वह तो ईश्वर का ही काम है।[४] अतः अहिंसा की शक्ति का प्रयोग मानवों के बीच वैर भाव हटाने चित्त में मत्सर क्रोध इत्यादि के हटाने में ही उचित है।[५] "मानवों के व्यवहार में ही हमारी अहिंसा की कसौटी होती है।[६] अहिंसा न तो 'ढीली-ढाली' सहनशीलता है और न असह्य नियम।[७] अतः अहिंसा के नाम पर व्यर्थ शरीर को कष्ट देना और अन्याय को सहना उचित नहीं है। चाहे माता पिता या सरकार के रूप में ही कोई क्यों न आवे अन्यायियों का प्रतिकार आवश्यक है परन्तु प्रतिकार के पीछे हिंसा या क्रोध का न होकर दया का भाव होना चाहिए।[८] इसीलिए विनोबा ने व्यापक अर्थ भूत-दया, मार्दव, क्षमा शान्ति, अक्रोध अहिंसा और अद्रोह को अहिंसा का पर्याय माना है।[९]

---

१ भावे बालकोबा भगवत विवेचन पृ० ८८
२ उपरिवत् पृ० ११९।
३ उपरिवत्, पृ० १२०।
४ उपरिवत् पृ० १२०।
५ उपरिवत् पृ० १२०।
६ उपरिवत् पृ० १२०।
७ भावे, विनोबा, गीता प्रवचन पृ० १००।
८ **विनोबा चिंतन** अंक २० पृ० २७४।
९ भावे विनोबा **गीता प्रवचन** पृ० २५०।

इस प्रकार की अहिंसा सहनशीलता से आरम्भ होती है परन्तु इसी बीच उपाय संशोधन भी चलता रहता है। अन्त सहन अंतिम रूप से विजय में परिणत होता है।[1] अर्थात् व्यक्ति स्वयं निर्विकार होता है और दुर्जनों की दृष्टि को भी शुद्ध करता है। अतः इस प्रकार की सहनशीलता विवेकपूर्ण है।

भावात्मक अहिंसा

अहिंसा के विकासात्मक इतिहास को प्रस्तुत कर विनोबा परशुराम वशिष्ठ विश्वामित्र, प्राचीन सन्तों तथा गांधी की अहिंसा में थोड़ी-सी न्यूनता देखते हैं। उनके अनुसार परशुराम विश्वामित्र और वशिष्ठ की अहिंसा के साथ विवशता जुड़ी है। सन्तों की अहिंसा का प्रयोग केवल व्यक्तिगत मोक्ष के लिए[2] हुआ है। गांधी ने सामूहिक रूप में इसका प्रयोग किया अवश्य परन्तु उनकी अहिंसा में भी विवशता जुड़ी है।[3] विनोबा अहिंसा के भावात्मक पक्ष को ही अधिक महत्त्वपूर्ण[4] मानते हैं तथा इसे सामूहिक समाधि का विषय मानते हैं।[5] वे विज्ञान और अध्यात्म के आधार पर सामूहिक अहिंसा के पालन पर बल देते हैं।[6]

भावात्मक अहिंसा यद्यपि अनेक शुभ गुणों में समाविष्ट है परन्तु विनोबा के अनुसार यह सत्य प्रेम और करुणा का अखण्ड रूप है।[7] प्रेम का अर्थ अनुरोधी और प्रतिरोधी—दोनों प्रकार का प्रेम है। अनुरोधी प्रेम का अर्थ है प्रेम करनेवालों से प्रेम करना।

१ भावे, बालकोबा अभंगव्रत विवेचन पृ० ७१।

२ भावे, विनोबा अहिंसा विचार और व्यवहार पृ० ११५ १०।

३ उपरिवत् पृ० १०४।

4 But we cannot have the strength that is non violent merely by making a declaration that we will not participate in a violent war That would be a negative approach For non violence we would have to do something positive only then could our non violent strength increase For this we have to work for our social as well as economic life by the strength of our non violence

—*Harijan* 6 25 1955, p 129

५ विनोबा गीता प्रवचन पृ० २ ८।

६ विनोबा अहिंसा विचार और व्यवहार पृ० १९ ।

७ उपरिवत्, पृ० ६७।

प्रतिरोधी प्रेम का अर्थ है दुश्मनो पर द्वेप करनेवालो पर भी प्रेम करना। अनुरोधी प्रेम स्वाभाविक है। वस्तुत प्रतिरोधी प्रेम के आचरण म ही अहिंसा की शक्ति बढती है।[१] प्रेम मे दड और त्याग—दोनो का सम्मिश्रित रूप रहता है जिसका आदश उदाहरण माता के व्यवहार मे मिलता है। प्रेम मे समता का भाव होता है परतु इसे गाणितिक समता नही कह सकते हैं।[२] वस्तुत इसमे समाधान होता है जिसमे छोटे बडे सक्रिय निष्क्रिय सभी का समाधान निहित है। इसका उदाहरण परिवार मे मिलता है, विनोबा के अनुसार प्रेम, सत्य के अभाव मे निर्दोष अहिंसा का रूप धारण नही कर सकता।[३] अहिंसा व्रत क पालन म "आत्मवत् सवभूतेपु" अर्थात् अपने समान ही सृष्टि के सभी भूतो पर प्यार किया जाता है।[४] इसमे अपने घर के समान ही पडोसियो और ग्राम पर प्रेम करते हैं।[५] अतत यह भी कहा जा सकता है कि समस्त जगत मे अपने समान प्रेम करना अहिंसा का पालन करना है।

अहिंसा का दूसरा अगीभूत तत्त्व करुणा है जो शाश्वत धम के अतगत आता है। इसके बिना किसी व्यक्ति या देश का काम किसी काल या अवस्था मे नही चल सकता।[६] इसके आधार पर ही समाज बनता है और धम आगे बढता है।[७] समस्त नीतिधर्मो के आधार पर साम्ययोग के शिखर पर पहुँचने का साधन करुणा ही है।[८] अत विनोबा का यह विश्वास है कि विज्ञान के युग मे विशेषकर करुणा का महत्त्व बढ गया है। अब इसे राज्यशक्ति की दासी के रूप मे नही बल्कि सम्राज्ञी के रूप म रहने की आवश्यकता है। इसका अभिप्राय यह कि अब राष्ट्रसघ की करुणा का त्याग करना है जिसमे नर-सहार को तो वरण किया जाता है परतु आत्मग्लानि को छिपाने के लिए राहत का काम किया जाता है जैसा २५ माच १९७१ म बगला देश पर पाकिस्तानी मिलिट्री जुम के समय हुआ। इसी प्रकार रेडक्रास म भी करुणा का क्षीण रूप ही देखा

१ उपरिवत् पृ० ३७।
२ भावे विनोबा आत्मज्ञान और विज्ञान पृ० ६६।
३ भावे, विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार पृ० ६७।
४ उपरिवत् पृ० ३५।
५ उपरिवत्, पृ० ३५।
६ विनोबा चिंतन, अक ५५ पृ० २५७।
७ उपरिवत् पृ० २५७।
८ विनोबा चिंतन, अक ५६ ५७ पृ० ३५२।

जाता है। ऐसी करुणा की विनोबा आलोचना करते हैं। करुणा के अन्य रूप भी हैं। गरीबों के दुःख मिटाने के लिए साम्यवादियों की हिंसक नीति, समाजशास्त्रियों की दंड-नीति, और ब्राह्मण होते हुए भी अन्यायी क्षत्रियों के उन्मूलन के लिए हिंसा का सहारा लेनेवाले परशुराम के कार्यों के मूल में भी करुणा है।[1] परन्तु ये सभी करुणा के दोषपूर्ण उदाहरण हैं। निर्दोष करुणा में सदैव सत्य का समावेश होना है। सत्य में सबका समाधान है। अतः सत्य पर आधारित करुणा ही अहिंसा का रूप धारण कर सकती है। आधुनिक समाज को मुक्त करने के लिए सुखी लोगों के प्रति प्रेम और दुःखी के प्रति करुणा-व्रत का पालन अनिवार्य है।[2] इस प्रकार अहिंसा सत्य, प्रेम और करुणा का सघटित रूप है।

भावात्मक अहिंसा का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग रचनात्मक कार्य में श्रद्धा रखना है। ऐसी अहिंसा उत्पादक होती है। उनकी राय में—'रचनात्मक कामों में मनुष्य के विकास करनेवाली सेवा में तन्मय हो जाना ही अहिंसा का मुख्य रूप है।[3] चूंकि अहिंसा में प्रेम के शस्त्र हैं इसलिए इसका स्वरूप उत्पादक है, संहारक नहीं। यदि उसमें किसी प्रकार का संहार है, तो वह है द्वेष विषम भाव, भूख और अनारोग्य का।"[4] अहिंसा का रचनात्मक उत्पादक और सर्वागमय रूप का चित्रण विनोबा की मौलिक देन है। इस अहिंसा की युगानुकूल व्याख्या भी कही जा सकती है। इसमें उपयोगिता का भी समावेश है। भूदान ग्रामदान, श्रमदान, सम्पत्तिदान इत्यादि रचनात्मक सत्याग्रह और अहिंसा के ही प्रयोग हैं। यह ठीक है कि इन प्रयोगों में वांछित सफलता नहीं मिली है फिर भी विनोबा का चिंतन इस दिशा में जारी है। हर जागरूक व्यक्ति नये नये ढंग से भी भावात्मक अहिंसा की खोज कर सकता है। आज आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में ही विशेष रूप से अहिंसा की खोज की आवश्यकता है। हाँ, पूर्ण अहिंसा का प्रयोग तो देह-मुक्त होने पर ही हो सकता है।[5]

भावात्मक और निषेधात्मक—दोनों प्रकार की अहिंसा का तात्त्विक आधार गीता और वेदांत है। गीता में आत्मा की अमरता के सिद्धांत का प्रतिपादन

१ भावे, विनोबा अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० ६६ ६७।

२ **विनोबा चिंतन**, अंक ४४ ४५-४६, पृ० ३५८।

३ भावे, विनोबा, **अहिंसा विचार और व्यवहार**, पृ० १२१।

४ उपरिवत्, पृ० १२१।

५ उपरिवत् पृ० ३।

हुआ है। अत आत्मा के मरने का कोई प्रश्न ही नहीं है। अविकारी होने के कारण इसमें मारने की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। अत विनोबा अहिंसा को आत्मा की शक्ति और हिंसा को देह की शक्ति मानते हैं क्योंकि देह मारी जाती है।[१] वस्तुत वेदात और अहिंसा को एक साथ मिलाना विनोबा का मुख्य प्रयास है। *विनोबा के अनुसार वेदान एक अर्थ मे गांधी के 'सत्य' का* सूचक है।[२] अर्थात् यह 'वेदसार' या तत्त्वज्ञान का सबसार है। तत्त्वज्ञान का सार सत्य ही है।[३] अत वेदात और अहिंसा को एक साथ मिलाते हुए विनोबा ने कहा है—"'मैं ब्रह्म हू' उसको वेदान कहते हैं। और मैं ब्रह्म हूँ' तो मेरी कोशिश होनी चाहिए कि सबके साथ समान व्यवहार करूँ। उसको अहिंसा कहते है।"[४] अहिंसा एक आचरण-पद्धति है और वेदात एक चिंतन-पद्धति।[५] समानता के व्यवहार का अर्थ है सभी की सेवा करना परतु जो सबसे अधिक दुःखी है उसकी सेवा सबसे पहले करना। यही अहिंसा का रहस्य है।[६] वेदात के तत्त्वज्ञान मे विनोबा समन्वय पाते हैं। अत वे सत्य को केवल परमतत्त्व का सूचक मानते हैं। परतु वेदात को 'समग्र विचार' और 'समन्वय' का सूचक मानते हैं।[७] समन्वय के कारण वेदात का अर्थ सर्वांगीन समग्र-दर्शन और अहिंसा का योग है।[८] इसीलिए विनोबा वेदात और अहिंसा को परस्पर अविरुद्ध मानते हैं। उनकी राय मे—"वेदात और अहिंसा—दोनो परस्पर अविरुद्ध हैं। दोनो एक-दूसरे के कार्य-कारण हैं। वेदात मे से सीधे अहिंसा प्रतिफलित होती है और अहिंसा के लिए बिना वेदात के कोई पक्की, मजबूत बुनियाद नहीं हासिल होती।"[९]

वेदात और अहिंसा के समन्वय का विचार तो ठीक है क्योंकि नीति की बुनियाद गहरे तत्त्वज्ञान पर होनी ही चाहिए। परतु इस समन्वय मे दार्शनिक

---

१ उपरिवत्, पृ० १।
२ उपरिवत्, पृ० ९।
३ उपरिवत्, पृ० ९।
४ उपरिवत्, पृ० ६।
५ उपरिवत्, पृ० ६।
६ उपरिवत्, पृ० ८।
७ उपरिवत्, पृ० ९।
८ उपरिवत्, पृ० १०।
९ उपरिवत्, पृ० ८।

दृष्टि मे कुछ अस्पष्टताओ और असगतियो के दर्शन होते है। विनोबा गाधी के सत्य को आम भाषा मे 'वेदात' कहते हैं। फिर सत्य को परम तत्त्व का सूचक और वेदात को समग्र विचार या समन्वय का सूचक मानते हैं। इस प्रकार 'वेदात' के दो अर्थ हो जाते हैं—सत्य के रूप मे 'परम तत्त्व' और समग्र विचार के रूप मे 'समन्वय'। यहाँ यह स्पष्ट नही हो पाता कि वे वेदात और अहिंसा के समन्वय मे परम सत्य और अहिंसा का समन्वय चाहते है या समन्वय और अहिंसा मे समन्वय करना चाहते है ? फिर यदि सत्य का भी समन्वय के अर्थ मे ही लिया जाय, तो वह परमतत्त्व का सूचक नही होगा। इस प्रकार कठिनाई सामने आती है। वस्तुत सत्य यदि परमतत्त्व का सूचक है तो समन्वय' एक प्रकार की विचारप्रक्रिया है। अत दोनो को एक मानना उचित नही। *सत्य जीवन का साध्य है, समन्वय और अहिंसा इसकी प्राप्ति के साधन हैं।*

विनोबा के अनुसार परमतत्त्व तो ब्रह्म है। ब्रह्म और सत्य एक दूसरे मे भिन्न हैं जैसा हम पहले देख चुके हैं। यदि ब्रह्म और सत्य को समानार्थक मान भी लिया जाय, तो भी ठीक नही क्योकि ब्रह्म विशुद्ध रूप मे तत्त्वशास्त्रीय धारणा है परन्तु सत्य तत्त्वशास्त्रीय, ज्ञानमीमासीय और नैतिक—तीनो प्रकार के अर्थो मे व्यवहृत होता है जैसा हम गाधी के विचार मे भी देख चुके हैं। अत ब्रह्म और सत्य को समानार्थक मानना उचित नही। हा यदि वेदान का अर्थ यह मान लिया जाय कि 'मैं ब्रह्म हूँ', तो वेदात और अहिंसा का समन्वय बोध गम्य हो सकता है। इसी प्रकार दूसरे विकल्प को देखा जाय, तो वहाँ समन्वय और अहिंसा के समन्वय का अर्थ होगा कि एकागी विचार नही समन्वित विचार ही अहिंसा के अनुकूल है। खडित विचार और अहिंसा एक साथ नही चल सकते है। परतु सभी अर्थो को एक साथ रखने मे अस्पष्टता का आना स्वाभाविक है। शायद ऐसा लगता है कि विनोबा गाँधी के प्रति अगाध निष्ठा के कारण वेदात को भी गाँधी के 'सत्य' मे एकाकार कर देते है। यही कठिनाई का मूल है। पुन यदि वेदात का अर्थ समग्र दर्शन है, तो फिर ऐसा कहना कि 'वेदात और अहिंसा का समन्वय होना चाहिए' पुनरुक्त जान पडता है। कुछ विचारक तो यह भी मानने लगे है कि नैतिकता के लिए कोई तत्त्वशास्त्रीय धारणा अनिवार्य नही। केवल मानवतावाद और विवेक ही नैतिकता के लिए पर्याप्त है। वस्तुत वेदान्त और अहिंसा के समन्वय का विचार यह सूचित करता है कि सभी मानवो के प्रति आत्मीयता के भाव को रखना अहिंसा-पालन की महत्त्वपूर्ण शर्त है।

मनोवैज्ञानिक अहिंसा

विनोबा की अहिंसा में बाहर की क्रिया से अधिक आतरिक भावो और निष्ठाओ पर बल दिया गया है। इसे मनोवैज्ञानिक अहिंसा की सज्ञा दी जा सकती है। इसके अनुसार अहिंसा स्थितप्रज्ञता का सूचक है। विनोबा की राय में — *'विचारो का सन्तुलन कायम रखने और बुद्धि की समता डिगने न देने* का ही नाम अहिंसा है। गुस्से में आकर सामनेवाले को मार देने का नाम हिंसा है, और गुस्से में आकर उपवास करने का नाम अहिंसा' ऐसी बात नही। अहिंसा सिर्फ बाहर की क्रिया नही हृदय की निष्ठा है।[१] परन्तु स्थितप्रज्ञता और समत्व की प्राप्ति के लिए आत्मशोधन, आत्मशुद्धि मुक्त सेवा, विश्वव्यापी प्रेम और निर्भयता की मुख्य आवश्यकता है।[२] निर्भयता को तो विनोबा ने सपूर्ण अहिंसा का एक अगीभूत तत्त्व ही मान लिया है। इसीलिए अहिंसा का एक अर्थ वे निर्भयता[३] करते है। निर्भयता के अतर्गत स्वय किसीसे नहीं डरना और दूसरो को नही डराना —दोनो आता है।[४] जो व्यक्ति दूसरे को डराता है, वही स्वय डरता है। विनोबा का यह कहना है कि वास्तव में मनुष्य अपने ही चित्त से डरता है।[५] ससार में किसी भी देश के व्यक्ति का चित्त दूसरे देश के व्यक्ति के चित्त से भिन्न नहीं है। यदि व्यक्ति अपना चित्त शुद्ध कर ले तो फिर न डरने की आवश्यकता रहती है और न डराने की। अहिंसा व्रत के पालन में निर्भयचित्त का होना बहुत ही आवश्यक है।

विनोबा यह मानते है कि वास्तव में अहिंसा का निर्धारक आतरिक राग द्वेष ही है। इसलिए अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की वासनाओ का त्याग आवश्यक है। गीता का यह सूक्ष्म विचार 'अशात वृत्ति से ऊपर ऊपर से अहिंसक साधन इस्तेमाल करनेवाले की अपेक्षा शात वृत्ति से स्थूल हिंसा करनेवाला अधिक अहिंसक हो सकता है'[६]—अहिंसा के आतरिक पक्ष चित्तशुद्धि पर ही अधिक बल देता है। इसीलिए इस अहिंसा के महत्त्व को निरूपित करते हुए विनोबा का कहना है —' चित्त को शात और प्रसन्न रखनेवाला और बाहर

१ उपरिवत् पृ० ७३।
२ उपरिवत्, पृ० १२६।
३ उपरिवत् पृ० ८२।
४ उपरिवत् पृ० २२।
५ उपरिवत्, पृ० ८७।
६ उपरिवत्, पृ० ७४।

से भी अहिंसक साधनों का आश्रय लेनेवाला मनुष्य निस्सन्देह अहिंसक है, किन्तु प्रश्न है : ऐसी पूर्ण अहिंसा के सामने चाहे जितनी बड़ी दुर्जनता हो, ठहर नहीं सकती। प्रज्ञा की स्थिरता ही अहिंसा का सार है, और जिसके पास वह है, आज के विज्ञान युग के अनुरूप सत्याग्रह आदि अहिंसक साधनों से विजयी हो सकता है फिर उसका मुकाबिला सोवियत के साथ हो या साम्राज्यवाद के साथ या शैतान के साथ।[१]

चित्त में समत्व लाने के लिए विनोबा 'दयादक्षता' के पक्षपात की बात करते हैं।[२] इसका अर्थ है अपने पक्ष से अधिक दूसरों के पक्ष का पक्षपात करना। इसमें चित्त का सतुलन कायम रहता है। यही अहिंसा का रहस्य दर्शन है।[३] सचमुच चित्त के सतुलन के बिगड़ने में अपनी ओर पक्षपात करने या कर्त्तव्य में अधिक अधिकार की चेतना रखने का बहुत बड़ा हाथ रहता है। यदि व्यक्ति स्वय प्रतिपक्षी की ओर ही पक्षपात करे, तो उसकी आत्मशुद्धि तो होगी ही, इसका व्यापक सामाजिक असर भी होगा।

अहिंसा के आतरिक और मनोवैज्ञानिक पक्षों का विचार पाश्चात्य नीतिशास्त्री भी करते हैं। नैतिक निर्णय का विषय परिणाम नहीं अभिप्राय माना जाता है। जैन दार्शनिकों ने भी केवल स्थूल अहिंसा का ही विचार नहीं किया था बल्कि इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष का भी समुचित महत्त्व प्रदान किया था। अमृतचन्द्राचार्य सूरि (१२वीं शती) ने अपने ग्रंथ **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** में जो अहिंसा का लक्षण दिया है उसमें मनोवैज्ञानिक पक्ष पर समुचित प्रकाश पड़ता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्राणघात हिंसा नहीं बल्कि रागादि का नाम ही हिंसा है।[४] अत हिंसा के त्याग की प्रतिज्ञा बिना घात नहीं करने पर भी हिंसा होती है। उनके

---

१ उपरिवत् पृ० ७५।

२ उपरिवत्, पृ० ४४।

३ उपरिवत्, पृ० ४१।

४ अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ॥

—**पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय**, श्लोक, ४४।

उद्धृत, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री की 'अहिंसा और पाँच जैनाचार्य' **जैन सिद्धात भास्कर** के पृ० ३३ पर।

अनुसार हिंसा दो प्रकार की होती है[1]—अविरमण रूप और परिणमन रूप'। परघात में प्रवृत्त नहीं होने पर भी यदि हिंसा का त्याग मन से नहीं किया जाता है, तो उसे अविरमण रूप हिंसा कहते हैं, परघात में मन, वचन, काय से प्रवृत्त होने पर परिणमन रूप हिंसा होती है। इस प्रकार अविरमण रूप हिंसा का त्याग मानो गीता और विनोबा की 'चित्त शुद्धि' और 'आत्मशोधन' का ही पर्याय है।

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि विनोबा की अहिंसा की भूमिका प्रचलित भूमिका से भिन्न है। विनोबा ने स्वयं अहिंसा की चार भूमिकाएँ मानी हैं[2]—व्यावहारिक (Pragmatic), सैद्धांतिक (Dogmatic), वैचारिक (Rational) और सर्वातीत (Transcendental)। पहली भूमिका नेहरू की, दूसरी पाश्चात्य शांतिवादियों की, तीसरी वैज्ञानिकों की और चौथी भूमिका विनोबा की है। वस्तुतः सर्वातीत भूमिका में ऊपर की सभी भूमिकाओं का सार आ जाता है परन्तु इनके अतिरिक्त यह आध्यात्मिक आधार पर खड़ा है। अतः यह अहिंसा की सर्वोच्च भूमिका है। विनोबा के अनुसार अहिंसा व्रत का पालन व्यक्ति, संस्था, समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रिय जगत सभी के लिए वाञ्छनीय है। इसके पालन से व्यक्ति अपने ऊपर भरोसा कर सकता है तथा वातावरण की बुराइयों से अपने को मुक्त रख सकता है। इसके पालन से व्यक्ति ही क्या विश्व भी विनाश से बच सकता है।[3] परन्तु इसके लिए अहिंसक पद्धतियों का विकास करना अनिवार्य है।[4] विनोबा अहिंसा को 'परम धर्म' ही नहीं निकट धर्म भी मानते हैं।[5] *साथ ही-साथ शीघ्र-से शीघ्र इस धर्म के पालन की आवश्यकता पर* जोर देते हैं। उनके अनुसार 'अहिंसा में तीव्र संवेग होना चाहिए'।[6] यह मानना की अहिंसा को धीरे धीरे अपनाना चाहिए—उनकी राय में 'खतरनाक'[7] है।

१ हिंसायां अविरमणं हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्॥
—उपरिवत श्लोक, ४८ एवं जैन सिद्धांत भास्कर, पृ० ३४

२ भावे, विनोबा, अहिंसा, विचार और व्यवहार, पृ० २२१।

3 Bhave, Vinoba, "Non violence The Only Truth Strength", *Harijan* 7 3 1955, p 171

4 Bhave, Vinoba, "The Sino-Indian Conflict", *Gandhi Marg* Vol 7 (14) 1953, p 3

५ भावे, विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० ४७।

६ उपरिवत्, पृ० १७८।

७ उपरिवत्, पृ० १८०।

विनोबा की अहिंसा के सिंहावलोकन से ऐसा लगता है कि इनके विचार में ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो किसी-न किसी रूप में गाँधी के विचार में न हो। परंतु विवरण की नवीनता, अहिंसा के विभिन्न गुणों का नवीन संगठन, तथा कुछ तत्त्वों पर विशेष बल देना—इनकी अपनी मौलिकता है। इसी कारण से इनके विचार में कुछ नवीन तत्त्व का भी भान होता है। उदाहरणस्वरूप, गाँधी ने राज्यरूपी संस्था को हिंसापूर्ण माना था परंतु प्रत्येक संगठन और संस्था हिंसा पूर्ण है—ऐसा विचार संभवतः उनके दिमाग में नहीं आया था। विनोबा सभी प्रकार के संगठनों को हिंसापूर्ण मानते हैं। अतः अहिंसा में तेज और संस्था मुक्ति की नवीन कल्पना उनकी अपनी देन है। भावात्मक अहिंसा में गांधी ने अनेक प्रकार के सद्गुणों की चर्चा की है। परंतु वे सभी सद्गुण एक साथ संगठित नहीं किए गए हैं। वे सभी एक दूसरे से अलग और बिखरे हुए है। परंतु विनोबा ने इन बिखरे हुए सद्गुणों में से कुछ महत्त्वपूर्ण को चुन कर तथा उनमें नये तत्त्व को जोड़कर अहिंसा का एक संगठित रूप दिया है। जैसे —सत्य, प्रेम, करुणा, निर्भयता और रचनात्मक कार्य में श्रद्धा—ये सभी एक साथ संगठित किए गए हैं तथा इसी संगठन का नाम अहिंसा दिया गया है। गाँधी अहिंसा को प्रेम मानते है जिसकी अभिव्यक्ति सेवा में होती है। विनोबा इसके अतिरिक्त प्रेम के रचनात्मक और उत्पादक पक्ष पर अधिक बल देते है। गाँधी के लिए अहिंसा विशेष रूप में आचरण और प्रतिकार पद्धति का सूचक है। विनोबा इसके अतिरिक्त इसे उत्पादक स्वरूप प्रदान करते है। वास्तव में यह गाँधी और विनोबा के काल में सामाजिक और राष्ट्रिय मांगों का ही परिणाम है। फिर भी विनोबा हृदय से भावात्मक अहिंसा पर ही नई नई खोजो में अभिरुचि रखते है जिससे वर्तमान समाज को लाभ हो सके। गांधी ने व्यावहारिक अहिंसा और पूर्ण अहिंसा के बीच में कोई सामान्य संयोजक तत्त्व उपस्थित नहीं किया था इसलिए उनकी अहिंसा को कुछ लोग नैतिक सापेक्षवाद की संज्ञा देते हैं। सामान्य व्यक्ति को यह भ्रम होता है कि अहिंसा का समर्थक अंग्रेजो को प्रथम विश्वयुद्ध में क्या साथ देता है, 'करो या मरो' का नारा क्या देता है? गाँधी इस प्रश्न का शास्त्रीय उत्तर नहीं दे सके। वे सूझ में अधिक काम लेते थे और शास्त्रीय बुद्धि से कम। परंतु विनोबा की बुद्धि शास्त्रीय अधिक है। अतः इन्होंने व्यावहारिक और आदर्शात्मक अहिंसा के बीच एक कड़ी उपस्थित की है और वह कड़ी है 'समत्व-चित्त' की। व्यावहारिक अहिंसा में स्थूल हिंसा करते हुए भी चित्त के समत्व को कायम रखकर दया और पश्चात्ताप की भावना रखकर कोई अहिंसक हो सकता है। यही शर्त सद्गुणों के संबंध में भी है। आसक्ति, राग और अशांत चित्त से

किया गया सद्गुण या धर्म भी हिंसा है। अत समत्व चित्त व्यावहारिक और आदर्शात्मक अहिंसा के बीच एक कड़ी प्रदान करता है।

गांधी ने अहिंसा के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर विचार किया था अवश्य परन्तु वे गहराई में नहीं जा सके थे। विनोबा इसकी गहराई में प्रवेश करते हैं तथा हिंसा के कुछ तत्वों का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। जैसे, निर्भयता का विश्लेषण कर वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि मनुष्य अपने चित्त में ही डरता है। गांधी का ध्यान यहां पर केवल निडर होने तक ही गया था, दूसरों को नहीं डराने का विचार गौण था। विनोबा ने स्पष्ट रूप में यह बतलाया है कि निर्भयता में केवल डरने का अभाव ही नहीं डराने का भी अभाव रहता है। इसी प्रकार 'चित्त-समत्व' के लिए 'दयादक्षता' का विचार विनोबा की अपनी मौलिक देन है। विनोबा अहिंसा को गांधी की भांति परम धर्म ही नहीं मानते उसे निकट-धर्म मानकर उसे और अधिक व्यवहार्य बनाना चाहते हैं। गांधी की अहिंसा का आधार ईश्वर या सत्य है। अत वे सत्य और अहिंसा को एक तत्त्व का द्विदल पक्ष मानते हैं परन्तु विनोबा गांधी के सत्य का स्थान रखते हुए भी सत्य के स्थान पर 'वेदान्त' का प्रयोग करते हैं। सभवत यहां उनपर गांधी से अधिक शंकर और विवेकानंद का प्रभाव परिलक्षित होता है। वस्तुत सत्य जो परम तत्त्व का सूचक है उसके आधार पर अहिंसा को समझना थोड़ा कठिन मालूम पड़ता है क्योंकि सत्य बहुत ही अमूर्त है। परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' के आधार पर सभी प्राणियों पर समता का विचार रखकर, उसे अपनी ही आत्मा समझ कर प्रेम करना—सर्वसामान्य के लिए भी बोधगम्य है। इस प्रकार विनोबा ने गांधी की अहिंसा का मात्र विवरण ही प्रस्तुत नहीं किया है बल्कि उसे काफी स्पष्ट, सघन सुगठित और व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है तथा अहिंसा के क्षेत्र में नई नई खोजों में अपने को तल्लीन रखा है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य, सत्य और अहिंसा के साथ ही किसी-न किसी रूप में जुड़ा हुआ है। अत इसे सत्य, अहिंसा से स्वतन्त्र मौलिक प्रत्यय के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इसीलिए गांधी ने इसे सत्य का आवश्यक निष्कर्ष[1] और विनोबा ने अहिंसा का साधन माना है।[2] चाहे जिस रूप में हो, इस व्रत के

1 Gandhi, M K, *Hindu Dharma*, pp 251

२ भावे, विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० ५-६।

पालन पर गाँधी और विनोबा—दोनों समान रूप से बल देते हैं। अत हम एक एक कर गाँधी और विनोबा के विचार को देखना है।

गांधी का विचार ब्रह्मचर्य का अर्थ गांधी दर्शन में ब्रह्मचर्य एक अवस्था विशेष को सूचित करता है। यह जीवन की वह पद्धति है जिसमें ब्रह्म ईश्वर या आत्मा की खोज की जाती है। परन्तु इस व्यापक अर्थ के अतिरिक्त अन्य कई छोटे-छोटे अर्थों में भी प्रयोग होता है। इन सभी प्रयोगों का विभाजन मुख्यत पाँच वर्गों में किया जा सकता है। वे इस प्रकार हैं—

(क) तत्वशास्त्रीय प्रयोग

(ख) नैतिक प्रयोग

(ग) सामाजिक अर्थ में प्रयोग

(घ) मनोवैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग

(ङ) यौन नियमन के संकुचित अर्थ में प्रयोग

(क) तत्वशास्त्रीय प्रयोग

गाँधी ने सामान्य रूप से ब्रह्मचर्य का प्रयोग तत्वशास्त्रीय अर्थ में किया है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इस अर्थ में ब्रह्मचर्य ईश्वर की खोज करनेवाली जीवन पद्धति के रूप में प्रयुक्त[1] होता है। गांधी तत्व मीमांसा में ब्रह्म, ईश्वर, सत्य, आत्मा—सभी समानार्थक हैं अत ब्रह्मचर्य का रूपांतर ब्रह्मानुभूति, ईश्वर-साक्षात्कार, सत्य ज्ञान और आत्मानुभव की जीवन पद्धति में आसानी से किया जा सकता है। ब्रह्म ईश्वर, और सत्य—गाँधी के अनुसार केवल अमूर्त वस्तु नहीं हैं बल्कि वे सृष्टि में व्याप्त हैं।[2] अत ब्रह्मचर्य की जीवन-पद्धति में पहले अन्त करण की आत्मा का अनुभव होता है फिर इसके आधार पर व्यापक तत्व ईश्वर, सत्य और ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

गाँधी के अनुसार ईश्वर कोई व्यक्तित्ववान सत्ता नहीं है वह एक प्रकार की जीवनी शक्ति है। इस शक्ति की खोज इसके नियम जानने से होती है, ठीक उसी प्रकार विद्युत शक्ति की खोज विद्युतीय नियम जानने पर होती है। ब्रह्मचर्य

---

1 Narayan, Shriman (ed) *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol IV pp 219-223

2 Gandhi, M K, *Hindu Dharma*, p 137

नपुसकत्व प्राणी की वह मनो-दैहिक अवस्था है जिसमे यौन-भावनाओ, इच्छाओ और शुक्र-स्खलन का भाव रहता है, केवल उत्तेजना का अभाव[1] रहता है। ब्रह्मचर्य मे उत्तेजना के अभाव के साथ-साथ यौन-भावनाओ और इच्छाओ का भी अभाव रहता है। इसमे शुक्र का स्खलन बाह्य प्रक्रिया नही बल्कि आतरिक प्रक्रिया है जिसमे शुक्र जीवनी-शक्ति के रूप मे परिणत हो जाता है।[2] नपुसकत्व एक प्रकार का शारीरिक रोग है परतु ब्रह्मचर्य अखड तप का सु दर परिणाम। इसमे शुक्र का कु ठन न होकर नियमन होता है।

(ड) मनोवैज्ञानिक अर्थ मे प्रयोग

एक दूसरे अर्थ मे ब्रह्मचर्य हमारे मन की एक विशेष अवस्था का सूचक है।[3] यौन-व्यापारो का अपना कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है। उनकी सत्ता हमारी भावनाओ पर आश्रित है। ब्रह्मचर्य की अवस्था मे हमारा मन इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि उसमे वासनाएँ आती ही नही है। यदि बाहर से स्थूल यौन-व्यापारो का दमन कर कोई मन से वासनाओ का स्मरण करता है, तो उसे ब्रह्मचारी नही[4] बल्कि गीता के शब्दो मे 'मिथ्याचारी' कहा जा सकता है। ब्रह्मचर्य कामजनित वासनाओ का दमन नहीं उन्मूलन है। दमन मे इच्छाएँ जीवित तथा आतरिक रूप मे सक्रिय रहती हैं। परतु उन्मूलन मे वासनाएँ सदा के लिए मन मे तिरोहित हो जाती हैं।[5] दमन के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। परतु वासनाओ के उन्मूलन से मन स्वच्छ और निर्मल हो जाता है तथा वासनाजनित रोग के समाप्त होते ही आत्मशक्ति का उदय होता है। वासनाएँ हमे व्यापक ज्ञान, व्यापक शक्ति और व्यापक ध्येय से सदैव वचित रखती हैं। ब्रह्मचर्य मे वासनाओ के उन्मूलन से आत्मज्ञान और आत्मशक्ति का अनुभव होने लगता है। मन की इस स्थिति को प्राप्त करने के

---

1 *Ibid*, p 432

2 *Ibid*, p 432

3 Prabhu, R K & Rao, U R, *The Mind of Mahatma Gandhi*, p 275

4 Narayan, Shriman, *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol IV p 431

5 *Ibid*, p 431

िए जिज्ञासा जिह्वा नियत्रण, सत्सग और ईश्वर प्राथना सहायक सिद्ध होते है।[1] इस अथ को ब्रह्मचय का मनोवैज्ञानिक अथ कहा जा सकता है।

गाधी का यह विश्वास है कि जबतक ब्रह्मचय के सीमित रूप (वीयसचय) की साधना नही होगी तबतक हम उसके पूणता का फल नही ले सकते।[2] परतु सीमित अथ म ब्रह्मचय पालन का अथ सपूण ब्रह्मचय का पालन नही है। व्यापक अथ मे ब्रह्मचय मन वचन और कम—तीनो की अखड अवस्था है जिसमे ईश्वर का साक्षात्कार होता है। ऊपर के ब्रह्मचय के प्रयोग को विश्लेषण की दृष्टि से रखा गया है। वास्तव मे गाधी दशन म इन सभी प्रकार के प्रयोगो और अर्थों के बीच कोई लक्ष्मण रेखा नही खाची गई है। इसमे तो सभी अर्थो का सघटन है। इसीलिए तो ब्रह्मचय मनसा वाचा और कमणा—तीनो की ऐक्य की स्थिति का ही सूचक है। फिर साधन-साध्य की एकता के आधार पर सभी अर्थों को एक साथ मिलाना भी गाँधीवादी नीति के प्रतिकूल नही है। परतु गाधी ने इसके भिन्न भिन्न अर्थों को एक सुनिश्चित योजना के अतगत नही रखा है। अत उसम अस्पष्टता रह जाती है।

ब्रह्मचय धारणा के सबध म दूसरा प्रश्न उठता है कि इसका प्रमाणीकरण कैसे किया जाय? जसा हम देख आये है कि पूण ब्रह्मचय म मन वचन और कम की एकता रहती है विपरीतलिंगियो के प्रति तटस्थता का भाव रहता है इत्यादि। प्रश्न है क्या समाज मे एस व्यक्ति है जिन्हे देखकर हम ब्रह्मचय की पूण धारणा का प्रमाणीकरण कर सक? शायद सत्य और अहिंसा की भाति सपूण ब्रह्मचय को भी गाधी अप्राप्य ही मानगे। इस दृष्टि स पूण ब्रह्मचय का साक्षात् प्रमाणीकरण नही हो सकता परतु सीमित अथ म ब्रह्मचय की धारणा का प्रमाणीकरण वैज्ञानिक ढग स हो सकता है। पहले हम ब्रह्मचारी के व्यवहारो और बाह्य शक्तियो का बाह्य निरीक्षण आसानी स कर सकते है। फिर इसकी पुष्टि के लिए सीमित क्षेत्र म ही सही निरीक्षक को स्वय आत्मसयम कर उसके परिणामो का अतनिरीक्षण करना पडेगा। इस आधार पर ब्रह्मचय का अंसाक्षात् प्रमाणीकरण हो सकता है।

दूसरा प्रश्न है कि यदि पूण ब्रह्मचय सभव नही है तो इसे क्यो नही काल्पनिक प्रत्यय मान लिया जाय? परतु गाधी-दशन मे यह कल्पना लोक का प्रत्यय

---

1 *Ibid* pp 435 39

२ उपरिवत पृ० ४३३।

नहीं है। यह एक विकासशील प्रत्यय है जो किसी भी नैतिक प्रत्यय के लिए स्वाभाविक है। मानव आचरण की पूर्णता नहीं विकास ही विशेष बोधगम्य है। इसलिए ब्रह्मचर्य का सार बुरी वासनाओं के मन, वचन तथा कर्म में न आने देने में नहीं है, इसका सार उन कुप्रवृत्तियों में संघर्ष कर सत्प्रवृत्तियों को विजयी बनाने में है।

विनोबा का विचार विनोबा के अनुसार ब्रह्मचर्य का अर्थ ब्रह्म की खोज में अपना जीवन क्रम रखना है। इसका अर्थ है सबसे विशाल ध्येय परमेश्वर का साक्षात्कार करना।[1] ब्रह्म का अर्थ है कोई भी बृहद् कल्पना'।[2] अतः किसी के लिए पुत्र सेवा, किसी के लिए देश सेवा, पितृभक्ति विज्ञान की साधना ही ब्रह्मचर्य है।[3] इसीलिए विनोबा कहते हैं— ब्रह्मचर्य को मैं विशाल ध्येयवाद और तदर्थ संयमाचरण कहता हूँ।[4] परन्तु कोई भी ध्येय कितना ही विशाल क्यों न हो यदि उसके पीछे ब्रह्मनिष्ठा या ईश्वरार्पण वृत्ति नहीं हो तो वह ब्रह्मचर्य नहीं कहला सकता । अतः विशाल ध्येय की पूर्णता ब्रह्मनिष्ठा में होती है।[5] यह ब्रह्मचर्य का भावात्मक पक्ष है। परन्तु विशेष रूप में ब्रह्मचर्य का प्रयोग विषय-वृत्तियों का विकारों से निरोध के अर्थ में होता है।[6] इस अर्थ में ब्रह्मचर्य सर्वेन्द्रिय निग्रह है।[7] परन्तु इन्द्रिय निग्रह का अर्थ इन्द्रिय-दमन नहीं है। इसका अर्थ है इन्द्रिय तथा मन का नियमन करना उन्हें उचित दिशा में ले जाना, उनका उचित उपयोग करना।[8] इन्द्रिय नियमन के लिए जीवन की छोटी-छोटी बातों का भी नियमन रखना आवश्यक है। खाने पीने सोने बैठने बोलने इत्यादि सभी में नियमन रख कर ही इन्द्रियनिग्रह किया जा सकता है। मनचाही चीज पढ़ने से

---

१ भावे, विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० ५८।
२ उपरिवत्, पृ० ५८।
३ उपरिवत्, पृ० ५८ ५९।
४ उपरिवत्, पृ० ५८।
५ भावे, विनोबा कार्यकर्तावर्ग, (वाराणसी सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९५५), पृ० ३२।
६ विनोबा चिंतन, अंक २९, पृ० २२५।
७ भावे विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० ६०।
८ भावे, विनोबा, कार्यकर्तावर्ग, पृ० ३३।

इंद्रिय निग्रह असंभव है।[1] इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य धारणा में दो पक्ष हैं— एक उत्तम ध्येय का होना और उसे विकसित करते-करते ब्रह्म की उपासना तक पहुंचाना और दूसरा सब इंद्रियों और मन पर नियंत्रण रखना।

विनोबा के अनुसार ब्रह्मचर्य की साधना में निष्ठा, गाढ़ी निद्रा,[2] सद्ग्रंथों के अध्ययन सज्जनों की संगति, खुली हवा और धूप में शरीर श्रम करना सहायक सिद्ध होते हैं।[3] इनके अतिरिक्त स्वच्छता अपरिग्रह और अप्रमाद भी ब्रह्मचर्य की साधना के लिए आवश्यक हैं।[4] स्वच्छता का अर्थ शारीरिक मानसिक, वाचिक आवास और वस्त्र सभी की स्वच्छता से है। अपरिग्रह से स्वच्छता में सहायता मिलती है। अप्रमाद का अर्थ सावधानता है।[5] अर्थात् इंद्रिय को अनियमित नहीं रखना चाहिए क्योंकि विषयों का भोग सभी इंद्रियों के द्वारा होता है।

ब्रह्मचर्य की साधना हर वर्ण, आश्रम और स्त्री-पुरुष के लिए वांछनीय है। परन्तु विभिन्न आश्रमों में इसके रूप में परिवर्तन हो जाते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में यह गुरुनिष्ठा गार्हस्थ्य-जीवन में पति-पत्नी की एक दूसरे के लिए निष्ठा वानप्रस्थ-जीवन में समाज निष्ठा और सन्यास में ब्रह्म निष्ठा का रूप धारण कर लेता है।[6] विनोबा मनुस्मृति के इस मत से सहमत नहीं हैं कि स्त्रियों को ब्रह्मचर्य पालन नहीं करना चाहिए।[7] उन्हें यह भी मान्य नहीं कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए स्त्रियों से दूर रहना चाहिए।[8] उनका यह विश्वास है कि स्त्री-सानिध्य से ब्रह्मचर्य के पालन में काफी सुरक्षा का अनुभव होता है।[9]

सत्य और अहिंसा के पालन के लिए ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक है। विनोबा यह मानते हैं कि ब्रह्मचर्य का केवल आध्यात्मिक मूल्य ही नहीं, सामा-

---

१ भावे, विनोबा **अहिंसा विचार और व्यवहार**, पृ० ६०।
२ उपरिवत्, पृ० ६३ ६४।
३ भावे, विनोबा **थाटस आन एजुकेशन**, पृ० ४०।
४ **विनोबा चिंतन**, अंक १० ११, पृ० ४९ ५४।
५ उपरिवत्, पृ० ५३ ५५।
६ भावे, विनोबा **कार्यकर्तावर्ग**, पृ० ३३ ३४।
७ उपरिवत् पृ० ३६।
८ उपरिवत् पृ० ४२।
९ उपरिवत् पृ० ३९।

जिक मूल्य भी है।[१] ब्रह्मचर्य के पालन से वासनाओं का नियमन होता है। वासनाओं के नियमन से वीर्य की सुरक्षा होती है और वीर्य की सुरक्षा से मनुष्य की बुद्धि और प्रतिभा उज्ज्वल होती है।[२] इसलिए विशेषकर बौद्धिक और समाज-सेवा के कार्य करनेवालों के लिए ब्रह्मचर्य बहुत आवश्यक है। सामाजिक मूल्य के ख्याल से ब्रह्मचर्य के पालन से जनसंख्या का प्रश्न स्वाभाविक रूप से हल हो जाता है।

विनोबा की ब्रह्मचर्य-धारणा आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण तो है ही, यह आधुनिक मनोविज्ञान के अनुकूल भी है। सिगमंड फ्रायड ने अपने सिद्धांत में यह बतलाया है कि यौन-प्रवृत्ति के दमन से मनुष्य मानसिक दृष्टिकोण से रुग्ण हो जाता है तथा यौन-प्रवृत्ति के परिमार्जन से सभ्यता और संस्कृति का निर्माण होता है। विनोबा भी इंद्रिय-दमन की बात नहीं कर इंद्रिय-नियमन की बात करते हैं। इसके परिणामस्वरूप बौद्धिक क्षमता की वृद्धि की बात करते हैं। फिर ब्रह्मचर्य-पालन में स्त्री-सान्निध्य को खतरनाक नहीं मानते। यह भी आधुनिक मनोविज्ञान के साहचर्य नियम के अनुकूल है। साहचर्य नियम के अनुसार हम स्त्री का साहचर्य केवल यौन-प्रतिभाओं में ही नहीं कर सकते। इसका साहचर्य माता, बहन और पुत्री के संबंध-पावित्र्य में भी हो सकता है। हाँ, ऐसे साहचर्य संबंध स्थापित करने में प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है। यदि यह भी मान लिया जाय कि स्त्री के समीप में काम-वासना ही उत्पन्न होती है, तो बार-बार के साहचर्य से हमारा अभियोजन विपरीत दिशा में भी हो सकता है जिसे आधुनिक मनोविज्ञान "निगेटिव एडेप्टेशन" कहता है। स्त्री-सान्निध्य में ब्रह्मचर्य साधना से वास्तव में मानसिक साम्य स्थापित करने में सहायता मिलती है। फ्रायड ने दूसरे रूप में यह कहा है कि छद्मवेषित रूप में यौन-भावनाओं की तृप्ति होते रहने से अचेतन की भावनाओं का उत्ताप कम जाता है तथा संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण में सहायता मिलती है। इस प्रकार विनोबा और फ्रायड—दोनों यौन के परिमार्जन द्वारा साम्य या संतुलन स्थापित करना चाहते हैं। केवल दोनों के रास्ते भिन्न-भिन्न हैं। गन्तव्य एक ही है।

गाँधी ब्रह्मचर्य का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में करते हैं परंतु उनके बीच कोई सुनिश्चित योजना नहीं दे पाते हैं। इसलिए उनके विचार में अस्पष्टता रह जाती है। विनोबा इस कमी को दूर करते हैं। ये गीता के मनोविज्ञान के

१ विनोबा चिंतन, अंक १०-११, पृ० ४७।

२ भावे, विनोबा, कार्यकर्त्तावर्ग, पृ० ४६।

आधार पर यह बतलाते है कि आत्मसंयम से इंद्रियाँ मन मन बुद्धि और बुद्धि आत्मा के नियंत्रण मे काम करने लगती है। इस प्रक्रिया म मन की वासनाएँ समाप्त हो जाती है। प्रज्ञा स्थिर हो जाती है आत्मचेतना के व्यापक प्रकाश का अनुभव होने लगता है तथा समस्त प्राणियो से आत्मवत् प्रेम होने लगता है। यही पूर्ण आध्यात्मिकता की स्थिति है। यहा पर ब्रह्मचर्य के सभी पक्ष सुनियोजित रूप से सगठित हो जाते हैं।

गाधी ब्रह्मचर्य के निषेधात्मक पक्ष पर ही विशेष रूप से विचार करते है। भावात्मक पक्ष अस्पष्ट क्षीण और धूमिल मालूम पडता है। सार्वभौम प्रेम और ईश्वर साक्षात्कार—दो भावात्मक पक्ष हैं परन्तु वे अर्थ के दृष्टिकोण से अस्पष्ट है। यदि ब्रह्मचर्य का अर्थ सार्वभौम प्रेम लेते हैं तो प्रश्न उठता है कि यह अहिंसा से किस अर्थ मे समान और भिन्न है? क्योकि अहिंसा का भी भावात्मक अर्थ प्रेम ही है। यदि अहिंसा और ब्रह्मचर्य एक ही अर्थ म प्रेम को अभिव्यक्त करते हैं तो फिर ब्रह्मचर्य का अलग कुछ भी अर्थ नही रह जाता है। इसी प्रकार ईश्वरसाक्षात्कार भी अनिश्चित और अस्पष्ट धारणा है। गाधी के अनुसार ईश्वर कभी सत्य कभी प्रेम कभी निर्भयता कभी प्राणियो के समूह और कभी नैतिक नियम के अर्थों म प्रयुक्त होता है। ऐसी स्थिति म नैतिककर्त्ता को ब्रह्मचर्य के सार्वभौम प्रेम और ईश्वरसाक्षात्कार से कुछ भी दिशा निर्देश नही हो पाता है। विनोबा ने गाधी की इस कमी को दूर किया है। उन्होंने ब्रह्मचर्य के भावात्मक और निषेधात्मक—दोनो पक्षो पर सतुलित ढग म विचार कर उन्हे आपस म सगठित कर सुनियोजित रूप प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार जैसा हम पहले देख आये है कि भावात्मक पक्ष म व्यापक ध्येय जसे समाज सेवा पितृ भक्ति विज्ञान-साधना इत्यादि होते है तथा इन व्यापक ध्येय को ईश्वरार्पण का रूप दे दिया जाता है। निषेधात्मक पक्ष म सभी इंद्रियो के निग्रह की बात आती है। दोनो को मिलाकर ब्रह्मचर्य का एक पूर्ण विचार बनता है।

गाधी ने भिन्न भिन्न आश्रमो के लिए ब्रह्मचर्य के अलग अलग रूपो पर विचार नही किया था। विनोबा जीवन के भिन्न भिन्न आश्रमो के ब्रह्मचर्य के भिन्न भिन्न रूपो का विचार प्रस्तुत करते हैं। ब्रह्मचर्यावस्था म गुरुनिष्ठा, *गार्हस्थ्य जीवन म पतिपत्नी प्रेम वानप्रस्थ म समाजनिष्ठा तथा सन्यास म* अध्यात्म निष्ठा—ये ब्रह्मचर्य के विभिन्न रूप है। विनोबा का यह विचार व्यावहारिक और युक्तिसगत दोनो है। इसस नैतिककर्त्ता किसी प्रकार के भ्रम मे नही पडता। फिर ब्रह्मचर्य के सामाजिक मूल्य को जोडकर विनोबा इसे और लोकप्रिय बनाने का प्रयास करते हैं।

अस्वाद प्राचीन आध्यात्मिक साहित्य मे अस्वाद व्रत की अलग से चर्चा नही है परन्तु गांधी ने अपने आश्रमवासियों के लिए स्वतंत्र रूप से इस व्रत के पालन पर जोर दिया। उनके अनुसार अस्वाद का ब्रह्मचर्य के साथ बहुत ही घनिष्ठ संबंध है। यदि कोई जिह्वा पर पूरा नियंत्रण रखता है तो उसके लिए ब्रह्मचर्य का पालन आसान हो जाता है।[1] गांधी भोजन को औषधि के समान मानते हैं जिसे न तो सुस्वादु होने पर अधिक और अस्वादु होने पर कम मात्रा मे लिया जा सकता है।[2] दोनो अवस्थाओ मे शरीर की आवश्यकता के अनुरूप ही भोजन वांछित है। आनन्द के लिए भोजन करना, गांधी के अनुसार अस्वाद-व्रत का उल्लंघन करना है। यदि कोई भोजन मे नमक इसलिए डालता है कि इससे उसका स्वाद बढ़ जाय अथवा अनेक अनावश्यक वस्तुओ को कोई अपने भोजन मे स्थान देता है, तो वह अस्वाद व्रत का उल्लंघन करता है। हाँ, आवश्यकता पड़ने पर औषधि के रूप मे नमक लिया जा सकता है। गांधी का यह विश्वास है कि धीरे धीरे नमक और अन्य अनावश्यक पदार्थों को भोजन मे अलग रखने पर आत्म-संयम मे बल मिलता है।

गांधी यह मानते हैं कि अस्वाद व्रत का पालन करना कठिन अवश्य है परन्तु असंभव नही। किसी भी व्रत का पालन आरम्भ मे पूर्णरूपेण नही होता।[3] परन्तु यदि कोई बाह्य प्रदर्शन को छोड़कर पूरी निष्ठा के साथ मनसा वाचा, कर्मणा अस्वाद के पालन का प्रयत्न करे तो एक समय वह कृत्रिम स्वादो पर विजय प्राप्त कर सकता है और श्रेष्ठ स्वाद का अनुभव कर सकता है।[4]

विनोबा गांधी के अस्वाद व्रत को शास्त्रीय आधार प्रदान करते हैं। उनके अनुसार अस्वाद व्रत वैश्वानर ब्रह्म की उपासना है।[5] वैश्वानर वह अग्नि है जो पेट मे अन्न को पचाती है। अस्वाद व्रत के पालन से पाचन क्रिया को सहयोग मिलता है। इस व्रत के पीछे 'आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि' का भाव

---

1 Narayan Shriman *The Selected Works of Mahatma Gandhi* Vol IV p 223

2 *Ibid*, p 224

3 *Ibid*, p 225

4 *Ibid*, p 225

५ विनोबा चिंतन अंक १० ११, पृ० ५९।

भी छिपा है।[१] इस व्रत की अपनी मान्यता है कि शरीर-यात्रा चलाने के लिए भोजन की आवश्यकता है, कृत्रिम रस पैदा कर विकारों को उत्तेजित करना नहीं। भोजन में कृत्रिम रस लाने का प्रयत्न करना एक प्रकार की हिंसा है।[२] परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भोजन का सुन्दर, स्वच्छ और सुस्वादु होना बुरा है।[३] सच तो यह है कि अस्वाद एक प्रकार की मन की वृत्ति है जिसे प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। अस्वाद व्रत के पीछे समन्वय की दृष्टि है। मानसिक साम्य स्थापित करने में इससे काफी सहायता मिलती है।

अस्तेय

अस्तेय व्रत सत्य और अहिंसा का ही सूक्ष्म रूप है। सत्याग्रही के लिए इसका पालन आवश्यक है क्योंकि चौर्य-वृत्ति और सत्य प्रेम एक साथ नहीं चल सकते हैं।[४] गांधी चोरी का गहरा अर्थ लेते हैं। सामान्यतः किसी दूसरे की वस्तु को बिना उसकी अनुमति के लेना चोरी है। परन्तु चोरी केवल दूसरे की वस्तु की ही नहीं अपनी वस्तु की भी होती है। जैसे कोई घर का मालिक बच्चों की आँखें बचाकर चुपके से कुछ खाता है, तो वह चोरी है।[५] उसी प्रकार किसी वस्तु को यह समझ कर ले लेना कि वह किसी की संपत्ति नहीं है, चोरी है। गांधी के अनुसार बिना आवश्यकता के दूसरे की अनुमति से प्राप्त वस्तु भी चोरी की वस्तु है।[६] अतः अस्तेय व्रत का उपासक सदैव अपनी आवश्यकता भर ही सामान रखता है तथा वह अपनी आवश्यकताओं को कम करता है। चोरी के इन बाहरी अर्थों के अतिरिक्त आन्तरिक अर्थ भी है। गांधी के अनुसार यदि कोई मानसिक रूप से दूसरे के धन का लोभ या इच्छा रखता है, तो यह चोरी है।[७] इसी प्रकार उपवास की अवस्था में कोई दूसरे को खाते देखकर उसका मन में आनंद लेना है अथवा उपवास के बाद वह कौन-कौन चीज खायगा इसके

१ विनोबा चिंतन, अंक २६, पृ० २२७।

२ उपरिवत्, पृ० २२७।

३ विनोबा चिंतन, अंक १० ११, पृ० ६०।

४ Narayan, Shriman, *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol IV, pp 226-227

५ उपरिवत्, पृ० २२७।

६ उपरिवत्, पृ० २२७।

७ उपरिवत्, पृ० २२८।

बारे मे सोचना है, तो वह चोरी है।[१] अत अस्तेय व्रत के उपासक को मन की आतरिक स्थिति का ख्याल रखना बहुत ही आवश्यक है। अस्तेय व्रत मे भविष्य की सपत्ति का ख्याल नही किया जाता है। गाधी के अनुसार चोरी केवल स्थूल वस्तुओ की ही नहीं होती है विचार जैसे अमूर्त वस्तु की भी चोरी होती है। यदि कोई दूसरे के उत्तम विचार को लेकर उसे अपना मौलिक विचार मानता है तो वह चोरी है।[२] सक्षेप मे अस्तेय व्रत मे स्थूल मानसिक और वैचारिक—तीनो प्रकार की चोरी से अपने को अलग रखा जाता है। जो इस व्रत का उपासक होता है वह काफी विनम्र, विवेकशील, सतर्क और सरल आदतो का होता है।

गाधी चोरी का प्रयोग स्थूल, सूक्ष्म और वैचारिक तीनो अर्थों मे करते हैं। विनोबा इन अर्थों को स्वीकार करते हैं तथा युग की आवश्यकता को ध्यान मे रख कर चोरी की नई व्याख्या देते हैं। उनके अनुसार चोरी का केवल इतना ही अर्थ नही है कि दूसरे की चीज नही ली जाय। उनके अनुसार 'चोरी अदत्त-दान' है जिसका अर्थ है बिना त्याग किये भोग करना।[३] यदि कोई अन्न, वस्त्र आदि के उत्पादन मे प्रत्यक्ष भाग न लेते हुए भी अन्न, वस्त्र का उपभोग करता है, तो वह चोरी है।[४] अत अस्तेय व्रत का अर्थ है सृष्टि के तारतम्य को कायम रखने के लिए कुछ न कुछ उत्पादन करते रहना। विनोबा के अनुसार अतिरिक्त वेतन मुनाफा ब्याज दलाली—ये सभी चोरी ही हैं।[५] जिस वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं है और मन मे उसकी वासना है तो वह भी चोरी है।[६] फिर भी विनोबा अस्तेय को पूरी नैतिकता नही मानते हैं। इसके साथ अपरिग्रह जुडा है। इन दोनो को मिलाने पर एक पूर्ण आर्थिक-सामाजिक नैतिकता बनती है।

अपरिग्रह

अपरिग्रह अस्तेय व्रत का ही एक अग है। गाँधी ने इस व्रत के अन्तर्गत वस्तु, शरीर और विचार—तीनो के अपरिग्रह की चर्चा की है। इसका आधार

---

१ उपरिवत् पृ० २२८।
२ उपरिवत् २२८।
३ विनोबा चिंतन, अक २९ पृ० २२५।
४ उपरिवत् पृ० २२५।
५ भावे विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० ५७।
६ भावे, बालकोबा अभगव्रत विवेचन, पृ० २८१।

ईश्वर का आदेश है। उनके अनुसार ईश्वर आवश्यकता से अधिक न तो कुछ जमा करता है और न इससे अधिक सृष्टि ही करता है। अतः ईश्वर में श्रद्धा रखनेवालों को यह विश्वास होना चाहिए कि भविष्य की आवश्यकता की सारी सामग्रियाँ ईश्वर स्वयं प्रदान करेगा।[1] भविष्य के लिए आवश्यकता से अधिक सामग्रियों को जमा करना सत्य और प्रेम के अनुकूल नहीं है। संग्रह की क्रिया ईश्वरीय नियम के विरुद्ध होने के कारण अकल्याणकर है। यही असमानता, दु:ख और असंतोष की जड़ है। संग्रह के कारण ही एक ओर अमीरों के यहाँ वस्तुएँ बर्बाद होती हैं तो दूसरी ओर करोड़ों व्यक्ति भूखों मरते हैं। अपरिग्रह व्रत के पालन से करोड़ों व्यक्ति भूखा मरने से बच सकते हैं तथा उनमें संतोष की शिक्षा मिल सकती है। गांधी के अनुसार पूर्ण अपरिग्रह व्रत में तो भविष्य के लिए घर, भोजन, वस्तु—कुछ भी जमा नहीं किया जाता है जिसका पालन कुछ ही व्यक्ति कर सकते हैं।[2] परंतु सामान्य व्यक्ति को यह आदर्श सामने रखकर धीरे धीरे अपनी आवश्यकताओं को कम करना चाहिए। मानव-सभ्यता का सार आवश्यकताओं की वृद्धि में नहीं है, इसका गौरव आवश्यकता को कम करने में है।[3]

वस्तुओं के अपरिग्रह के अतिरिक्त गांधी ज्ञान और विचारों[4] के अपरिग्रह को भी आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार हमारे मन में अनेक ऐसे विचार भरे पड़े हैं जिनका संबंध ईश्वर या सत्य की ओर ले जाने में नहीं है। बल्कि कुछ तो ऐसे विचार हैं जो सत्य के मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं। अतः ऐसे विचारों का त्याग आवश्यक है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति निष्क्रिय हो जाय। वस्तुतः सत्य और सेवा के मार्ग पर चलनेवाला निष्क्रिय कभी नहीं हो सकता। वह हमेशा अपने मन और शरीर को सात्विक कार्यों में लगाता है। विचारों के अपरिग्रह का यही अर्थ है।

विशुद्ध सत्य की दृष्टि से गांधी शरीर को भी एक प्रकार का परिग्रह मानते हैं।[5] आत्मा के साथ शरीर जुड़ने का कारण ही भोग लिप्सा है। यही भोग

---

1 Narayan, Shriman, *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol IV, p 229

२ उपरिवत्, पृ० २३०।

३ उपरिवत्, पृ० २३०।

४ उपरिवत् पृ० २३१।

५ उपरिवत्, पृ० २३०-३१।

लिप्सा पुनर्जन्म का भी कारण है। परन्तु जब पूर्णरूपेण इच्छाओं का त्याग हो जाता है, तो फिर पुनर्जन्म नहीं होता, शरीर की आवश्यकता नहीं रह जाती। अपरिग्रह व्रत में शरीर को भोग का साधन नहीं मानकर सेवा का माध्यम माना जाता है जिसमें जीवन का वास्तविक आनंद निहित है।

अपरिग्रह व्रत को स्थापित करने के लिए गाँधी ईश्वरवादी और मानवता-वादी दोनों प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। परन्तु ईश्वरवादी युक्ति पर उनका विशेष झुकाव है। आधुनिक मानव शायद ही अपने भविष्य को ईश्वर के नाम पर छोड़ सकता है और छोड़ना उचित भी नहीं है। यह एक प्रकार का पलायनवाद भी है। अतः ईश्वर पर आधारित करने से अपरिग्रह व्रत दुर्बल हो जाता है।

विनोबा अपरिग्रह व्रत को सामाजिक धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। गाँधी की भाँति ये इसका आधार ईश्वर और सृष्टि या प्रकृति को मानते हैं। उनके अनुसार सृष्टि "असंचय" स्वरूप है।[1] चूँकि सृष्टि में संग्रह नहीं है अतः यदि हम कुछ भी संग्रह करते हैं, तो इसका अर्थ है कि हम दूसरे के संग्रह की चोरी करते हैं।[2] प्रकृति के नियम के विरुद्ध होने के कारण संग्रह के कार्य में कुटिल मार्ग का सहारा लेना पड़ता है जिस कारण मन में अशांति बनी रहती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि विनोबा गाँधी की भाँति संग्रह के पूरे विरोधी हैं। यहाँ भी इनकी दृष्टि समन्वय की है। ये शरीर निर्वाह के लिए विवेकपूर्ण संग्रह का जीवन में स्थान देते हैं।[3] इनका संकेत केवल इतना ही है कि जिन वस्तुओं के अभाव में भी काम चल सके तो उनका त्याग करना चाहिए। अपरिग्रह व्रत पर विनोबा विशेष बल देते हैं। उनके अनुसार एक अपरिग्रह व्रत के उल्लंघन करने से सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य और अस्तेय—सभी के उल्लंघन हो जाते हैं।[4] वर्तमान समाज में इसकी अति आवश्यकता है।

विनोबा की युक्ति गाँधी की अपेक्षा अधिक आनुभविक और व्यावहारिक है। इसमें सूक्ष्म तार्किकता और मानवतावाद के अतिरिक्त स्वविषयक युक्ति (Self regarding reason) का भी समावेश है जो बौद्धिक रूप से किसी को अपरिग्रह के लिए बाध्य कर सकता है।

---

१ **विनोबा चिंतन**, अंक २९, पृ० २२५।

२ उपरिवत् पृ० २२६।

३ उपरिवत् पृ० २२६।

४ उपरिवत्, पृ० २२६।

शरीर-श्रम

जीने के लिए शरीर-श्रम-व्रत का विधान गांधी की मौलिक देन है तथा आर्थिक और सामाजिक नीतिशास्त्र में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। गांधी की इस धारणा का स्रोत टाल्सटाय का **'ब्रेड लेबर'** रस्किन का **"अनटू दिस लास्ट"** बाइबिल का "अपने पसीने की कमाई पर जीओ" तथा गीता का तीसरा अध्याय है जिसमें यह बतलाया गया है कि बिना यज्ञ किये खानेवाला चोर है।[1] यह व्रत वस्तुतः अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह के ही साधन है क्योंकि एक शरीर-श्रम के व्रत लेने से ऊपर के व्रतों का पालन आसान हो जाता है।[2]

शरीर-श्रम-व्रत पालन के लिए गांधी कई प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। उनके लिए शरीर-श्रम जीवन का शाश्वत नियम है, जो इसका पालन नहीं करता है उसे जीने का कोई भी अधिकार नहीं है।[3] शरीर-श्रम के अभाव में हमारा जीवन असंतुलित और बोझिल हो जाता है। ऐसे भी शरीर को स्वस्थ रखने के लिए व्यायाम करना ही पड़ता है। अतः उचित है कि शरीर श्रम को उत्पादकता के साथ जोड़ दिया जाय जिसमें एक ही समय में एक ही काम में जीने और स्वास्थ्य—दोनों का काम हो जाय। गांधी का यह दृढ़ विश्वास था कि उत्पादक श्रम करनेवाला किसान, बढ़ई, सोनार आदि अधिक स्वस्थ तथा सुखी जीवन व्यतीत करता है। अतः जीने के लिए शरीर-श्रम करना मानव का कर्त्तव्य है। शरीर-श्रम के पालन से समाज की कृत्रिम विषमता मिटती है। इसमें पूंजीपति और मजदूर वर्ग का भेद खड़ा नहीं होता। समाज से ईर्ष्या द्वेष और ऊंच-नीच की भावना स्वतः समाप्त हो जाती है।[4] शरीर-श्रम का महत्त्व समाज में बढ़ जाता है जो किसी भी प्रगतिशील राष्ट्र के लिए आवश्यक है।

गांधी यह मानते हैं कि समाज में हर व्यक्ति को जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर समान अधिकार है। अतः यह हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि शरीर

---

1 Prabhu, R. K. & Rao, U. R., (ed.), *The Mind of Mahatma Gandhi*, p. 198

२ उपरिवत्, पृ० २००।

३ उपरिवत्, पृ० १९८।

४ उपरिवत्, पृ० १९९।

५ उपरिवत्, पृ० १९९।

श्रम के द्वारा उपार्जन करे और जो इसमे व्यवधान उपस्थित करे उसका वह असहयोग करे।[१] शरीर-श्रम के द्वारा अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का ही उपार्जन होना चाहिए। संग्रह के निमित्त उपार्जन करने में दूसरो को क्षति पहुँचती है।[२] यद्यपि शरीर-श्रम का सच्चा अर्थ कृषि-कार्य से जुडा हुआ है, परतु हर व्यक्ति को ऐसा अवसर मिलना कठिन है। अत इसके स्थान पर कताई, बुनाई, बढईगिरी, इत्यादि का काम किया जा सकता है। अपना भगी स्वय बनने का अभ्यास किया जा सकता है। यद्यपि शरीर-श्रम के आदर्श को प्राप्त करना अप्राप्य मालूम पड सकता है, परतु इस दिशा मे प्रयत्न करना सदैव वाछनीय है।[३]

गांधी का यह विश्वास है बुद्धिमानीपूर्वक[४] शरीर-श्रम करना समाज की सच्ची सेवा है। यद्यपि शरीर-श्रम करनेवाले सभी समाज-सेवी हैं, परतु समाज मे सामान्य व्यक्तियों की कल्याण की भावना मे किया गया शरीर-श्रम समाज की रचना मे सूक्ष्म क्राति ला सकता है तथा पृथ्वी पर स्वर्ग का आनद दे सकता है। अत इस व्रत का पालन करना आवश्यक है।

विनोवा गांधी के शरीर-श्रम के विचारो का पूर्णत समर्थन करते हैं। उनके लिए भी यह शाश्वत धर्म है।[५] मनुष्य जाति की जीविका का यह "निसर्ग-निर्मित साधन है"।[६] गांधी से एक कदम आगे बढकर विनोवा शरीर-श्रम को केवल देश और समाज के लिए ही आवश्यक नहीं मानते बल्कि आध्यात्मिकता की सिद्धि का उत्तम मार्ग मानते हैं। उन्होने यहाँ तक कहा है कि आध्यात्मिकता की सिद्धि मे शरीर-श्रम यौगिक-निष्ठा से अधिक सहायक है।[७] इसके द्वारा आत्मा की पवित्रता बढती है, जीवन मे सरलता आती है, ब्रह्मचर्य

१ उपरिवत्, पृ० १९९।

२ उपरिवत्, पृ० १९९।

३ उपरिवत्, पृ० २०३।

४ उपरिवत् पृ० १९९।

५ विनोवा चिंतन, अक ५५, पृ० २५१।

६ विनोवा चिंतन, अक २९, पृ० २२८-२९।

7 Tondon, Vishwanath, *The Social & Political Philosophy of Sarvodaya After Gandhi*, p 73

और वैराग्य सहज सिद्ध होते है।[1] अत अपरिग्रह म सहायता मिलती है। इसी प्रकार सामाजिक दृष्टि स भी देखन पर शरीर-श्रम आवश्यक है। इसक बिना उत्पादन होना असभव है और बिना उत्पादन के कोई भी समाज सुखी नही हो सकता। अत विनोबा के अनुसार शरीर-श्रम नही करना और शरीर श्रम करनेवालो को हेय समझना—दोनो नैतिक दृष्टि स अनुचित है।[2] भारत के दिन प्रतिदिन ह्रास होने का एक कारण यह भी है कि यहाँ पर शरीर-श्रम करनेवाले शूद्रो और नारियो को हेय दृष्टि स देखा जाता है। किसी भी समाज के स्वाभाविक विकास के लिए शरीर-श्रम आवश्यक है। विनोबा गाधी की सभी बातो को स्वीकार कर शरीर-श्रम के आध्यात्मिक महत्त्व पर अधिक बल देते हैं। इनके अनुसार शरीर-श्रम स व्यक्ति कर्मो के पाप स मुक्त होता है।[3] इससे निष्कमता सिद्ध होती है इसलिए विश्राम मिलता है।[4]

स्वदेशी

शरीर-श्रम की भाति 'स्वदेशी' गाधी की मौलिक देन है यद्यपि इसका आधार गीता का स्वधर्म और बाइबिल का 'लव दाई नेबर' कहा जा सकता है। इसक महत्त्व को देखकर गाधी ने इसे धर्म और व्रत का रूप दिया। परन्तु इसका बाहरी रूप लोगो के मन म भ्रान्ति उत्पन्न करता है। अतएव पहले इसके अर्थ पर विचार करना चाहिए। गाधी न स्वदेशी का प्रयोग व्यापक अर्थ म किया था। अतएव न तो इसे मात्र अर्थशास्त्रीय धारणा के अन्तर्गत रखना चाहिए और न इसे बहिष्कारक ही समझना चाहिए। व्यापक अर्थ म यह ऐसी धारणा है कि इसम नैतिक सामाजिक अर्थशास्त्रीय राजनैतिक भाषीय धार्मिक और आध्यात्मिक—सभी प्रकार के अर्थ सघटित माने जा सकते है। फिर भी सब मिला कर यह सामाजिक नैतिकता का ही प्रत्यय है। स्वदेशी का अर्थ गाधी व्यक्ति के समीपस्थ वातावरण के प्रति स्वधर्म म लेते है।[5] इसके अनुसार व्यक्ति अपनी समीप की वस्तुओ के उपयोग तथा पडोसियो की सेवा का व्रत लेता है विदेशी वस्तुओ और दूरस्थ व्यक्तियो की सेवा का बहिष्कार एक विशेष

१ भावे, बालकोबा, अभगव्रत विवेचन, पूर्वन, पृ० ३०८।

२ विनोबा चिंतन, अक ५१, पृ० २५८।

३ भावे, बालकोबा, अभगव्रत विवेचन, पूर्वन् पृ० ३२६।

४ उपरिवत्, पृ० ३३१।

5 Narayan, Shriman (ed), *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol IV, p 257

अर्थ में किया जाता है।[1] इस व्रत के अनुसार अपने देश के धर्म, इसकी भाषा, राजनैतिक-पद्धति और उपयोग की वस्तुओं को अंगीकार करना आवश्यक माना जाता है।[2] परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'स्वदेशी' एक वहिष्कारक धारणा है। वस्तुतः यह एक भावात्मक प्रत्यय है। जो कुछ इसमें वहिष्कारक तत्त्व है वे मात्र मानव की सेवा शक्ति की सीमा की वैज्ञानिक स्वीकृति है।[3] वहिष्कार के पीछे कोई घृणा का भाव नहीं है।[4] यह कोई स्वार्थजनित प्रत्यय नहीं है। यदि इसमें किसी प्रकार का स्वार्थ अंतर्निहित है, तो वह उच्च कोटि का स्वार्थ है जो उच्चतम कोटि के परार्थ से भिन्न नहीं है।[5] विशुद्ध अर्थ में यह सार्वभौम सेवा का शिखर है[6] क्योंकि पड़ोसी धर्म के पालन करने पर एक-दूसरे के प्रसंग में समस्त जगत की सेवा हो जाती है।[7] स्वदेशी एक आध्यात्मिक अनुशासन भी है क्योंकि इसमें आत्मा का पार्थिव बंधन से मुक्ति और विश्वात्मा के साथ एकाकार का भाव है।[8]

स्वदेशी व्रत के अनुसार सभी प्रकार के विदेशी सामानों का त्याग न कर उन्हीं वस्तुओं का त्याग किया जाता है जिनका उत्पादन अपने देश में होता है तथा जिनके उपयोग के बिना हमारे समाज के कुछ अंग अपनी आजीविका खो देते हैं। हम अपनी आवश्यकता की चीजों को विदेशों से मंगा सकते हैं, विदेशी पूँजी और प्रतिभा का प्रयोग कर सकते हैं, शर्त केवल इतनी ही है कि उससे

1 Prabhu, R K, & Rao, U R *The Mind of Mahatma Gandhi*, p 410

2 *Ibid*, p 410-411

3 *Ibid*, p 414

4 Narayan, Shriman (ed) *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol IV, p 260

5 *Ibid*, p 258

6 *Ibid*, p 258

7 Prabhu, R K, & Rao, U R, (ed), *The Mind of Mahatma Gandhi*, p 414

8 Narayan, Shriman, *The Selected Works of Mahatma Gandhi* Vol IV, p 256

अपने देश के नागरिकों की प्रगति अवरुद्ध[1] न हो और उसका नियंत्रण भारत के द्वारा हो।[2] अतः विदेशों से पुस्तक, घड़ी, पेंसिल इत्यादि खरीदना स्वदेशी धर्म के विरुद्ध नहीं है, परंतु कपड़ा और जूते खरीदना स्वदेशी व्रत के विरुद्ध है क्योंकि इसमें हमारे देश के जुलाहे और मोची अपनी आजीविका खो देते हैं। इसमें अपने पड़ोसी का अहित होता है। अतः स्वदेशी व्रत का मुख्य संबंध खादी और उन सभी वस्तुओं में है जिसका उत्पादन भारत में होता है।

गांधी का स्वदेशी व्रत संकीर्णता, घृणा, स्वार्थ, प्रतिद्वन्द्विता और भौतिकता आदि दोषों से मुक्त है। यह अहिंसा और प्रेम का ही पर्याय है। यह हमारे स्वभाव में ही व्याप्त है परंतु अज्ञानवश हम स्वार्थ और भौतिकता में पड़कर इसका उल्लंघन करते हैं। व्रत के द्वारा हम इसे अपने जीवन में उतार सकते हैं। इसके पालन से एक ओर अपनी संकल्प-शक्ति बढ़ती है दूसरी ओर समाज की अर्थ-व्यवस्था टिकाऊ बनी रहती है।

विनोबा गांधी की स्वदेशी धारणा का और अधिक स्पष्टीकरण करते हैं। उनके अनुसार स्वदेशी स्वधर्म के सिद्धांत के साथ-साथ स्वावलंबन का सिद्धांत[3] है। चूंकि स्वदेशी का देश उपलक्षण है अतः इसके अंतर्गत भाषा, रीति रिवाज, पोशाक, विद्या इत्यादि कई चीजों का समावेश हो जाता है।[4] विशुद्ध स्वदेशी में यंत्रों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि इनके द्वारा हिंसा होती है तथा इसमें अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य व्रत को क्षति पहुंचती है।[5] इस व्रत के अनुसार अपने शरीर की जानकारी के लिए मेढक के शरीर को चीरकर देखना[6] अनुचित है। विनोबा के अनुसार जैसे अहिंसा धर्म की मर्यादा है उसी प्रकार स्वदेशी व्यवहार की मर्यादा है।[7] स्वदेशी-व्रत का पालन करना मनुष्य का

---

1 Prabhu R K & Rao U R (ed) *The Mind of Mahatma Gandhi* p 413

2 Bose, N K *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, p 307

३ **विनोबा चिंतन,** अंक २९, पृ० २२७।

४ उपरिवत्, पृ० २२७।

५ उपरिवत् पृ० २२८।

६ उपरिवत् पृ० २२७।

७ उपरिवत् पृ० २२७।

जन्मसिद्ध कर्त्तव्य है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि विनोबा स्वदेशी-व्रत को गांधी की अपेक्षा अधिक जटिल बना देते हैं। शल्य-ज्ञान के लिए मेढक के शरीर को चीरने की अनुमति नहीं देना यदि एक ओर मनुष्येतर प्राणियों से प्रेम का भाव दिखाता है, तो दूसरी ओर इसमें विज्ञान और व्यवहार झुठलाना हुआ प्रतीत होता है।

उपर्युक्त व्रतों के अतिरिक्त निर्भयता, विनम्रता, स्पर्श भावना को भी गांधी ने व्रत के अन्तर्गत रखा है। परन्तु हम देख चुके हैं कि निर्भयता अहिंसा का ही एक अंग है। विनम्रता और स्पर्श भावना भी उसीके रूप हैं। अतः इनपर अलग से विचार करना आवश्यक नहीं। विनोबा ने अनिंदा और वाक्-संयम को एक नये व्रत के रूप में विधान किया है। अतः इस पर थोड़ा-सा विचार करना आवश्यक है।

अनिंदा और वाक्-संयम

यद्यपि अनिंदा और वाक्-संयम अहिंसा के ही अंग हैं, फिर भी विनोबा ने युग की आवश्यकता को ध्यान में रख कर क्रिया-शक्ति के विकास के लिए वाक्-संयम और अनिंदा व्रत को जोड़ दिया है। वाक्-संयम में सत्यनिष्ठा, मौन-निष्ठा, शमशीलता और ऋजुता आती है।[१] वाक्-संयमी के वचन में शक्ति होती है और वह दूसरों के हृदय तक पहुँचता है।[२] अनिंदा का अर्थ केवल वचन से दूसरों की निंदा का त्याग करना ही नहीं आता है, इसमें मन से भी दूसरे के दोषों का ख्याल नहीं किया जाता है।[३] निंदा के द्वारा व्यक्ति संसार भर के दोषों को अपने मन में जमा करता है जिसके कारण वह स्वयं दोषों में प्रवित हो जाता है। अतः विनोबा के अनुसार केवल अधम व्यक्ति ही दूसरों के दोष को देखते हैं, उनसे अच्छे व्यक्ति गुण-दोषों—दोनों को विश्लेषण कर देखते हैं। उसमें भी जो अच्छे होते हैं वे केवल गुणों को ही देखते हैं तथा सबसे महान् पुरुष गुणों का विस्तार कर देखते हैं। इस प्रकार गुण-दर्शन से अपने में तो गुण विकास होता ही है समाज के बहुत-से अनावश्यक झगड़ों का भी अन्त हो जाता है। विनोबा नैतिक भूमिका में सभाओं को के लिए गुण-दोषों से ऊपर उठना तथा गुणों का अधिक देखना आवश्यक मानते हैं।[४]

---

१ विनोबा चिंतन, अंक ९, पृ० ६३।

२ उपरिवत् पृ० ६४–६५।

३ उपरिवत्, पृ० ६७।

४ उपरिवत्, पृ० ६७।

वाक्-संयम और अनिंदा इस युग के लिए आवश्यक व्रत है। समाज के हर कोने में व्यक्ति एक दूसरे की आलोचना करते हुए दिखाई पड़ते हैं परंतु गुण-ग्रहण का प्रयत्न नहीं करते। इस परिस्थिति में रचनात्मक कार्य ठप पड़ जाता है, इससे उसका दिमाग अशांत हो जाता है तथा कार्य में क्षति पहुँचती है। सब मिलकर रचनात्मक कार्य करें यह इस युग की माँग है। अतएव अनिंदा और वाक्-संयम का पालन करना बहुत आवश्यक है।

गाँधी और विनोबा के व्रत विचार के सिंहावलोकन में मुख्यतः दो बातें स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं। पहला तो यह कि गाँधी ने अपने व्रत संबंधी विचारों को मंगल प्रभात में गद्य के रूप में वर्णित किया था परंतु विनोबा ने इन्हें अपनी मराठी भाषा में लिखी हुई पुस्तक अभंगव्रत में काव्य का रूप प्रदान किया है जो हमें प्राचीन उपनिषदिक ऋषियों की दार्शनिक कीर्ति और रचना शैली का दिग्दर्शन कराता है। विनोबा के अनुज श्री बालकोबा ने इस पुस्तक पर हिन्दी में भाष्य किया है जो विवेचन की दृष्टि से तो सुन्दर है ही, विनोबा के विचारों को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है। दूसरी बात यह कही जा सकती है कि विनोबा ने गाँधी के मूल विचार को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है। केवल पूर्णता अथवा पल्लवन की दृष्टि से ही अन्य विचारों को उन्होंने जोड़ा है। अतः गाँधी की अपेक्षा विनोबा के विचारों में शास्त्रीयता अधिक आ पायी है।

४ सर्वधर्म-समन्वय

यद्यपि सभी धर्मों की समानता और उनके शुभ गुणों के समन्वय का विचार रामकृष्ण और विवेकानंद के विचारों में आया परंतु गाधी विनोबा और अन्य समसामयिक चिंतकों ने भी सर्व धर्म-समन्वय के विचार पर बल दिया है। गाधी और विनोबा ने सर्व धर्म-समानत्व को व्रत का रूप दे दिया है। दोनों महापुरुषों के अनुसार हिंदू धर्म का सार भी धर्म समन्वय ही है। अब हम एक एक कर गाधी और विनोबा के विचारों को देखेंगे।

गाँधी के विचार गाधी के सामने देश में साम्प्रदायिक सामंजस्य को मजबूत बनाने की समस्या थी। सभी धर्मावलम्बियों को वे प्रेम के सूत्र में बंधा देखना चाहते थे। परंतु ऐसा तभी संभव हो सकता था जब एक धर्मवाले दूसरे धर्मवालों को अपने ही धर्म के समान आदर दे सकते। गाँधी ने बतलाया कि सभी सत्य के उपासक जो प्रेम के नियम में विश्वास करते हैं दूसरे धर्मों का अपने धर्म के समान

ही श्रद्धा देते हैं तथा अपने धर्म की अपूर्णता को स्वीकार करते हैं।[1] सत्य के उपासक होने के अधिकार से कोई सपूर्ण सत्य के अधिकारी होने का दावा नहीं कर सकता क्योंकि इसका अर्थ है ईश्वर हो जाना। इसलिए उसे अपनी अपूर्णता की चेतना रखनी पड़ती है। यदि हर मानव अपूर्ण है, तो उसके द्वारा निर्मित धर्म भी अपूर्ण ही कहा जायगा। गांधी का यह विश्वास था कि अबतक हमलोगों ने धर्म और ईश्वर का अनुभव पूर्णता में नहीं किया है।[2] मानवनिर्मित धर्म अपूर्ण होने के कारण विकास की प्रक्रिया और पुनर्व्याख्या का विषय है। इसी प्रक्रिया के द्वारा सत्य और ईश्वर की ओर प्रगति होती है।[3] अत वे तर्क देते हैं कि यदि मानव निर्मित सभी धर्म अपूर्ण हैं तो तुलनात्मक रूप से किसी एक के गुण का प्रश्न ही नहीं उठता।[4] सभी धर्म सत्य की अभिव्यक्तियां हैं और अपूर्ण होने के कारण उनमें गलतियों की संभावना है।[5] अत दूसरे धर्मों के समादर का अर्थ उनके दोषों का समादर नहीं है और न अपने धर्म के आदर का अर्थ इसके दोषों को छिपाना है। मुख्य बात है अपने धर्म को स्वीकार कर उसमें से दोषों को दूर करना। सभी धर्मों के समादर से गांधी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि दूसरे धर्मों के गुणों को अपने धर्म में मिलाना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है।[6]

ऐसा प्रश्न किया जा सकता है हम क्यों नहीं सभी धर्मों के गुणों को एक साथ समन्वित कर एक ही विश्वधर्म की स्थापना करें? धर्मों की अनेकता की क्या आवश्यकता? गांधी धर्मों की अनेकता का उन्मूलन करना पसंद नहीं करते। उनके अनुसार जिस प्रकार एक आत्मा के रहते हुए भी शरीर की अनेकताओं को हम मिटा नहीं सकते उसी प्रकार धर्मों की अनेकता को भी हम मिटा नहीं सकते।[7] हाँ अनेकताओं के बीच एकता का अनुभव कर सकते हैं। इसीलिए गांधी आलंकारिक भाषा में कहते हैं कि भिन्न भिन्न धर्म एक ही वाटिका के भिन्न

1 Narayan Shriman (ed) *The Selected Works of Mahatma Gandhi* Vol IV p 240

2 *Ibid*, p 240

3 *Ibid*, p 241

4 *Ibid*, p 241

5 *Ibid*, p 241

6 *Ibid*, p 241

7 *Ibid*, p 241

भिन्न भिन्न[१] पुष्प हैं, एक ही वृक्ष की अनंत शाखाएं और पत्तियाँ है। वास्तव में पूर्ण धर्म एक ही है जो अनिर्वचनीय है।[२] मानवकृत धर्म अनेक हैं जो विशेष दृष्टिकोण से उचित और अनुचित हो सकते हैं। इसीलिए परस्पर सहिष्णुता और आदर की आवश्यकता है। गाँधी यह मानते हैं कि धर्म व्यक्तिगत चीज है।[३] प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपने ढंग से जीने का अधिकार है। वह दूसरे धर्मों के शुभ तत्वों को ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार वह अपना विकास कर सकता है। परंतु यह कल्पना करना कि सभी व्यक्ति एक ही धर्म को मान गलत है। इसी आधार पर गाँधी धर्म परिवर्तन की आलोचना करते हैं।[४] वे हिंदू से ईसाई बनने के बदले पक्का हिंदू और पक्का ईसाई बनना पसंद करते हैं। वे गीता के "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" में विश्वास करते हैं। अतः किसी के धर्म में लाख बुराइयाँ क्यों न हो उसे अस्वीकार कर धर्म बदलना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।[६] गांधी अपने अपने धर्मों के सुधार पर बल देते हैं। इस प्रकार वे सभी धर्मों में सार रूप में एकता पाते हैं, इस आधार पर सभी के प्रति समादर का भाव स्थापित करना चाहते हैं और दूसरे धर्मों के गुणों का अपने धर्म के साथ समन्वय स्थापित करना चाहते हैं।

हिंदूधर्म जिसे गांधी अपनी पत्नी के समान निष्ठा का विषय मानते हैं,[७] समन्वयात्मक विचार का ही परिपोषक है। यद्यपि गाँधी अपने को सनातनी हिंदू मानते हैं क्योंकि उन्हें हिंदू धर्म का पुनर्जन्म विचार, गौ-सेवा, वर्णाश्रम धर्म, वेद, पुराण, उपनिषद्, अवतार, मूर्ति-पूजा इत्यादि मान्य है, फिर भी उनकी दृष्टि व्यापक है। वे हिंदू धर्म का अर्थ उस धर्म से लेते हैं जो अहिंसक साधन के द्वारा सत्य की खोज करता है।[८] हिंदू धर्म के अनुसार संसार के सभी प्राणियों की उत्पत्ति एक ही सार्वभौम सत्ता से होती है जिसे ईश्वर, अल्लाह या

---

1 Gandhi M K, *Hindu Dharma* p 261

2 *Ibid* p 261

3 Narayan Shriman *The Selected Works of Mahatma Gandhi* Vol II, p 241

4 Gandhi M K *Hindu Dharma* p 260

५ उपरिवत्, पृ० २६१।

६ उपरिवत्, पृ० २६०।

७ उपरिवत्, पृ० ८।

८ उपरिवत्, पृ० ८।

परमेश्वर कह सकते हैं।[१] अत यह धम केवल विश्वमानव से ही भ्रातृत्व प्रेम की शिक्षा नहीं देता बल्कि सभी जीवो मे प्रेम करने की शिक्षा देता है।[२] इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने विश्वासो के अनुसार ईश्वर-पूजा कर सकता है और दूसरे धर्मों के साथ शातिपूवक रह सकता है।[३] इस धर्म म विश्व केसभी धर्मों के पैगबरो की पूजा होती है। अत इसे सामान्य अथ म मिशिनरी धम नहीं कहा जा सकता है।

गाधी के अनुसार हिंदू धम बहिष्कारक नही समन्वयात्मक है। सहिष्णुता इसका सार है।[४] यह अपने मे ईसाई यहूदी और पारसी—सभी को आदर पूवक स्थान दे सकता है। अत एक सच्चा हिंदू, ईसाई मुस्लिम यहूदी और पारसी—सभी को समान रूप मे श्रद्धा देने मे हिंदुत्व का कोई विरोध नही पाता।[५] उनके अनुसार सवधमसहिष्णु हिंदू धम ही चिरकाल तक जीवित रह सकता है और सूर्य की भाति चमक सकता है। इस प्रकार गांधी हिंदू धम को दया और प्रेम का धम मानते हैं जिसका विश्व मानव के किसी भी अश के साथ विरोध नही है। इस अथ म इस सार्वभौम धम माना जा सकता है।

परतु इसका यह अर्थ नही कि हिंदू धम म कोई दोष नही है। गाधी के अनुसार छुआछूत की भावना हिंदू धम का प्लेग है जिसका निवारण करना हर व्यक्ति का कत्तव्य है। जातिप्रथा वर्णाश्रम धम का वीभत्स रूप है जिसका उन्मूलन कर अतर्जाति विवाह की प्रणाली को स्थापित करना प्रत्यक नागरिक का कत्तव्य है। इसी प्रकार काली, दुर्गा आदि के मदिर म बलि चढाना, धम के नाम पर लडकियो के साथ दुव्यवहार करना इत्यादि हिंदू धम क कलक हैं। गाधी इन सभी दोषो को दूर करना प्रत्यक नागरिक का कत्तव्य मानते हैं।

गांधी हिंदू धम की व्याख्या विशुद्ध रूप से नतिक उत्थान की दृष्टि स करते है रहस्यवाद की दृष्टि से नही। वे हिंदू धम के उसी अश को स्वीकार करत है जो

---

१ उपरिवत्, पृ० ३९।

2 *Ibid* p 38

3 *Ibid* p 38

4 Hinduism is nothing if it is not tolerant and generous to every other faith —Gandhi M K *Hindu Dharma*, p 35

5 *Ibid* p 257

उनकी नैतिक आत्मा (moral-self) को पसद है। उनके अनुसार हिंदू धर्म कोई रूढिवादी धर्म नही है। यह उदार और विकासशील धर्म है। इस प्रकार हिंदू धम की उदारवादी व्याख्या प्रस्तुत कर गाधी सभी धर्मो के बीच की कडी को तोडना चाहते हैं। सभी धर्मा मे आपस मे समन्वय करना चाहते है।

विनोबा के विचार विनोबा सिद्धातत गाँधी के विचारो और धर्म समन्वय की युक्तियो को स्वीकार करते है।[१] अत इनकी युक्तियो मे कोई विशेष नवीनता नही है। गाँधी ने इतना भर बतलाया था कि सव-धर्म समादर का अर्थ दूसर धमा की बुराइयो या अधर्मो का आदर नही है। यहाँ प्रश्न है कि धम और अधर्म का निर्णय कैसे किया जाए ? फिर धम और अधर्म के निर्णय मे और समभाव म कोई विरोध तो नही है ? विनोबा दूसरे प्रश्न को स्पष्ट करते है। उनके अनुसार धम-अधर्म के निणय मे समभाव की शृ खला टूटनी नही है। अहिंसा मे अधर्म का ज्ञान प्राप्त कर भी अधर्मियो के प्रति बैर के बदले प्रेम का भाव रखा जाता है। इसमे या तो प्रतिपक्षी दूसरे की दृष्टि को स्वीकार कर लेता है या दूसरा को भूल की ओर सकेत करता है। अत मतभेदा के बीच भी सहनशीलता रहती है।[२] यदि विपक्षी अहिंसक न होकर कठोर होता है तो भी दूसरे की मृदुता उसकी कठोरता का हरण करती है। समभाव मे कभी भी भूल क बदले पीडा का विधान नही है।

सवधम-समन्वय की दिशा मे विनोबा का दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम है कि ये गाधी के ढीले ढाले समन्वयात्मक विचार को आपस मे सगठित करत है। उदाहरणस्वरूप गाधी अपनी प्राथना सभा म कुछ वैष्णव भजन, कुछ कुरान का उद्धरण और कुछ बाइबिल का अश रखते थे जिसमे सभी धर्मो के व्यक्ति उपस्थित होते थे। विनोबा जैसा हम उनके ईश्वर विचार म देख आए है अलग अलग हिदू मुस्लिम और ईसाई धर्मों की प्राथना की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। वे एक ही प्राथना म सभी प्रमुख धर्मो के प्रमुख शब्दा को सगठित करते है। इसी प्रकार प्रमुख धर्मो के बाहरी गुणो को आपस मे सगठित कर एक नए मानव धम की स्थापना करना विनोबा का लक्ष्य है। उदाहरण-स्वरूप ईसाई धम की सेवा भावना,[३] इस्लाम का धम के सबध मे लोकतात्रिक

---

१ **विनोबा चितन,** अक ३० पृ० २३०।

२ उपरिवत, पृ० २३३-३४।

३ **विनोबा चिंतन,** अक १६, पृ० १७९।

विचार और सूद लेने का बहिष्कार[१] जैना की तपस्या[२]—ये सभी आपस में समन्वय के विषय हैं। इनके आधार पर परम-मानव धर्म की स्थापना हो सकती है। अत यहाँ भी विनोबा ने भिन्न भिन्न धर्मों को आपस में सगठित करने का प्रयास किया है।

गाँधी के लिए धर्म व्यक्तिगत वस्तु है। परन्तु विनोबा धर्म की स्थापना मन से ऊपर उठकर विज्ञान के आधार पर करना चाहते हैं[३] जहाँ पर मन और भावनाओं की अपेक्षा विशुद्ध विचार को प्रश्रय मिलता है। जब धर्म विशुद्ध विचार पर आधारित हो जाता है तो फिर यह व्यक्तिगत वस्तु नहीं रह कर आम विषय बन जाता है। विनोबा की यह मान्यता है कि अबतक कोई धर्म धर्म नहीं बन पाया है। हिंदू, इस्लाम ईसाई इत्यादि पथ हैं जिन्हें धर्म तक पहुँचने के विभिन्न सोपान कहे जा सकते हैं। वास्तव में धर्म की स्थापना तब होगी जब व्यक्ति भिन्न भिन्न धर्मों की उपासनाओं का एक साथ अनुभव करने लगेगा।[४] सभी धर्म ग्रथो की मुख्य देन को एक साथ जीवन में उतार कर मानव धर्म की स्थापना करेगा। सभी ग्रथो के लोग आपस में मिलकर नास्तिकता और हिंसा पर प्रहार करने लगेंगे।

गाँधी पूर्णधर्म के सबध में रहस्यवादी हैं। उनके अनुसार पूर्णधर्म एक है और वह अनिर्वचनीय है। विनोबा वास्तविक धर्म के सबध में इस प्रकार का रहस्यवादी कथन नहीं करते हैं। उनके अनुसार वास्तविक धर्म एक है अवश्य, और वह है मानव धर्म। परन्तु उस अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकता। उसे निश्चित फार्मूले के आधार पर समझा जा सकता है। उनके अनुसार सभी धर्मों के सार को आपस में सगठित कर एक नए धर्म की स्थापना की जा सकती है। सभी धर्मों के सार हैं—'मानवता' और 'आध्यात्मिक अनुभव'। ये दोनो धर्म के न्यूनतम और उच्चतम तत्व हैं। इनके आपस में मिलाने पर बाहरी अनावश्यक विधि इत्यादि का निषेध हो जाता है तथा वास्तविक रूप में धर्म मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है। विनोबा ने लिखा है[५]—

---

१ उपरिवत पृ० १८०।

२ उपरिवत, पृ० १८०।

३ विनोबा चिंतन, अक ५५, पृ० २४७।

४ विनोबा चिंतन, अक ६६ पृ० १७१।

[५ विनो]बा चिंतन, अक ८४ ८५ ८६, पृ० ३९२।

"धर्म-पंथ दुनिया को तोड़ने जा रहे हैं। ये धर्म-पंथ कालबाह्य हो गए हैं। इसलिए हम उच्चतम समान तत्त्व ढूँढना होगा। यदि आप सब धर्मों का सार तत्त्व यानी उच्चतम तत्त्व लेंगे, तो आपको केवल "मानवता" मिलेगी, जो न्यूनतम है। एक न्यूनतम समान गुणक भी निकालना होगा। अलग अलग धर्मों के आध्यात्मिक पुरुषों के आध्यात्मिक अनुभव को (जो समान होते हैं) इकट्ठा करने पर न्यूनतम समान गुणक विधि निषेध का नीतिशास्त्र बनेगा। धर्म के बाहरी रूप तोड़ते हैं, लेकिन आध्यात्मिक अनुभव जोड़ते हैं। इसलिए अलग अलग धर्मों के सार तत्त्व तक पहुंचने की दृष्टि में, धर्मों की मर्यादाओं के परे जाने के लिए, सब धर्मों का उच्चतम समान तत्त्व है "मानवता" और न्यूनतम समान गुणक है आध्यात्मिक अनुभव जिसके द्वारा हम पूर्णता प्राप्त कर प्रभु के पास पहुंच सकते हैं।"

इस प्रकार विनोबा वास्तविक धर्म के संबंध में एक सुव्यवस्थित विचार रखते हैं जिसकी ओर गाँधी ने बहुत विचार नहीं किया था।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है। यदि हम सभी धर्मों के सार को जमा कर एक विश्व मानव धर्म की स्थापना करें, तो यह व्यावहारिक हो सकेगा? यह धर्म मानव भावनाओं को सन्तुष्ट कर सकेगा? शायद इसका उत्तर निषेधात्मक ही होगा। हर व्यक्ति की अपनी अलग अलग आस्थाएँ होती हैं। जीवन का अधिकांश भाग आस्थाओं, भावनाओं और व्यक्तिगत कल्पनाओं से परिचालित होता है। हर व्यक्ति धर्म को अपने अपने रंग में देखना चाहता है। यह ठीक है कि धार्मिक व्यवहारों में अनेक अनावश्यक अंश होते है, परन्तु उनका हम बहिष्कार नहीं कर सकते। यदि धर्म की स्थापना विशुद्ध बुद्धि के आधार पर की जाएगी, तो यह कुछ इने-गिने व्यक्तियों तक ही सीमित रह जाएगा। सामान्य व्यक्ति इसमें अभिरुचि नहीं ले सकेंगे। और, तब धर्म की वही स्थिति होगी जो स्पीनोजा के दर्शन में हुई। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर भी यह सिद्ध होता है कि जब मनुष्य में विशुद्ध बौद्धिकता आ जाती है, तो वह धर्म से भी ऊपर उठ जाता है तथा अतिधार्मिक अवस्था में प्रवेश करता है। विश्व-मानव धर्म की कल्पना, सचमुच मनुष्य को अतिधार्मिक अवस्था में ले जा सकता है। परन्तु इसके आधार पर धर्म के सामूहिक पक्ष की व्याख्या करना कठिन है। यदि यह सामूहिक रूप नहीं ले पाता है, तो फिर इसका कोई लाभ समाज को नहीं मिल सकता। अत

कल्पना की दृष्टि से यह ठीक है। विश्व मानव धर्म का विचार एक ऊँचा विचार है। परंतु यह व्यावहारिक हो सकेगा—कहना असंभव है।

विश्व-मानव धर्म की स्थापना जिस दिन होगी, उस दिन होगी, तबतक के लिए विनोबा सर्व धर्म समभाव व्रत का पालन करना आवश्यक मानते हैं। इसके पालन से अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती, इसके बदले स्वधर्म विषयक प्रेम रूढ न रहकर ज्ञानमय, सात्त्विक और निर्मल हो जाता है।[1] हमारे दिव्य चक्षु खुल जाते हैं, आपसी भेद भाव मिट जाते हैं। अतः विनोबा का कहना है कि समभाव के विकास होने पर हम अपने धर्म को और अधिक पहचान सकते हैं।[2]

हिंदू धर्म की व्याख्या में भी विनोबा यही पाते हैं। उनके अनुसार समग्र हिंदू-संस्कृति समन्वय की संस्कृति रही है। परंतु यह समन्वय का कार्य विचारों के क्षेत्र में ही हुआ है। विनोबा यह चाहते हैं कि अब हिंदू धर्म का समन्वय इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों से होना चाहिए तथा समन्वय केवल विचार के स्तर पर न रहकर जीवन में उतरना चाहिए।[3] ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता और सभी ग्रंथों में समन्वय के विचार हो भरे पड़े हैं—ऐसा विनोबा का विश्वास है। इन हिंदू-ग्रंथों में वेदांत के विचार हैं जिनमें केवल वैदिक कर्मकांडों के अंत का ही विचार नहीं है बल्कि ईसाई, इस्लाम आदि के भी अंत का विचार है।[4] वेदांत का अर्थ विनोबा अद्वैत भावना में लेते हैं। हिंदू-संस्कृति में अद्वैत का विचार है। अतः इसके सामने ऊँच नीच, स्त्री-पुरुष तथा अन्य पार्थिव भेद टिक नहीं सकते। अद्वैत विचार समस्त मानव में प्रेम की शिक्षा देता है। इस प्रकार विनोबा हिंदू धर्म की व्याख्या में अद्वैत भावना और समन्वय पर विशेष बल देते हैं। गांधी में भी ये विचार बीज रूप में हैं। परंतु गांधी व्यावहारिक आदर्शवादी थे। अतः उनका समन्वय और उनकी अद्वैत भावना व्यावहारिक स्तर पर थी। विनोबा आदर्शवादी विचारक हैं। अतः जहाँ कहीं इनका विचार होता है—ये पूर्ण आदर्श को सामने रखकर विचार देते हैं। अतः 'अद्वैत', 'वेदांत' और 'समन्वय' का विचार इन्होंने गहराई से किया है।

---

१ **विनोबा चिंतन,** अंक ३०, पृ० २३१।
२ उपरिवत्, पृ० २३१।
३ **विनोबा चिंतन,** अंक १० ११ पृ० २०।
४ **विनोबा चिंतन,** अंक १६, पृ० १७८।

सर्वोदय

गाँधी और विनोबा के अनुसार नैतिक आदर्श के रूप में सर्वोदय को स्वीकार किया गया है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सुखवाद सुख को प्राप्ति और आत्मपूर्णतावाद आत्मलाभ को नैतिकता का मापदण्ड मानता है। सर्वोदय सामासिक शब्द का शाब्दिक अर्थ है। सबका उदय'[1] 'सब प्रकार से उदय'[2] और सबके द्वारा उदय। यों गहराई में प्रवेश करने पर और अर्थ बन सकते हैं परन्तु ऊपर के तीनों अर्थ सब प्रकार से ग्राह्य और युक्तिसंगत हैं। सबका उदय सर्वोदय का लक्ष्य है, सब प्रकार से उदय इसकी विशेषता है और 'सब के द्वारा उदय' इसका साधन है। परन्तु सब प्रकार से उदय का भ्रामक अर्थ भी लगाया जा सकता है। ऐसा अर्थ करने पर एक दुष्ट और वंचक दुष्टता के उदय का भी दावा कर सकता है। निकृष्ट सुखवादी निकृष्ट सुख की प्राप्ति भी सर्वोदय का लक्ष्य मान सकते हैं। अतः यहाँ जब सब प्रकार से उदय की बात की जाती है तो वह धर्म की दृष्टि से की जाती है जिसमें लौकिक और पारलौकिक उत्थान शास्त्रीय भाषा में अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि दोनों का समावेश है। अतः सर्वोदय में लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के लक्ष्यों की सिद्धि का आदर्श है।

सर्वोदय का आशय हिंदू धर्मशास्त्रों के अनेकों उद्गारों में छिपा है। वह सभी प्राणियों के उदय की बात करता है।[3] महाभारत के 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभाग भवेत्' में सर्वोदय का भाव ही छिपा है। ईशावास्योपनिषद् के प्रथम श्लोक 'ईशावास्यमिदम् सर्वं यत् किंचित जगत्यांजगत। तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम्' तथा गीता के 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'सर्वभूत हिते रता' में सर्वोदय का ही भाव है। परन्तु स्पष्ट रूप में सर्वोदय का प्रयोग सर्वप्रथम जैनाचार्य समन्त भद्र ने 'सर्वोदय-तीर्थ' के रूप में किया था।[4]

1 गाँधी मो० क०, नवजीवन, (हिन्दी) ९-१८ १६ और सर्वोदय प्रस्तावना पृ० १।

2 मशरूवाला कि० घ० हरिजन सेवक २७-३ ४९।

3 'शं नो अस्तुद्विपदे' शं चतुष्पदे,
भावे विनोबा, सर्वोदय विचार और स्वराज्य-शास्त्र, पृ० ८४।

4 समन्त भद्र, युक्त्यानुशासन (सरसावा, वीर सेवा मन्दिर १९५१) श्लोक ६१-'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयंतीर्थमिदं तवैव।

आधुनिक युग में 'सर्वोदय' का पहला प्रयोग गांधी जी के द्वारा किये गये रस्किन के अनटू दिस लास्ट के गुजराती छायानुवाद में मिलता है। अनटू दिस लास्ट के समस्त विचारों में गांधी ने सर्वोदय का भाव ही देखा है। यद्यपि उसमें अन्त्योदय की चर्चा है फिर भी उन्होंने उसका अर्थ सर्वोदय ही किया है। उन्होंने सर्वोदय के विचारों को निम्न तीन वाक्यों में सूत्रबद्ध किया है—

(क) व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में निहित है।

(ख) वकील और नाई—दोनों के काम का समान मूल्य है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का अधिकार है।

(ग) मजदूर किसान अथवा कारीगर का जीवन ही सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

गांधी इसी सिद्धांत के अनुसार सर्वोदय-समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसके लिए स्वतन्त्रता पहली शर्त थी। परन्तु दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही निधन हो जाने से न तो सर्वोदय विचार को विकसित कर सके और न इसके लिए ठोस कदम ही उठा सके। विनोबा ने अपने चिंतन में सर्वोदय-दर्शन का पूरा विकास किया है तथा सामाजिक जीवन में इसे स्थापित करने का उनका प्रयास जारी है।

१ सर्वोदय बनाम उपयोगितावाद

स्वहितवाद में व्यक्ति अपने हित को ही श्रेयस्कर और उसके लाभ के लिए ही किये गये सारे कार्यों को महत्त्वपूर्ण और नैतिक मान लेता है। इस तरह हमारा कर्त्तव्य अपने ही प्रति सीमित हो जाता है चाहे उससे दूसरों की कितनी ही क्षति क्यों न हो। बथम ने अपनी रचना (बथम, जिल्द ६, पृ० ५) में इसी आधार पर आत्मवरीयता (Self Preference) का सिद्धांत रखा। ह्यूम ने भी अपनी पुस्तक 'इन्क्वायरी कन्सर्निंग दि प्रिंसिपल्स आफ मारल्स' में सुखवाद द्वारा किए गए मानवी उद्देश्यों के इस अतिशय साधारणीकरण के विरुद्ध में चेतावनी दी और बताया कि मनुष्य में स्वार्थ के साथ जनहित की भी भावना रहती है। मिल ने तो बथम के सिद्धांत में एक उच्छृंखल परिवर्तन कर दिया और सुख के मात्रात्मक मापदंड को अस्वीकार कर गुणात्मक मापदंड को स्वीकार किया। साथ-साथ अपना स्व का विस्तार भी कर दिया। अब सर्वाधिक सुख ही ध्येय है तो वह किसी एक व्यक्ति का ध्येय न होकर अधिकाधिक लोगों का सर्वाधिक सुख होना चाहिए। इसीको उपयोगितावाद (Utilitarianism) कहते हैं। मिल ने सुखवाद का आयाम इसलिए विस्तृत

किया क्योंकि वह मानता था कि मानव स्वार्थ के साथ-साथ परार्थ का भी इच्छुक होता है। सिजविक ने 'अधिकांश लोगों के अधिकांश' सुख को ही बुद्धिमत्तापूर्ण माना। इस प्रकार हम देखते हैं कि नीतिशास्त्र किस प्रकार स्थूल स्वार्थवाद से सार्वभौम परार्थवाद की ओर बढ़ा।

गांधी और विनोबा मिल के बहुत बाद आये। इसलिए उन्होंने इस विचार को और भी आगे बढ़ाया और वास्तव में इसका स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया। जिस प्रकार 'स्व' से 'अधिकांश' पर हम आ सकते हैं, तो हम 'स्व' से 'सर्व' पर भी जाना चाहिए। इसलिए सर्वोदय के आदर्श में—"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्" कहा गया है। 'अधिक से-अधिक' नहीं बल्कि 'सबका भला हो, सब का उदय हो', यही भावना है। रस्किन की पुस्तक "अनटू दिस लास्ट" का यह प्रथम सूत्र है कि सबों के कल्याण में ही व्यक्ति का भी कल्याण निहित है। शायद इस सामाजिक सत्य को हम नहीं समझ पाते इसलिए 'सर्वोदय' का आदर्श हम इतना स्वप्नचारी और काल्पनिक प्रतीत होता है। 'अधिकांश मनुष्यों का' और 'अधिकांश सुख' इनमें तो परस्पर संघर्ष का समय आ सकता है। यदि सज्जन पुरुष के सुख का प्रश्न हो और उच्च सुख का प्रश्न हो, तो क्या उसे अधिक संख्या में दुर्जनों के सुख के लिए बलिदान किया जा सकता है अथवा नहीं? फिर 'अधिकांश' (बहुमत) और 'अल्पांश (अल्पमत) के बीच भी संघर्ष हो सकता है। इसलिए 'अधिकांश' के सुविधावादी गाणितिक फार्मूले के बदले 'सर्व' के सर्वतोभद्र विचार को मानना अधिक युक्तियुक्त होगा। इसलिए उपयोगितावाद सर्वोदय के अंदर समाविहित हो जाता है,[1] पर सर्वोदय विचार उससे आगे भी चला जाता है। फिर उपयोगितावादी विचार चाहे जितना भी उत्कृष्ट बनाया गया हो, उसका मूलाधार सुखवाद ही है। किंतु सर्वोदय यह मानता है कि भौतिकवादी सुखवाद से साधुता को प्रेरणा नहीं मिल सकती। उपयोगितावादी का दृष्टिकोण 'उपयोगिता' का होता है, सर्वोदय की दृष्टि त्याग और बलिदान की है। उपयोगिता की दृष्टि से हम हत्या और युद्ध को भी नैतिक मान ले सकते हैं, किंतु सर्वोदय विचार में इसको कभी भी समर्थन नहीं मिल सकता।[2] यही कारण है कि सर्वोदय 'बहुसंख्यक और

1 Gandhi, M. K. *Hindu Dharma*, p 209

२ उपरिवत् पृ० २०९।

'बहुमत' के प्रमाद मे नही रहता। वहाँ तो 'सर्वोदय'[1] से ही काम शुरू होता है।

२ सर्वोदय बनाम वर्ग-संघर्ष

विनोबा के अनुसार मार्क्सवादियों के 'हित विरोध' और 'वर्ग-संघर्ष' का सिद्धांत आत्मविरोधी सिद्धांत है। उनके अनुसार ईश्वर निर्मित मानव-समाज मे हित विरोध की कल्पना ही नही की जा सकती। कोई भी यह नही चाहता कि एक लडके का हित दूसरे लडके के हित का विरोधी हो। अत भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे विचार-भेद सभव है, परतु हित विरोध नही। असल मे विनोबा यह कहना चाहते हैं कि हित-सघर्ष नैसर्गिक नही है। सामाजिक-व्यवस्था की गडबडी से ही वर्ग-सघर्ष पैदा होता है। यदि इन कारणो को दूर कर दिया जाय, तो फिर हित-सघर्ष का प्रश्न ही नही उठता। अत 'हित-विरोध' और 'वर्ग सघर्ष' का कारण व्यक्ति स्वय है। सर्वोदय के अनुसार समाज का प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग एक समाज का ही भिन्न भिन्न अग है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अगो मे हित विरोध नहीं होता, उसी प्रकार समाज के विभिन्न वर्गों मे हित-विरोध सभव नही। सच तो यह है कि समाज के विभिन्न अगों के समुचित विकास से ही यह आगे बढता है। आपस मे जो हित विरोध दिखाई पडते हैं वे "स्वर्णमाया का प्रताप हैं।"[2] अर्थात् हम प्रेम से अधिक स्वर्ण और धन को महत्त्व देते है। परतु इससे सबका हित एक साथ नही सध सकता है। यदि "हर एक व्यक्ति दूसरे की फिक्र रखे और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखे, जिसमे दूसरे को तकलीफ हो",[3] तो सभी का हित एक साथ सध सकता है। यह परिवार का न्याय है और इसे समाज पर लागू करना सर्वोदय है।[4] विनोबा के अनुसार मार्क्सवादियो का यह आक्षेपण है कि वे सभी वस्तुओ म सघर्ष-ही-सघर्ष देखते है। शायद वे बच्चो के माँ के स्तनपान को भी बच्चो और माँ के स्तन के सघर्ष की सज्ञा देंगे जो हास्यास्पद है।

यदि मार्क्सवादियो की बात मान ली भी जाय, तो समस्त रूप मे वे अपने हित की भी रक्षा नही कर सकेंगे क्योकि उसमे दूसरे के हित का विरोध रहेगा। इस प्रकार हिंसा-प्रतिहिंसा चलेगी। अत सर्वोदय का यह विश्वास

१ भावे, विनोबा, सर्वोदय-विचार और स्वराज्य-शास्त्र, पृ० ४४।
२ उपरिवत्, पृ० ३६।
३ उपरिवत्, पृ० ३६।
४ उपरिवत्, पृ० ३७।

है कि समाज मे न तो हित विरोध है और न संघर्ष या हिंसा की जरूरत है। यदि सभी अपनी कमाई अर्थात् 'प्रत्यक्ष पैदाइश' पर निर्भर करना शुरू कर द, तो फिर संघर्ष या हिंसा के द्वारा धन अपहरण करने की जरूरत ही नही होगी।[१] इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि सबके हित का विचार ही जीवन का लक्ष्य और प्रेम तथा सहयोग ही उनका साधन होना चाहिए।

३ सर्वोदय बनाम सुखवाद

सर्वोदय सुखवादी सिद्धात का भी विरोध करता है। सुखवाद के अनुसार अधिक-से-अधिक भौतिक सुखो की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। अत जिस कार्य से सुख मिलता है वह उचित और जिसमे दु ख मिलता है वह अनुचित है। विनोबा के अनुसार सुख और दु ख मे आपस मे घनिष्ठ सबध है। वे एक-दूसरे के जनक है।[२] अर्थात् सुख से दु ख उत्पन्न होता है और दु ख से सुख। अतिशय सुख दु ख का कारण होता है क्योकि इससे उन सुखो को सुरक्षित रखने की चिंता बनी रहती है जो दु ख का कारण है। इसी प्रकार दु ख मे भी सुख की प्राप्ति होती है क्योकि कठिन तपस्या के बाद ही साध्य और फल की प्राप्ति होती है। अत सर्वोदय का लक्ष्य धनवानो के सुखो और गरीबो के दु खो का आपस मे बँटवारा करना है। सुखो के वितरण से सुख और बढ जाता है। दुखो के वितरण से वह घट जाता है। अत धनी और गरीब सभी के उदय का लक्ष्य रखने पर केवल सुख को ही जीवन का लक्ष्य मानना उचित नही।

दूसरी बात यह कि विनोबा के अनुसार मनुष्य सार रूप मे आत्मा है। अत उसकी भौतिक सुखो की प्रेरणा मात्र आकस्मिक है। उसकी असली प्रेरणा धार्मिक और आध्यात्मिक है। अत आध्यात्मिक अनुभव को ही प्राप्त करना जीवन का चरम लक्ष्य है—"अभिधेय परम साम्य"। आर्थिक सामाजिक राजनैतिक, मानसिक, वैज्ञानिक तथा अन्य लक्ष्यो की प्राप्ति और उनके बीच आपसी सतुलन के बाद ही समस्त प्राणियो मे एक आत्मा का अनुभव होता है। अत सर्वोदय विचार में सुखवाद अध्यात्मवाद मे समाविहित हो जाता है। आध्यात्मिक अनुभव के लिए सर्वोदय दड और हिंसा शक्ति का उन्मूलन कर करुणा और अहिंसा की तीसरी शक्ति को स्थापना करना चाहता है। अत

---

१ उपरिवत्, पृ० ३७।

२ भावे, विनोबा: **सर्वोदय और साम्यवाद,** (वाराणसी, सर्व सेवा सघ-प्रकाशन, १९६८) पृ० ५।

है। गाँधी और विनोबा नैतिकता के निर्धारण मे आतरिक पक्ष पर विशेष ध्यान देते हैं। गाँधी के अनुसार यदि उत्तम कार्य के पीछे भी स्वार्थ भरा हो, तो वह नैतिक नही कहा जा सकता।[१] निष्काम भावना से किया गया कर्म ही नैतिक कहला सकता है। विनोबा ने भी कर्मों के पाप-पुण्य, औचित्य-अनौचित्य का वास्तविक निर्धारक कर्त्ता के आतरिक पहलुओ को ही माना है।[२] अतः पाप-पुण्य की परिभाषा देते हुए उन्होने कहा है—"जिस चीज से चित्त को शाति मिले वह पुण्य है और जिसमे चित्त की शाति खो जाय वह पाप है।[३] परतु चित्त की शाति कर्मों के फलो के त्याग से ही मिल सकती है।[४] पुनः कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है—"जिस कर्म से चित्त मे क्षोभ न हो और जिसमे फल के साथ मनुष्य बँधा न रहे वह कर्म है।"[५] इस प्रकार विनोबा के अनुसार कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का वास्तविक निर्धारक पारम्परिक नियम नही बल्कि आतरिक मनोदशा है। राग-द्वेष, आसक्ति और अशातचित्त से किया गया कर्म अनुचित और पापमय है। इसके विपरीत कर्त्तव्य भावना मे अनासक्तिपूर्वक शातचित्त से किया गया कर्म उचित और पुण्यमय है। इसके समर्थन मे उन्होने कई सुदर उदाहरण प्रस्तुत किये है।[६]

यदि कोई व्यक्ति लडाई मे सैकडो को मारकर वीरगति को प्राप्त करता है, तो इस हिंसा के कार्य को क्या कहा जाय—नैतिक या अनैतिक? निरपेक्ष शातिवादी ब्राह्मण इसे अनुचित और पापमय कर्म की सज्ञा देंगे। क्षत्रिय जो न्याय और सुरक्षा में विश्वास करते हैं, उचित कर्म मानेंगे तथा इसे पुण्य कहेंगे।[७] अपने-अपने स्वधर्म की दृष्टि से दोनो के निर्णय ठीक हैं, परतु इस नैतिक सघर्ष मे एक निश्चित निर्णय लेना ही पडेगा। विनोबा इसका निर्णय समन्वयात्मक दृष्टि मे देते हैं। उनके अनुसार यदि उस पुरुष ने शातचित्त

1 Narayan, Shriman, *The Selected works of Mahatma Gandhi*, Vol IV, p 13

२ विनोबा-चिन्तन, अक ७, पृ० ३२।

३ उपरिवत्, पृ० ३२।

४ उपरिवत्, पृ० ३२।

५ विनोबा-चिन्तन, अक १०-११, पृ० ३६।

६ विनोबा-चिन्तन, अक ७, पृ० ३०।

७ विनोबा चिन्तन, अक १०-११, पृ० ३६।

होकर कर्त्तव्य भाव से क्रोध या बदला लेने की भावना से रहित होकर गीता का स्मरण कर सैंकडो की हत्या की तो इसे पुण्य कहेगे। परतु यदि हत्या के समय कर्त्तव्य का ज्ञान नही रहा, मन मे क्रोध या प्रतिशोध की भावना रही, तो इस अनुचित कह कर पाप को सज्ञा देंगे।[१] इसके सबध मे उन्होने हजरत अली के एक द्वद्व-युद्ध का सुदर उदाहरण दिया है। हजरत अली ने एक द्वद्व-युद्ध मे अपने वश मे आये हुए प्रतिस्पर्धी को भी इसलिए हत्या नही की क्योकि उसी समय उसने उनके मुँह पर थूक दिया था, जिससे उनके मन मे क्रोध आ गया था और क्रोधवश हत्या करना उन्होने पाप समझा।[२]

एक दूसरा उदाहरण ऐसे नैतिक सघर्ष का दिया गया है जो प्रचलित सामाजिक नियम और अन्तरात्मा की आवाज के बीच उत्पन्न होता है। इसका एक उदाहरण तो विनोबा ने अपने जीवन से ही दिया है और दूसरा उदाहरण उन्होने गौतम बुद्ध का दिया है। दोनो ने सन्यास की प्रेरणा मे चुपके से क्रमश. अपने पिता और पत्नी-पुत्र को छोडकर—गृहत्याग किया। पारम्परिक सामाजिक नैतिकता की दृष्टि से इन कर्मो को अनुचित और पापमय कहा जा सकता है। परतु विनोबा ऐसे कर्म को उचित और पुण्य मानते है[३] क्योकि दोनो के उद्देश्य अनासक्ति के है। इस प्रकार ऊपर के उदाहरणो से यह सिद्ध होता है कि नैतिकता के निर्धारण मे निष्कमता का विशेष स्थान है जिसका सबध कर्त्ता के आतरिक पहलू से है। इसके अतर्गत साध्य या प्रयोजन का भी विचार आता है क्योकि कोई भी कार्य बिना प्रयोजन नही किया जाता है। अतः हम इस खड मे निष्काम कर्म और साधन-साध्य विवेक पर विचार करेगे जिन पर गाँधी और विनोबा की विशेष श्रद्धा है।

२ अनासक्ति और निष्काम कर्म

गाधी फलत्याग और अनासक्ति को गीता का मर्मबिंदु मानते थे जिसके द्वारा कर्म करते हुए भी कर्म के दोषो से मुक्त रहा जा सकता है। परतु निष्कामता केवल कर्मफलत्याग से नही आती है और न मात्र बुद्धि के प्रयोग से। इसके लिए हृदय मथन करना होता है।[४] अर्थात् भक्ति और श्रद्धा पर आधारित

१ विनोबा चिन्तन, अक ७, पृ० ३०।

२ उपरिवत् पृ० ३०-३१।

३ उपरिवत् पृ० ३१।

४ गाँधी, मो० क०, अनासक्ति-योग, (नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, १९५७) पृ० ६।

ज्ञान मे ही निष्कामता सिद्ध हो सकती है। गांधी के अनुसार कर्मफल त्याग "परिणाम के संबंध में लापरवाही नहीं है। इसमें परिणाम और साधन का विचार तथा उसका ज्ञान अत्यावश्यक है।"[१] फलत्याग का यह भी अर्थ नहीं है कि फलत्याग से फल मिलता ही नहीं। फलत्याग का अर्थ है फल के संबंध मे आसक्ति का अभाव। वास्तव में फलत्यागी को अनंत फल मिलता है। परंतु आसक्ति के कारण व्यक्ति कर्त्तव्य भ्रष्ट हो जाता है तथा अनेक प्रकार के विकारों से ग्रस्त हो जाता है। अतः फलासक्ति के इन कटु परिणाम के कारण गीता अनासक्ति या कर्मफलत्याग की शिक्षा देती है। अनासक्ति ही वास्तविक रूप से नैतिक और अनैतिक कर्म का निर्धारक है। यदि कोई कर्म आसक्ति के बिना हो ही नहीं सकता, तो वह नैतिक दृष्टि से त्याज्य है।[२] गांधी का यह विश्वास है कि अनासक्ति और निष्कामता सिद्ध होने से सत्य और अहिंसा का पालन करना भी आसान हो जाता है क्योंकि फलासक्ति के कारण ही व्यक्ति असत्य और हिंसा का सहारा लेता है।

विनोबा गांधी की अपेक्षा अधिक गहराई से निष्कामता और उसकी साधना पर विचार करते हैं। उनके अनुसार निष्कामता मन का एक धर्म है जिसकी[३] प्राप्ति स्वधर्म के पालन के अतिरिक्त विकर्म के द्वारा होती है। विकर्म वह कर्म है जिसके द्वारा काम, क्रोध, अहंकार इत्यादि को जीत कर चित्त को निर्मल बनाया जाता है।[४] इसके लिए आत्म-परीक्षण और मानसिक संशोधन की आवश्यकता है।[५] जब बाह्य कर्मों में स्वधर्माचरण (कर्म) और अंतर से निर्मल चित्त का संयोग होता है तो हम निष्काम कर्मयोग सिद्ध करते हैं।[६] अतः निष्कामता कर्म और विकर्म का मणिकांचन संयोग है।[७]

नैतिक भूमिका में कर्त्ता, कर्म और विकर्म के विकल्पों में उलझा रहता है। वह कर्म करता है परंतु उसके साथ उसका मनोयोग नहीं हो पाता। अतः नैतिक साधना में स्थूल कर्म के पालन की तुलना में निर्मल चित्त के साथ कर्त्तव्य पालन

१ उपरिवत्, पृ० ८।
२ उपरिवत्, पृ० ८।
३ भावे, विनोबा, गीता प्रवचन, पृ० ४८।
४ उपरिवत्, पृ० ४९।
५ उपरिवत्, पृ० ४९।
६ उपरिवत्, पृ० ४९।
७ उपरिवत्, पृ० ५०।

श्रेष्ठतर है। अत निष्कामता उचित कर्म का मापदण्ड है। परन्तु निष्कामता के कारण जब स्वाभाविक रूप से सद्कर्म होने लगते है, तो उसे विनोबा अकर्म की सज्ञा देते हैं जो अति-नैतिकता अथवा नीतिशून्यता की अवस्था है।[१] अकर्म म कर्ता सब कुछ करते हुए कुछ भी नही करता है और कुछ भी नही कर सब कुछ करता है। गीता के अनुसार पहला कर्मयोग है और दूसरा सन्यास। *इन दोनो अवस्थाओं म कर्म का कर्मत्व समाप्त हो जाता है, उसका बोझ हमारे* चित्त पर नहीं पडता। अत वह पाप-पुण्य से मुक्त माना गया है।[२] हमारी *नैतिक साधना का लक्ष्य यही है।*[३] *इसी अवस्था को मोक्ष भी कह सकते हैं।*[४] निष्कर्मता नैतिकता की सार्वभौम कसौटी है।[५] परन्तु प्रश्न है इसकी प्राप्ति कैसे की जाय? विनोबा इसे कोई आकस्मिक घटना नही, मन की सतत विकासशीलता का परिणाम मानते है। निष्कर्मता के विकासशील स्वरूप स वे निम्न निष्कर्ष पर पहुचते हैं[६]—

(क) इसकी प्राप्ति के लिए समस्त राजस-तामस कर्मों का त्याग करना पडता है।

(ख) राजस और तामस कर्मों के त्याग से उत्पन्न फल का भी त्याग करना पडता है क्योंकि ऐसा नही करने पर चित्त म अहकार उत्पन्न हो सकता है और हमारी साधना भ्रष्ट हो सकती है।

(ग) साधक को जो सहज रूप से प्राप्त है उस सात्विक कर्म को राजस और तामस कर्म की भाँति त्यागने की आवश्यकता नही है परतु सद्कर्मों को करते हुए उसका फल्त्याग आवश्यक है।

(घ) सतत् फलत्यागपूर्वक सात्त्विक कर्म करते रहने से चित्त शुद्ध होता जाता है और हमारी क्रिया तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म मे शून्य मे परिणत हो जाती है। इसीको पूर्ण निष्कर्मता कहते हैं। क्रिया के लुप्त होने पर भी इस अवस्था म लोक सग्रहार्थ कर्म चलता रहता है।

---

१ उपरिवत्, पृ० २९५।
२ उपरिवत् पृ० ५३।
३ उपरिवत्, पृ० ६१।
४ उपरिवत् पृ० २९५।
५ उपरिवत् पृ० २८२।
६ उपरिवत्, पृ० २९१।

निष्कामता की प्राप्ति के लिए विनोबा ने चार प्रकार की प्रक्रियाओं का विधान किया है[1]—

१ कर्मयोग की व्यापक प्रक्रिया
२ ध्यानयोग की एकाग्र प्रक्रिया
३ ज्ञानयोग की सूक्ष्म प्रक्रिया, और
४ भक्तियोग की विशुद्ध प्रक्रिया।

कर्मयोग की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्तिगत कामना को सामाजिक रूप प्रदान किया जाता है। सामाजिक रूप देने से कामना व्यापक होते-होते समाप्त हो जाती है।[2] ध्यानयोग की प्रक्रिया में मन की प्रबलतम वासना पर चित्त को केंद्रित कर अन्य वासनाओं का त्याग किया जाता है।[3] अपनी मुख्य वासना को प्रमाण मानकर व्यक्ति अपना सपूर्ण जीवन उसके अनुसार व्यतीत करता है जैसे वैज्ञानिक या साहित्य-सेवी अपनी सपूर्ण वासनाओं को छोड कर विज्ञान और साहित्य की साधना में लग जाते हैं। ऐसा करने से धीरे धीरे वासनाएँ समाप्त होती जाती हैं। अन्त में एकाग्रता सधने पर सारी वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं। ज्ञान-योग की प्रक्रिया में स्थूल वासना का त्याग कर सूक्ष्म वासना को ग्रहण किया जाता है।[4] अपनी शारीरिक वासनाओं का त्याग कर बौद्धिक और हृदय के शुभ गुणों के विकास पर बल दिया जाता है। बाहरी वासनाओं के समाप्त होने ही वासनाएँ सूक्ष्म होते होते समाप्त हो जाती हैं। भक्तियोग की प्रक्रिया में वासनाओं का भेद शुभ-अशुभ में किया जाता है।[5] शुभ अशुभ के निर्णय में विज्ञान से सहायता मिल सकती है परन्तु अन्तिम रूप से इसका निर्णय बुद्धि ही करती है।[6] इस प्रकार अशुभ वासनाओं के त्याग करते-करते मन शुद्ध हो जाता है और कामना समाप्त हो जाती है। ऊपर की चारों प्रक्रियाओं में भक्तियोग की प्रक्रिया को विनोबा सबसे अधिक अचूक और

---

१ भावे, विनोबा, स्थितप्रज्ञ दर्शन, (नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, १९६३), पृ० २९।

२ उपरिवत्, पृ० ३०।

३ उपरिवत् पृ० ३०।

४ उपरिवत् पृ० ३१।

५ उपरिवत्, पृ० ३२।

६ उपरिवत्, पृ० ३२।

निर्दोष मानते हैं।[1] अन्य प्रक्रियाओं की भाँति इसमें किसी प्रकार का खतरा नहीं रहता। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि विनोबा निष्कमता को केवल नैतिक कर्म का मापदण्ड ही नहीं मानते बल्कि इस उसकी सिद्धि का उपाय भी मानते है। नैतिकता के निर्धारण मे मन की एकाग्रता, निर्मलता, निष्कामता और ईश्वरार्पण वृत्ति को ही वे अन्तिम तत्त्व मानते हैं। गांधी शायद निष्कमता के तत्त्वज्ञान को इस गहराई और विकास तक नहीं पहुच सके थे। उनकी व्याख्या स्पष्ट किन्तु सर्वसाधारण है जो स्वाभाविक भी है क्योंकि संस्कृत वाङ्मय का उन्हें उतना अधिक परिचय नहीं था जितना विनोबा को है। गांधी निष्कामता को ही गीता को अन्तिम शिक्षा मान लेत है। विनोबा इसमे एक कदम आगे बढ़कर साम्ययोग को गीता का परम लक्ष्य मानते हैं—'अभिधेय परम साम्यम्''। किन्तु अभी जब हम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर रहे हैं तो हमारे सामने नैतिकता का एक मूलभूत प्रश्न यह भी है कि साध्य प्राप्ति के लिए हमारा साधन कैसा हो?

३ साधन-साध्य विवेक

गांधी के साधन-साध्य विचार का बीज तत्त्व गीता का निष्काम कर्म है जिसमे फल के बदले कर्त्तव्य पर बल दिया जाता है। भारतीय-दर्शन के कर्मवाद का भी इसपर थोड़ा असर है।[2] साधन और साध्य की सामान्य और नैतिक—दोनों भूमिकाए है। नैतिक भूमिका मे साध्य किसी क्रिया के प्रयोजन, लक्ष्य और परिणाम का सूचक है। साधन वह क्रिया है जिसके द्वारा इच्छित लक्ष्य और परिणाम को सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु नीति शास्त्र मे साध्य के स्वरूप के सबध मे मतैक्य नहीं है। टी० एच० ग्रीन, डीआर्की, मैकजी, म्यूरहेड बटलर और काण्ट साध्य का अर्थ प्रेरणा या प्रेरक तत्त्व से लेते है। परन्तु मिल, बेन्थम और बाशाक साध्य का अर्थ क्रिया के परिणाम ही मानते है। गांधी की योजना मे साध्य के अन्तर्गत ध्येय (आत्मनिष्ठ तत्त्व) और परिणाम (वस्तुनिष्ठ तत्त्व) दोनों का समावेश है।[3]

---

१ उपरिवत्, पृ० ३१ ३२।

2 Bandyopadhyaya, Jayantanuja *Social and Political Thought of Gandhi*, (Calcutta Allied Publishers, 1969), p 378

3 *Ibid* p 376

इन दोनों को गाँधी सत्य मानते हैं क्योंकि परम तत्त्व के रूप मे सत्य के अतर्गत आतरिक और वाह्य दोनो प्रकार की सत्ता आ जाती है। अत गाधी के अनुसार सत्य साध्य है।[1] साधन विशेष रूप से क्रियासूचक पद है जिससे साध्य को प्राप्त किया जाता है। परतु सभी क्रियाएँ एक समान नही होती। कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं जिनमें शक्ति-प्रयोग, दमन, शोषण, प्रतिशोध और पर-पीडन का समावेश होता है जिसे गाँधी हिंसक कार्य की सज्ञा देते हैं तथा कुछ क्रियाएँ, प्रेम, करुणा और सहयोग के सूचक हैं जिसे अहिंसक कार्य की सज्ञा दी जाती है। इन दोनों प्रकार के साधनों से कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा सकता है। नीतिशास्त्र मे कुछ विचारक जैसे कौटिल्य, मेकियावेली, हिटलर, स्टालिन, लेनिन, माओ, दब्रे, ग्वेवारा इत्यादि हैं जो साध्य पर ही विशेष बल देते हैं। साधन मे चाहे वह हिंसक हो या अहिंसक—उनका कोई आग्रह नहीं है। मुख्य बात कार्य की निपुणता है। इन विचारको के अनुसार साध्य की पवित्रता साधन को भी पवित्र बना देती है। गाँधी को यह विचार मान्य नहीं है। इनके अनुसार साधन ही सब कुछ है।[2] अत सापेक्ष सत्य अथवा अहिंसा[3] के आधार पर ही साध्य को सिद्ध किया जा सकता है। साधन की पवित्रता ही साध्य को पवित्र बना सकती है।

साधन की श्रेष्ठता

साधन की श्रेष्ठता निरूपित करने के लिए गाँधी कई प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार "अशुद्ध साधन का परिणाम अशुद्ध होता है। असत्य के आधार पर कोई सत्य तक पहुँच नहीं सकता, सत्य आचरण के आधार पर ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है।"[4] गाँधी स्पष्ट कहते हैं—"कोई यह कहते हैं साधन तो साधन ही है, मैं कहूँगा साधन सब कुछ है। जैसा साधन होगा, वैसा ही साध्य होगा। साधन और साध्य के बीच मे कोई लक्ष्मण-रेखा नही है। फिर ईश्वर ने हमे साधन पर ही नियन्त्रण दिया है,

1 Damodran, K, *Ends and Means*, (New Delhi, Circulation Manager Gandhian Thought, Pamphlet Series No 4, N. D), p 12

2 *Young India*, 17 7 '24, p 236

3 "Ahimsa is the means Truth is the end"—Gandhi, M K., *From Yarvada Mandir*, p [illegible]

4. *Harijan*, 13 7 '47, p 232

वह भी सीमित मात्रा मे। साध्य पर तो हमारा अधिकार ही नही है। लक्ष्य की प्राप्ति ठीक उसी अनुपात मे होती है जिस अनुपात मे हमारा साधन होता है। यह ऐसी प्रतिज्ञप्ति है जिसका कोई अपवाद नही है।"[1] इसका समर्थन गीता के "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" से भी होता है। अर्थात् हमे कर्म करने का ही अधिकार है, फल पर हमारा अधिकार नही।[2] वास्तव मे "हम सर्वशक्तिमान की सकल्प वीणा के तार हैं। हम आगे और पीछे ले जाने वाले कार्यों मे अनभिज्ञ है। अत हमे केवल साधन के ज्ञान से ही सतुष्ट रहना चाहिए और यदि ये शुद्ध है, तो हम निर्भयतापूर्वक साध्य का ख्याल छोड सकते है।"[3] साध्य के ज्ञान रहने पर भी यदि हम साधन से अनभिज्ञ है, तो साध्य की प्राप्ति नही कर सकते। अत गाँधी कहते है—"इसलिए मैं अपना सबध मुख्यत साधन के सरक्षण और उनके प्रगतिशील व्यवहार मे ही रखता हूँ। मैं जानता हूँ कि यदि हम उनका ख्याल करेंगे, तो लक्ष्य की सिद्धि निश्चित है। मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि हमारी लक्ष्य की दिशा मे प्रगति साधन की पवित्रता के अनुपात मे ही होगी।"[4] गाँधी प्रकारान्तर से सत्कार्यवाद मे विश्वास रखते हैं। असत् मे सत् का उत्पन्न होना असभव है। अत गलत साधन से उत्तम साध्य की कल्पना ही व्यर्थ है। वे कहते है—"मैं कितनी ही योग्य प्रेरणा के प्रति सहानुभूति क्यो न रखूँ और इसकी प्रशसा क्यो न करूँ, लेकिन हिंसक साधन का विरोधी हूँ चाहे उससे उत्तम-से-उत्तम साध्य क्यो न सिद्ध हो। अनुभव मुझे अटूट विश्वास दिलाता है कि स्थायी शुभ असत्य और हिंसा से कभी भी उत्पन्न नही हो सकता।"[5] तर्क के लिए यह कहा जा सकता है कि साध्य की प्राप्ति का यह आवश्यकता से अधिक लम्बी राह है, परन्तु गाँधी के लिए यह सबसे छोटी राह है।[6] वस्तुत साध्य की सफलता

---

1 *Young India*, 17 7 '24, p 236

2 *Harijan*, 18 8 '40, p 254

3 *Satyagraha in South Africa*, (1950), p 318 Compiled in Shriman Narayan's ed , *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol 6, pp 150-51

4 Bose , N K , *Selections From Gandhi*, pp 36-7

5 *Young India*, 11 12 '24, p 406

6 Bose, N K , *Selections From Gandhi*, pp 36-7

और विफलता हमारे हाथ मे नही है। अत हमारे लिए उत्तम कार्य करना ही वाछनीय है। अन्त म वही होगा जो ईश्वर चाहेगा।[1]

गाँधी साधन और साध्य म अन्योन्याश्रय सबध मानते हैं। वास्तव म य दोनो सापेक्ष पद हैं अत कभी साधन साध्य और कभी साध्य साधन बन जाते हैं।[2] साधन की तुलना बीज से और साध्य की तुलना वृक्ष से की जा सकती है।[3] उत्तम बीज के बिना उत्तम वृक्ष का होना असभव है, अत उत्तम साधन के बिना उत्तम साध्य की कल्पना भी व्यर्थ है। नैतिक कर्मवाद मे यदि कर्म के अनुसार फल आवश्यक है तो साधन के अनुरूप साध्य कैसे नही हो सकता ?[4] इसस यह सिद्ध होता है कि साधन और साध्य मे अवियोज्य सबध है। एक को दूसरे स अलग करना बुद्धि और विचार के साथ हिंसा है।'[5]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भी साधन की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। मानव के जीवन पर साध्य का ही नही साधन का भी प्रभाव पडता है क्योकि साधन और साध्य—दोनो एक ही मानसिक परिस्थिति के अविभाज्य अग हैं।[6] भारतीय-दर्शन का सस्कार-सिद्धात भी यह बतलाता है कि कर्मों का सस्कार हमारे समस्त मानस पर पडता है। शायद इसीलिए महात्मा बुद्ध ने निर्वाण के लिए सम्यक विचार वाणी और व्यवहार तथा आजीविका पर बल दिया था।[7]

ब्रैडले के अनुसार नैतिकता के निर्धारण म साधन का अपना स्वाभाविक मूल्य है। साधन का विचार साध्य के मूल्याकन का भी आवश्यक अग है क्योकि साधन द्वारा ही स्वय मूल्याकन को वास्तविकता प्राप्त होती है।[8] साध्य की वास्तविक परिभाषा की स्थापना भी साधन के उपयोग की दृष्टि म होती है। व्यावहारिक दृष्टि म भी साध्य की अपेक्षा साधन का अधिक महत्व

1 *Harijan* 12 1 47 p 490

2 *Young India* 26 12 24 p 424

3 Gandhi M K *Hind Swaraj*, (Ahmedabad Navajivan Publishing House, 1962), p 71

४ सिंह, रामजी 'साध्य साधन विवेक' आधुनिक युग मे गाँधी विचार की सार्थकता, (भागलपुर वि० वि० गाँधी शताब्दी समिति १९६८), पृ० ४१।

५ उपरिवत् पृ० ४०।

६ उपरिवत्, पृ० ४१।

७ उपरिवत् पृ० ४१।

८ उपरिवत् पृ० ४१।

है। सामान्यतः साध्यों के संबंध में सभी का मतैक्य होता है। सभी यह चाहते हैं कि विश्वशांति, विश्वबन्धुत्व प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता समानता, भ्रातृत्व, सत्य प्रेम, कल्याण, सर्वत्र कायम हो। इसी प्रकार विचार में निःशस्त्रीकरण और समाजवाद का नारा सभी देते हैं। लेकिन वास्तविक मतभेद तब उपस्थित होता है जब साधन की बात आती है। कुछ लोग शांति और प्रजातन्त्र के लिए युद्ध और कुछ लोगों की तानाशाही को स्वीकार करने में भी नहीं हिचकते। इसलिए डा० रामजी सिंह कहते हैं—'आज साधन की समस्या प्रधान बन गई और लगता है कि बीसवीं सदी की मानवीय सभ्यता का इतिहास साध्य की सिद्धि के लिए साधनों के उपयोग का इतिहास होगा।'[1]

साधन की पवित्रता का समर्थन प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है। मनु ने कहा है कि अधर्म से प्राप्त समृद्धि और सौरभ प्रकट रूप में जो भी हो उसका अंत में समूल विनाश निश्चित है।[2] महाभारत धर्म के विनाश में सबका विनाश देखता है।[3] आधुनिक विचारकों में पंडित नेहरू ने कहा था—'यदि साध्य ठीक भी हो, परन्तु साधन गलत है, तो यह साध्य को बिगाड़ देगा और उसे गलत दिशा में मोड़ देगा।[4] कार्ल मार्क्स का भी कहना है— वह साध्य जो अनिवार्य रूप से अपवित्र साधन की अपेक्षा रखता है पवित्र साध्य नहीं कहला सकता।'[5] इसीलिए कुछ आधुनिक मार्क्सवादी विचारक जैसे प्रो० शिगाकिन आदि यह मानने लगे हैं कि मार्क्स भी साधन की पवित्रता में ही विश्वास करता था। डा० रामजी सिंह कहते हैं— अनैतिक साधनों के आधार पर प्राप्त साफल्य सच्चा नहीं क्योंकि इसमें तो हम अनैतिकता की

१ उपरिवत् पृ० ४२।

२ अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति, ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति —मनुस्मृति – ४।१७४।

३ धारणात् धर्म इत्याहु धर्मो धारयति प्रजाः महाभारत, (शान्तिपर्व १०९)।

4 Even if the end is right if the means are wrong, that will vitiate the end or divert it into a wrong direction —Speech delivered at Columbia University, on 17 10 '49

5 An end which necessitates unholy means is not a holy end' —Marx Quoted on K. Damodaran's *Ends and Means*, p 1

विजय और नैतिकता की पराजय स्वयं स्वीकार कर लेते हैं।"[1] गलत साधन के बुरे परिणामों का सबसे सुन्दर उदाहरण तो महात्मा युधिष्ठिर के दृष्टान्त में मिलता है। "अपनी क्षुद्र विजय के लिए उच्चरित धूमिल सत्य के कारण', उन्हे स्वर्गारोहण के समय यातना भुगतनी पड़ी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि बुरे साधन के प्रयोग करने से केवल साध्य ही नहीं साधक भी भ्रष्ट हो जाता है। नैतिक साधनों के प्रयोग करने से मानव की आत्मा पवित्र होती है, हृदय महान् बनता है। पवित्र साधनों का उपयोग ही अपने आप में दिव्य पुरस्कार है। इसलिए गाँधी कहते हैं —"सच्ची और संपूर्ण साधना ही संपूर्ण सफलता या आत्यंतिक विजय है।"[2]

कभी-कभी गलत साधनों के प्रयोग से भी उत्तम फल प्राप्त करने के उदाहरण मिलते हैं। जैसे माता पिता या शिक्षक सही रास्ते पर लाने के लिए बच्चे को ताड़ते हैं। इसी प्रकार ऐसे सत्य को छिपाया जाता है जिसके प्रकाश में आने से रक्तपात हो सकता है। गाँधी ने स्वयं एक बीमार बछड़े को पीड़ा से मुक्त करने के लिए उसकी हत्या करना अनुचित नहीं समझा। फिर नमक कानून तोड़ना भी गलत साधन का उदाहरण प्रतीत होता है। इन उदाहरणों को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि अपवादस्वरूप कभी-कभी गलत साधनों का प्रयोग भी शुभ लक्ष्य का साधन बन सकता है। परन्तु गहराई से देखने पर यह मालूम पड़ता है कि गाँधी की योजना में किसी भी अपवाद का विधान नहीं है। जैसा हम पहले देख चुके हैं कि अहिंसा का सूक्ष्म रूप साधक के अभिप्राय पर निर्भर है। अतः अभिप्राय के आधार पर हम उक्त कार्यों को उचित कर्म के अन्तर्गत रख सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं होता कि वहाँ पर साधन हिंसा का है और गलत साधन स्वीकार्य है। गाँधी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—'मेरा विश्वास इस विवेकपूर्ण कथन में कि जो तलवार के बल पर प्राप्त किया जाता है वह तलवार के बल पर समाप्त भी होता है—अकाट्य है।'[3] अतः अपवित्र साधन का प्रयोग कभी भी वांछनीय नहीं हो सकता।

गाँधी के साधन-साध्य संबंधी सिद्धांत के प्रति कई प्रकार के आक्षेप किये जाते हैं। अतः उनपर भी योग्य विचार करना आवश्यक है। ये आक्षेप इस

1 मिश्र, रामजी, पूर्ववत्, पृ० ४३।
2 Bose, N K, *Selections From Gandhi*, p 30
3 *Harijan*, 2 9-'39, p 260

प्रकार हैं—यदि स्वतन्त्रता की प्राप्ति अहिंसक साधन से हुई, तो फिर हम स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने मे असफल क्यो हुए ? स्वतन्त्रता के बाद हिंसा और शोषण क्यो बढे ?[१] यदि हम यह स्वीकार करते है कि साधन ही सब कुछ है, साध्य का ख्याल न करें, जैसा गांधी ने गीता के आधार पर कहा है, तो फिर उस विरोध की व्याख्या कैसे की जा सकती है जिसमे अच्छे साधन अच्छे साध्य को उत्पन्न नही करते है ?[२] क्या साध्यो का मूल्य साधन के द्वारा कारणात्मक रूप से निर्धारित होता है या वे साधन से स्वतन्त्र हैं ? यह सभव हो सकता है कि साध्य साधन से स्वतन्त्र हो क्योकि साधन और साध्य के बीच मे अश और पूर्ण का सबध है, और यदि ऐसा है, तो जैसा मूर ने कहा है अश पूर्ण सत्ता पर आश्रित रहता है परन्तु आवश्यक रूप से पूर्ण सत्ता अश पर आश्रित नही होगी, वह उसमे स्वतन्त्र रहती है । इसी प्रकार यह क्यो नही कहा जा सकता है कि साध्य का मूल्य साधन से स्वतन्त्र है ।[३] यदि साधन और साध्य के बीच मे कारणिक सबध मान भी लिया जाय, तो उससे अनिवार्य रूप से साधन-साध्य की एकता कहाँ सिद्ध होती है ? अत नैतिक नियमो के चयन मे परिणाम और लक्ष्य का विचार अत्यावश्यक है जिनका परित्याग नहीं किया जा सकता ।[४] "साध्य-साधन को पवित्र करता है"—यह भले ही स्वीकार नही किया जाय परन्तु परिणाम तथा उस परिस्थिति का ख्याल रखना ही होगा जिसमे कार्य सपन्न होता है ।[५] गांधी इस बात पर बल देते है कि बुरे साधन से तथ्यात्मक रूप से कभी भी अच्छे साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती । परन्तु क्या यह केवल उनकी शुभ भावना और श्रद्धा का द्योतक नही है ? परन्तु शुभ भावनाओं और इच्छाओ के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि यही प्रकृति का नियम है ।[६] पुन साध्य को सिद्ध करने के लिए साधन आव-

1 Jain, Sharda, "A critique of Gandhian Ethics", *Gandhi: Theory And Practice, Social Impact And Contemporary Relevance*, (ed), S C Biswas (Simla, Indian Institute of Advanced Studies, 1969) pp 305-310, p 305

२ उपरिवत्, पृ० ३०५ ।

३ उपरिवत्, पृ० ३०६ ।

४ उपरिवत्, पृ० ३०७ ।

५ उपरिवत्, पृ० ३०७ ।

६ उपरिवत्, पृ० ३०७ ।

श्यक है परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि साधन और साध्य में बीज और वृक्ष का संबंध है। बीज और वृक्ष के संबंध में एक ही प्रकार के बीज में एक ही प्रकार का वृक्ष उत्पन्न हो सकता है क्योंकि बीज वृक्ष का सूक्ष्म रूप है। परन्तु एक साध्य की प्राप्ति में अनेक विकल्प होते हैं। फिर यह कैसे कहा जाय कि साधन और साध्य में बीज वृक्ष का संबंध है ?[1] यह भी कहा जाता है कि गांधी के शुभ और अशुभ के विचार भारतीय-दर्शन के अध्यात्मवाद पर आधारित हैं परन्तु समाज के दूसरे वर्ग जो विश्व के संबंध में भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं उनके लिए इस शुभ के सिद्धांत को लादना बुद्धिमानी नहीं है।[2] यदि कर्त्तव्य के सिद्धांत को बुद्धि से अलग धर्म और ईश्वर विश्वास पर आधारित कर दिया जाय, तो इससे धर्म और नीति की तानाशाही स्थापित हो सकती है।[3] ऐसा लगता है कि गांधी का शुभ और अशुभ सिद्धांत भी निश्चित नहीं है। यदि सत्य और अहिंसा को शुभ की संज्ञा दी जाय, तो वे सापेक्ष ही हो सकते हैं, निरपेक्ष उन्हें नहीं कहा जा सकता। इस अवस्था में गांधी के निरपेक्ष सत्य और अहिंसा के सिद्धांत खंडित हो जाते हैं। सापेक्ष रूप से सत्य और अहिंसा को लेने से निरपेक्ष सत्य का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है।

इन आक्षेपों के संबंध में यहाँ विचार करना आवश्यक है। पहले तो यह मानना ही गलत है कि आजादी केवल अहिंसा के आधार पर प्राप्त हुई है। विनोबा ने भी स्वीकार किया है कि आजादी लाने में कई प्रकार के तत्त्वों का सहयोग रहा। यदि हम हम यह कहें कि हिंसा और अहिंसा—दोनों को मिलाकर आजादी मिली, तो आजादी के बाद कुछ हिंसक तत्त्वों का रहना अस्वाभाविक नहीं है। दूसरी बात जब गांधी यह कहते हैं कि साधन का ही विचार करना चाहिए फल या साध्य का नहीं, तो इसका यह अर्थ कहीं होता है कि किसी कार्य को हम बिना लक्ष्य के विचार किये ही करें। गांधी इस कथन के द्वारा केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि साध्य की आसक्ति नहीं होनी चाहिए। अतः केवल साधन के विचार करने पर भी लक्ष्य और परिणाम की चेतना रहती है। इसलिए यदि अच्छे साधन से अच्छे साध्य की उत्पत्ति नहीं होती है, तो उसकी व्याख्या की जा सकती है। साध्य को साधन से स्वतन्त्र मानना निरा भूल है। यह कल्पना करना कि साधन अंश है और साध्य पूर्ण

१ उपरिवत् पृ० ३०७।
२ उपरिवत् पृ० ३०७।
३ उपरिवत्, पृ० ३०८।

है—मनमानी कल्पना है। वास्तविक स्थिति यह है कि साधन-साध्यो के अनत सोपान है अत साधन और साध्य सापेक्ष ही माने जा सकते है। ऐसा मानने पर या तो सभी अश है या सभी पूर्ण। यदि साध्य का अर्थ अतिम लक्ष्य मे लिया जाय, तो सचमुच साधन साध्य मे कोई भेद नही रह जाता है क्योंकि अनेक साध्यो का स्थान इसमे आ जाता है जो साधन भी है। अत अतिम साध्य को भी छोटे-छोटे साध्यो से स्वतत्र नही माना जा सकता। हाँ, यदि ईश्वर या रहस्यमयी सत्ता का सहारा हम ले, तो भले ही साध्य साधन से स्वतत्र हो जाय, परन्तु बौद्धिक धरातल पर इसे उचित नही माना जा सकता। बुद्धि यही कहती है कि साध्य साधन से स्वतत्र नही है। सकायवाद का सिद्धात अकाट्य है। गाँधी पर यह आक्षेप भी गलत है कि उन्होने नैतिक नियम के निर्धारण मे लक्ष्य और परिणाम का विचार नही किया है। यदि वे लक्ष्य और परिणाम का विचार नही करते तो 'आत्मानुभव' और स्वतन्त्रता की धारणा हमे नही मिलती। वे सर्वोदय की कल्पना नहीं करते। सच तो यह है कि उनके नीतिशास्त्र मे नियमवाद और प्रयोजनवाद का समुचित समन्वय है। उन्होने परिस्थिति और परिणाम का ख्याल कर ही व्यावहारिक अहिसा का सिद्धात दिया है। यदि वे परिस्थिति और परिणाम का विचार नही करते, तो विकासवादी के स्थान पर निरपेक्षवादी होते जो वे नही थे।

साधन-साध्य के सबध निरूपण मे बीज और वृक्ष की उपमा भी गलत नही मालूम पड़ती। यह ठीक है कि एक प्रकार के बीज से एक ही प्रकार के वृक्ष पैदा होते हैं परन्तु इसका अर्थ यह कहा निकलता कि वृक्ष 'अ' के लिए बीज 'अ' की ही आवश्यकता है? वृक्ष 'अ' (एक आम का पेड) बीज 'अ' (उस जाति की एक गुठली) से भी उत्पन्न हो सकता है और बीज 'ब' (दूसरी गुठली) से भी उत्पन्न हो सकता है। उसी प्रकार एक साध्य के भी अनेक साधन एक निश्चित आयाम मे हो सकते है। वस्तुत इस प्रकार की शका इसलिए उठती है कि हम साधनो का प्रयोग 'विशिष्टता' मे तथा बीज का प्रयोग 'सामान्य' के रूप मे करते हैं। यदि दोनो का प्रयोग हम सामान्य अर्थ मे करें, तो यह आसानी से सगत रूप मे कहा जा सकता है कि अच्छे साध्यो की प्राप्ति अच्छे साधनो से और बुरे की बुरे साधनो से ही होती है। एक साध्य अनेक साधनो से उत्पन्न होते दीखता है, परतु वह विरोधी तत्त्वो से उत्पन्न नही होता, अनुकूल तत्त्वो से ही उत्पन्न होता है। दिल्ली जाने के लिए चाहे हम हवाई जहाज

से जायं या रेलगाड़ी से जायं—दोनों परिस्थितियों में दिल्ली तभी पहुँच सकते हैं जब दिल्ली जानेवाली गाड़ी या जहाज पर बैठेंगे। कलकत्ता जानेवाली गाड़ी या जहाज पर बैठकर हम दिल्ली नहीं पहुँच सकते। इसी प्रकार से यह कहा जा सकता है कि अच्छे बीज से अच्छे वृक्ष और अच्छे साधनों से अच्छे साध्य की प्राप्ति हो सकती है।

गांधी के निधन के पश्चात् सेवाग्राम सम्मेलन में विनोबा ने साधन की शुद्धि के विचार का जोरदार समर्थन किया। वे गांधी के इस विचार से सहमत हैं कि शुद्ध साधनों से ही सच्चा स्वराज्य मिल सकता है। अतः साधक को साध्य से अधिक साधन का ख्याल रखना ही है। उनके अनुसार 'साधन की जहाँ पराकाष्ठा होती है, वहीं साध्य का दर्शन होता है। इसलिए साधन और साध्य का भेद भी काल्पनिक है। साधनों से साध्य हासिल होता है—इतना ही नहीं बल्कि उसका रूप भी साधनों पर निर्भर रहता है।[1] साध्य के संबंध में हर व्यक्ति अपने-अपने को श्रेष्ठ मानता है अतः वह उतना मूल्यवान नहीं है जितना साधन।[2] इसलिए साधन शुद्धि का आग्रह रखना अनिवार्य है।

विनोबा उन विचारों का खंडन करते हैं जो निष्क्रियता के स्थान पर सक्रियता के लिए भलाई के साथ को आदेश से कम करना चाहते हैं। उनके अनुसार निष्क्रियता क्यों न आ जाय परन्तु अन्त-अन्त तक भलाई और सचाई का त्याग नहीं किया जा सकता है। उनकी राय में—"शुद्ध पुरुष की निष्क्रियता में ही महान् शक्ति होती है। निस्संदेह क्रियाशील महान् है, लेकिन सचाई और भलाई उससे भी बढ़कर है। विशेष परिस्थिति में निष्क्रिय भी रह सकते हैं, लेकिन सचाई को कभी छोड़ नहीं सकते।"[3] विनोबा उन व्यवहारवादियों की भी आलोचना करते हैं जो यह मानते हैं कि प्रतिपक्षी के असत्य और हिंसा के साधन के अपनाने पर हमें भी असत्य और हिंसा का मार्ग अपनाना चाहिए। उनकी राय में इस प्रकार की युक्ति देनेवाले व्यक्ति सत्य से काफी दूर हैं। यदि वे प्रतिपक्षी को भूखा देखकर स्वयं भूखा रहना नहीं चाहते, तो फिर प्रतिपक्षी की बुराई की क्या नकल करते हैं? यदि प्रतिपक्षी बुरा है, तो उसकी नकल करने का अर्थ है अपने को उसके हाथ में समर्पित

१ भावे, विनोबा, सर्वोदय विचार और स्वराज्यशास्त्र, पृ० १७।
२ उपरिवत्, पृ० १७।
३ उपरिवत्, पृ० ५७।

करना। आरंभ शक्ति प्रतिपक्षी के हाथ में सौंप देना।[१] विनोबा की राय में—"यह एक पुरुषार्थहीन विचार है और इसमें एक दुष्ट चक्र तैयार होता है। दुर्जनता का एक सिलसिला जारी हो जाता है। उसे तोड़ना हो तो हिम्मत करनी चाहिए और परिणाम का हिसाब लगाए बगैर निष्ठापूर्वक प्रेम करना चाहिए, उदारता रखनी चाहिए। आखिर सत्य, प्रेम और सज्जनता ही भाव रूप चीजें हैं। असत्य आदि तो अभाव रूप हैं। यह प्रकाश और अंधकार का झगड़ा है, उसमें प्रकाश को डर कैसा।[२]

विनोबा यह अनुभव करते हैं कि सपूर्ण देश भर के लोगों का ध्येय एक नहीं हो सकता। इस परिस्थिति में सच्चे और अहिंसक साधन उपयोग में नहीं लाने पर देश टुकड़े-टुकड़े हो सकता है।[३] सच्ची लोकशाही की स्थापना साधनशुद्धि के आग्रह रखकर ही की जा सकती है।[४] इसके लिए विनोबा इस बात पर बल देते हैं कि कुछ ही लोग क्यों न हों, एक संयुक्त मोर्चा बनना चाहिए जो अपने जीवन में अच्छे ही साधन अपनाने का आग्रह रख सके। तभी देश के सामने एक नैतिक मोर्चा बन सकेगा।[५] विनोबा साधन शुद्धि के विषय में किसी प्रकार के अपवाद को स्वीकार नहीं करते। अपवाद के लिए थोड़ा सा स्थान देने से आगे चल कर समूचा सिद्धांत ही समाप्त हो जाता है। अत वे कहते हैं—"अहिंसा का आग्रह रखने के बाद उसका अमल करने की पूरी कोशिश करते हुए कभी भूल हो सकती है, लेकिन पहले से ही उसके लिए गुंजाइश न रखनी चाहिए।[६] साधन शुद्धि का विचार एक क्रांतिकारी विचार है।[७] यदि इसका ख्याल कर हम उसे अपनाते हैं सेवा के कार्य में लगते हैं, तो उसका प्रभाव समूचे विश्व पर पड़ सकता है।[८]

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि साधन-साध्य प्रश्न पर विनोबा की अपनी कोई विशिष्ट देन नहीं है। परंतु इनकी देन इस सिद्धांत के प्रयोग

१ उपरिवत् पृ० १८।
२ उपरिवत्, पृ० १८।
३ उपरिवत्, पृ० ३१।
४ भावे, विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० १८५।
५ भावे, विनोबा सर्वोदय विचार और स्वराज्यशास्त्र, पृ० ३३।
६ उपरिवत्, पृ० ३४।
७ उपरिवत्, पृ० ३४।
८ उपरिवत्, पृ० ३४।

मे अवश्य है। इन्होने अपने सर्वोदय और सौम्य सत्याग्रह के विचार मे गांधी की अपेक्षा साधन-शुद्धि पर अधिक बल दिया है। गांधी ने रचनात्मक कार्यक्रम और सत्याग्रह के द्वारा ही समाज-परिवर्तन करना चाहा था। परतु सगठन से उत्पन्न हिंसा का वे निषेध नहीं कर सके थे। सत्याग्रह आन्दोलन मे भी कई जगह हिंसा उभरी थी। विनोबा ने अपने आन्दोलन मे विशेषकर भावात्मक सत्याग्रह का ही प्रयोग किया है जो गांधी की अपेक्षा अधिक शुद्ध और अहिंसक है।

आत्मनिष्ठ नैतिकता या नैतिकता के मनोवैज्ञानिक आधार के अन्तर्गत निष्कर्मता और साधन-साध्य सिद्धात का विचार प्रस्तुत किया गया क्योकि दोना का सबध हमारी मानसिक स्थिति से है और नैतिकता के निधारण मे इन्हे सर्वोपरि आधार माना गया है। परतु हमारी नैतिक साधना का अन्त कवल मनोवैज्ञानिक धरातल तक जाकर ही नहा हो जाता। इसकी क्रिया तब-तक चलती रहती है, जबतक हम अपने आत्मिक स्वरूप को प्राप्त नहीं कर लेते हैं। निष्कमता और साधन शुद्धि के विचार से मानसिक सतुलन होता है। परतु ये अपने आप मे पूर्ण साध्य नहा हैं। इनके आधार पर हम आगे के उच्च प्रकार के आध्यात्मिक जीवन म प्रवश कर सकते हैं जिसे मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण या परम-साम्य की सज्ञा देते हैं। यही हमारी आध्यात्मिक नैतिकता का लक्ष्य है।

(ग) नैतिकता का आध्यात्मिक आधार

एक मूल प्रश्न है कि हम नैतिक क्यो बनें? इसके लिए हम कोई अन्य आधार ढूंढना पडेगा। हिन्दू मनीषियों ने नैतिकता का सर्वोच्च आधार आध्यात्मिकता माना है। बिना आध्यात्मिकता के नैतिकता टिक नहा सकती। इसी सदर्भ म आत्म तत्व का विश्लेषण, कर्मशास्त्र का अध्ययन तथा मोक्ष और मोक्ष-साधन का विचार आता है। गांधी न भारतीय दर्शन के इन सिद्धातो को मात्र स्वीकार भर कर लिया था। किंतु विनोबा ने इन प्रश्नो पर मौलिक ढग म विचार किया है।

१ कर्म-सिद्धात एक विवचन

गांधी और अन्य भारतीय दार्शनिको की भाति विनोबा कर्मवाद म विश्वास रखते हैं तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म बन्धन से मुक्त होना अनिवार्य मानते हैं। उनके अनुसार मनुष्य के कार्यों का प्रभाव उसके चित्त पर

पड़ता है, परिणामस्वरूप उस कर्म की ओर कर्ता का खिंचाव होने लगता है। सद्कर्म रहने पर उसका फल तारक और दुष्कर्म रहने पर उसका फल मारक होता है। चित्त पर कर्म के इसी प्रभाव या वेग को विनोबा कर्म-बंधन की संज्ञा देते हैं।[1] जबतक व्यक्ति कर्म बंधन से मुक्त नहीं होता, जीवन की पूर्णावस्था का अनुभव नहीं कर सकता है।

प्रचलित कर्म सिद्धांत को विनोबा आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति के सद्कर्मों और दुष्कर्मों का प्रभाव केवल व्यक्ति तक ही सीमित रहता है, अतः उसमें मुक्त होने की साधना भी वैयक्तिक होती है। विनोबा इसे दोषपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार दो प्रकार के कर्म होते हैं—व्यक्तिगत कर्म और सामूहिक कर्म। व्यक्तिगत कर्म का फल केवल व्यक्ति को ही भोगना पड़ता है। परंतु सामूहिक कर्म के अनुसार किसी कर्म का प्रभाव केवल व्यक्ति पर ही नहीं पड़कर पूरे समाज पर पड़ता है। अर्थात् किसी व्यक्ति के पाप-पुण्य का फल केवल उसे ही नहीं मिलता उसका फल सारे समाज को भोगना पड़ता है।[2] विनोबा ने इसे उदाहरणों से और स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। परिवार के किसी एक व्यक्ति की गलती का फल समूचे परिवार को भोगना पड़ता है, किसी गिरोह का एक व्यक्ति गलत काम करता है, तो उसका फल समूचे गिरोह को मिलता है लापरवाही से किसी लड़के द्वारा बीड़ी पीकर फेंक देने से केवल उसीका घर नहीं जलता समूचा गाँव जलता है—तो यह सोचना उचित ही है कि दूसरे के सुकर्मों और दुष्कर्मों का फल हमें भोगना पड़ता है और हमारे कर्मों का फल समूचे समाज को मिलता है। अतः कर्म बंधन-मुक्ति की साधना सामूहिक होगी। यहाँ ऐसी युक्ति दी जा सकती है कि हम अपने पूर्व जन्म के पाप के कारण ही दूसरे के पाप का और पुण्य के कारण ही दूसरे के पुण्य का फल भोगते हैं। परंतु विनोबा की राय में यह दूर का अनुमान है जो उचित नहीं है। वास्तविकता यह है कि मानव जीवन में केवल व्यक्तिगत जिम्मेवारी ही नहीं है सामाजिक दायित्व भी है।[3] सामूहिक दायित्व के निर्वाह नहीं करने में उसका फल भोगना पड़ता है।

---

१ विनोबा चिन्तन अंक ३१ पृ० ३२०।

२ विनोबा चिंतन, अंक ७ पृ० २१।

३ उपरिवत्, पृ० २०।

अन्य भारतीय दार्शनिकों की भाँति विनोबा तीन प्रकार के कर्म—प्रारब्ध, अनारब्ध और सचीयमान को स्वीकार करते हैं। अनारब्ध और सचीयमान कर्मों का क्षय आत्मज्ञान से होता है, परतु प्रारब्ध का क्षय भोग से ही होता है।[1] अपवादस्वरूप ईश्वर की कृपा होने से प्रारब्ध का क्षय भी बिना भोग का हो सकता है।[2] विनोबा की राय में ईश्वर गलत काम करने पर प्रेमवश सजा देता है, दण्ड की नीति से नहीं, अत पश्चात्ताप करने पर वह क्षमा कर सकता है। ईश्वर केवल न्यायप्रिय ही नहीं करुणावान भी है। यदि राष्ट्रपति सुप्रीम कोर्ट के द्वारा दिये गये प्राणदण्ड को बदल सकता है, तो ईश्वर प्रारब्ध कर्मों के भोग से क्यों नहीं मुक्त कर सकता ?[3] वह हम सामूहिक कर्म के फल से भी मुक्त कर सकता है।[4] विनोबा का सामूहिक कर्म का सिद्धांत वैज्ञानिक युग की देन है। विज्ञान ने देश काल की दूरी को सीमित कर दिया है। तरह-तरह के विध्वंसक अस्त्र शस्त्र बन चुके हैं जिनका विश्वव्यापी प्रभाव हो सकता है। इस परिस्थिति में सामूहिक दायित्व के सिद्धांत का महत्व स्वय स्पष्ट हो जाता है। सामाजिक दायित्व का अनुभव करना आधुनिक समाज की ज्वलन्त आवश्यकता है। यदि हम अपने पड़ोसियों की समस्या के प्रति संवेदनशील नहीं हैं, तो इसका प्रभाव स्वय के जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। अत विनोबा का सामूहिक कर्म का सिद्धांत उनकी अपनी मौलिक देन है। परतु 'ईश्वर कृपा के आधार पर प्रारब्ध के भोगों का क्षय'—भावना को भक्त ही तुष्ट करता हो, बुद्धि को नहीं जँचती है।

(२) मोक्ष और उसकी साधना

(क) मोक्ष का स्वरूप—अन्य पुरुषार्थों की तुलना में विनोबा मोक्ष को सर्वाधिक निर्दोष मानते हैं। अर्थ और काम के सेवन में सफलता और विफलता दोनों में हानि है, धर्म की साधना में सूक्ष्म पालन से मोक्ष लेकिन स्थूल पालन से स्वर्ग का भौतिक सुख मिलता है। परतु मोक्ष की साधना में सफलता और विफलता दोनों में लाभ है क्योंकि ईश्वर धर्म से भी ऊपर है, उसकी भक्ति में हार या जीत हो, तो भी परिणाम एक ही है—मोक्ष।[5] अत जीवन की

---

१ उपरिवत्, पृ० ८६।
२ उपरिवत्, पृ० २०।
३ भावे, विनोबा, साम्यसूत्र, पृ० ८७।
४ विनोबा चिन्तन, अक ७ पृ० २१।
५ विनोबा-चिन्तन, अक १५, पृ० १३७।

सभी प्रकार की नैतिक साधनाओं का लक्ष्य है मोक्ष की प्राप्ति। मोक्ष के संबंध में भी अरविन्द के विचार का विनोबा खण्डन करते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार मोक्ष समाप्ति नहीं साक्षात् रूप से ईश्वर के पास पहुँच कर अनुभव लेने की अवस्था है। मोक्ष का अनुभव लेकर फिर मनुष्य नीचे प्राणी के लोक में आकर उसमें ऊपर रहकर उसकी मदद करता है।[1] विनोबा के अनुसार मोक्ष ईश्वर और उसकी प्राप्ति की अवस्था है।[2] यहाँ तक अरविन्द से उनका साम्य है। परन्तु वे *अरविन्द की चढ़ाव और उतार की भाषा को काल्पनिक* मानकर खण्डन करते हैं।[3] मोक्ष की अवस्था में हमारी स्थिति में कुछ भी चढ़ाव उतार की क्रिया नहीं होती, हम अपनी ही जगह पर रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा के प्रसंग में कहा जा सकता है कि आत्मा में चढ़ाव उतार नहीं होकर उसकी पहचान होती है।[4] अतः मोक्ष का यही अर्थ है—आत्म-पहचान की अवस्था जिसमें मनुष्य की सारी वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं और वह पूर्ण निवृत्ति की अवस्था को प्राप्त करता है,[5] परन्तु लोक संग्रह का कार्य चलता रहता है। विनोबा की राय में मोक्ष न तो स्थूल सक्रियता की अवस्था है और न निष्क्रियता की। यह प्राणी की सूक्ष्म क्रिया की अवस्था है जिसका परिणाम अधिक शक्तिशाली और व्यापक होता है।

विनोबा का यह विश्वास है कि शरीर रहते हुए हम मुक्ति की पूर्णता का अनुभव नहीं कर सकते हैं[6] क्योंकि जबतक शरीर कायम रहता है तबतक उसमें राग-द्वेष का कुछ न कुछ मात्रा में रहना अनिवार्य है।[7] परन्तु पूर्ण मुक्ति का अनुभव पूर्णरूपेण राग-द्वेष के समाप्त होने के बाद ही हो सकता है[8] जो देहत्याग के बाद ही संभव है। विनोबा की राय में मोक्ष आनन्द की अवस्था

---

१ विनोबा-चिन्तन, अंक १, पृ० १७-१८।

२ विनोबा चिन्तन, अंक १५, पृ० १३०।

३ विनोबा-चिन्तन, अंक ९, पृ० ५०।

४ उपरिवत्, पृ० ५०।

५ उपरिवत्, पृ० ५०।

६ पोद्दार, राजेन्द्र सिंह विनोबा संवाद, (वाराणसी : सर्व सेवा संघ प्रकाशन), पृ० ३२।

७ विनोबा-चिन्तन, अंक ३१, पृ० ३०।

८ विनोबा चिन्तन, अंक ७, पृ० २९।

है। आत्मज्ञान ही मोक्ष है और जहाँ आत्मज्ञान है वहाँ आनन्द भी है।[१] परतु मोक्ष का आनन्द भौतिक और शारीरिक सुख के आनन्द से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न है।[२] मोक्ष की कल्पना सामूहिक ही हो सकती है। विनोबा की राय मे 'मेरी-मुक्ति'[३] आत्मविरोधी पद है क्योकि 'मैं' भाव आते ही बधन होना स्वाभाविक है। यह विनोबा की मौलिक युक्ति है। अन्य भारतीय दार्शनिको की भाँति विनोबा जीवन-मुक्ति और विदेह मुक्ति—दोनो को मानते हैं। जीवन मुक्ति सूक्ष्म कर्मयोग की अवस्था है।

(ख) मोक्ष-साधन

१ सूक्ष्म कर्मयोग मोक्ष साधन के रूप मे सूक्ष्म कर्मयोग की साधना विनोबा आवश्यक मानते हैं क्योकि सूक्ष्म कर्मयोग के द्वारा ही जीवन-मुक्ति मिल सकती है। अत यहाँ सूक्ष्म कर्मयोग की क्रिया को समझना अपेक्षित है। विनोबा की राय मे सूक्ष्म-कर्मयोग मे स्थूल क्रिया कम होती है, परतु हृदय शुद्धि का कार्य अधिक होता है।[४] हृदय की शुद्धि के कारण थोड़े-से कर्म अथवा मात्र उपस्थिति से ही कर्म की शक्ति बढ जाती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार होमियोपैथी की दवा को घोटाई करने से दवा की ताकत बढ़ जाती है और स्थूल परिमाण कम हो जाता है। सूक्ष्म कर्मयोग मे क्रिया की अपेक्षा वाणी, भाव और चिंतन का महत्त्व अधिक होता है।[५] अत इसमे हमारी "बाह्य संवेदना, सहानुभूति, और अभिनन्दन मानसिक तथा आन्तरिक सहानुभूति, अभिनन्दन मे परिणत हो जाती है।"[७] साधक मे किसी भी प्रकार की अहङ्कृति, सकल्प और कामना नही होती।[८]

सूक्ष्म कर्मयोग मे साधक सृष्टि से विमुख नही होता है। विनोबा की राय मे इससे हम सृष्टि की ओर अभिमुख होते है। इसमे ईश्वर का 'अभिध्यान'

१ भावे, विनोबा, विचार पोथी, पृ० ९४।
२ श्रोहार, राजेन्द्र सिंह, विनोबा-सवाद, पृ० १६।
३ विनोबा चिन्तन, अक १४, पृ० ९१।
४ उपरिवत् पृ०९२।
५ उपरिवत, पृ० २० २१।
६ उपरिवत्, पृ० ४०।
७ उपरिवत्, पृ० ११।
८ उपरिवत्, पृ० १७।

(सृष्टि को सामने रखकर ध्यान करना) किया जाता है।[1] इसीलिए विनोबा सूक्ष्म कर्मयोग में प्रवेश करने के बाद से (१९६६) ग्रामदान, शान्तिसेना और ग्रामाभिमुख खादी की ओर अभिमुख रहना चाहते हैं, उसमें स्वयं कुछ करना नहीं चाहते। अब तो वे आश्रम की परिधि से भी बाहर जाना नहीं चाहते। इसी प्रकार कोई भी योगी अपनी स्थूल भक्ति, ज्ञान, ध्यान इत्यादि को छोड़कर, उसके आंतरिक या सूक्ष्म रूपों का पालन करता है।[2] अपने स्थूल कर्मों का त्याग करते-करते योगी अपने को सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, और शून्य की अवस्था में परिणत कर देता है। ऐसे मुक्त पुरुष के द्वारा सृष्टि की सेवा अनन्त रूप में होती है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्य के बिना साक्षात् सहयोग के भी उससे अनन्त कार्य होते रहते हैं। सूक्ष्म कर्मयोग की कल्पना विनोबा की अपनी मौलिक देन है। अबतक 'कर्मयोग' की धारणा आई थी लेकिन 'सूक्ष्म कर्मयोग' की नहीं।

२ सामूहिक समाधि जैसा हम देख चुके हैं कि विनोबा के अनुसार सामूहिक कर्म और सामूहिक मोक्ष होते हैं, अतः सामूहिक मोक्ष की प्राप्ति सामूहिक रूप से साधना करने पर ही हो सकती है। इसे सामूहिक समाधि कहते हैं। सामूहिक समाधि की चर्चा यद्यपि प्राचीन ग्रंथों में भी है परन्तु प्रेरणा गांधी और विनोबा के विचारों में अधिक है। विनोबा प्राचीन आध्यात्मिक साधना को त्रुटिपूर्ण मानते हैं जिसमें साधक 'विद्या' और 'मुक्ति' के संबंध में भी 'मैं' और 'मेरा' से ऊपर नहीं उठ पाते हैं तथा उन्हें सीमित बना देते हैं। 'मैं' के स्थान पर 'हम' की साधना का विचार ही विनोबा के अनुसार सामूहिक समाधि है।[3]

'समाधि' का अर्थ है "समत्वयुक्त चित्त"। "जिस चित्त में विकार स्पर्श नहीं, अहंता-ममता नहीं, संकुचित भाव नहीं", ऐसा वैज्ञानिक चित्त समाधि कहलाता है।[4] सामूहिक-समाधि में सारा समूह अपनी मन की अवस्था से ऊपर उठ जाता है। इस भूमिका में आने पर व्यक्तिगत, साम्प्रदायिक, जातीय, अथवा राष्ट्रीय अहंकार समाप्त हो जाते हैं तथा संपूर्ण समाज स्वतंत्र चिंतन और

---

१ उपरिवत्, पृ० ९।

२ उपरिवत्, पृ० १५।

३ भावे, विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० ५५।

४ विनोबा-चिन्तन, अंक २६-२७, पृ० ८९-९०।

तटस्थ निर्णय के आधार पर चलता है।[१] इसमें साधना का विषय सामुदायिक सेवा है।[२] जिसमें समाज के भौतिक कल्याण के अतिरिक्त, नैतिक और आध्यात्मिक विकास की चिंता की जाती है। सामुदायिक सेवा के पीछे भी व्यक्तिगत साधना का विचार न रखकर सामुदायिक साधना का लक्ष्य रहता है।[३] अतः इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ और साधना सामूहिक स्वार्थ और साधना में परिणत हो जाते हैं।

सामूहिक समाधि में एकरसता होती है। इसमें किसी भी प्रकार का द्वैत नहीं रहता। जो समाधि हम अपने लिए चाहते हैं वही समाधि समाज के लिए भी चाहते हैं। रामकृष्ण के भक्त कहते हैं—"आत्मनोहिताय, जगत सुखाय च।" इसका अर्थ हुआ कि वे 'अपने लिए तो हित की साधना करते हैं परन्तु समाज के लिए सुख चाहते हैं।"[४] इसमें एक द्वैत रह जाता है। प्रश्न है कि अगर अपना हित सोचेंगे, तो जनता का हित क्यों नहीं सोचेंगे? इसलिए कि किसी की इच्छा के विरुद्ध हम उसपर हित लाद नहीं सकते। यह साधक की मर्यादा है। इसीलिए अब भक्ति को भी सर्वोदय में रूपांतरित करना होगा। विनोबा का कहना है कि "रामकृष्ण को जो समाधि लगी थी उसे अब हमें सामाजिक बनाना है।" यही ज्ञानदेव ने कह दिया है—"वुद्धि ये वैभव अन्य नाहि दूजे।" इसलिए प्रह्लाद ने वर मांगा था—"मैं अकेला मुक्त होना नहीं चाहता हूं।" मोक्ष अकेले पाने की वस्तु है भी नहीं। 'मैं' के आते ही 'मोक्ष' भाग जाता है। "मेरा मोक्ष" यह वाक्य ही, व्याघातक है। यहाँ विनोबा के विचार का काण्ट के नैतिक सार्वभौमवाद से साम्य है जिसमें उसी कार्य को उचित की संज्ञा दी जाती है जो सभी के लिए लागू हो सके। विनोबा की राय में किसी कार्य को उचित-अनुचित, लाभप्रद और हानिप्रद सिद्ध करने के पहले उसे सार्वजनिक बनाकर देखना चाहिए। यदि परिणाम ठीक आता है, तो कर्म उचित है, और आत्मघातक होने पर अनुचित। भीख माँगना और हिंसा करना अनुचित इसलिए है क्योंकि सभी व्यक्ति इनकी साधना शुरू कर दें,

---

१ उपरिवत् पृ० ९१।

२ विनोबा-चिंतन, अंक २३, पृ० ५१४-१५।

३ उपरिवत्, पृ० ५१४-१५।

४ विनोबा चिंतन, अंक २६ २७, पृ० ८८।

तो इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा।[१] वस्तुत विनोबा व्यक्ति और समाज की मौलिक एकता मे विश्वास करते हैं। अत व्यक्ति के लिए जो श्रेष्ठकर है वही समाज के लिए भी है।

सामूहिक समाधि मे ब्रह्मविद्या को गुप्त रखने की योजना नही है। इसमे ब्रह्म-विद्या का अनुभव किया जाता है, सतो के द्वारा बताये गये ज्ञान की पहचान कर उसे नया रूप देकर, समूचे समाज मे उसका व्यापक प्रयोग किया जाता है।[२] विनोबा की राय मे—"जैसे वैज्ञानिक प्रयोगशाला म प्रयोग करता है और उसका कुछ नतीजा आने पर उस समाज पर लागू किया जाता है—वैसे ही आध्यात्मिक प्रयोग पहले व्यक्ति के जीवन क्षेत्र मे किये जाते है और फिर समाज मे लागू किये जाते है।"[३] ऐसी समाधि म हम स्थायी अपरिवर्तनीय, अखड और असीम स्थिति मे जीने हुए पडोसियो की सेवा करते हुए, "पडोसिया पर अपने जैसा प्रेम करो" का चिंतन करते-करते, वैसी अनुभूति प्राप्त करने लगते है।[४] यहाँ अह के नाश होने से व्यक्ति के नाते हम नष्ट हो जाते है फिर भी असीमता और मुक्ति की ओर हम आगे बढने जाते हैं। अन्त म हमारी अनुभूति सहज भाव से फैलती जाती है और क्रम-क्रम म विश्व का परिवर्तन होने लगता है।[५] इस समाधि म कोई क्लेश, दगा, फसाद आदि नही होंगे, सबका समाधान होता है।[६] इस समाधि की अनुभूति का बाधक तत्त्व अविद्या और परिस्थिति की प्रतिकूलता है।[७]

सामूहिक समाधि की धारणा विनोबा की मौलिक देन है यद्यपि इसका बीज-तत्त्व गाधी के नीति और धर्म के सामूहिक और सर्वव्यापक विनियोग मे है। यह आधुनिक विज्ञान और युग के अनुकूल है। आज मोक्ष व्यक्ति की समस्या नही है, समाज की समस्या है। हर व्यक्ति समाज की वर्तमान स्थिति म असतुष्ट है तथा उसके दोषो के निराकरण के लिए चिंतित है। समाज की बुराइयाँ अधिकतर समाज कद्रित है। समस्त समाज द्वारा साधना म ही इनका

१ भावे, विनोबा, सर्वोदय-विचार और स्वराज्य-शास्त्र, पृ० ९९१-९२।

२ विनोबा-चिंतन, अक १४, पृ० ९०।

३ उपरिवत, पृ० ८७।

४ भावे, विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० २८।

५ उपरिवत, पृ० २५ २६।

६ विनोबा चिंतन, अक २५, पृ० ३९।

७ उपरिवत्, पृ० ३३।

उन्मूलन हो सकता है। सामाजिक वृत्ति के विकास में ही सच्चा मोक्ष प्राप्त हो सकता है। देहमुक्ति कोई मुक्ति नहीं, अहंकार मुक्ति ही मुक्ति है।

३ साम्य योग मोक्ष की साधना के लिए भारतीय दर्शन में कई प्रकार के योगों की चर्चा हुई है। शंकर ज्ञानयोग, रामानुज भक्तियोग, लोकमान्य तिलक कर्मयोग, और गांधी अनासक्ति-योग को मोक्ष का साधन मानते हैं। अतएव इनकी राय में गीता की शिक्षा उक्त योगों की है। विनोबा के अनुसार साम्य-योग ही मानव जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग है। ज्ञान, कर्म, भक्ति और अनासक्ति इत्यादि व्यावर्तक चीज है[१] इनके द्वारा हमारे जीवन में सुरक्षा मिल सकती है, परन्तु वास्तविक प्राप्य वस्तुओं का निदर्शन नहीं हो सकता। सम्पूर्ण जीवन का रहस्य व्यावर्तक और भावात्मक दोनों तत्त्वों की साधना में सन्निहित है जो हमें साम्ययोग में प्राप्त होता है।[२]

'साम्ययोग' की धारणा का विकास विनोबा वेद, ब्रह्मसूत्र, मनुस्मृति, सन्तवचन, और श्रीमद्भागवत् गीता की शिक्षा के आधार पर करते हैं। साम्ययोग का उद्देश्य साम्य की प्राप्ति करना है। साम्य का अर्थ है सतुलन स्थिरता एकता अथवा तादात्म्यता। ये अर्थ जीवन के सम्पूर्ण आयामों के लिए ग्राह्य हैं। इसलिए साम्ययोग के आधार पर आर्थिक सामाजिक, नैतिक मानसिक, वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक साम्य की प्राप्ति की जा सकती है। साम्य की प्रक्रियाएँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं परन्तु इन सभी प्रक्रियाओं की एक ही मिलन बिन्दु साम्य है।[३] सन्यास के द्वारा सभी प्रकार की आसक्तियों का त्याग होता है। योग के द्वारा सभी प्रकार के साधना का सतुलन होता है। परन्तु दोनों के द्वारा हमारे चित्त में साम्य उत्पन्न होता है जो अन्य साम्यों की सिद्धि में सहायक है। साम्य योग में सन्यास और योग दोनों एकत्र उपस्थित होते हैं इसलिए भी साम्य होता है।[४]

साम्ययोग का आधार समन्वय का तत्त्वज्ञान है।[५] समन्वय के तत्त्व-ज्ञान पर ही व्यक्ति और समाज की बुनियाद कायम रह सकती है अतः साम्ययोग

---

१ भावे विनोबा, साम्यसूत्र, पृ० ९।
२ उपरिवत्, पृ० ९।
३ विनोबा चिन्तन, अंक १० ११, पृ० ३८।
४ उपरिवत् पृ० ३८।
५ उपरिवत् पृ० ३७।

मे कई प्रकार के समन्वय देखे जाते हैं। आत्मा और शरीर का समन्वय, व्यक्ति और समाज का समन्वय, सभी प्रकार के तत्त्वज्ञानों का समन्वय, योग और सन्यास का समन्वय तथा सगुण निर्गुण का समन्वय साम्य योग के सार हैं। साम्ययोग की प्रक्रिया मे पहले शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक इत्यादि अपर साम्यों की स्थापना का प्रयत्न किया जाता है।[१] परन्तु इनकी स्थापना विवेक के आधार पर की जाती है।[२] कृत्रिम प्रक्रिया के द्वारा साम्य की स्थापना नहीं हो सकती, इसमे साम्य के बदले विषमता पैदा होती है।[३] साम्य का अनुभव एकरसता मे नहीं, सृष्टि की अनेकता के मध्य होता है।[४] साम्य स्थापित करने के समय व्यक्ति के संस्कार का ख्याल रखना आवश्यक है। अत साम्य का अर्थ गाणितिक साम्य नहीं है।[५] गाणितिक साम्य से दुनियाँ का आनन्द ही समाप्त हो जायगा। साम्य मे सभी का समाधान होता है, 'साम्य समाधान'।[६] अत साम्य स्थापित करने के मूल मे प्रेम है। इसका अच्छा उदाहरण परिवार मे मिलता है जिसमे एक दूसरे के प्रति प्रेम रहता है परन्तु सभी के लिए सब कुछ समान नहीं होता। परिवार के हर व्यक्ति की जरूरत और क्षमता भिन्न-भिन्न होती है। इसीके अनुसार उन्हे उपभोग और काम का दायित्व मिलता है। विनोबा समाज मे इसी प्रकार के साम्य की स्थापना करना चाहते है जिसमे समाज के सभी व्यक्तियो का समाधान हो। अत उनके अनुसार साम्य सामूहिक साधना का विषय है।[७] सामाजिक साम्य की भांति ही हमे अपने जीवन मे अन्य अपर साम्यो की स्थापित करने की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु केवल अपर साम्यो को स्थापित करना ही मानव का लक्ष्य नहीं है। इन अपर साम्यो की स्थापित करने मे परम साम्य का दर्शन होता है[८] जिसे ब्रह्म साम्य भी कह सकते हैं। परम साम्य पहले से ही स्थापित

१ भावे, विनोबा, साम्यसूत्र, पृ० १२।
२ भावे, विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० ६६।
३ विनोबा-चिंतन, अंक ५६ ५७, पृ० २२१।
४ भावे, विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० ६६।
५ उपरिवत्, पृ० ६६।
६ उपरिवत्, पृ० ६६।
७ विनोबा-चिन्तन, अंक ५४, पृ० ९०-९१।
८ भावे, विनोबा, साम्यसूत्र, पृ० १२।

करते हैं। व्यक्तलिंग और अव्यक्तलिंग—दोनों ज्ञान की अवस्थाएँ हैं। एक में ज्ञान प्रकट रूप से रहता है, दूसरे में गुप्त रूप से। जैसे ज्ञानी जो स्थूल रूप से कर्म कम करते हैं परन्तु जिनकी वाणी से प्रति क्षण ज्ञान ही व्यक्त होता है व्यक्तलिंग ज्ञानी कहलाते हैं। परन्तु जिनका ज्ञान गुप्त रहता है, परोपकार के काम में वे सदा तल्लीन रहते हैं थोड़ा कभी वे ज्ञान की बात करते हैं, वे अव्यक्तलिंग ज्ञानी कहलाते हैं। इसी प्रकार कर्मयोग की दृष्टि से जो चौबीसों घंटे कर्म में रत रहते हैं वे व्यक्तलिंग कर्मयोगी तथा जो खुद तो कर्म नहीं करते परन्तु दूसरों के कर्म के लिए प्रेरणास्रोत का काम करते हैं वे अव्यक्तलिंग कर्मयोगी कहलाते हैं। इस प्रकार ज्ञानी और कर्मयोगी में कोई भी भेद नहीं है। जो व्यक्तलिंग कर्मयोगी हैं वे अव्यक्तलिंग ज्ञानी हैं। एक अकर्म में कर्म को प्रेरित करते हैं दूसरा कर्म में अकर्म का अनुभव करते हैं।[1] इस प्रकार विनोबा के अनुसार अकर्म जो मानसिक साम्य की स्थिति है, कर्म से भिन्न नहीं है। कर्म ही उसकी जननी है। अतः साम्य की साधना में यह आवश्यक है।

(घ) गुण विकास सांख्य की प्रकृति के त्रैगुण्य सिद्धांत को मानते हुए विनोबा साम्य की स्थापना के लिए प्रकृति का शोधन, अर्थात् चित्त के सत्व, रज और तम—तीनों गुणों का शोधन आवश्यक मानते हैं। जीवन की योजना में वे इन तीनों को उचित स्थान देना चाहते हैं।[2] अर्थात् "सत्व गुण की पटरी पर रजोगुण के इंजन को बढ़ाना चाहिए जिससे तमोगुण के ब्रेक आगे बढ़ सकें।"[3] इस योजना में थोड़ा-सा भी उलट-फेर करने पर जीवनरूपी गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती है।

सत्वगुण का लक्षण ज्ञान है।[4] इसके आधार पर जीवन की बुनियाद डालने से हमारा जीवन ठीक रहता है। यह हमारे जीवन में दिशानिर्देशन का काम करता है। परन्तु ज्ञान के साथ भी अहंकार रूपी अशुद्धियां मिली रहती हैं।[5] अतः विनम्रता[6] तथा ईश्वर भक्ति[7] के द्वारा हम इनका शोधन

१ उपरिवत् पृ० ३६।
२ उपरिवत् पृ० ४४।
३ उपरिवत्, पृ० ४५।
४ उपरिवत्, पृ० ६१।
५ उपरिवत् पृ० ६१।
६ उपरिवत्, पृ० ६३।
७ उपरिवत् पृ० ६७।

कर सकते हैं। रजोगुण का स्वभाव है मन और शरीर मे गति लाना।[1] जीवन के लिए शरीर-इन्द्रिय और मन का वेग आवश्यक है, परन्तु इनका नियमन भी आवश्यक है। अन्यथा हमारी जीवन-यात्रा निश्चित दिशा मे आगे नहीं बढ सकती है। रजोगुण के शोधन के लिए स्वधर्म का पालन आवश्यक है। "क्षेमस्य शमनं स्वधर्मेण।"[2] मन का गतिशील होना स्वाभाविक है, अत उसे कोई निश्चित वस्तु मिलनी ही चाहिए और वह है स्वधर्म। तमोगुण का स्वभाव है आलस्य और जडता। इसके शोधन के लिए शरीर-श्रम और गाढी निद्रा का विधान है। "श्रम सजात वारिणा",[3] और "यतिप्रमाद अतन्द्रा।"[4] शरीर-श्रम से आलस्य दूर रहता है तथा रात मे ठीक नींद आती है। मन प्रसन्न रहता है। शरीर-श्रम नहीं करने से नींद के बदले तन्द्रा की अवस्था मे हम रहते है। तन्द्रा के कारण प्रमाद बढता है, अत प्रमाद को अतन्द्रा से ही जीता जा सकता है। इस प्रकार प्रकृति के तीनो गुणों के शोधन मे साम्य की प्राप्ति मे सहायता मिलती है।

(ग) **निष्कर्ष** साम्ययोग की साधना मे उपर्युक्त चार साधनो को मोक्ष और अध्यात्म दोनो का साधन मान सकते है। जैसा हम पहले देख चुके है कि आत्मानुभव और ईश्वर-प्राप्ति ही मोक्ष है जिसमे आन्तरिक व्यापक चैतन्य का अनुभव होना है। साम्ययोग की चरम परिणति ब्रह्मानुभूति मे होती है जिसके अन्तर्गत अन्तर्बाह्य सभी वस्तुएँ आ जाती हैं। इसमे पूरे ब्रह्माण्ड के एकत्व का अनुभव होने लगता है। इसी को विनोबा परमसाम्य अथवा अध्यात्म कहते हैं। अध्यात्म अपने मे पहुचाना जाता है।[5] अत हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि साम्ययोग की साधन साध्य शृखलाओ मे धर्म और मोक्ष भी परम-साध्य के साधन है जो नैतिकता का सर्वश्रेष्ठ प्रत्यय या नि श्रेयस है। समस्त अपर साम्यो की साधना का यही लक्ष्य है।

गाधी और विनोबा के समस्त नैतिक सिद्धांतो को देखने से यह लगता है कि गाधी ने सामाजिक नीति और धर्म को सामान्य ढग से अहिंसा के आधार पर स्थापना की थी। इन नीति और धर्मों की गहराई मे प्रवेश करने का प्रयास उन्होंने नहीं किया था। विनोबा ने गाधी के नीति धर्म मे दो

१ उपरिवत्, पृ० ४९।
२ उपरिवत् पृ० ७८।
३ उपरिवत्, पृ० ७८।
४ उपरिवत्, पृ० ७७।
५ **विनोबा चिन्तन,** अक ४४-४५ ४६ पृ० ३४७।

द्वारा आत्म विकास और दूसरो का कल्याण होता है वह नैतिक कर्म है।[1] विशुद्ध नैतिकता म गांधी परमार्थ[2] और निष्कर्मता[3]—दोनो को देखते हैं। नैतिक नियम के सबध मे भी उनके अपने विचार हैं। उनके अनुसार नैतिक नियम राज्य और अन्य दैशिक तथा कालिक नियम स भिन्न है। पहले प्रकार के नियम बाह्य नियम होते है, परतु नैतिक नियम का सबध हृदय से है।[4] यह हमारे अन्तर्गत स्थित ईश्वर का नियम है और हममे व्याप्त तथा सर्वोच्च[5] नियम है। यह नियम मतो से भिन्न अपरिवर्तनीय नियम[6] है जिसका ज्ञान सब को समान रूप से नही होता। ज्ञान नही होने पर भी इसकी सत्ता समाप्त नही होती जिस प्रकार सूर्य को नही देखने से उसकी सत्ता समाप्त नही होती है।[7] गाधी के विचार म आतरिक नियमवाद और नैतिकता के जन्मजात प्रत्यय का सिद्धात छिपा है। इन दोनो प्रकार के सिद्धातो की इन दिनो काफी आलोचना हुई है। नीतिशास्त्र मे प्रमाणीकरण की आधुनिक पद्धतियाँ बाह्य अनुभव की प्रामाणिकता की अपेक्षा रखती है। परतु गांधी के नैतिक नियम के प्रत्यय का आनुभविक प्रमाणीकरण नही हो सकता। अत आधुनिक नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण स इनका महत्त्व नगण्य है। परतु जीवन-यापन की दृष्टि स यह महत्त्वपूर्ण है। नीतिशास्त्र का मुख्य विषय केवल नैतिक प्रत्ययों और वाक्यो का प्रमाणीकरण ढूंढना नही बल्कि नैतिक कर्त्ता का उचित निर्देशन करना भी है। गांधी ने जीने की दृष्टि स नैतिकता पर विचार किया है। इस दृष्टिकोण स आतरिक आवाज ही दैनिक जीवन म औचित्य अनौचित्य का विवक कर सकता है। फिर नैतिक प्रत्ययो और वाक्यो को पूर्णरूपेण तथ्यात्मक प्रत्ययो और वाक्यो मे हम परिणत भी नही कर सकते। जीवन का मूल्य प्रवहमान है, उसकी पकड तो जीने से ही हो सकती है, केवल बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करने स नही। इस प्रकार धर्म और नैतिकता—दोनो मे कोई मौलिक भेद नही रह जाता है। अधिक-से-अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि धर्म का सीधा सबध हृदय के भावों म और नैतिकता का सीधा सबध हमारे आचरण स है।

1 *Ibid* p 9
2 *Ibid*, p 9
3 *Ibid*, p 22
4 *Ibid*, p 18
5 *Ibid*, p 19
6 *Ibid* p 17
7 *Ibid*, p 17

गाँधी के अनुसार धर्म और नैतिकता—दोनो एक दूसरे की अपेक्षा रखते है। बल्कि यह कहा जाय कि वे एक दूसरे के पूरक हैं। नैतिकता के पालन के लिए धार्मिक भावो का रहना अनिवार्य है। यद्यपि समसामयिक नीतिशास्त्री इस विचार से सहमत नही है। कर्ट बायर के अनुसार नैतिकता का अन्तिम कारण समूह के हित का ख्याल रख कर अपने स्वार्थ को जीतना है।[1] य नैतिकता के पालन के लिए स्वसमर्थक युक्ति (Self Supporting reason) पर बल देते है। परतु गाँधी धम को नैतिकता का आधार इसलिए मानते हैं, क्योकि नैतिकता के पालन मे कभी-कभी हमे असह्य वेदनाओ को सहना पड़ता है, अनेक त्याग करने पड़ते हैं, कभी-कभी पिता, पत्नी, मित्र और दुनिया के विरुद्ध आवाज उठानी पड़ती है। ऐसी विकट घडी मे ईश्वर-विश्वास तथा धर्म के सिवा दूसरी कोई वस्तु नही है जो हमे शक्ति प्रदान कर सके। इसीलिए वे कहते है—"नीति रूपी बीज को जबतक धम रूपी जल का सिंचन नहीं मिलता, तबतक उसमे अकुर नहीं फूटता। पानी के बिना वह बीज सूखा ही रहता है और लबे अरसे तक पानी न पाये, तो नष्ट भी हो जाता है।"[2] इसी प्रकार धम के लिए भी नैतिकता का आधार चाहिए। शायद इसीलिए दुनियाँ के बडे-बडे धर्मों की नैतिकता के नियम समान ही हैं तथा सभी धम-सस्थापको ने एक स्वर से नैतिकता को धम का आधार माना है।[3] धम और नैतिकता के इस परस्पर

1 "We should be moral because being moral is following rules designed to over-rule self-interest whenever it is in the interest of everyone alike that everyone should set aside his interest"—Baier, Kurt, *The Moral Point of View*, (New York, Cornel University Press, 1964), p 314

2 Narayan, Shriman, *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol IV, p 22

3 "The founders of the religions have also explained that morality is the basis of religion If a foundation is removed, the superstructure falls to the ground, similarly if morality is destroyed, religion which is built on it, comes crashing down"—*Ibid*, pp 22-23.

निर्भरता को देख कर गांधी ने इन दोनों को एक ही नाम से पुकारने में किसी प्रकार की गलती नहीं देखी। फिर भारतीय परम्परा में तो धर्म और नैतिकता दोनों एक है ही।

धर्म और नैतिकता की एकता में शायद गांधी के साधन साध्य की एकता का तर्कशास्त्र छिपा है। नैतिकता साधन और धर्म साध्य माना जा सकता है। परन्तु दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर धर्म साधन और नैतिकता साध्य हो जाती है। यदि धर्म का अर्थ निष्कमता के भाव को प्राप्त करने में है, तो नैतिक नियमों का अनुष्ठान इसका साधन हो जाता है। परन्तु यदि निष्कमता की सिद्धि के लिए ईश्वर का सहारा लेना पड़ता है, तो यहा धर्म साधन और नैतिकता साध्य हो जाती है। परन्तु गांधी ने धर्म से अधिक नैतिकता पर बल दिया है क्योंकि उनकी योजना में साध्य से साधन का महत्त्व अधिक है। मनुष्य की सच्चरित्र की पहचान साधन के चयन में ही होती है।

परन्तु अभिव्यक्ति की अस्पष्टता से गांधी को सर्वथा मुक्त नहीं किया जा सकता है। जैसा उन्होंने धर्म और नैतिकता के संबंध में कहा है उससे हमारी बौद्धिक जिज्ञासा शांत नहीं होती। व्यावहारिक रूप से तो धर्म और नैतिकता का भेद मानना ही पड़ेगा। यदि मानव कल्याण और निष्कर्मता' नैतिकता और धर्म दोनों है, तो हमें यह भेद करना होगा कि वे किस अर्थ में धर्म हैं और किस अर्थ में नैतिकता। शायद इन्हें नैतिक इसलिए कहा जाय कि इनके द्वारा मानव के व्यापारों के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण होता है धार्मिक इसलिए कि इनके द्वारा आत्मानुभव अथवा ईश्वर-साक्षात्कार होता है। धर्म का अर्थ भी समाज आत्मा और ईश्वर के साथ अपने को जोड़ना है। अतः व्यावहारिक रूप में यह मानना पड़ेगा कि नीति नीचे की भूमिका है और धर्म ऊपर की। दोनों आपस में इस प्रकार संबंधित हैं कि वे एक ही सत्य के दो पहलू हो जाते हैं।

समसामयिक नीतिशास्त्री यह प्रश्न करता है कि हमें क्यों कोई नैतिक कार्य करना चाहिए? इसके उत्तर में लक्ष्यवादियों, नियमवादियों और ईश्वर-वादियों—सभी की युक्तियों को खंडित कर कर्ट बायर ने यह तर्क दिया है कि नैतिक कर्म करने से अपने सहित सभी के हितों की रक्षा होती है।[1] इसलिए

---

1 Baier, Kurt, *The Moral Point of View*, p. 314

इसमे स्वविषयक (Self-Regarding)[1] और परविषयक (Other-regarding)[2] दोनो प्रकार की युक्तिया (Reason) आ जाती हैं। यद्यपि गांधी नैतिकता के आधार के रूप मे ईश्वर को लेते है फिर भी गहराई मे विचार करने पर इनके विचार और बायर के विचार में कोई विरोध नही मालूम पडता। बल्कि बायर के विचार से गाधी के विचार का समर्थन ही होता है। गांधी जब नैतिकता के अंतिम आधार के रूप मे ईश्वर को मानते हैं, तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि हम शुभ कर्म व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के आदेश से करते हैं। उनकी ईश्वरवादी नीति के तीन अर्थ किये जा सकते हैं—

(क) हमे नैतिकता का पालन करना चाहिए क्योकि यही सत्य है। (ईश्वर—सत्य)

(ख) हमे नैतिकता का पालन करना चाहिए क्योकि यही सभी के हित मे है। (ईश्वर—सभी प्राणी)

(ग) हमे नैतिकता का पालन करना चाहिए क्योकि यही अतरात्मा की आवाज है। (सत्य—अतरात्मा की आवाज)

यदि ऊपर के तीनो अर्थों को लिया जाय, तो सचमुच नैतिक कर्मों का अतिम कारण अपना अस्तित्व सहित सभी का अस्तित्व ही हो जाता है। सत्य की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का शुभ समान है। प्राणी की दृष्टि से सभी के मूल्य समान है तथा आत्मा की दृष्टि से सभी बराबर है। अत गांधी ने नैतिकता को ईश्वर पर परिवेष्ठित किया है, फिर भी इससे नैतिक युक्तियो मे बाह्यता या कमजोरी नहीं आई है। इसमे खूबी यह है कि आस्तिक और नास्तिक दोनो के विचारो का समन्वय हो जाता है।

(ख) विनोबा की देन विनोबा गांधी की भांति धर्म और नैतिकता की एकता की स्थापना नही करते है। उन्होंने भिन्न-भिन्न सदर्भों मे जो धर्म की विवेचना की है, उसमे धर्म और नीति पर अच्छा प्रकाश पडता है। अत पहले यहां पर यह विचार कर लेना अनिवार्य है कि विनोबा ने 'धर्म' का प्रयोग कितने अर्थों मे किया है? 'धर्म' का पहला प्रयोग उन्होंने सामान्य रूप में 'कर्त्तव्य' के रूप में किया है। उनके इस वाक्य से कि "हिंसा करना एक बात है, उसे धर्म या कर्त्तव्य समझकर करना दूसरी बात है"[3]—यही अर्थ सूचित

१ उपरिवत्, पृ० ३०६।

२ उपरिवत्, पृ० ३०७।

३ भावे, विनोबा, अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० १०।

होता है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के स्वधर्मों की चर्चा विनोबा 'कर्त्तव्य' के अर्थ में ही करते हैं। कत्तव्य का यहा अथ है एक व्यक्ति या विशिष्ट सस्था के सदस्य होने के नाते उचित कर्म के करने का दायित्व समझना। 'धम' का दूसरा प्रयोग ऐसे कर्त्तव्यों के अर्थ में किया गया है जिसका सबध बिना किसी वर्ण आश्रम जाति, देशकाल इत्यादि का विचार किये सभी मानवों के लिए कत्तव्य-कर्म स है। इसे भागवत धर्म सार्ववर्णिक[1] धर्म और विनोबा नीतिधम[2] की सज्ञा देते हैं। ऐसे धर्म को हम नैतिक सापेक्षवाद के अर्थ म नही बल्कि निरपेक्ष और शाश्वत नैतिकता[3] (Absolute morality) के अर्थ में लेते हैं। सत्य अहिंसा अस्तेय, अकाम अक्रोध, अलोभ और सर्वभूत हितेहा इत्यादि इसी अथ म धर्म हैं।[4] प्रेम को इसी अथ मे सभी धर्मों का सार माना गया है।[5] शायद इसी अथ को सामने रखते हुए विनोबा यह भी कहते हैं कि कोई भी धर्म—विचार-प्रेरणा के लिए नही नियमण के लिए होना है'।[6] यहाँ भी 'धम कत्तव्य का ही सूचक है। धम का तीसरा प्रयोग प्रचलित मत या सप्रदाय के अथ मे वे करते हैं जिसमे ईसाइ इस्लाम, हिंदू, बौद्ध जैन इत्यादि सस्थात्मक धर्म लिये जाते हैं। ऐसे धर्मों के अपने कुछ कर्मकाड होते हैं तथा इनकी अपनी श्रद्धा होती है। इस धम के बहुत-से अनावश्यक तत्त्व होते हैं। विनोबा ऐसे धर्मों को दोषपूण मानते हैं क्योंकि ये धर्म के मूलभूत विचार से दूर होते हैं। ऐसे धम से मुक्ति पाना ही वे उचित मानते हैं।[7] धम का चौथा प्रयोग व यथार्थ धम के रूप मे करते हैं। इस अथ मे धर्म का आधार विचार[8] और विज्ञान है परलोक की कल्पना[9] नही। यदि विचार से कोई धम खण्डित हो जाता है तो केवल श्रद्धा पर आधारित

---

१ विनोबा चिन्तन, अक ४० ४१, १९६९ पृ० १६९।

२ विनोबा चिन्तन, अक ४४ ४५ ४६ १९६९ पृ० ३६०।

३ विनोबा चिन्तन, अक ५५ १९७० पृ० २१३।

४ विनोबा चिन्तन अक ४० ४१ १९६९ पृ० १५१।

५ भावे, विनोबा अहिंसा विचार और व्यवहार, पृ० ३९।

६ विनोबा चिन्तन, अक ३४ ३५ १९६८ पृ० ५०५।

७ भावे विनोबा, लोकनीति पृ० १७४ १७७।

८ भावे विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० १९५।

९ उपरिवत् पृ० १९१।

धर्म, धर्म नहीं है।[१] धर्म एक पूर्ण विचार है जो समाज के किसी एक अंश पर लागू नहीं होकर सभी पर लागू होता है।[२] अत धर्म व्यक्ति के लिए ही नहीं, समाज के लिए भी आवश्यक है।[३] इस दृष्टि से एक ही धर्म है—वह है मानव धर्म।[४]

विनोबा के अनुसार धर्म आध्यात्मिकता से भिन्न है। धर्म देशकाल के अनुसार विभिन्न रूप लेता है परन्तु आध्यात्मिकता सत्य, प्रेम और करुणा के समान सार्वभौम और शाश्वत है। धर्म में पूजा के भिन्न भिन्न मार्ग होते है, परन्तु आध्यात्मिकता मे ईश्वर भय और मानव-सेवा आवश्यक अंग हैं जो देश काल से परे है।[५] शायद इसीलिए विनोबा कहते हैं—"राजनीति और धर्म के दिन लद गये है और अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का युग आया है।"[६]

ऊपर के भिन्न भिन्न अर्थों के विवेचन के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि विनोबा के अनुसार नीति और धर्म का क्या संबंध है? नीति धर्म की सार्वभौमता और शाश्वतता तथा धर्म की सार्वभौमता और शाश्वतता से ऐसा लगता है कि विनोबा गांधी के समान ही नीति और धर्म को समान मानते हैं।[७] नीति भी सभी के लिए समान होती है, धर्म भी सभी के लिए समान

१ उपरिवत्, पृ० १९०।
२ उपरिवत्, पृ० १९१।
३ उपरिवत् पृ० १९०।
४ उपरिवत्, पृ० १९०।

5 'Religion assumes different forms in relation to place and time Spirituality is universal and eternal like truth, love and compassion Different ways of worship in temples, churches or mosques are supposed to be integral parts of religion But fear of god and service of the poor are essential part of the spirituality which is beyond time and space' — Narayan, Shriman, *Vinoba His life and work*, p 275

६ भावे, विनोबा, आत्मज्ञान और विज्ञान, (प्रकाशकीय) पृ० ३।

७ एक जगह विनोबा ने कहा है—"ईसामसीह ने जितना पुराने धर्म में फर्क किया उतना फर्क बापू के कथन और हमारे विवरण में नहीं है।"—विनोबा चिन्तन, अंक ३४-३५, १९६८, पृ० ५०६।

होता है। नीति का सार भी व्यक्ति के आंतरिक पक्ष में निवास करता है। धर्म का सार भी मनुष्य के आंतरिक भावों में है। धर्म भी व्यक्ति पर नियंत्रण लाता है, नीति भी व्यक्ति पर नियंत्रण लाती है। परंतु इन समानताओं के साथ भेद यह है कि 'स्वधर्म' धर्म के अंतर्गत 'कर्त्तव्य' के अर्थ में आता है, परंतु इसे नीति नहीं कह सकते। फिर प्रचलित अर्थ में धर्म को लें, तो यद्यपि उसमें कुछ नैतिक नियमों के पालन का प्रावधान रहता है परंतु अनिवार्य रूप से नहीं। इसीलिए अहिंसा और प्रेम पर विश्वास करने वाले क्रिस्ती धर्मानुयायी शस्त्रीकरण को व्यावहारिक रूप से उचित मानते हैं। अद्वैत में विश्वास करनेवाले भी छुआछूत में विश्वास करते हैं। वानप्रस्थ में विश्वास करने वाले हिंदू भी उसका आचरण नहीं करते।[१] इस्लाम अर्थात् 'शांति' में विश्वास करनेवाले भी हिंसा का सहारा लेते हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि प्रचलित अर्थ में जो धर्म है वह नैतिक हो ही—अनिवार्य नहीं, फिर दोनों को एक मानना भ्रम ही पैदा करना होगा।

फिर गांधी की कल्पना में धर्म ही आध्यात्मिकता की सर्वोच्च कल्पना थी यद्यपि उसका स्वरूप आध्यात्मिक ही था। इसलिए उन्होंने नीति और धर्म को एक साथ मिलाना उचित समझा। परंतु विनोबा नीति और धर्म से भी ऊपर की वस्तु आध्यात्मिकता को मानते हैं। नीति और धर्म के मामले में मतभेद रहता ही है। इनके नाम पर भी गलत कार्य होते हैं। अतः दोनों को एक साथ मिलाना उन्हें उचित नहीं मालूम पड़ा। उनका विशेष आकर्षण आध्यात्मिकता की ओर रहा जिसका सार उन्होंने दीन-दुखियों की ईश्वर समझकर सेवा करने में देखा।

फिर विनोबा के अनुसार धर्म एक ही है और वह है—मानव धर्म। परंतु नीति अनेक हो सकती हैं। इस कारण से भी धर्म और नीति को समान नहीं समझा जा सकता है। वास्तव में नीति और धर्म मानव के आत्म-विकास के साधन हैं। परंतु आध्यात्मिकता अपने आप में साध्य है जो धर्म और नीति की राह पर चल कर प्राप्त की जा सकती है। अतः धर्म और नीति का आपस में बहुत ही गहरा संबंध है फिर भी वे दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं।

गांधी धर्म और नीति को एक ही मानते थे क्योंकि उनका नैतिकता पर विशेष आग्रह था। विनोबा का आग्रह आध्यात्मिकता पर अधिक है। अतएव

१ भावे, विनोबा, लोक नीति, पृ० १७४ १७७।

इन्होंने धर्म और नीति की एकता को स्वीकार नहीं किया फिर भी इनकी व्याख्या के अनुसार धर्म का अधिकांश भाग नैतिक ही हो जाता है। गांधी नैतिकता के लिए धर्म को आवश्यक मानते थे परन्तु विनोबा के लिए यह आवश्यक नहीं है क्योंकि वे परलोक की सत्ता के आधार पर नीति और धर्म की स्थापना करना नहीं चाहते। विज्ञान और विचार पर ही नैतिकता टिक सकती है। अतः जहाँ पर गांधी का दृष्टिकोण इस संबंध में अधिकतर परंपरावादी था, वहाँ पर विनोबा का दृष्टिकोण आधुनिक, वस्तुवादी और अध्यात्मवादी है। गांधी की भाँति ये रहस्यवादी नहीं हैं क्योंकि अंतर्बोध को धर्म और नैतिकता के निर्धारण में वे उतना अधिक स्थान नहीं देते हैं। ये नीति, धर्म और आध्यात्मिकता—सभी का अंत समग्र रूप में तो लेते ही हैं, इसके साथ-साथ इन पर विश्लेषात्मक ढंग से भी विचार करते हैं। अतः यहाँ पर इन्होंने गांधी के विचार को विश्लेषात्मक ढंग से रखकर उसे मजबूत बनाया है। धर्म के लिए इन्होंने ईश्वर को आवश्यक नहीं समझा। ईश्वर की आवश्यकता धर्म से ऊपर मोक्ष और आध्यात्मिकता की स्थापना में होती है। धर्म और नीति की स्थापना करनी पड़ती है। परंतु विनोबा के अनुसार मोक्ष और आध्यात्मिकता की स्थापना करनी नहीं पड़ती है। जब हम अति नैतिक और अति धार्मिक अवस्था में प्रवेश करते हैं तब आध्यात्मिकता का अनुभव होता है। अतः विनोबा की योजना में धर्म, नीति, आध्यात्मिकता, मत, इत्यादि को एक समझना उचित नहीं होगा।

●

पञ्चम अध्याय



समाज-दर्शन-१

समाज-दर्शन-१

१ दार्शनिकों का सामाजिक दायित्व और समाज-दर्शन का महत्त्व

गाँधीवाद मुख्य रूप से एक समाज-दर्शन है। ज्ञान-सिद्धात, तत्त्व-विवेचन और नीति-सिद्धात, समाज-दर्शन की आवश्यक सामग्री है। समाजदर्शन, दर्शन का एक मुख्य अग है। यदि दर्शन का उद्देश्य मानव जीवन की समुचित व्याख्या करनी है, तो हम मानव के सामाजिक व्यवहारो और सस्थाओं की व्याख्या को इससे अलग नही रख सकते। यदि दर्शन का अर्थ जीवन-दृष्टि है, तो इसे सामाजिक जीवन के चिंतन से अलग नही किया जा सकता। यदि दर्शन केवल ज्ञान-मीमांसा के ताने-बाने मे, तत्त्व-मीमासा की ऊँची-ऊँची कल्पनाओ मे, तथा व्यक्तिगत आचार-सहिताओ के निर्माण मे ही अपनी सारी शक्ति लगा दे, मनुष्य के सामूहिक जीवन की समस्याओ पर समुचित चिंतन प्रस्तुत न करे, तो ऐसा दर्शन सामाजिक समस्याओ मे सत्रस्त मानव को अनुप्रेरित नही कर सकता। ऐसे दर्शन मे केवल बौद्धिक चमत्कार ही दिखलाई पड सकता है, वह मानव-जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध नही हो सकता। दर्शन बौद्धिक और काल्पनिक सिद्धातो की स्थापना इसलिए करता है, क्योकि वह हमारे जीवन को एक निश्चित दिशा प्रदान कर सके। बौद्धिक और काल्पनिक प्रत्ययो की उपयोगिता हमारे दूरस्थ लक्ष्यो के लिए है। हमारी सबसे निकट की समस्या सामाजिक या सामूहिक जीवन की समस्याएँ हैं। यदि दर्शन इन समस्याओं के समाधान के लिए सुचिंतित विचार हमारे सामने नहीं रखता है, तो वह अपने सामाजिक मूल्य को खो देता है। प्राचीन भारतीय दर्शन आज के मानवों को अनुप्राणित करने मे असफल है क्योकि यह मानव की सामाजिक समस्याओं के प्रति प्राय उदासीन है। यह भी कारण हो सकता है कि पहले का समाज अपेक्षाकृत सरल, स्थिर तथा अप्रगतिशील था। आज का सामाजिक जीवन उतना सरल और स्थिर नहीं है। मनुष्य की चेतना तेजी से बढती जा रही है। समाज जटिल होता जा रहा है। अत समय-समय पर

परिवर्तन लाने की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी स्थिति मे दार्शनिको का यह दायित्व हो जाता है कि व्यक्ति और समाज तथा उससे सबधित संस्थाओं और समस्याओं की व्याख्या इस रूप मे करे कि व्यक्ति की चेतना अधिक-से-अधिक सामाजिक जीवन की ओर बढ़ सके। अधिक-से अधिक सामाजिक बुराइयो का दूर किया जा सके तथा उन्मुक्त और शोषणहीन समाज की स्थापना हो सके। गांधी और विनोबा ने अपन इस दायित्व का अच्छी प्रकार समझा है और अपने चिंतन मे उन्होंने दर्शन की अन्य समस्याओ की तुलना म सामाजिक समस्याओं को प्रमुखता दी है। इसीलिए बॉन ग्रूराम्ट और डॉ० सुगत दास गुप्ता जैसे लेखकों ने गांधी के सत्य को सामाजिक सत्य¹ (Societal truth) की सज्ञा दी है। अत अब गांधी और विनोबा के समाज-दर्शन पर विचार करना अपेक्षित है।

२ समाज-दर्शन का केंद्रबिंदु मानव और मानव-स्वभाव

विषय प्रवेश समाज-दर्शन मानव-समाज के सिद्धातो के इर्द-गिर्द घूमता है। अत मानव इसका केंद्रबिंदु है। समाज, इसकी अन्य संस्थाएँ तथा इसके विकास और परिवतन के सिद्धातो को मानव और उसके स्वभाव के अनुरूप ही समझा जा सकता है। बिना मानव स्वभाव का विचार किए किसी भी सामाजिक सिद्धात की सफलता असभव है। अतएव समाज-दर्शन के इतिहास में जितने भी समाज सबधी सिद्धात निरूपित हुए हैं, उसके पीछे उन विचारकों के मानव सबधी विचार ही आधार तत्व हैं। गांधी और विनोबा के समाज सिद्धातों का आधार भी उनके मानव सबधी विचार हैं। अत उनके सामाजिक सिद्धांतो का शुभारभ मानव विचार से किया जा सकता है।

---

1 (a) Gandhi's entire approach was societal in content His spirituality, God, ethics all were the product of social reality"—Dasgupta, Sugat, "Social Sciences For the Seventies The Challenge of Gandhi", *Gandhi and Social Sciences*, (ed), L P Vidyarthy, (pp 77-93), p 87

(b) From personal interview on 23 12 71, at his residence (Rajghat, Varanasi)

१ मानव धारणा गांधी विचार

(क) मानव का अखंड रूप गांधी-दर्शन में मानव शरीर बुद्धि और आत्मा का सामंजस्यपूर्ण संयोग है।[1] यह गांधी के तत्त्व शास्त्रीय सिद्धान्त पर आश्रित है। गांधी के अनुसार सत्य या ईश्वर ही चरम तत्त्व है जिसकी अभिव्यक्ति नाना रूपों में होती है। असत्य अभिव्यक्तियों के मुख्यत दो पहलू हैं—आंतरिक और बाह्य। आंतरिक दृष्टि से ईश्वर चैतन्य और आत्माओं का संघात है। परन्तु बाह्य दृष्टि से यह शरीर धारी है। अत आत्मा और शरीर एक ही सत्ता की अन्तर्बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं। दोनों की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। मानव इसी सत्य या ईश्वर का एक छोटा-सा रूप है।[2] यह ईश्वर रूपी तेज की चिनगारी है जिसमें ईश्वर की सभी संभावनाएँ छिपी हुई हैं। यह भी ईश्वर की भांति आत्मा और शरीर—दोनों का समन्वित रूप है। अत इसमें आत्मा और शरीर के सभी गुण विद्यमान हैं। आत्मा होने के कारण मानव में चैतन्य, बुद्धि संकल्प भाव और संवेग होते हैं। आत्मा होने के नाते ही वह नाना प्रकार के शुभ गुणों से संपन्न होता है। शरीर धारण करने के कारण मानव प्राकृतिक नियमों का भी अनुसरण करता है। अर्थात् वह पूर्वजों के कारण शरीर धारण करता है, आनुवंशिकता के नियमों के आधार पर उनके गुणों को ग्रहण करता है तथा विकास के लिए वातावरण से प्रभावित होता है।

चूंकि आत्मा और शरीर—दोनों का आधार ईश्वर है, अत इनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। मानव में आत्मा और शरीर का द्वैत नहीं बल्कि अद्वैत है। इस हेतु आत्मिक और शारीरिक नियमों को अलग अलग कर सोचा

---

1 "Man is neither mere intellect nor the gross animal body, nor the heart or soul alone A proper and harmonious combination of all the three is required for the making of the whole man' *Harijan*, 8 5 37 p 104

2 Datta, D M *The Philosophy of Mahatma Gandhi*, p 70

3 *Ibid* p 67

ही नहीं जा सकता[1] है। मानव की अखंड सत्ता को मानने के कारण गांधी को डेकार्ट और अन्य द्वैतवादियों की भांति आत्मा और शरीर के संबंध को सुलझाना नहीं पड़ा है। फिर भी वे सामान्य व्यक्ति की भाषा में आध्यात्मिक जीवन और दैनिक जीवन के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया के संबंध को मानते हैं। वे कहते हैं—"मानव जीवन एक अखंड इकाई है। अतएव इसके विभिन्न भागों के बीच किसी प्रकार की विभाजन-रेखा खींची नहीं जा सकती और न नीतिशास्त्र और राजनीति के बीच ही कोई रेखा खींची जा सकती है। किसी व्यक्ति के दैनिक जीवन को उसके आध्यात्मिक जीवन से अलग नहीं कर सकते। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।[2] मानव व्यक्तित्व की अखंडता के आधार पर गांधी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि समाज सेवकों को मस्तिष्क, शरीर और आत्मा—तीनों को इकाईबद्ध तथा पवित्र बनाए रखना चाहिए।

यहाँ हम ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि यदि मानव-व्यक्तित्व एक अखंड इकाई है, तो फिर यह कहना कि मानवता की सेवा के लिए शरीर, बुद्धि और आत्मा को इकाईबद्ध रखना चाहिए, कोई विशेष अर्थ नहीं रखता है। यहाँ मानव व्यक्तित्व के यथार्थ और आदर्श का भेद ही वस्तुतः निरर्थक है। दूसरे

1 (a) "I do not believe that the spiritual law works on a field of its own On the contrary it expresses itself only through the ordinary activities of life It thus affects the economic, the social and the political field"—Bose, N K, *Selections from Gandhi*, p 24

(b) "Because Gandhijee refuses to make any distinction between the mundane and the other-worldly plane so far as the moral and physical laws which govern them are concerned For him the outside universe is the reflection of the inside universe and repeats time and again that the universe is compressed in the atoms There is not one law for the atoms and another for the universe" Mahadeo Desai's reply to Toynbee's questions-Quoted on Mahadeo Prasad's book, *Social Philosophy of Mahatma Gandhi*, p, 32

२ हरिजन, २०-३-१९४७, पृ० ८५

शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि गांधी एक ओर मानव को अखड और पवित्र व्यक्तित्व का मानते है और दूसरी आर यह कहते हैं कि मानव को अखड और पवित्र होना चाहिए। यदि वह अखड और शुद्ध है ही तो फिर उसे अखड और शुद्ध होने का प्रश्न ही कहाँ उठता ? अखड व्यक्तित्व का मानव खडित ढग स क्यों व्यवहार करता है ? क्या वह अपन जीवन के विभिन्न पहलुओ के साथ सामजस्य नहा रखता ? फिर हम कैस जानते है कि मानव अखड व्यक्तित्व का है ? इन प्रश्नो पर सतोषप्रद ढग स प्रकाश नही पड पाता है।

(ख) **मानव का विकासात्मक रूप** गाधी मानव के विकासात्मक स्वरूप को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार मानव की वर्तमान अवस्था उसके अनगिनत जन्म मरण के बाद प्राप्त हुई है।[१] शुरू म मानव पशु था। धीरे-धीरे विकास करते-करते वह इस अवस्था को प्राप्त हुआ है। वर्तमान अवस्था मे मनुष्य पशुओ से भिन्न है। यह ठीक है कि पशुओ की भाति उसम आहार निद्रा, भय मैथुन आदि प्रवृत्तिया हैं तथा वह प्राकृतिक नियमो के सहारे जीता है[२] परतु इनके अतिरिक्त वह कई बातो मे अपने विकास के कारण पशुओ स भिन्न है। पशुओ म नैतिक चेतना,[३] इन्द्रिय नियमन[४] और धार्मिक-चेतना[५] का अभाव है। उसम विवक के अभाव के कारण सकल्प-स्वातन्त्र्य नहीं होता है, अत वह विकास नही कर पाता। परतु मनुष्य शुभ अशुभ का भेद कर सकता है अपनी इन्द्रियो को नियन्त्रित कर सकता है अत वह अपनी निम्न प्रवृत्तियो का परित्याग कर उच्च प्रवृत्तियो का अनुसरण कर सकता है। मानव केवल रोटी पर जीनेवाला जीव नही है अपितु ईश्वर पूजा तथा ज्ञान प्राप्ति इसका लक्ष्य है। यह त्याग की भावना से ओतप्रोत है।

गाँधी के अनुसार सभी मनुष्यो मे एक ही आत्मा के निवास होने के कारण अनत ईश्वरीय गुण विद्यमान है, परतु इनकी उपलब्धि सभी को समान रूप से नही है। प्रयत्न करने पर सभी व्यक्ति ईश्वरीय गुणो को प्राप्त कर सकते है।[६] मानव

१ यग इडिया, २ ६ १९२६ पृ० २०४।
२ उपरिवत्, पृ० २०४।
३ हरिजन, ७-६-४६ पृ० ७४।
४ गाँधीजी, आत्मकथा, (१९६६) पृ० २३८।
५ यग इडिया, २८ ६ २६, पृ० २२९ ३०।
६ नव जीवन, २५ ५ २४ पृ० ३०६।

के विकासात्मक स्वरूप को मानकर गांधी ने वास्तविकता की रक्षा तो की ही है, इसमे अनत आशा और प्रगति को प्रश्रय मिलता है।

(ग) मानव की पूर्णता असभव ईश्वरत्व की सभी सभावनाओ को मानते हुए भी गांधी यह मानते है कि मनुष्य इस हाड-मास के शरीर मे आबद्ध रह कर न तो ज्ञान और न सद्गुणो की ही पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।[1] इसका कारण है कि आदर्श अवस्था को प्राप्ति तभी हो सकती है जब हम स्वार्थ से ऊपर उठ जाते हैं। परतु शरीर के रहते हुए स्वार्थ को जीतना असभव है।[2] फिर भी गाधी यह मानते हैं कि पूर्णता की प्राप्ति के लिए हमे प्रयत्न करना चाहिए। उनकी राय मे—"मनुष्य सदैव अपूर्ण रहेगा, और उसके हिस्से मे सदैव पूर्णता का प्रयत्न रहेगा। अत जबतक हम जीवित हैं, प्रेम अथवा अपरिग्रह मे पूणता अप्राप्य आदर्श ही रहेगा, परतु उसकी ओर हमे अबाध रूप से आकाक्षा रखनी है।[3]

यहाँ गांधी-विचार मे कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। यदि शरीर रहते मनुष्य स्वार्थ से मुक्त नही हो सकता, तो क्या नि स्वार्थ होने के लिए कोई दूसरा रूप धारण करना आवश्यक है? गांधी इसका कोई भी उत्तर नही देते। कुछ भारतीय दार्शनिको ने विदेह मुक्ति की कल्पना की थी, परतु गांधी स्पष्ट शब्दो मे विदेह-मुक्ति की बात नही करते। अत इसका अर्थ है कि मनुष्य किसी भी हालत मे पूर्णता को प्राप्त नही कर सकता। यदि मनुष्य पूर्णता की प्राप्ति नही कर सकता, तो फिर इसके लिए क्यो प्रयत्न करना चाहिए? क्या इसे पागलो का प्रलाप नही कहा जा सकता? गांधी इन प्रश्नो का सतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाते हैं। वस्तुत गांधी का आशय यह है कि असीम सत्य अप्राप्य है।

---

1 "It is impossible to realize perfect truth so long as we are imprisoned in this mortal frame"—Bose, N K; *Selections From Gandhi*, p 8

2 "No one can attain perfection while he is in the body for the simple reason that the ideal state is impossible so long as one has not completely overcome his ego, and ego cannot be wholly got rid of so long as one is tied down by the shackles of the flesh"—Bose, N K, *Ibid*, p 9

3 *Ibid*, p 9

प्रयत्न के द्वारा अधिक-से अधिक हम व्यापक सत्य के समीप पहुँच सकते है तथा अपने गुणों का विकास कर सकते हैं। यही तर्कसम्मत और वैज्ञानिक है।

(घ) मानव-स्वभाव की व्याख्या गाधीवाद मे सबसे विवादास्पद प्रश्न मानव-स्वभाव की व्याख्या का है। दार्शनिक चिंतन के आदिकाल से ही दार्शनिकों ने मानव के स्वभाव के निर्धारण का प्रयत्न किया है। भौतिकवादी और अनुभववादी दार्शनिको ने मानव को अनिवार्यत इन्द्रिय प्रधान जीव समझा है। बुद्धिवादी विचारको ने इस मात्र बौद्धिक प्राणी के रूप मे स्वीकार किया है। शापेनहावर इसे सकल्प प्रधान जीव समझते है, परतु अस्तित्ववादी विचारक मानव को सकल्प भाव और सवगयुक्त प्राणी मानते हैं। फिर हाब्स के लिए मनुष्य स्वार्थी जीव है तथा फ्रायड आदि जैसे मनोवैज्ञानिक मानव को काम और अह् प्रवृत्तियो का पुतला मानते है। भारतीय दर्शन मे न्याय-वैशेषिक दार्शनिक मानव को भूत और चैतन्य का सघात मानते है साख्य दार्शनिकों के अनुसार यह इन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा—तीनो का सयोग है तथा शकर मनुष्य को ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ मानते ही नही हैं क्योकि आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है।

गाधी मनुष्य को आत्मा प्रधान जीव मानते है जो शरीर से जुडा है। आत्मा के द्वारा यह ईश्वर से भी सबधित है। अत उसमे शरीरजन्य, बुराइयाँ, आत्मा म सबधित सद्गुण और ईश्वर की अनत सभावनाएँ अवियोज्य रूप स एक दूसरे म जुडी रहती हैं। अत गाधी के अनुसार मनुष्य शुभ और अशुभ दानो का सम्मिश्रण है। उन्होने कहा है—"हममे से प्रत्येक व्यक्ति शुभ और अशुभ का सम्मिश्रण है। क्या हमम पर्याप्त मात्रा में बुराई नही है? अवश्य है। और मैं ईश्वर म यह प्रार्थना करता हूँ कि वह मुझे इसस अलग रखे। सभी मानवो म भेद (शुद्ध अशुद्ध का) केवल मात्रा का है।"[1]

गाँधी का यह विचार यथार्थ का पालन करता है तथा इससे उनकी विकासवादी आस्था प्रकट होती है। परतु दर्शन केवल यथार्थ के घेरे म ही आबद्ध नहीं रहता। यह यथार्थ के पीछे सूक्ष्म तत्त्व और आदर्श की भी खोज करता है। विशेषकर नीति प्रधान-दर्शनो की यह विशेषता है। अत प्रश्न है कि शुभ और अशुभ तत्त्वो मे कौन अतिम रूप से मानव मे चिरस्थायी रहता है? गाँधी जब शुभ और अशुभ की शक्ति और मात्रा म ऊपर तुलनात्मक दृष्टि

1 *Harijan*, 10 6 39, p 185 86

से विचार करते हैं, तो उन्हें मानव-स्वभाव में अशुभ की अपेक्षा शुभ विशेष शक्तिशाली और टिकाऊ मालूम पड़ता है। उनके अनुसार मनुष्य में प्रेम, सहयोग, उपकारिता आदि की तुलना में हिंसा, स्वार्थ, और लोभ की शक्ति बहुत ही क्षीण है। प्रेम की शक्ति के बिना तो दुनिया टिक ही नहीं सकती।[1] इसी शक्ति के कारण अनेक युद्धों के बाद भी विश्व में जीवन कायम है।[2] यह अचेतन रूप में सदैव काम करता है जिसके परिणामस्वरूप हमारा विकास होता रहता है तथा हम पतन-गर्त में गिरने से बच जाते हैं।[3] यह ठीक है कि मानव-स्वभाव में पर्याप्त बुराइयाँ मालूम पड़ती हैं, परन्तु सम्पूर्ण मानवता के दृष्टिकोण से देखने पर वे तुच्छ हो जाती हैं। सम्पूर्ण मानवता की तुलना में ये बुराइयाँ समुद्र की विशाल जल राशि में चन्द बूँदों के समान हैं।[4]

मानव के शुभ स्वरूप के समर्थन में गांधी यह भी कहते हैं कि संसार का कोई भी मानव क्यों न हो वह हमारी श्रद्धा और प्रेम के बदले हजारों गुणा अधिक प्रेम का उपहार प्रदान करता है। फिर कोई भी मानव ऐसा नहीं है जिसकी बुराई का सुधार न हो सके और कोई इतना पूर्ण नहीं कि वह दूसरों को खराब कह कर उसकी हत्या कर दे।[5] वस्तुतः ईश्वरीय गुण के अभाव

1 "The force of love is the same as the force of soul or truth We have evidence of it, it's working at every step The universe will disappear without the existence of that force"—Gandhi, M K, *Hind Swaraj*, (1946) pp 56 57

2 *Ibid*, pp 56-57

3 That the sum total of the energy of mankind is not to bring us down but to lift us up, and that is the result of the definite, if unconscious working of the law of love" —*Young India*, 12 11 '31, p 355

4 You must not lose faith in humanity Humanity is ocean If a few drops of the ocean are dirty, the ocean does not become dirty "— A Jack, Hommer, *Wit And Wisdom of Gandhi*, (Bombay; perennial Press, 1961), p 15

5 *Ibid*, p 14.

मे कभी भी मानवता टिक नही सकती।[1] इसी अर्थ मे मानव का स्वभाव शुभ है।

(च) मानव स्वभाव : एक समीक्षा गांधी की मानव स्वभाव की शुभ कल्पना आलोचकों के प्रहार का मुख्य विषय है। इसकी प्रमुख आलोचना यह है कि गांधी मानव स्वभाव के एकांगी स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं तथा यथार्थ की अवहेलना करते है।[2] परंतु यह आलोचना निराधार है। गांधी जब स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य शुभ और अशुभ दोनो का सम्मिश्रण है तथा उसमे धीरे धीरे बुराइयाँ मिटती जाती है और अच्छाइयो का उदय होता रहता है, तो इस विचार को यथार्थ से भिन्न केवल आदर्श लोक का प्रत्यय कैसे माना जा सकता है? फिर जब वे मानव का विचार आत्मिक, मानसिक और शारीरिक—सभी दृष्टियों से करते है तो इसे एकांगी कैसे कहा जा सकता है? हाँ, यह ठीक है कि शुभ अशुभ के समन्वय म उन्होंने अशुभ के गौणत्व और शुभ की प्रधानता को स्वीकार किया है। इस अर्थ म मानव स्वभाव शुभ है। जब गांधी मानव स्वभाव को शुभ मानते है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य सभी बुराइयों को छोड़ चुका है और अच्छाइयो को प्राप्त कर लिया है। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि मनुष्य मे बुराइयो स अधिक अच्छाइयो की सभावनाएँ हैं। विज्ञान के विकास और अनुसधानो स तो यह और भी सिद्ध हो जाता है कि दिन प्रतिदिन मनुष्य मे ज्ञान शक्ति के विकास होने स उसमे अहिंसा और प्रेम की शक्ति बढती जाती है। उसकी अच्छाइयाँ दिन प्रतिदिन प्रकट हो रही हैं। कुछ मानव को बुरा या हिंसक देखकर सपूर्ण मानवता को बुरा और हिंसक मानना भूल है।

मानव की मूलभूत समस्याओ के चिन्तक होने के नाते गांधी यथार्थ का चित्रण कर चुपचाप बैठ नही सकते थे। वे यथार्थ के आधार पर व्यापक सिद्धात की स्थापना करना चाहते थे। यदि दर्शन केवल यथार्थ तक ही सीमित

1 *Ibid* p 15

२ 'गाँधी की मानव धारणा गाँधी जैसे व्यक्ति के स्वभाव और स्वरूप पर आधारित है, साधारण मनुष्यों के स्वरूप के विश्लेषण पर नहीं फलस्वरूप यह धारणा अपूर्ण है, एकांगी है, मनुष्य का यह रूप मनुष्य का आदर्श हो सकता है इसका यथार्थ रूप नहीं।" -लाल, बसन्त कुमार, 'गाँधी दर्शन में मानव धारणा', **आधुनिक सदर्भ और गांधी विचार**, प्रधान (सम्पा०) भगवान प्रसाद सिंह, (एल० एन० कालेज भगवानपुर प्रकाशन, बिहार वि० वि०, १९७०) (पृ० ११ १८), पृ० १६ १७।

रह जाय, तो फिर यह विज्ञान के सिवा और कुछ भी नहा रह जाता है। अत इस विनान मे अधिक व्यापक होना चाहिए।

नीति के प्रवक्ता होन के नाते गाधी मानव के आदश और उसकी दिव्य सभावनाओ पर अधिक वल दते हैं जो उचित ही है। भारतीय-दर्शन की उत्पत्ति ही उन्नत जीवन और नैतिक विकास के लिए हुई है। अत गांधी का यह दृष्टिकोण न तो असगत है और न अपरिचित। सचमुच गांधी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी है। यह ठीक है कि गांधी विश्लेषणात्मक शैली के अभाव म मानव के यथार्थ और आदर्श रूप को अलग-अलग कर तार्किक स्पष्टता के साथ नहा रखत है, परन्तु इसका यह अथ नहा कि वे यथार्थ की अवहेलना करते है।

मानव धारणा की दूसरी आलोचना यह की जाती है कि यह गांधी के अपने आत्म विश्लेषण पर आधारित है जिस सावभौम ज्ञान के अन्दर नही रखा जा सकता है।[1] परन्तु गांधी इतने सीधे नहीं थ कि बिना तर्क और विचार के सभी मानव को अपनी ही भांति अच्छा या बुरे मान सकते थे। मानव स्वभाव की अच्छाइयो के बाहुल्य और प्राबल्य के समर्थन म उन्होने ठोस रूप म ऐतिहासिक प्रमाण दिये है। अत इस आत्मगत और अवैज्ञानिक नही माना जा सकता है।

तीसरी आलोचना गांधी की अहिंसा की असफलता के आधार पर की जाती है कि अहिंसा और प्रेम मानव का स्वभाव नहीं बल्कि दुबल और साधन विहीनो का अस्त्र है।[2] यह आलोचना न तो यथार्थ पर आधारित है और न तार्किक नियम पर। यदि अहिंसा केवल साधनविहीनो का अस्त्र है तो फिर प्रत्येक दुबल को अहिंसक और सशक्त व्यक्ति को हिंसक होना चाहिए। परतु ऐसी बात नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि जो क्षीण और दुबल होते है वे अधिक सवेगशील और हिंसक होते हैं। परतु जो काफी सशक्त हैं वे अपने सवेगो पर भी सतुलन रखते हैं विचार से काम लेते हैं जिसका परिणाम अहिंसा है। यदि ऐसी बात न होती, तो फिर सभी सशक्त माँ बाप अपने बच्चो को गलतियो के बदले उनकी हिंसा कर देते और बच्चे कमजोर होने के कारण हमेशा अहिंसक होते। वस्तुत हिंसा मनुष्य की लाचारी है। यह मानव के गलत चिन्तन और सवेगो की दासता का परिणाम है जिसे मानव का आकस्मिक गुण भले ही कहा जा सकता, स्वभाव नहीं। भला कौन

१ उपरिवत्, पृ० १७।
२ उपरिवत्, पृ० १८।

व्यक्ति है जो अपनी भलाई, सुख और शान्ति नहीं चाहता है? चाण्डाल से चाण्डाल व्यक्ति भी कल्याण में विश्वास करता है। यदि ऐसा है, तो उपर्युक्त मत गलत है। फिर बुरे व्यक्ति में भी कल्याण भावना का होना यह सिद्ध करता है कि अच्छाई पहले से उसमें विद्यमान है। यदि अच्छाई पहले से उसमें नहीं होती, तो किसी भी मूल्य पर वह अच्छा कभी सोच ही नहीं सकता था क्योंकि असत् से सत् का प्रादुर्भाव नहीं होता। अतः मानव को शुभ स्वभाव का मानना गलत नहीं।

यदि यह भी मान लिया जाय कि गांधी की अहिंसा असफल रही तो इसके आधार पर यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि अहिंसा सदैव असफल रही? अंश-व्यापी वाक्य से हम पूर्ण व्यापी वाक्य या निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। वस्तुतः अहिंसा की विफलता साधना में ही चुनने से होती है। परंतु साधना की कठिनाई के भय से किसी सत्य का निषेध नहीं किया जा सकता। *तेल निकालने की कठिनाई के भय से यह नहीं कहा जा सकता* कि तिल में तेल ही नहीं है। यदि मनुष्य अपनी शक्ति का विकास करना नहीं चाहे, तो इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि उसमें विकास की क्षमता ही नहीं है। वास्तव में गांधी मानव के समग्र स्वभाव पर विचार करते हैं। वे मानव के शुभ अशुभ तथा प्रकट और अप्रकट—सभी रूपों पर विचार करते हैं जिसका समर्थन आधुनिक समाजशास्त्रियों ने भी किया है। पी० ए० सोरोकिन ने लिखा है —'सार्वभौम रूप से मानव प्राणी परार्थ और स्वार्थ दोनों शक्तियों से सम्पन्न मालूम पड़ता है। विकास की प्रक्रिया में अस्तित्व के लिए स्वार्थजनित संघर्ष की अपेक्षा सहयोग के सिद्धांत का विशेष महत्त्व रहा है।[1]

रूसी जीव वैज्ञानिक केसलर ने १८८० ईसवी में स्पष्ट रूप से 'पारस्परिक सहयोग के नियम' को जीव-शास्त्र का मौलिक नियम[2] माना। मानव स्वभाव की शुभता और विकासशीलता के समर्थन में आधुनिक समाजशास्त्री ज्यार्ज गिर्वी ने भी लिखा है—' तथाकथित मानव स्वभाव की अनम्यता बदा प

1 All in all the human organism seems to contain both *altruistic* and *egoistic* forces ——That the principle of co-operation has possibly been even more important in the evolutionary process than that of the egoistic struggle for existence —Sorokin, P A, *The Reconstruction of Humanity*, (Bombay Bhartiya Vidya Bhavan, 1962), p 69

2 *Ibid*, p 69

स्वीकार नहीं की जा सकती।[1] ट्रोटर के अनुसार—"परार्थवाद समूह में रहनेवाले प्राणियों की विशेषता है और यह उनकी आनुवंशिक प्रवृत्तियों के विकास के लिए पूर्णतः स्वाभाविक और अनिवार्य है।[2] पीटर क्रोपोतकीन ने पर्याप्त रूप से पारस्परिक सहयोग के सिद्धांत का समर्थन अपने नीतिशास्त्र में किया है।[3] अतः गांधी की मानव धारणा केवल आधुनिक समाजशास्त्रियों द्वारा ही नहीं, वैज्ञानिकों और नीतिवक्ताओं के द्वारा समर्थित है।

(ख) मानव जीवन का लक्ष्य जैसा हम पहले देख चुके हैं कि मानव जीवन को सत्य, ईश्वर अथवा आत्म तत्त्व का व्यापक आधार प्राप्त है। अतः इन तत्त्वों का अधिक से अधिक अनुभव करना गांधी के अनुसार मानव-जीवन का लक्ष्य है।[4] परन्तु गांधी के अनुसार सत्य का अनुभव केवल वैयक्तिक साधना और नैतिक आचरण के द्वारा नहीं होता है बल्कि मानव जीवन के समस्त पहलुओं—सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक इत्यादि को पवित्र बनाने से होता है।[5] उनके अनुसार हमारा उद्देश्य अधिक-से अधिक ईश्वरीय शक्ति को प्राप्त करना है परन्तु ईश्वर सभी जीवों का समूह है अतः ईश्वर या मोक्ष की प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग समाज की गरीबी, विषमता, शोषण और दुःख का मिटाना है। समाज में विषमता उत्पन्न करना हिंसा है जिसके परिणाम स्वरूप हमें प्राकृतिक अशुभ जैसे भूकम्प आदि का सामना करना पड़ता है।

गांधी का यह मत ऊपर से देखने में थोड़ा अवैज्ञानिक और दकियानूस दीख, परन्तु इसपर गहराई से विचार किया जा सकता है। विनोबा ने सामूहिक कर्म के संदर्भ में इसपर गहराई से विचार किया है। सचमुच

1 Dewey, John *Freedom And Culture*, (Bombay, Bhartiya Vidya Bhavan, 1952), p 93

2 Gangal, S C *Teachings of Gandhi Towards world Peace*, (Delhi, Vora & Co 1960) p 56

3 Sorokin, P A, *The Reconstruction of Humanity* p 69

4 "Devotion to this truth is the sole justification for our existence"—Bose, N K *Selections From Gandhi*, p 18

5 "Man s ultimate aim is realization of God, and all his activities, social, political, religious have to be guided by the ultimate aim of the vision of God"

—*Harijan*, 29 8 '36, p 226.

समाज की अज्ञान और विषमता की अवस्था में कोई भी मानव सुखी नहीं रह सकता। अतः प्रत्येक प्राणी के साथ तादात्म्य स्थापित कर अपनी आत्मा की पहचान करना मानव का लक्ष्य है।[1] प्रेम के द्वारा मानव अधिक से अधिक ईश्वरीय शक्ति को प्राप्त कर सकता है[2] जिसकी अभिव्यक्ति सभी प्राणियों की निष्काम सेवा के माध्यम से होती है। निष्कमता को अधिक से अधिक प्राप्त करना मानव का उद्देश्य है।[3] गाँधी के अनुसार निम्न से निम्न कोटि का व्यक्ति भी अपने पुरुषार्थ के द्वारा सद्गुणों का विकास कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।[4] अतः सभी को मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार है। इसलिए सामूहिक मोक्ष का प्राप्त करना मानव का उद्देश्य है।

(ज) मृत्यु विचार मानव के स्वरूप स्वभाव और लक्ष्य के साथ साथ उसके जन्म-मरण का प्रश्न भी अनिवार्य रूप से जुड़ा है। गाँधी के अनुसार सृष्टि और विनाश की क्रिया अनादि काल से चल रही है। मृत्यु भी विनाश का एक उदाहरण है। सामान्य रूप से जन्म-मरण की घटना रहस्यपूर्ण है,[5] परन्तु तात्त्विक दृष्टि से मृत्यु की घटना को अवास्तविक और व्यावहारिक दृष्टि से इसे आवश्यक और शुभ कहा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से मृत्यु एक प्रकार का परिवर्तन है, इसकी वास्तविकता नहीं है।[6] मृत्यु में केवल

1 ' Life is an inspiration It's mission is to strive after perfection, which is self realization '—*Harijan*, 22 6 '35, p 148

2 *Harijan*, 6 4 47 pp 98-99

3 ' The soul s natural progress is towards self lessness —Desai, Mahadeo, *The Gita According to Gandhi*, p 202

4 ' I have been taught from my childhood and I have tested the truth by experiences that primary virtues of mankind are possible of cultivation by the meanest of human species —*Harijan*, 16 5 36 p 109

5 Jack, Homer A, *Wit and Wisdom of Gandhi* p 21

6 Death and destruction have then no reality about them For death and destruction is then but a change '—*Ibid* p 20

शरीर ही नष्ट होता है। आत्म तत्त्व सदैव विद्यमान रहता है।[1] फिर वह अपने पूर्व संस्कारों के आधार पर दूसरा शरीर धारण करता है। इसीलिए मृत्यु अवास्तविक है। परन्तु मृत्यु जिसे हम पुराने और क्षीण शरीर का परिवर्तन कह सकते हैं, जीवन और आत्म विकास के लिए आवश्यक है।[2] यह हमें पीडाओं से मुक्त करती है, नया सुअवसर और आशाएँ प्रदान करती है निद्रा की भांति शांतिदायिनी है और आत्म-सरक्षण में सहायता पहुचाती है। इसीलिए गांधी की राय में मृत्यु मित्र ही नहीं सच्चा मित्र है।[3] मृत्यु के द्वारा मानव की व्यक्तिगत सत्ता समाप्त हो जाती है, परन्तु वह व्यापक जीवन प्राप्त करता है।[4]

मृत्यु अपने आप में दुखद नहीं है परन्तु भ्रमवश हम अपने को शरीर मान बैठते हैं अत मृत्यु में दुख होता है। ईश्वर और जन-सेवा से अपना तादात्म्य स्थापित करने पर मृत्यु हमें प्रभावित नहीं कर पाती है। गांधी की राय में जिसे ईश्वर प्यार करता है उसकी मृत्यु जवानी में ही होती है। अत जब कभी मृत्यु आवे उसका स्वागत होना चाहिए।[5] प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने मृत्यु को एक प्रकार का दुख माना था तथा इस जीवन के लिए ही दार्शनिक चिंतन शुरू किया था। परन्तु गांधी के लिए मृत्यु न तो दुख है और न उससे बचने की आवश्यकता है। मृत्यु को जीवन और आत्म विकास के लिए आवश्यक मानना उनकी अपनी देन है जो उन्हें गीता से प्राप्त हुआ है। यह ठीक है कि मृत्यु की सूक्ष्म व्याख्या वे नहीं कर पाये हैं परन्तु इसके भ्रमपूर्ण दुख से बचने का उपाय उन्होंने अवश्य ही हमारे सामने प्रस्तुत किया है। जन साधारण इसे एक प्रकार का भुलावा मान सकता है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से

1 'The form ever changes, ever perishes, the informing spirit neither changes nor perishes'—*Ibid* p 21

2 *Ibid* p 20

3 *Ibid* p 20

4. "When the isolated drops melt they share the majesty of the ocean to which they belong In isolation they die but to meet the ocean again —*Ibid*, pp 21 22

5 *Ibid* p 21

देखने पर ऐसा लगता है कि ईश्वर या आत्मतत्त्व के साथ साहचर्य स्थापित करने पर मृत्यु का शोक दूर हो सकता है।

२ विनोबा की देन विनोबा अपनी मानव धारणा के अन्तर्गत मुख्यत दो प्रश्नों पर विचार करते है—(१) मानव का तात्त्विक आधार क्या है? (२) उसका स्वभाव कैसा है? तात्त्विक आधार के संबंध मे उनके विचार प्राय वही है जो गांधी के है। परतु वे आत्म तत्त्व की प्रधानता और शरीर तत्त्व के गौणत्व पर विशेष बल देते हैं। उनके अनुसार मानव ईश्वर की अनन्त अभिव्यक्तियो म एक अभिव्यक्ति है जो सृष्टि का एक अग है। अत स्वाभाविक रूप से उसमे ईश्वरत्व की सारी सभावनाएँ छिपी हुई है परतु वह ईश्वर की भाति पूर्ण नहीं हो सकता।[1] सृष्टि के अग होने के नाते यह भी कहा जा सकता है कि वह आत्मा और प्रकृति तत्त्व—दोनो से निर्मित है क्योकि ईश्वर इन्ही दोनो तत्त्वो के सहारे सृष्टि करता है। परतु सार-रूप म मानव आत्मा ही है क्योकि देह से उसका कोई आतरिक सबध नही रहता। विनोबा के अनुसार देह एक प्रकार का बाहरी खोल है जिसे आवश्यकता पड़ने पर बदला जा सकता है। आधुनिक विज्ञान की शल्य चिकित्सा के चमत्कारो को प्रस्तुत करते हुए विनोबा यह सिद्ध करते है कि जब एक मनुष्य का दिमाग दूसरे मनुष्य के शरीर म लगाया जा सकता है एक की हड्डी और फेफड और आख दूसरे म लगाए जा सकते है तो ऐसी स्थिति म देह को मनुष्य का बाहरी खोल समझना अनुचित नही।[2] अनिवार्यत आत्मा होने के कारण मनुष्य गुण-दोषो म परे है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि उसम केवल गुण ही है। शरीर होने के कारण उसम कुछ दोष होते है, परतु ये गुण की भाति स्थायी नही है। परिवर्तनशील होने के कारण शरीरजनित गुण-दोष भी बदलते रहते है।[3] विनोबा मनुष्य की परिवर्तनशीलता और विकासशीलता पर विशेष बल देते है उनको यह दृढ आस्था है कि मनुष्य प्रतिपल नया ही होता रहता है। अत उसमे ताजगी बनी रहती

1 *Bhoodan Yajna Bena* (English 21 8 1953, p 4

2 आश्रम प्रवचन लक्ष्मीनारायणपुरी पूसा रोड दरभगा) २१ १० ६७ (लेखक की व्यक्तिगत डायरी मे)।

3 देशपाडेय, निर्मला त्रिवेणी (वाराणसी सर्व सेवा सघ प्रकाशन प० ३० ३१।

है और उसके चिंतन बदलते रहते हैं।[1] "नवो नवो भवति जय मान"— मे वे विश्वास करते हैं। अतः सृष्टि की भाँति मानव भी स्फूर्तिदायक है। इस प्रकार मानव के तात्त्विक आधार में आत्मस्वरूपता, नित्य-नूतनता तथा परिवर्तनशीलता आते हैं।

मानव के इस तात्त्विक स्वरूप को मान लेने पर दार्शनिकों के सामने कई प्रश्न उठ सकते हैं। पहला प्रश्न स्वाभाविक रूप में यह आता है कि यदि मनुष्य वास्तव में आत्मा ही है, तो फिर उसे परिवर्तनशील स्वभाव का क्यों माना जाय? आत्मा तो अपरिवर्तनशील और अविकारी तत्त्व है। यदि मनुष्य प्रतिपल बदलनेवाली सत्ता है, तो उसे शरीर अथवा प्रकृति मानना ही श्रेयस्कर है। परन्तु विनोबा स्पष्ट शब्दों में दैहिक और प्राकृतिक तत्त्व की न्यूनता को स्वीकार करते हैं। सुविधा के लिए यह कहा जा सकता था कि मनुष्य आत्मा और शरीर दोनों है, जो विनोबा की तत्त्व-मीमांसा से मेल भी खाता है परन्तु विनोबा निरपेक्ष रूप से कहते हैं "हम देह और आत्मा दोनों हैं, यह वृत्ति छूटनी चाहिए। हम आत्मा ही हैं।"[2] ऐसी स्थिति में मनुष्य की वास्तविक स्थिति को समझना योगा-सा कठिन हो गया है।

यदि हम आत्मा को ही विकासशील मान लें, तो समस्या का समाधान हो सकता है। विनोबा एक हद तक आत्मा को विकासशील मानते भी हैं। वे कहते हैं "हमारा आत्मा व्यापक होने के लिए छटपटाता रहता है। वह चाहता है कि हमारे जगत को गले लगा ले।"[3] परन्तु ऐसा मानने में आत्मविरोध उत्पन्न होता है क्योंकि व्यापकता की चाह और अपरिवर्तनशीलता दोनों विरोधी बातें हैं अतः यहाँ भी समस्या का समाधान नहीं होता। हाँ, एक उपाय सामने आता है और वह है विनोबा की वितर्क पद्धति। इसके अनुसार हमें मनुष्य को आत्मा और प्रकृति से ऊपर उठकर ब्रह्म या सत्य की दृष्टि से देखना होगा। सत्य सभी प्रकार के ज्ञान के लिए अनिवार्य तत्त्व है। पूर्ण सत्य एक साथ हाथ नहीं आता है। सत्य का एक अंश ही हम

1 "The essential truth is told by the scriptures that man is in constant flux The characteristic of a living human being is that he remains fresh and gets new day by day *Constant freshness in outlook is a peculiarly human prerogative*"—*Bhoodan*, (English), May, 1965

२ आश्रम प्रवचन, लक्ष्मीनारायणपुरा, पूना रोड, (दरभंगा), २१-१०-'५७।

३ भावे, विनोबा, गीता प्रवचन, पृ० २६।

हाथ लगता है। इसलिए हम सत्य की खोज करनी पड़ती है। उसपर प्रयोग नहीं करना पड़ता। इसीलिए विनोबा ने कहा है "जीवन सत्य शोधन"।[1] अर्थात् मानव जीवन का लक्ष्य सत्य का शोध करना है। मनुष्य चाहे आत्मा हो या शरीर परन्तु वह सत्य अवश्य है। इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं। सत्य का शोध करना उसका स्वभाव भी है। सत्य स्थायी और विकासशील दोनों होता है। इस दृष्टि से देखने पर मानव धारणा के अन्तर्गत उत्पन्न विरोध का परिहार हो जाता है। परन्तु यह इतनी ऊंचाई की चीज है कि इसमें विशिष्टता का अंश धूमिल पड़ जाता है। अतः सामान्य बुद्धि से समझने में कठिनाई होती है।

गांधी की ही भांति विनोबा मानव स्वभाव को शुभ मानते हैं। इनके अनुसार मानव स्वभाव स्वभावतः अच्छा है। सत्य पर चलना, प्रेम करना तथा दूसरों के लिए त्याग करना उसका स्वभाव है। इस तथ्य को उन्होंने उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया है। वे कहते हैं सत्य पर चलने वालों के लिए अखबार में टेलिग्राम नहीं जाता है यदि मां बच्चों को प्यार करती है तो इसकी खबर अखबार वालों को नहीं जाती है। परन्तु यदि कोई चोरी या हत्याकांड में पकड़ा जाता है, तो इसका टेलिग्राम अखबारों में जाता है, तथा कानून के द्वारा उन्हें सजा मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि चोरी और हत्या करना मानव का स्वभाव नहीं है, उसका स्वभाव सत्य और प्रेम ही है। इसी प्रकार न्यायालय में हम किसी के ऊपर कोई आक्षेप करते हैं, तो इसे सिद्ध करना पड़ता है। यदि प्रमाणित करने में संदेह हुआ तो इसका लाभ अभियुक्त को मिलता है। इसमें भी यह निष्कर्ष निकलता है कि न्यायालय मानव के अच्छे स्वभाव में विश्वास करता है। उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर विनोबा का यह निष्कर्ष है कि अपने सुख से सुखी होना पशु का स्वभाव है, दूसरों के सुख में सुखी और दुःख से दुःखी होना मानव का स्वभाव है।[2]

---

१ विनोबा चिंतन अंक ७ पृ० २३।

२ (अ) सिंह, रामजी, 'उपनिषद्' विनोबा-सत्संग (सम्पा०), डॉ० रामजी सिंह, (टी० एन० बी० कालेज, भागलपुर, ११ अगस्त, १९६८), पृ० ६।

(ब) "Man rejoices in going without food to his dear ones, to his community and to his country That is his nature The animal can do not do this' *Harijan* April 3, 1954, p 37

विनोबा के अनुसार मानव स्वभाव की सज्जनता इस बात मे भी सिद्ध होती है कि वह साधु को ही नमस्कार करता है, चोर डाकू को नहीं। स्पष्टत यह उसके हृदय की निर्मलता का सूचक है।[1] जो अज्ञान या परिस्थितिवश दुराचारी भी बन जाते हैं उनका ईश्वर पर बहुत ही गहरा विश्वास होता है। "जो सच्चे दुराचारी होते हैं वे सच्चे सदाचारी के समीप होते हैं, जैसे 'वर्तुल के दो सिरे'"—ऐसा विनोबा का विश्वास है। अत कोई भी दुराचारी अपने स्वभाव को बदल सकता है।[2] मानव स्वभाव मे शुभत्व को स्वीकार करने का अर्थ विनोबा यह नहीं लेते कि सभी मानव अच्छे हैं, उनमे कोई बुराई नहीं है। सामान्य दृष्टि मे मानव भला-बुरा दोनो है क्योकि शरीर की दृष्टि से देखने पर अनन्त दोष तथा शुद्ध ही गुण मानव मे दिखलाई पड़ते हैं।[3] मनुष्य मे प्रकृति तत्त्व भी है, अत उसमे सत्व, रज, तम—तीनो प्रकार के गुण होते हैं। सत्व गुण के कारण उसमे दैवी प्रवृत्तियाँ जैसे अभय, अहिंसा, सत्य, विनम्रता आदि का प्रादुर्भाव होता है। तमो और रजो गुण के प्रभाव से आसुरी प्रवृत्तिया जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह उदित होती हैं।[4] मानव मे इन्ही दोनो प्रवृत्तियो का सघर्ष चलता है जिसमे सद्प्रवृत्तिया विजयी होती हैं।

विनोबा यह मानते है कि समाज मे अच्छे, बुरे और साधारण तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। भला मनुष्य कभी भी बुरा नहीं बन सकता। परन्तु बुरा भले मे परिणत हो सकता है क्योकि भलाई मे शक्ति है, बुराई मे नहीं। जिस प्रकार "प्रकाश का हमला अधकार पर होता है, अधकार का प्रकाश पर नहीं" उसी प्रकार विनोबा की राय मे भलाई का हमला ही बुराई पर होता है।[5] फिर भी मनुष्य मे जो भी बुराइयाँ हैं वे परिस्थिति के कारण हैं। परिस्थिति मे परिवर्तन लाने मे मनुष्य आसानी से सुधर सकता है। इसके लिए दान, तप, यज्ञ के द्वारा आसुरी प्रवृत्तियो का शमन कर धीरे-धीरे अपनी बुराई को हटाकर आत्मशुद्धि करनी पड़ती है।[6] मानव-स्वभाव की व्याख्या'

---

१ देशपाण्डे, निर्मला, त्रिवेणी, (वाराणसी, सर्व सेवा सघ प्रकाशन), पृ० २०।

२ उपरिवत्, पृ० ३० ३१।

३ भावे, विनोबा, अहिंसक शक्ति की खोज, पृ० २३ २४।

४ भावे, विनोबा गीता प्रवचन, पृ० २४९।

५ विनोबा चिंतन, अक १७ पृ० ८६।

६ उपरिवत्, पृ० २/६।

विनोबा के मानव सबधी तात्त्विक चिंतन पर आधारित है। अत इसमे उसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित होती है जो पहले हुई थी। यहा विनोबा के विचार म सबसे बडी कमजोरी यह है कि उन्होने नैतिक तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक स्वभाव को एक साथ इस प्रकार मिला दिया है कि विश्लेषात्मक बुद्धि को उनकी बात समझ मे नही आती। हम तीन वाक्य यहाँ पर उदाहरण के तौर पर ले सकते हैं

(क) मनुष्य मूलत अच्छा है।
(ख) मनुष्य सामान्यत अच्छा-बुरा दोनो है।
(ग) मनुष्य को अच्छा ही समझना चाहिए।

इनमे पहला वाक्य तात्त्विक वाक्य है दूसरा तथ्यात्मक और तीसरा नैतिक। प्रथम वाक्य से मानव स्वभाव की चरम स्थिति का बोध होता है, दूसरे वाक्य से मनुष्य की वर्तमान और सामान्य स्थिति का पता चलता है, तीसरा वाक्य मनुष्य के लिए स्थितप्रज्ञता अथवा साम्य की साधना के लिए उपयोगी है। पहला वाक्य जीवन म विकास के लिए प्रचुर मात्रा म आशा प्रदान करता है। दूसरा व्यावहारिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है और तीसरा जीवन के सतुलन म सहायक है।

विनोबा ने अपने चिंतन मे मानव स्वभाव का विचार नैतिक उत्थान के दृष्टिकोण से ही विशेष रूप म किया है। अतएव तात्त्विक और नैतिक वाक्यो का सम्मिलन होता है तथा तथ्यात्मक वाक्य गौण हो जाते हैं। यह उचित ही है। दर्शन वास्तव मे जीवन के लिए सूक्ष्म दृष्टि और दूर-दृष्टि हमारे लिए प्रदान करता है। दर्शन का महत्त्व तथ्य की सीमा म बाधने मे नही जीवन को आगे ले जाने मे है। विनोबा की मानव-स्वभाव की व्याख्या इस दृष्टि म सही है। मानव के साजन्य क पक्ष म दी गई युक्तियाँ स्वाभाविक और हृदय-ग्राह्य हैं। शायद गाधी इस प्रकार की युक्ति साजन्यता के लिए नही दे सकते थे।

गाधी की भाति विनोबा न भी मानव का मृत्यु की घटना पर गहराई म विचार किया है। इनके अनुसार मृत्यु हमारे प्राण की विश्रान्ति की एक अवस्था है।[1] यह निद्रा के समान है। जब शरीर म काफी थकान आती है, तो निद्रा म हम विश्रान्ति ढूढते हैं। निद्रा की मुख्यत दो अवस्थाएँ होती हैं—स्वप्नपूर्ण निद्रा और स्वप्नरहित निद्रा। स्वप्नपूर्ण निद्रा म हम

१ विनोबा चिंतन अक ७ पृ० १४।

अच्छी या बुरी वासनाओं के अनुरूप सुखद या दुखद स्वप्न देखते हैं परन्तु जब मन में कोई वासना नहीं रहती है, तो थकावट के बाद गाढ़ी निद्रा आती है। इसी प्रकार जब हमारा प्राण अनवरत काम करते-करते थक जाता है, तो उस मृत्यु की विश्रान्ति की जरूरत पड़ती है। मृत्यु के बाद यदि उसके प्राण में बुरी वासना रही, तो उसे नरक और अच्छी वासना रही, तो स्वर्ग का सुख मिलता है। यदि प्राण में कोई वासना नहीं रही, तो उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

विनोबा के अनुसार मृत्यु के बाद जीवन में ताजगी का अनुभव होता है। जैसे सोने के बाद उठने पर हम काफी ताजगी का अनुभव होता है और हम पूरे उत्साह के साथ अधूरे कार्य को पूरा करने में लग जाते हैं, ठीक उसी प्रकार मृत्यु के बाद हम प्राण में नई ताजगी पाते हैं और फिर पूरे उत्साह के साथ काम में लग जाते हैं।[१] विनोबा यह मानते हैं कि जिन दुखों से हमारे सगे संबंधी मुक्त नहीं कर सकते, मृत्यु उन दुखों से मुक्त कर देती है। मृत्यु के संबंध में विनोबा का विचार कोई नवीन नहीं है। हाँ, निद्रा की उपमा के सहारे इन्होंने इसकी व्याख्या रोचक ढंग से की है।

सच कहा जाय तो मानव स्वभाव के संबंध में विनोबा गाँधी के विचारों को ही पल्लवित करते हैं। फिर भी जहाँ गाँधी मानव के समग्र व्यक्तित्व पर बल देते थे वहाँ विनोबा मानव के आत्मिक पक्ष पर ही विशेष बल देते हैं। शरीर उनके लिए मात्र खोल है। जहाँ तक मानव-जीवन के चरम लक्ष्य का प्रश्न है, गाँधी और विनोबा का इसपर थोड़ा मतान्तर मालूम पड़ता है। गाँधी आत्मानुभव और ईश्वर साक्षात्कार को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानते थे। अतः उन्होंने मानव जीवन का लक्ष्य सत्य के साथ प्रयोग करना माना। परंतु प्रयोग का भावात्मक लक्ष्य क्या होगा, इसका उत्तर वे नहीं दे सके।[२] जैसा हम नीति-विचार में भी देख चुके हैं कि वे गीता का लक्ष्य निष्कर्मता ही मानते हैं, परंतु निष्कर्मता किस लिए? यहाँ वे बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर कुछ भी नहीं कहते। इसमें साधक को कठिनाई होती है जिसका

१ उपरिवत्, पृ० १४ १७।
२ बजाज, रामकृष्ण, विनोबा के पत्र, पृ० ८८ ८९।

अनुभव उनके परम शिष्य जवाहरलाल नेहरू का भी हुआ।[1] परंतु विनोबा स्पष्ट रूप में कहते हैं कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य परम साम्य की प्राप्ति करना है। वे गांधी के विचार को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जीवन का लक्ष्य सत्य का शोध करना है प्रयोग करना नहीं। यह सत्य किसी भी क्षेत्र में हो सकता है। विज्ञान प्रकृति के संबंध में नये नये सत्यों की खोज करता है उसी प्रकार मानव को भी जीवन के संबंध में नये नये सत्यों की खोज करनी चाहिए।

मानव के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् अब हम यह देखेंगे कि व्यक्ति और समाज के संबंध में गांधी विनोबा के क्या विचार हैं? क्योंकि व्यक्ति और समाज की धारणा उनकी मानव धारणा पर ही आधित है।

३ व्यक्ति और समाज

गांधी के समस्त समाज दर्शन का आधार उनकी व्यक्ति तथा समाज की धारणा है। उनके समाज-दर्शन को तबतक ठीक से समझा नहीं जा सकता जबतक हम मानव धारणा का विचार व्यक्ति के रूप में नहीं कर लेते हैं। व्यक्ति ही समाज की इकाई है अतः समाज को समझने के लिए व्यक्ति को समझना आवश्यक है।

(क) व्यक्ति सिद्धांत

१ **गांधी विचार** गांधी के अनुसार व्यक्ति का महत्त्व सर्वाधिक है।[2] वह अपने द्वारा निर्मित समाज और अन्य संस्थाओं की तुलना में श्रेष्ठ है।[3] उसमें इतनी क्षमता है कि वह अपने दृढ़ आत्मविश्वास से समस्त इतिहास की दिशा को बदल सकता है।[4] गांधी का यह दृढ़ विश्वास है कि 'यदि एक व्यक्ति

1 'Inspite of the closest association with him (Gandhi) for many years I am not clear in my own mind about his objective, I doubt if he is clear himself —Nehru On Gandhi, (New York 1948), pp 90-91

2 Gandhi, M K, *Young India*, 13 12 '24 p 378

3 "I have discovered that man is superior to the system he propounded' —*Young India* p 221

4 "A small body of determined spirits fired by an unquenchable faith in their mission can alter the course of history —*Harijan*, p 343

आध्यात्मिकता को प्राप्त कर लेता है, तो सचमुच इसके साथ सम्पूर्ण विश्व आध्यात्मिकता को प्राप्त कर लेता है। यदि एक व्यक्ति भी आध्यात्मिकता से पतित हो जाता है, तो समस्त विश्व उस हद तक पतित हो जाता है।[1] परन्तु प्रश्न है कि व्यक्ति है क्या ?

यद्यपि व्यक्ति के तत्वशास्त्रीय स्वरूप पर हमलोगों ने पहले ही विचार कर देखा है, फिर भी यहाँ पर समाज की इकाई के रूप में उसके स्वभाव को देखना अनिवार्य है। व्यक्ति के स्वभाव को गाँधी ने दो विरोधी पहलुओं का संगम माना है। एक ओर उसके व्यक्तित्व में आध्यात्मिकता है, विवेक है तथा नैतिकता के पालन की प्रवृत्ति है, तो दूसरी ओर वह पाशविक प्रवृत्तियों में भी ग्रस्त है। आध्यात्मिकता और नैतिकता का आधार उसका दैवीस्वरूप है और पाशविकता का आधार भौतिक शरीर है। व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन में इन दोनों प्रकार की सद्प्रवृत्तियों और कुप्रवृत्तियों के बीच संघर्ष चलता रहता है और अंत में सद्प्रवृत्तियों की विजय होती है। फिर भी समाज में सभी व्यक्ति का व्यक्तित्व समान नहीं होता। किसी में आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रधानता होती है और किसी में पाशविक प्रवृत्ति की। इसका कारण शायद उसके पूर्व जन्म के सद्कर्म और दुष्कर्मों में ढूँढना होगा।

व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य आत्मानुभव और पूर्णता की प्राप्ति है जिसे वह अपने शुभ संकल्पों के आधार पर प्राप्त कर सकता है। वे संकल्प, शुभ संकल्प कहे जा सकते हैं जो अन्तरात्मा की आवाज के आधार पर किये जाते हैं। परन्तु इन सब की प्राप्ति के लिए स्वतंत्रता मौलिक चीज है। पर स्वतंत्रता का अर्थ गाँधी स्वच्छंदता में नहीं लेते हैं। स्वतंत्रता के साथ-साथ वे व्यक्ति को ईश्वर और समाज नियंत्रित मानते हैं। मानव अपनी स्वतंत्रता की रक्षा तभी कर सकता है जब वह ईश्वर और समाज के नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन करे। सामाजिक नियमों के महत्त्व को स्वीकार करने के कारण गाँधी को हम व्यक्ति-वादी नहीं कह सकते हैं, यद्यपि वे व्यक्ति की गरिमा पर काफी बल देते हैं। हेगेल, हाइडेगर और सार्त्र प्रभृति विचारक स्वतंत्रता की प्राप्ति में वातावरण

1 "If one man gains spiritually, the whole world gains with him, and if one man falls, the whole world falls to that extent."—*Young India*, 4 12 1924

को विरोधी तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।[1] परंतु गांधी के अनुसार वातावरण स्वतंत्रता का बाधक नहीं बल्कि साधक है।[2]

गांधी के अनुसार व्यक्ति स्वतंत्रता की प्राप्ति एकाएक पूर्णता में करता है, धीरे धीरे नहीं। जिस प्रकार व्यक्ति का जन्म समग्र रूप में होता है उसी प्रकार स्वतंत्रता का भी अखंडित रूप में आविर्भाव होता है।[3] पूर्ण स्वतंत्रता के अन्तर्गत आंतरिक और बाह्य—दोनों प्रकार की स्वतंत्रताएं आती हैं। आंतरिक स्वतंत्रता का अभिप्राय आत्मा का अविद्या से मुक्त होना है। बाह्य स्वतंत्रता का अर्थ आर्थिक, राजनैतिक सामाजिक आदि स्वतंत्रता से है। गांधी यह मानते हैं कि आंतरिक स्वतंत्रता प्राप्त करने पर ही व्यक्ति बाह्य स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है।[4] अतः व्यक्ति को अन्य बाहरी स्वतंत्रता की प्राप्ति के पूर्व अन्तःकरण की स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिए।

बुद्धिवादी विचारक स्वतंत्रता का अर्थ मात्र बौद्धिक स्वतंत्रता से लगाते हैं। परंतु गांधी के अनुसार केवल बौद्धिक विकास से ही स्वतंत्रता नहीं आती है। वास्तविक स्वतंत्रता हृदय की गहराई में पहुंचने से आती है जो अन्य प्राणियों की पीड़ा पहचानने और उनके साथ प्रेम करने से प्राप्त होती है।[5]

गांधी ने स्वतंत्रता', स्वराज्य तथा मोक्ष को एकार्थक समझा है। उन्होंने किसी राष्ट्र की स्वतंत्रता का अर्थ उस राष्ट्र के व्यक्तियों की पूर्ण स्वतंत्रता से लिया है। पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति में स्वराज्य एक चरण मात्र है

---

1 Chatterjee, Margaret The Meaning of Freedom—with Special reference to Gandhian View', Devaraja, N K, (Ed) *Anvikshiki*, 2 (1, 1970) pp (1 10) p 8

2 *Ibid* p 8

3 "There is no such thing as slow freedom, Freedom is like a birth —*Young India*, 9 3 1922

4 *Young India*, 1 11 1928

5 "The free man is neither he who is determined by practical reason, nor he who in a particular context makes an arbitrary decision He is the one who, progressively conquering himself, is able to win over others through love '—Devaraja, N K, (Ed) Anviksiki, 2 (1, 1970), p 9.

जिसको प्राप्ति अनवरत परिश्रम, धैर्य, साहस और परिस्थिति के विवेकपूर्ण मूल्याकन से ही सकती है।[1] परंतु यह कहना गलत होगा कि गांधी का अभिप्राय केवल राजनैतिक स्वतत्रता की प्राप्ति ही था। वस्तुत गाधी की यह विशेषता है कि उन्होने व्यक्ति की परतत्रता और स्वतत्रता को केवल आध्यात्मिक अर्थ मे ही नही लेकर उसे सामाजिक आयाम प्रदान किया[2]। उन्होने स्वतत्रता को तात्त्विक और आध्यात्मिक अथवा मूल्यात्मक—दोनो अर्थों मे समन्वित रूप से लिया[3] फिर भी यह मूल्यात्मक अधिक है।

विश्व इतिहास मे व्यक्ति की आकाक्षाओ का चित्रण भिन्न भिन्न प्रकार मे हुआ है, जैसा हम पहले भी देख चुके हैं। बर्ट्रेन्ड रसेल के अनुसार व्यक्ति अपनी शक्ति को बढाना चाहता है।[4] लॉक के अनुसार व्यक्ति शान्तिप्रिय जीव है। युग महोदय धार्मिक प्रवृत्ति और एडलर विकास की प्रवृत्ति पर बल देते है। भौतिकवादी और अनुभववादी विचारक व्यक्ति को मात्र भौतिक आकाक्षाओ से सम्पन्न मानते है। परन्तु ऊपर के ये सभी विचार एकागी हैं। ये व्यक्ति के सपूर्ण व्यक्तित्व का ख्याल नही करते है। व्यक्ति वास्तव मे अखड और पूर्ण है। व्यक्तित्व के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक पक्ष हैं। इसके अतिरिक्त वह उच्च निम्न—सभी प्रकार की प्रवृत्तियो मे पूर्ण है। अत व्यक्ति के पूर्ण विकास का अर्थ है उसके भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार का विकास होना। पाश्चात्य समाजशास्त्रियो ने व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास को छोड दिया है। परतु गांधी ने इसपर काफी बल दिया है। व्यक्ति को खडित दृष्टिकोण से देखने के कारण पश्चिमी विचारको ने एक

1 *Young India*, 27 8 1925

2 *Anvīkṣikī*, 2 (1, 1970), p 8

३ डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने स्वतत्रता शब्द को तीन अर्थों में समझा है—नागरिक, तात्त्विक और आध्यात्मिक। गाँधी ने तात्विक अर्थ में इसका प्रयोग नहीं किया है। परन्तु तात्त्विक और आध्यात्मिक—दो अर्थों में प्रयोग किया है—Prasad, R, "Freedom As a Social Value" —Devaraja, N K, (Ed) *Anvīkṣikī*, 2 (1, 1970), pp 31-32

4 Russel, B, *Impact of Science on Society*, (London, George Allen And Unwin 1959), p 75

प्रकार से मानव की गरिमा को नीचे धकेल दिया है। परन्तु गांधी के विचार मे मानव की गरिमा सुरक्षित रहती है।[1]

गांधी यह मानते है कि आदर्श समाज की स्थापना आदर्श व्यक्ति से ही हो सकती है। जो व्यक्ति के लिए शुभ है वही समाज के लिए भी शुभ है। आदर्श समाज की स्थापना के लिए व्यक्ति को पहले आदर्श बनाने की आवश्यकता है। समाज मे क्रांति एकहरी नही दोहरी प्रक्रिया मे आती है।[2] पहले व्यक्ति के मानस मे परिवर्तन लाना पड़ता है उसके जीवन मूल्यो और विचार-पद्धतियो को बदलना पड़ता है। अन्त मे समाज के बाह्य ढाँचे म परिवर्तन लाना पड़ता है। केवल समाज के बाहरी ढाचे मे परिवर्तन करने से कोई विशेष फल प्राप्त नही होता। आदर्श समाज की स्थापना करने के लिए व्यक्ति को निर्णय लेने मे स्वावलबी होना चाहिए उसे अपनी आत्म शक्ति को पहचानना चाहिए। इसके अतिरिक्त सामाजिक परिस्थितियो म अभियोजित करने की तत्परता होनी चाहिए और अपनी आस्था का आदर करना चाहिए।[3] बिना आस्था के व्यक्ति अपने जीवन मे किसी दिशा म आगे नही बढ़ सकता। सशयवाद और अनास्थावाद समाज की नीव को कमजोर बनाते है जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण अमेरिका जैसे सुसम्पन्न देशो मे मिलता है।

२ विनोबा की देन गांधी की भांति विनोबा भी व्यक्ति को आत्मा और शरीर का सगठन मानते है। परतु वे आत्मा पर गांधी की तुलना म अधिक बल देते है। वे भी मानते हैं कि व्यक्ति म सत्व रज और तम—सभी प्रवृत्तिया हैं, अत उसमे दवी और आसुरी दोनो वृत्तिया हैं। व्यक्ति को यज्ञ दान और तप के द्वारा आसुरी प्रवृत्तियो पर धीरे धीरे विजय प्राप्त करनी चाहिए।

---

1 To deprive a man of his natural liberty is worse than starving the body It is starvation of the soul No amount of literary education or even economic betterment will restore the lost dignity of man —*Harijan* 26 10 34 Quoted in *Gandhi Marg* 15 (4 October 1971) p 279

२ नारायण जयप्रकाश मेरी विचार यात्रा, पृ० १५६।

3 Balasubramaniam R Gandhi on Man and Society' Devaraja N K (ed) *Anvikshiki* Vol 2 Nos 3 & 4 (July & October 1969) p 21

विनोबा व्यक्ति की अच्छाइयो म दृढ विश्वास रखते है। उनके अनुसार अहिंसा, प्रेम, सहयोग, त्याग आदि व्यक्ति के स्वाभाविक दैविक गुण हैं। व्यक्ति दूसरो के सुख स सुखी और दूसरो के दुख स दुखी होता है। वह दूसरो के लिए अपने स्वार्थ का परित्याग करता है, जैस माँ अपन बच्चे के लिए त्याग करती है। उसके हृदय म करुणा है।

गाँधी की भाँति विनोबा भी व्यक्ति के विकासात्मक स्वरूप पर बल देते हैं। उनका मानना है कि व्यक्ति नित्य नवीन होता रहता है। अत उसके विचार बदलते रहते हैं। उसका हृदय भी परिवर्तित होता रहता है। भौतिक परिस्थितियो की तुलना म उसके लिए सद्गुण का विशष महत्व है। अत उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता आत्मा के ज्ञान पर ही आश्रित है। उस नित्य-आत्म शक्ति की खोज करनी चाहिए।

विनोबा आत्मा के रूप मे व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार करते है परन्तु वे सिद्धात के सामने व्यक्ति को गौण मानते हैं। एक स्थल पर उन्होंने कहा है—"सिद्धात व्यक्ति से बढकर होते हैं। इसलिए उसपर अमल कर व्यक्ति को प्रतिष्ठा प्राप्त हुआ करती है।"[1] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति का अस्तित्व सिद्धात पर चलने म है। अस्तित्ववादियो न सिद्धात की तुलना म व्यक्ति को तथा बुद्धि की तुलना मे अस्तित्व को श्रेष्ठ माना है। गाँधी ने संस्थाओ की तुलना म व्यक्ति को श्रेष्ठ माना था। परतु विनोबा सिद्धात की तुलना मे व्यक्ति को गौण मानते है। इसलिए यहाँ कोई व्यक्तिवाद नही है। परन्तु वे बहुमत की तुलना म अल्प मत की गरिमा और महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

व्यक्ति की धारणा म विनोबा ने गाँधी के विचारो म कोई मौलिक परिवर्तन नही लाया है। गाँधी के विचार को ही इन्होने दूसरे रूप मे रखा है। फिर भी व्यक्ति की आध्यात्मिकता और नित्य नूतनता पर इन्होने विशष बल दिया है। गाँधी न व्यक्ति क 'स्व' को मिटान का प्रयत्न नहीं किया था परतु विनोबा न व्यक्ति म स 'स्व' का पूर्ण उन्मूलन करन का प्रयास किया है। वस्तुत यह भेद एक गृहस्थ और सन्यासी के विचारो का ही भद है। गाँधी के विचार मे व्यक्ति का व्यावहारिक और आदर्श रूप प्राय सतुलित है परतु विनोबा व्यक्ति के व्यावहारिक और सामाजिक रूप पर कम परन्तु आदश पर विशष बल देत हैं।

---

१ भावे, विनोबा, सर्वोदय-विचार और स्वराज्यशास्त्र, पृ० २८।

(ख) समाज-सिद्धांत

१ गांधी विचार गांधी का समाज संबंधी विचार आधुनिक पाश्चात्य समाजशास्त्रियो के विचारो के प्रति प्रतिक्रिया और मानव संबंधी धारणा का आवश्यक परिणाम है। अधिकांश पश्चिमी विचारको ने वैयक्तिक चेतना से भिन्न सामाजिक चेतना को अलग अस्तित्व प्रदान किया है। तदनुकूल व्यक्ति की आचार संहिता और समाज की आचार संहिता मे भेद रहा है। दुरखाइम ने व्यक्तिगत चेतना और सामूहिक चेतना के भेद पर बल देते हुए यह कहा है कि सामूहिक चेतना मे अनेक प्रकार के तत्त्व होते हैं जो व्यक्तिगत चेतना मे नही है। अतएव सामाजिक जीवन की व्याख्या मानव या व्यक्ति के मनोविज्ञान के आधार पर नही बल्कि समाज के स्वरूप के आधार पर ही दी जा सकती है।[१] व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से स्वतंत्र मानकर व्यक्तिवादियो और समाजवादियो ने अलग अलग रूप से क्रमश व्यक्ति और समाज को एक दूसरे की तुलना मे श्रेष्ठ माना है। इसके परिणामस्वरूप एकांगी और कृत्रिम समाज की उत्पत्ति संबंधी सिद्धांत बने हैं। कुछ विचारको ने ईश्वर के आधार पर, कुछ सामाजिक प्रसंविदा के आधार पर, कुछ तात्त्विक सिद्धांतो के आधार पर तथा कुछ विचारको ने मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओ के आधार पर समाज की उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। परन्तु इनमे से कोई भी सिद्धांत पूर्ण नही है। बोगार्डस के अनुसार ईश्वरवादी सिद्धांत से तानाशाही समाज की रचना होती है, तात्त्विक सिद्धांत से समाज के केवल आकारिक रूप पर बल दिया जाता है, वास्तविकता की व्याख्या नही हो पाती है तथा वस्तुवादी सिद्धांत के द्वारा केवल व्यावहारिक परिणामो और यंत्रवादी समाज रचना पर बल दिया जाता है।[२]

गांधी का समाज सिद्धांत समन्वयवादी है। यह समाज की व्याख्या, न तो केवल ईश्वर के आधार पर ही करता है और न मानव निर्मित सिद्धांत के आधार पर। मानटेस्क्यू की तरह यह समाज का कारण शांति, भूख, यौन और

---

1 Sorokin, P A *Contemporary Sociological Theories*, (New York Harper and brothers, 1928), pp 437-38

2 Bogardus, E S, *The Development of Social Thought*, (New York Longmans, Green & Co 1960, 4th edn), p 236

साहचर्य की आवश्यकताओ की पूर्ति नही मानता है। फिर भी इसमे सभी सिद्धातो का सार आ जाता है । एक ओर गाँधी व्यक्ति और समाज मे दैवी स्वरूप को देखते हैं, तो दूसरी ओर आदर्श समाज रचना के लिए नियमो की भी स्थापना करते हैं। साथ-ही-साथ मानव जीवन को तात्कालिक और व्यावहारिक आवश्यकताओ का भी ख्याल रखते हैं।

गाधी के अनुसार समाज व्यक्ति के लिए कृत्रिम नही बल्कि स्वाभाविक सहारा है। व्यक्ति का विकास समाज मे रहकर ही हो सकता है। उसकी स्वतन्त्रता सामाजिक नियमो के पालन मे ही कायम रह सकती है। इसलिए उन्होंने कहा "मैं व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्य देता हूँ। परतु यह आपको नही भूलना है कि मनुष्य सार रूप मे सामाजिक प्राणी है। उसने अपनी वर्तमान स्थिति, व्यक्तिवाद के साथ सामाजिक विकास की आवश्यकताओ को अभियोजित करके ही प्राप्त किया है। अनियन्त्रित व्यक्तिवाद जगली जानवरो का नियम है। हमे व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समाज के नियन्त्रण के बीच का मार्ग अपनाना है। सम्पूर्ण समाज के कल्याण की भावना से स्वेच्छया समाज के नियन्त्रण को स्वीकार करना व्यक्ति और समाज दोनो के लिए हितकर है"[1] "प्रजातान्त्रिक समाज मे व्यक्ति की इच्छाएँ समाज या[2] राज्य की इच्छाओ के द्वारा शासित और नियन्त्रित होनी हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति कानून को अपने-अपने हाथ मे ले ले, तो उसमे अराजकता बढेगी और व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को कायम नही रख सकेगा।"[3]

---

1 Gandhi, M K *India of my Dreams*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1962), p 18

2 श्रीमती बान्डुरान्ट के अनुसार "गाँधी समाज और राज्य के बीच अन्यतम भेद मानते हैं। राज्य की आज्ञा को भग किया जा सकता है, परतु समाज के नियमों का उल्लघन नहीं किया जा सकता है।" परतु यह ध्यातव्य है कि यह गाँधी ने राज्य और समाज को कभी कभी समानार्थक माना है। यों केवल आज्ञा भग के आधार पर राज्य और समाज में भेद करना ठीक नहीं। यदि समाज की वर्तमान व्यवस्था में कोई नियम त्याज्य हो, तो शायद गाँधी उसको चुनौती देंगे। और दूसरों को भी ऐसा आदेश देंगे। जब वे समाज के नियमों के पालन की बात करते हैं तो इसका अर्थ शुद्ध समाज से है। शुद्ध समाज और शुद्ध राज्य में कोई मौलिक भेद नहीं होना चाहिए। राज्य पूर्ण समाज का एक अग ही होगा।

—Bondurant, J V *Conquest of Violence*, p 161

3 *Ibid*, p 19

परंतु समाज को स्वाभाविक और आवश्यक मानते हुए भी गांधी व्यक्ति को *समाज की तुलना में गौण नहीं मानते। वे समाज या राज्य की स्वेच्छा*-चारिता को कभी स्वीकार नहीं करते। उनके लिए "व्यक्ति का सर्वोच्च महत्त्व है" अत उनके अनुसार स्वतन्त्रता के वातावरण में रहकर ही व्यक्ति अपने को समाज की सेवा में अर्पित कर सकता है। यदि स्वतन्त्रता का अप-*हरण कर लिया जाए, तो वह मात्र मशीन रह जायगा और समाज बर्बाद हो* जायगा। किसी भी समाज की स्थापना व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के निषेध पर नहीं की जा सकती।[1] इसीलिए उन्होंने राज्य की बढ़ती हुई शक्ति को आशंका और भय की भावना से देखा। उनके अनुसार राज्य ऊपर से तो कल्याण करते हुए प्रतीत होता है परंतु वह व्यक्तित्व को नष्ट कर देता है, जो प्रगति का आधार है।[2]

गांधी के अनुसार समाज का मूल धन व्यक्ति ही है। व्यक्ति की ही आकांक्षाएँ सामाजिक आकांक्षाओं का रूप लेती है। अतएव समाज की जितनी संस्थाएँ है वे तैयार माल के रूप में व्यक्ति के ऊपर लादी नहीं जाती। और न उन संस्थाओं का अस्थायी और कृत्रिम ही कह सकते है। इन सभी संस्थाओं का लक्ष्य व्यक्ति का कल्याण ही है। संस्थाओं के सदस्य के रूप में और स्वतन्त्र रूप में व्यक्ति ही सामाजिक कार्यों का आधार और लक्ष्य है। व्यक्ति का चिंतन ही सामाजिक जीवन को समझने और पुनर्गठन करने का प्रयास करता है। व्यक्ति की भावनाएँ ही वर्तमान सामाजिक स्थिति को देखकर संवेदनशील होती है तथा उसका संकल्प ही उसके अपने भविष्य को बनाता है। अतएव गांधी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "यदि व्यक्ति का आचरण बन जाए, तो समाज का सुधार अपने आप हो जायगा।"[3]

1 *Harijan*, February 1, 1942

2 "I look upon an increase of the power of the state with the greatest fear because, although while apparently doing good by minimising exploitation, it does the greatest harm to mankind by destroying individuality which lies at the root of progress"

—Gandhi, *Moderen Review* (1935), p 413

3 Devaraja, N K, (Ed), *Anvikshiki* Vol 2 Nos, 3 & 4 (July & October, 1969), p 58

व्यक्ति के स्वभाव के आधार पर समाज के भी दो भेद किए जा सकते हैं। एक तो समाज का वर्तमान रूप है जिसमे नैतिक और अनैतिक सभी प्रकार के व्यक्ति रहते हैं। दूसरा आदर्श समाज की कल्पना है जिसमे सभी व्यक्ति नैतिक नियमो का पालन करेंगे। गांधी ने इस सर्वोदय समाज कहा है। सर्वोदय समाज मे पूर्णरूपेण सामाजिक सामजस्य और सतुलन होता है। एक व्यक्ति दूसरे का सहयोग करता है। वहाँ भी सघर्ष और हिंसा की स्थिति नही होती है। यह पूर्ण अहिंसक समाज है। इसमे अधिकतम रूप मे सभी व्यक्तियो का कल्याण होना है। परतु कल्याण का अर्थ केवल भौतिक लक्ष्यो की पूर्ति ही नही है। कल्याण का अर्थ सभी व्यक्ति का अधिकतम रूप मे आध्यात्मिक विकास है। इस समाज मे व्यक्ति स्वेच्छा से नैतिक नियमो का पालन करता है तथा समाज की सेवा मे अपने को अर्पित करने के लिए तैयार होता है। यह समाज प्रेम पर आधारित होता है।

आदर्श समाज की कल्पना को लोगो ने 'यूटोपिया' माना है जिसकी प्राप्ति कभी भी नही हो सकती है। परतु गहराई से विचार करने पर गाँधी के आदर्श समाज को यूटोपिया नही कह सकते हैं। मानहाइम के अनुसार "यूटोपियन विचारको की समाज के प्रति निषेधात्मक दृष्टि रहती है। वे वर्तमान समाज-व्यवस्था को मिटाकर नई व्यवस्था कायम करना चाहते हैं। उनके विचारो मे जकडन होती है, गतिशीलता नही। वे प्राय पलायनवादी होते है। उनके अनुसार वर्तमान समाज व्यवस्था के द्वारा वाछित आदर्श को प्राप्त नही किया जा सकता है।"[1] परतु हम पहले भी देख चुके हैं कि गाँधी का विचार गतिशील और उन्मुक्त है। वे पलायनवादी नही, जीवन की समस्या से जूझनेवाले हैं। वे समाज को मिटाना नहीं शुद्ध करना चाहते हैं। उनका दृष्टिकोण भी भावात्मक ही है। सर्वोदय-समाज की स्थापना उनके लिए सभव है। शायद इसीलिए तो उन्होने '**इडिया ऑफ माई ड्रीम**' मे अपने उद्गारो को व्यक्त करते हुए कहा है "मैं वैसे भारत के लिए कार्य करूंगा जिसमे गरीब से गरीब यह अनुभव कर सकेगा कि यह उसका देश है, जिसके निर्माण मे उसकी आवाज का मोल है, वैसा भारत जिसमे कोई उच्च और निम्न वर्ग मे नही बाँटा जायगा, सभी जाति के लोग पूर्ण सहयोग के साथ रहेंगे, जहा छुआ और मद्यपान का अभाव होगा और स्त्रिया पुरुषो के बराबर ही अपने अधिकारो का

1 Bogardus, E S *The Development of Social Thought*, pp 192-93

उपभोग करेगी। चूँकि हम विश्व के अन्य देशों के साथ शांति मे रहना है, अत न तो किसीका शोषण करना है और न शोषित होना है। इसलिए थोड़ी संख्या म सेना को रखना है। सभी के हितो की चिंता करनी है।[१] गांधी के ये आदर्श कुछ-कुछ तो साकार हुए हैं किंतु पूर्ण रूप से साकार होने के लिए कठिन साधना की आवश्यकता है।

वस्तुत गांधी की समाज संबंधी धारणा विकासवादी और ऐतिहासिक सिद्धांत के अनुकूल है। उनके अनुसार समाज का अनादि काल म विकास होता आ रहा है। उसकी रचना मे समय-समय म परिवर्तन होता है जिसके परिणाम स्वरूप शोषण हिंसा और तनाव की मात्रा कमती जाती है तथा अधिक-से अधिक शोषण-मुक्त और अहिंसक समाज की रचना होती है। गांधी का यह विश्वास है कि समाज मे गुणों का उदय समाज को दुर्व्यवस्था के कारण होता है। इसके लिए समाज उत्तरदायी है।[२] अत आवश्यकता पड़ने पर समाज म परिवर्तन होते रहना चाहिए। इस प्रकार परिवर्तन होते रहने से आदर्श समाज की स्थापना होगी।

२ **विनोबा की देन** समाज के संबंध म विनोबा एक ओर गांधी के विचारो को स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर सांख्य के त्रैगुण्य सिद्धांत, गीता के यज्ञ, दान और तप, तथा समाज की ईश्वरीय व्याख्या का अद्भुत् समन्वय कर विकासवादी सिद्धांत की स्थापना करते हैं। गांधी की भांति विनोबा भी इस धारणा का विरोध करते हैं कि शुद्ध नीति केवल व्यक्ति के लिए ही है, समाज के लिए नहीं। उनके अनुसार शुद्ध नीति की स्थापना समाज के लिए भी कल्याणप्रद है,[३] परंतु दुर्भाग्यवश आधुनिक मानव को यह विश्वास नहीं होता। इन्होंने भी गांधी की भांति कार्ल मार्क्स के इस सिद्धांत का विरोध किया है कि समाज का विकास इसके अन्तर्विरोध पर आधारित है। विनोबा को समाज मे कहीं भी अन्तर्विरोध का दर्शन नहीं होता है। उनके अनुसार समाज मे हितविरोध नाम की कोई चीज नहीं है।[४] समाज का आधार सहयोग, प्रेम और

1 Gandhi, M K, *India of my Dreams* p 6

2 Gandhi M K *Non Violence in Peace and War* (Ahmedabad Navajivan Publishing House), p 390 91

३ भावे विनोबा **सर्वोदय और स्वराज्यशास्त्र,** पृ० १६।

४ उपरिवत् पृ० ३६।

त्याग है। अतएव ये समाज के विकास का आधार वितर्क या अविरोधी समन्वय की पद्धति मानते है।

समाज की तुलना विनोबा एक परिवार से करते हैं।[1] जिस प्रकार परिवार मे छोटे-बडे, समर्थ असमर्थ—सभी के हितो की बात की जाती है, उसी प्रकार समाज का भी रूप है। यह परिवार का ही एक व्यापक रूप है। अतएव इसमे सभी सदस्यो के हित की बात होती है। विनोबा मिल के इस सिद्धात का स्पष्ट विरोध करते हैं कि समाज का लक्ष्य केवल अधिकतम व्यक्तियो के लिए अधिकतम सुख की व्यवस्था करना है। समाज का लक्ष्य सर्वोदय अर्थात् सभी का सर्वांगीण विकास करना है। परन्तु जबतक सभी का सर्वांगीण विकास नही हो पाता तबतक समाज का यह कर्तव्य है कि वह सभी व्यक्ति के लिए 'निम्नतम'' की गारटी दे। परिवार का यही नियम है। यदि परिवार मे थोडा अन्न रहता है तो थोड़ा ही सही परन्तु उसे सभी बाँट कर खाते हैं, ऐसा नही होता कि कुछ लोग खाते है और कुछ लोग फाका करते हैं।[2] इतना ही नहीं परिवार मे लोग छोटे की सुरक्षा के लिए स्वेच्छा से कष्ट उठाते हैं। उसी प्रकार समाज मे भी समर्थ व्यक्तियो की यह जिम्मेवारी है कि वे असमर्थों के कल्याण के लिए अधिक-से अधिक कष्ट उठावे।

समाज मे अनेक प्रकार की संस्थाएँ होती हैं। उनमे कुछ-न-कुछ सेवा का तत्त्व अवश्य ही विद्यमान रहता है चाहे वह संस्था हिंसक हो या अहिंसक।[3] परतु समाज की जो सर्वोच्च अहिंसक संस्था है उसे विनोबा सेवा प्रधान भी नही "सेवामय' मानते हैं।[4] अत विनोबा के अनुसार आदर्श समाज सेवामय है। यह विचार उनके व्यक्ति सबधी धारणा पर आश्रित है। उन्होने व्यक्ति को सेवा और करुणा प्रधान माना है। अत समाज का सेवामय होना स्वाभाविक है। विनोबा के अनुसार समाज की अधिकांश गडबडी व्यक्ति और समाज तथा परिवार और समाज के लिए अलग अलग नियम और न्याय के विधान

१ उपरिवत पृ० ३६-३७।

२ विनोबा चिन्तन, अक ४८, १९६०-नवम्बर दिसम्बर जनवरी १९७० ७१ पृ० ४९७।

३ भावे, विनोबा, लोकनीति, (वाराणसी, अ० भा० सर्व सेवा सघ प्रकाशन, १९६९) पृ० २२०।

४ उपरिवत्, पृ० २२०।

रहने के कारण ही होती है। उद्योग के क्षेत्र मे निजी उद्योग और सार्वजनिक उद्योग का कृत्रिम भेद किया जाता है। सर्वोदय विचार मे इन दोनो मे कोई भेद नही किया जाता है। विनोबा के अनुसार जो निजी उद्योग है वही सार्वजनिक उद्योग है और जो सार्वजनिक उद्योग है वही निजी उद्योग है। दोनो की एकता असभव नही।[१] निजी उद्योग हाथ की ऊँगलिया के समान है तथा सार्वजनिक उद्योग हाथ के समान है। यदि ऊँगलियो मे काय हुआ, तो हाथ का ही कार्य समझा जायगा और हाथ के द्वारा कार्य होने पर ऊँगलियो के काम से अछूता नही माना जायगा।[२] इस प्रकार विनोबा यह मानते है कि निजी उद्योग और सार्वजनिक उद्योग के बीच विरोध मानना समाज के विकास मे बाधक है। समाज की रचना मे इस प्रकार का भेद मानना भ्रामक है।

इसी प्रकार परिवार मे जो वितरण और सेवा का न्याय है, वही न्याय समाज मे भी लागू होना चाहिए। परन्तु परिवार के सबंध मे लोग सर्वोदय और समाज के सबध मे अधिकतम के सुख की बात करते हैं जो अनुचित है। विनोबा मानते है कि इस प्रकार का द्वैत समाज मे विरोध, सघर्ष और अशाति की स्थिति को उत्पन्न करता है। यही द्वैत सारी दुनिया को पीडित कर रहा है।[३] अत व्यक्ति और समाज के एक होने पर ही सारी गडबडी मिट सकती है। परन्तु दुर्भाग्यवश वर्तमान समाज मे व्यक्ति को न तो समाज की चिंता है और न समाज को व्यक्ति की। इसका मूल कारण समाज रचना की ही गडबडी है।[४] समाज-रचना ठीक रहने पर इस विज्ञान युग मे व्यक्ति आसानी से अपने व्यापक स्वार्थ को सामाजिक हित और उसके प्रति समर्पण मे देख सकता है।[५] आज "पुरानी समाज रचना और नया विज्ञान, इन दोनो के बीच झगडा चल रहा है"। इसी कारण समाज मे असतोष है।[६] जब नये युग के अनुकूल मनुष्य का पुराना हृदय बदलेगा तभी समाज का कल्याण हो सकता है। इसीलिए तो विनोबा कुछ सस्थाओ को—जैसे धार्मिक और प्रशासनिक सस्थाओ को इस

१ **विनोबा चिंतन**, (नवम्बर दिसम्बर, जनवरी, १९७० ७१), पृ० ४९५।

२ उपरिवत्, पृ० ४९६।

३ उपरिवत् पृ० ४९७।

४ उपरिवत्, पृ० ४९७।

५ उपरिवत्, पृ० ४९७।

६ उपरिवत्, पृ० ४९७।

विज्ञान के जमाने मे बेकार ही नही हानिप्रद मानते हैं।[१] आज के जमाने मे धर्म का पुराना रूप बदलना होगा, उसी प्रकार शासन के स्थान पर लोक नीति की स्थापना करनी होगी। सरकार और व्यापारी वर्ग जो अपने को जन और किसान का मालिक मान रहे हैं, उन्हे जनता और किसान का सेवक मानना पड़ेगा।[२] तभी समाज का कल्याण हो सकता है।

विनोबा का यह विचार हिन्दू धर्म का विचार है जो गीता पर आधारित है। गीता मे यह कहा गया है कि व्यक्ति अपना-अपना कार्य निष्काम भाव से कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। अत केवल ब्राह्मण को ही नही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी को मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार है। "स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर"। अत व्यक्तिगत कार्य और सामाजिक कार्य मे कोई भेद नहीं माना गया है।

समाज सतुलन सिद्धात के सबध मे भी विनोबा गीता के विचार को ही लेते हैं। गीता मे यज्ञ, दान और तप को सामाजिक सतुलन के लिए आवश्यक माना गया है। इसी आधार पर विनोबा यह मानते हैं कि दान और समर्पण समाज का बुनियादी सिद्धात है।[३] समाज मे सतुलन कायम रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सपत्ति, बुद्धि, शक्ति, जमीन और अपने श्रम तथा मिल्कियत का कुछ भाग सदैव समाज को समर्पित करते रहना आवश्यक है। यह विचार पश्चिमी समाजशास्त्र मे नही है। पश्चिमी समाजशास्त्र मे 'दान' व्यक्तिगत चीज मानी गई है। समाज-सिद्धात के रूप मे इसे नही देखा गया है। विनोबा के अनुसार समाज सिद्धात के रूप मे 'दान' केवल समर्थों से ही अपेक्षित नहीं है बल्कि असमर्थों मे भी अपेक्षित है। विनोबा का कहना है—"जो लोग यज्ञ, दान और तप को समाज-शास्त्र का एक अग समझते हैं, उनके ध्यान मे यह बात आ जायगी कि इसमे गरीब और श्रीमान्—दोनो को कुछ करना चाहिए। दोनो समाज के अग हैं अवयव है, इसलिए दोनो को इसमे योग देना चाहिए।"[४] विनोबा के अनुसार जमीन, सपत्ति, श्रम शक्ति, बुद्धि सभी चीज समाज की है। उनपर व्यक्ति का अपना कोई हक नही है। अत

१ भावे विनोबा, लोकनीति, प्रवचन पृ० ३।

२ विनोबा चिंतन, (नवम्बर दिसम्बर, जनवरी, १९७० ७१, पृ० १०० १०१।

३ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ ११९।

४ उपरिवत, पृ० १२२।

जो इन्हें समाज पर समर्पित करना नही चाहता है वह समाज का अग नही बन सकता। अत समाज के अग होने के नाते अमीर और गरीब सभी को समाज के लिए कुछ हिस्सा अर्पण करना अनिवार्य है।[१] समाज पर अपने हिस्से को अर्पित करने का अर्थ एक प्रकार म ईश्वर पर अपने को समर्पित करना है क्याकि मानव के सभी सम्पर्को मे (अन्योन्य सपर्क, समाज सपर्क और सृष्टि सपर्क) आन्तरिक दृष्टि मे ईश्वर का समावेश होता है।[२] इस प्रकार विनोबा समाज को प्रकारान्तर मे दैवी रूप प्रदान करते है। शायद इसीलिए वे कहते है कि "सेवा-व्यक्ति की परतु भक्ति समाज को" करनी चाहिए।[३]

ऊपर के चित्रण मे व्यक्ति के आदर्शात्मक रूप और समाज की श्रेष्ठता प्रकट होती है। परतु इसका यह अर्थ नहो कि विनोबा अपनी समाज धारणा मे व्यक्ति के व्यक्तित्व, विशिष्टता और स्वतत्रता को गौण मानते है तथा जीवन के व्यावहारिक पक्ष की अवहेलना करते है। वस्तुत उन्होने व्यक्ति की विशिष्टता का समर्थन किया है। उनके अनुसार मनुष्य स्वभाव, अनुभव और शिक्षण—तीनो से बनता है।[४] वह अपने आप म स्वय पूर्ण है। वह परमेश्वर की प्रतिमा है। अत उसमे अपनी कुछ विशेषता होती है जिसे "विशेष' कहते हैं। इस 'विशेष' के कारण ही व्यक्ति के जीवन का स्वतत्र मूल्य होता है। यह कभी भी क्षीण नही होता। इस प्रकार हर व्यक्ति के जीवन का एक स्वतत्र और एक सामूहिक मूल्य होता है।[५] कभी-कभी विशेष के कारण एक दूसरे से चिढते है, परतु विनोबा इस प्रिय मानते है। शहद और मिर्च के स्वभाव मे विरोध होने पर भी उपयुक्त जगह पर दोनो लाभदायी हैं उसी प्रकार युक्ति के आधार पर ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि किसी के चुभनेवाले गुण दूसरे को न चुभे और लाभदायक भी हो।[६] इसम यह स्पष्ट है कि व्यक्ति का समाज म गौण महत्व नही है। अन्त्योदय की प्राथमिकता

१ उपरिवत्, पृ० ६००।

२ **विनोबा चिन्तन,** (२६ जनवरी १९६९), पृ० १७३।

३ हरि, वियोगी, (स०) **विनोबा के विचार,** (नइ दिल्ली, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन १९८६), पृ० ७७–८०।

४ **विनोबा-चिन्तन,** (२६ जनवरी, १९६९), पृ० ५७६।

५ उपरिवत् पृ० ५७७।

६ उपरिवत् पृ० ५७७।

तथा लोकशक्ति के उदय की कल्पना में भी व्यक्ति के उदय की ही कल्पना है। उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है—"मेरी कल्पना में समाज में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता होगी। शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के समान भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के काम भी भिन्न भिन्न होते हैं। आंख का काम आंख ही कर सकती है।'[१] इसलिए विनोबा का समाज सर्वाधिकारी समाज-व्यवस्था नहीं है।

विनोबा सांख्य के त्रैगुण्य सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति समाज और सृष्टि में सर्वत्र सत्व, रज तथा तम गुणों का समुचित महत्त्व है। अतः व्यक्ति और समाज के जीवन के इन तीनों गुणों का समुचित महत्त्व देकर ही उत्तम समाज-रचना की जा सकती है।[२] ये गुण हमेशा व्यक्ति के चित्त में बदल बदल कर आते रहते हैं। फिर सभी व्यक्तियों में एक समान ये सभी गुण नहीं पाये जाते हैं। अतः समाज-रचना में यह ख्याल रखना पड़ता है कि हर व्यक्ति को शान्ति संतोष, मौलिक आवश्यकता की तृप्ति और विश्राम के लिए उचित मौका मिले। साथ ही-साथ जिस व्यक्ति में जिस गुण की प्रधानता है उसीके अनुकूल काम भी मिले। इसी आधार पर समाज में वर्ण-व्यवस्था हुई है। परन्तु विनोबा यह मानते हैं कि जीवन का आधार सत्व गुण ही होना चाहिए। उन्होंने आलंकारिक भाषा में कहा है—"जीवन में जो पटरी और इंजन तमो गुण के हों, तो गाड़ी ठीक तरह से चलेगी। अगर पटरी रजो गुण की रही और इंजन सत्व गुण का हुआ, तो भी वह गलत होगा, क्योंकि गाड़ी गलत रास्ते जाने का डर है। यदि पटरी तमो गुण की हो, तो भी इंजन गलत रास्ता पकड़ सकता है। अगर इंजन तमो गुण का हो, तो गाड़ी आगे बढ़ेगी ही नहीं।"[३] अतः वे "मार्ग दर्शन के लिए सत्व गुण, गति के लिए रजो गुण, शान्ति, आराम या व्यवस्था के लिए तमो गुण"[४] आवश्यक मानते हैं।

सत्व, रज और तम—का समुचित स्थान देकर ही विनोबा सामाजिक जीवन में धर्म, अर्थ और काम के संबंध में भागवत के "धर्मार्थं कामाः समवेव सव्या" की व्याख्या कर यह बतलाते हैं कि धर्म शिक्षण और अपनी आवश्यकता

१ देशपाण्डेय निर्मला, सम्पा०, विनोबा के साथ, (वाराणसी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९५५), पृ० ११७।

२ भावे, विनोबा, साम्यसूत्र, पृ० ४८।

३ उपरिवत् पृ० ४१।

४ उपरिवत् पृ० ४५।

की पूर्ति का सबको समान रूप से अधिकार है।[1] इसी प्रकार हर एक को काम-वासना का उचित और मर्यादित भोग करने का अवसर भी मिलना चाहिए। यदि समाज में इस प्रकार की व्यवस्था हो, तो इसकी अनेक समस्याएँ अपने आप समाप्त हो जायँगी। परंतु अंत में इन तीनों में ऊपर उठकर समाज को आत्मा के दर्शन अर्थात् मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मोक्ष प्राप्त करने का किसी विशेष व्यक्ति को नहीं बल्कि सभी को अधिकार है।[2] अतः विनोबा समाज की कल्पना में केवल मनुष्य की प्रकृति का ही नहीं बल्कि उसकी आत्मा का भी ख्याल करते हैं। वे खंडित नहीं समग्र व्यक्तित्व की अपेक्षा रखते हैं।

आधुनिक समाजशास्त्रियों ने समाज की जो व्याख्या दी है उसमें आत्म-तत्त्व का विचार तो नहीं ही है, प्रकृति का भी समुचित विचार नहीं किया गया है। समाज की व्याख्या मात्र अर्थ, यौन या सत्ता के आधार पर की जाती है। परंतु ऐसे समाज को स्वस्थ समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अमेरिकन विचारक एरिख फ्राम ने अपनी पुस्तक दी सेन सोसाइटी में बतलाया है कि अमेरिका में जिसे स्वस्थ समाज कहते हैं, उसका संबंध केवल आर्थिक उत्पादन से ही है। वह समाज मानवता के उत्पादन की बात नहीं करता है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति अपने आत्मा से, अपनी सरकार से तथा अपने साथियों से अपने को अन्य पाता है। इस प्रकार जो समाज मानव के समग्र व्यक्तित्व का ख्याल नहीं करता वह वास्तव में अस्वस्थ समाज (Insane Society) है।[3] साम्यवादी और पूँजीवादी समाज में व्यक्ति मशीन हो जाता है। वह अपने आत्म-तत्त्व से विलग हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह पागलपन की ओर बढ़ता है। उसके जीवन के कोई अर्थ नहीं रह जाते, कोई आनंद नहीं रह जाता, विश्वास समाप्त हो जाता है और उसका जीवन निस्सार हो जाता है।[4] अतः एरिख फ्राम का कहना है कि विगत काल में

---

१ मैत्री, (वर्ष ८, अंक ११, दिसम्बर, १९७१), पृ० ९९३।

२ उपरिवत, पृ० ९९३।

3 Fromm, Erich, *The Sane Society* (London, Rautledge & Keganpal, 1956), See Editorial

4 *Ibid*, p 360

मानव की दासता का खतरा था, परन्तु भविष्य का खतरा यह है कि वह निर्जीव मशीनी मानव न हो जाय।"[1]

विनोबा भारतीय दार्शनिकों की उस परंपरा में आते हैं जिसमें महर्षि अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, गांधी तथा राधाकृष्णन आते हैं। इन सभी विचारकों ने उपनिषद् से प्रेरणा लेकर आध्यात्मिक समाज का चित्रण किया है। मनुष्य भौतिक उपलब्धियों से ही सन्तुष्ट होनेवाला जीव नहीं है। इसमें तो उसकी निम्न आत्मा तुष्ट होती है। परन्तु आत्मा का व्यापक अंश असीम तथा अनंत की साधना से ही सन्तुष्ट होता है जिसकी प्राप्ति में भी अप्राप्ति का भाव होता है। इस अनंत की साधना के लिए असंग्रह, त्याग और सन्यास आवश्यक है। टैगोर ने कहा है—"मानव के इतिहास में सन्यास आत्मा का सबसे गहन सत्य है।"[2] मनुष्य भौतिक सामग्रियों से अपने आनंद की सीढ़ी को बढ़ाना चाहता है परन्तु ससीम के द्वारा असीम की प्राप्ति का प्रयास मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं है।[3] असीम की साधना में संग्रह नहीं त्याग होता है। विनोबा ने भी जीवन का समीकरण ही दो भाग त्याग और एक भाग भोग (त्याग,[2] + भोग[1] = जीवन) के आधार पर किया है। किसी भी स्थायी और विकासशील समाज की कल्पना इस फार्मूले से इतर नहीं की जा सकती।

समाज के आध्यात्मिक रूप से ही यह स्पष्ट होता है कि समाज राज्य से ऊपर की चीज है। राज्य के द्वारा शासन होता है। स्वराज्य में व्यक्ति आत्मा के शासन से परिचालित होता है। वह न तो अपने पर किसीकी सत्ता चलने देता है और न दूसरे पर अपनी सत्ता चलाता है।[4] समाज का अंतिम रूप स्वराज्य ही है। परंतु स्वराज्य का अर्थ केवल देश का स्वराज्य ही नहीं है। इसके भी अनेक सोपान हैं जिनकी अन्तिम परिणति परम साम्य अर्थात् आध्यात्मिक साम्य है।

जिस प्रकार व्यक्ति नित्य नूतन होता रहता है उसी प्रकार समाज भी नित्य बदलता रहता है। नए-नए युग में समाज के सामने नए-नए ध्येय आते

1 "The danger of the past was that man became slaves. The danger of the future is that man may become robots."—*Ibid*, p 360

२ टैगोर, रवीन्द्रनाथ, साधना, पृ० १३१।

३ उपरिवत्, पृ० १३० ५१।

४ भावे, विनोबा, लोकनीति पृ० ८-९।

रहते है। भारत मे एक समय मे समाज का ध्येय राजनैतिक स्वतत्रता की प्राप्ति था दूसरा ध्येय सर्वोदय आया। परतु यही पर भारतीय समाज का ध्येय पूरा नही होता है। इसके आगे भी इसके ध्येय है। उनमे से पहला है—विश्व शांति तथा विश्व-सरकार की स्थापना।[1] इस प्रकार विनोबा यह मानते है कि एक के बाद दूसरा ध्येय समाज के सामने आता रहता है उससे नवीन प्रेरणा मिलती रहती है तथा नई-नई पीढियो का निर्माण होता रहता है।[2] कभी समाज मे धार्मिक लक्ष्य की प्रधानता रहती है तो कभी राजनैतिक लक्ष्य की। आज विनोबा यह मानते हैं कि समस्त समाज म साम्ययोग की स्थापना का लक्ष्य सामने है।[3] इसीको सर्वोदय भी कहते है।

विश्व इतिहास मे अनेक विकासवादी सिद्धात आये है। परन्तु वे एक प्रकार म बध हुए हैं। स्वतत्रता और सही अर्थ मे नवीनता का उनमे अभाव रहता है। हेगेल मार्क्स डार्विन श्री अरविन्द आदि सभी एक प्रकार म समाज की व्याख्या विकासवादी ढग मे करते हैं। परतु विकास के इतिहास को य पहले स ही एक निश्चित तत्र म बाध देते हैं। अत उनमे एक प्रकार से नियतिवाद आ जाता है। परतु विनोबा गाधी की परम्परा का अपना कर विकास के इतिहास को उन्मुक्त रखना चाहते ह। यदि यहा कोई नियतिवाद है तो आध्यात्मिक नियतिवाद है जो सही अर्थ मे स्वतत्रता ही है।

(ग) व्यक्ति और समाज का सबध

१ गांधी विचार भारतीय दर्शन मे व्यक्ति और समाज का अवयव-वादी सिद्धात ही अधिक प्रचलित है। वर्णाश्रम-व्यवस्था मे स्पष्ट रूप स ब्राह्मण की तुलना मस्तिष्क स, क्षत्रिय की बाहु से वश्य की उदर स तथा शूद्र की पैर म की गयी है। इस प्रकार सभी वर्ण एक ही समाज के भिन्न भिन्न अग माने गये है। गाधी न प्राचीन वर्ण व्यवस्था को स्वीकार कर प्रत्यक वर्ण के कार्यों को समान महत्व दिया। उनके अनुसार सामाजिक अर्थशास्त्र म मालिक और किसान एक अविभाज्य प्राणी के ही अग है जहाँ

1 Ram Suresh *Towards a Total Revolution* (Thanjaur, Sarvodaya Pracharalyam 1968) p 42

2 *Ibid* p 42

3 भाव विनोबा सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० ५०।

न तो कोई हीन है और न कोई श्रेष्ठ।''[1] इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विभाजन भी उनके अनुसार श्रम-विभाजन के सिद्धांत पर हुआ है परन्तु सभी के कार्यों का समान महत्त्व है। ऐसे भी गांधी ने स्वीकार किया है कि समाज व्यक्तियों से अलग कुछ भी नहीं है। अर्थात् समाज रूपी शरीर का व्यक्ति भिन्न-भिन्न अंग है। अतः गांधी, व्यक्ति और समाज में अंग-अंगी का संबंध मानते हैं।

परन्तु गांधी का यह सिद्धांत भारतीय परम्परावादियों और पाश्चात्य अवयववादी विचारकों के सिद्धांत से भिन्न है। परम्परावादी विचारक इस उपमा के आधार पर व्यक्ति को गौण और समाज को श्रेष्ठ मानते हैं और समाज के नियम को अपरिवर्तनीय मानते हैं तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता की भी अवहेलना करते हैं। परन्तु जैसा हम देख चुके हैं कि गांधी व्यक्ति और समाज को श्रेष्ठता और हीनता के आधार पर नहीं समझते। व्यक्ति और समाज का स्वाभाविक अन्योन्याश्रय संबंध मानते हैं। ये व्यक्ति की स्वतंत्रता, गरिमा और कल्याण का महत्त्व सर्वोच्चता से स्वीकार करते हैं। अतः समाज की तुलना में व्यक्ति का अधिक महत्त्व है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि गांधी एकनिष्ठ व्यक्तिवादी हैं।

गांधी का विचार काण्ट और लाइबनिज के सिद्धांतो के आधार पर समझा जा सकता है। कान्ट ने प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप में साध्य माना था। कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या किसी संस्था का साधन नहीं बन सकता। इसलिए व्यक्ति को साधन के रूप में मानना उन्होंने नैतिक दृष्टिकोण से अनुचित माना। लाइबनिज ने अपने चिद्‌बिन्दुओं के सिद्धान्त में प्रत्येक चिद्‌बिन्दु को अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र माना। फिर भी उनका ईश्वर, चिद्‌बिन्दुओं के साथ ठीक उसी प्रकार सामंजस्य रखते हैं जिस प्रकार तानपूरा में अलग-अलग रागों के सामंजस्य से सुमधुर संगीत प्रवाहित होता है। इसी प्रकार गांधी भी व्यक्ति

---

1 "True social economics will teach us that the working man, the clerk and the employer are parts of the same indivisible organism, where none is smaller or greater than the other"

—*Young India*, March 3, 1928, Quoted on Bondurant, *Conquest of Violence*, p 160

को साध्य मानते हैं। परन्तु व्यक्ति की अलग अलग स्वतन्त्रता और लक्ष्य, दूसरे की स्वतन्त्रता और लक्ष्य के बाधक नहीं बल्कि साधक ही होते हैं।

सचमुच व्यक्ति और समाज के सबध निरूपण मे प्राणी की उपमा एक अभिव्यक्ति का प्राचीन माध्यम है। गाधी के विचार मे उसके असली अर्थ बदल गये है। अत स्पष्ट रूप म यह बतलाना कठिन है कि व्यक्ति और समाज मे क्या सबध है। फिर भी हम कह सकते है कि व्यक्ति और समाज मे वही सबध है जो नियामक और नियम म सबध है। नियामक के ऊपर ही नियम आधारित हैं परतु बिना नियम के पालन के नियामक की सत्ता कायम नही रहती। व्यक्ति नियामक है और समाज नियम। इसी रूप मे दोनो का अटूट सबध है।

२ विनोबा की देन गाधी की भाति ही विनोबा भी व्यक्ति और समाज मे अग-अगी का सबध मानते है। उन्होंने स्पष्ट तौर पर कहा है जिस तरह शरीर के सारे अवयव मिल जुल कर काम करते हैं उसी तरह सब व्यक्तियो को मिलजुल कर काम करना चाहिए। तभी समाज सुखी हो सकेगा।[१] शरीर के भिन्न भिन्न अवयवो की भाति व्यक्ति के काम भी भिन्न भिन्न होते हैं।[२] फिर भी व्यक्ति और समाज के कामो म कोई हित विरोध नहीं होता। अतएव किसी समाज स यह उम्मीद ही नही की जा सकती कि वह व्यक्ति पर दबाव डाले तथा उसकी सत्ता का अपहरण कर जैसा सर्वाधिकार समाज व्यवस्था मे होता है। विनोबा के शब्दो म ही कोई भी शरीर यह नही चाहेगा कि आख फोड डाली जाय क्योकि उसम शरीर का नुकसान पहुचेगा।[३]

गाधी ने व्यक्ति को समाज और राज्य के विरुद्ध विशेष प्रकार की बगावत करने का अधिकार दिया था। उनके अनुसार कोई भी राज्य यदि व्यक्ति का शोषण करता है तो उसका विरोध करना व्यक्ति का अधिकार है। परतु विनोबा यह मानते है कि समाज के विरुद्ध किसी प्रकार की बगावत ही नही की जा सकती।[४] ऐसा प्रश्न ही नही उठता है। यदि समाज के विरुद्ध कोई व्यक्ति बगावत करता है तो उसका फल उसे मिलता है। यदि बगावत का आधार

१ विनोबा के साथ निर्मला देशपाडे पृ० १५६।
२ उपरिवत् पृ० १५७।
३ उपरिवत पृ० १५७।
४ उपरिवत पृ० १५७।

सत्य हो तो वह व्यक्ति टिक सकता है अन्यथा नहीं। अतः नई समाज व्यवस्था में भी विनोबा यह मानते हैं कि व्यक्ति को बगावत करने का अधिकार रहेगा परन्तु वह उसका कर्तव्य नहीं होगा। किसी अधिकार के साथ यह ध्यान रखना ही पड़ता है कि वह उसका कर्तव्य है या नहीं।[१] इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति और समाज में विरोध का कहीं सवाल है ही नहीं। हाँ यहाँ कहीं पर विरोध की आवश्यकता पड़ती भी है तो समझना चाहिए कि वह विरोध समाज के हित में ही होता है। उस विरोध नहीं मान कर सहयोग ही मानना चाहिए।

साम्यवादी समाज पूँजीपति और गरीबों के बीच विरोध मानता है। समाजवाद व्यक्ति और समाज में विरोध मानता है। दोनों विचार प्रतिक्रियात्मक हैं अतः उन्हें पूर्ण विचार नहीं कहा जा सकता है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि विरोध न तो अमीर और गरीब के बीच में है और न व्यक्ति और समाज के बीच। व्यक्ति समाज का ही अंश है अतः उसका हित समाज के हित में ही है। व्यक्ति के विकास के बिना समाज का विकास ही नहीं हो सकता। इस प्रकार व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आधारित हैं। विनोबा कहते हैं कि 'जैसे ताना-बाना—दोनों ओत प्रोत होते हैं वैसे ही समाज और व्यक्ति का सबंध है। जैसे ताने और बाने का हित एक दूसरे के विरोध में नहीं होता वैसे ही व्यक्ति और समाज का हित एक दूसरे से भिन्न नहीं है।'[२] इस प्रकार विनोबा भी गांधी की भांति व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रय सबंध मानते हैं। यह विचार समन्वयात्मक और साम्ययोग का विचार है, अतः इसमें 'मुख्य-गौण' का भेद भी टिक नहीं सकता।

(घ) मूल्यांकन

समाज सबंधी धारणा में विनोबा ने गांधी के विचारों को शास्त्रीय आधार प्रदान किया है। गांधी के आध्यात्मिक समाज की कल्पना विनोबा के चिंतन में पूर्णता में विकसित हुई है। गांधी की सामाजिक आध्यात्मिकता मुख्यतः एकादश व्रतों के इर्द गिर्द ही घूमती है। परन्तु विनोबा ने यज्ञ, दान, तप और त्याग पर विशेष बल देकर इन्हें समाज का मौलिक सिद्धान्त मान लिया है जो वस्तुतः आध्यात्मिक है। गांधी की कल्पना के समाज में थोड़ी बहुत मात्रा में विरोध का स्थान रह जाता है परन्तु विनोबा वैसे समाज की कल्पना करते

१ उपरिवत्, पृ० ११७।

२ गाने विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० ८०।

हैं जिसमे विरोध के स्थान पर सहयोग होता है। गाधी ने समाज मे शासन का विरोध खुल्कर नही किया था। उन्होने उस शासन व्यवस्था का विरोध किया था जिसमे अन्याय, शोषण और व्यक्ति की स्वतत्रता का अपहरण होता है। परन्तु विनोबा आदर्श समाज की कल्पना म अच्छे शासन से भी मुक्ति की कल्पना करते है। कारण यह कि शासन म पलने से व्यक्ति राजनीतिज्ञो या दूसरो के द्वारा उपकृत होता है। उसकी अपनी स्वतत्र शक्ति और चेतना नही जग पाती है, अत विनोबा प्रशासन के स्थान पर अनुशासन और शोषण-मुक्ति के स्थान पर आत्म जागरण की बात करते है। गाँधी ने राजनैतिक स्वतत्रता को विशष रूप स अपने सामने रखा था। इसके साथ-ही साथ उन्होने समाज रचना का भी कुछ काय किया था। परतु विनोबा सर्वोदय के कार्यक्रम को अपन सामने रखते हैं और समाज म आर्थिक, सामाजिक, मानसिक और आध्यात्मिक—सभी प्रकार के साम्य या सतुलन को समाज का ध्यय मानते हैं।

यद्यपि गाधी और विनोबा—दोनो व्यक्ति की स्वतत्रता और समाज के महत्त्व पर समन्वित रूप स विचार करते हैं फिर भी एसा लगता है कि गाधी की योजना मे व्यक्ति का अधिक और समाज का कम स्थान है। वे यह मानते हैं कि व्यक्ति के सुधार होने से समाज का स्वय सुधार हो जायगा। परतु विनोबा गाँधी की तुलना म व्यक्ति की अपेक्षा समाज पर विशेप बल दते है। शायद इसीलिए वे कहते हैं कि 'व्यक्ति से विचार ऊँचा होता है।' शायद इसीलिए वे व्यक्ति का सुधार और समाज रचना क परिवर्तन दोनो को आवश्यक मानते हुए भी समाज रचना के परिवर्तन पर विशेष बल देन है। शायद इसीलिए व जल्द-स-जल्द ग्रामदान, प्रखडदान इत्यादि ही नही राज्यदान और विश्वदान की ओर अधिक रुचि रखते है। वे समाज का ढाँचा बदल कर ऐसी परिस्थिति का निर्माण करना चाहत ह जिसमे व्यक्ति समाज क साथ ऐक्य स्थापित कर सक। गाधी न समाज के विकास का कोई स्तर पहले से निर्धारित नही किया था। विनोबा एक प्रकार स समाज के विकास की एक योजना देन है जिसकी शुरुआत ग्रामदान स और परिणति विश्व-सरकार और विश्वशाति की स्थापना मे होती है। इसी प्रकार शास्त्रीय रूप म व बतलाते ह कि समाज मे सत्व गुण जीवन का आधार होगा, उसी स हमे दिशा मिलेगी, रजोगुण स हम काय की ओर अग्रसर होगे तथा अन्त मे तमोगुण का स्थान आवेगा। यह शास्त्रीयता गाधी के विचार मे नही है।

गाधी ने आदर्श समाज की कल्पना रामराज्य के रूप म की थी जहा पर समता, प्रेम और निर्वैरता होती है। परतु उन्होने इस सूत्र स्पष्ट नही किया था। विनोबा न समाज की तुलना परिवार स कर गाँधी के विचार को काफी स्पष्ट किया है। परिवार स तुलना करने के कारण समाज म त्याग और सेवा के लिए अनुपम आधार मिल जाता है। आदर्श समाज को विनोबा ने केवल समता, निर्वैरता एव प्रेम तक ही नही सीमित रखा है, उसे 'सेवामय' माना है। समाज का यह सेवामय रूप उनकी व्यक्ति की धारणा का आवश्यक परिणाम है तथा परिवार के आधार पर समर्थित है।

इसी प्रकार व्यक्ति और समाज के सबध के विषय म दोनो अवयवी सिद्धात को मानते है परतु गाधी इसको व्याख्या उतनी दूर तक नही ले जाते ह। विनोबा ने ताना बाना और अन्य कई उदाहरणो स व्यक्ति और समाज की परस्पर निर्भरता को स्पष्ट किया है। इसी प्रकार हाथ और उँगली, तथा शरीर के विभिन्न अगो के स्वतत्र कार्यों के उदाहरण स यह भलीभाँति सिद्ध किया है कि व्यक्ति और समाज मे अग अगी का सबध होते हुए भी कोई श्रेष्ठ और कोइ हीन नहा है। गाधी का समाज सबधी विचार रचनात्मक और सजनात्मक तत्त्वों के साथ-साथ निषेधात्मक तत्वो पर आधारित है, परतु विनोबा का दृष्टिकोण विशुद्धत भावात्मक तथा सृजनात्मक है। गाधी का दृष्टिकोण सुधारवादी भी है, क्रातिकारी भी। विनोबा जन्मजात क्रातिकारी है। इसलिए वे समाज रचना के मौलिक परिवतन पर अधिक बल दत हैं, सुधार पर कम। अत विचार के दृष्टिकोण म विनोबा की कल्पना ऊँची मानी जायगी परतु तात्कालिक समाधान के दृष्टिकोण म गाधी की कल्पना ही व्यावहारिक सिद्ध होगी। सक्षप म यह कहा जा सकता है कि विनोबा ने व्यक्ति और समाज के सबध म गाधी के विचारो को शास्त्रीय आधार प्रदान किया है तथा उसे अपेक्षाकृत अधिक आदर्शान्मुख और मूल्यात्मक बनाया है।

४ इतिहास-दर्शन

(क) प्राक्कथन व्यक्ति और समाज वस्तुत कोई स्थूल और स्थिर वस्तु नहा हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व म युग-युग म विकास होता जाता है परिणाम स्वरूप उससे निर्मित समाज भी युग-युग म बदलते जाते है। समाज के विकास और परिवतन का अथ है कि मनुष्य के सामाजिक सबधो सस्थाओ, सस्कृतियो मूल्यो इत्यादि म विकास और परिवतन। इस प्रकार का विकास और परिवतन इतिहास का निर्माण करता है। इतिहास दार्शनिको का यह प्रयास रहा है कि

वे इतिहास के नियमो की खोज करें। अर्थात् उनका यह प्रयत्न रहता है कि ऐसे व्यापक नियम को ढूँढ निकाला जाय जिसके आधार पर भूत वतमान और भविष्य के मानव इतिहास की प्रक्रियाओ की व्याख्या हो सके। इतिहास दार्शनिक इन प्रश्नो का उत्तर ढूँढते हैं कि इतिहास का क्या अथ है ? इसका क्या उद्देश्य है ? सामाजिक परिवर्तन के क्या नियम हैं ?[1] इत्यादि। वीको हडर हेगल काम्ने, कार्ल मार्क्स स्पेंगलर टायनबी सोरोकिन इत्यादि विचारको ने इतिहास की व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार से की है। गाँधी और विनोबा ने इतिहास-दर्शन की दृष्टि से कोई क्रमबद्ध व्याख्या नही दी है फिर भी उनके विचारो म इसका अभाव नही रहा है। अत इतिहास-दर्शन के विषय म इन दोनो विचारो की दृष्टियो से अवगत होना अपेक्षित है।

(ख) **गाधी विचार** गाधी का इतिहास दर्शन पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की आलोचना करता है जिसका संबंध भौतिक वस्तुओ की वृद्धि और खोज मे रहा है। यह भारतवर्ष की आध्यात्मिक संस्कृति के आधार पर समस्त इतिहास का व्याख्या नैतिक विकास के आधार पर करता है। गाधी ने **हिंद स्वराज** म स्पष्ट रूप से बतलाया है कि यूरोपीय सभ्यता का आधार आध्यात्मिक अनुभव की प्राप्ति नही बल्कि भौतिक वस्तुओ का संग्रह है जो मानव को यथार्थ जीवन का दिशा म जाने मे रोकता है तथा सभ्यता और संस्कृति के नाम पर मानव और समाज म विकृति उत्पन्न करता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से समाज म अनैतिकता और अधार्मिकता को प्रश्रय मिलता है। अत समाज के विकास की ऐसी व्याख्या होनी चाहिए जिसके आधार पर समाज को ऐसा रचना हो जिसम व्यक्ति आत्मशक्ति का अनुभव कर सके उत्तम जीवन व्यतीत कर सके वास्तविक आनंद और स्वतंत्रता का अनुभव कर सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि इतिहास की व्याख्या व्यापक नियम के आधार पर हो।

मनुष्य और समाज के दो रूप हैं—व्यक्त और अव्यक्त। व्यक्त रूप म य ससीम हैं तथा गुण-दोषो स पूर्ण हैं। संपूर्ण सामाजिक इतिहास की व्याख्या केवल व्यक्त रूप के आधार पर नही की जा सकती। संपूर्ण सामाजिक इतिहास

1 Gardiner, Patrick The Philosophy of History" *International Encyclopaedia of the Social Science* (17 Vols) edited by David L Sills (U S A The Macmillan Co & The Free Press 1968) Vol [illegible] p. 428

को व्याख्या के लिए व्यक्ति को सभाव्य शक्ति की ओर मुडना पडेगा जो अपने आप म व्यापक है। जैसा हम पहले देख चुके हैं कि सभाव्य रूप से मनुष्य का स्वभाव शुभ है। वह अहिंसक है, समाज मे प्रेम और सहयोग की स्थापना करना चाहता है। गांधी ने सपूर्ण इतिहास को इसी अहिंसा, प्रेम और सहयोग के आधार पर समझने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार इतिहास को प्रक्रिया मे धीरे-धीरे अहिंसक शक्ति का विकास होता आ रहा है और इसी दिशा म इसका विकास होता रहेगा। उन्होने ११ अगस्त, १९४० को हरिजन म लिखा[1]—'यदि हम अपनी दृष्टि को इतिहास के उन कालो की ओर ले जाएँ जिनके प्रमाण प्राप्त हैं तो हम पायेंगे कि मनुष्य सतत रूप से अहिंसा की ओर प्रगति कर रहा है। बहुत पहले हमारे पूर्वज नरभक्षी थे। उसके बाद एसा समय आया कि वे नर भक्षण स ऊबकर शिकार पर जीने लगे। उसके बाद मनुष्य इस स्तर पर आया कि वह घूमते हुए शिकारी जीवन को लज्जा की दृष्टि स देखने लगा। इसलिए वह खेती करने लगा और मुख्य रूप मे भोजन के लिए पृथ्वी माता पर आश्रित हो गया। इस प्रकार उसने बजारे की जिन्दगी को पार कर सभ्य और स्थिर जीवन को प्राप्त किया फिर गाँवो और शहरो की स्थापना की और एक परिवार के सदस्य स एक समुदाय या राष्ट्र का सदस्य हुआ। ये सभी प्रगतिशील अहिंसा और विनाशवान हिंसा के परिचायक हैं। यदि ऐसा नही हुआ होता तो मानव जाति अबतक समाप्त हो गई होती जिस प्रकार अन्य कई छोटी जातिया विलुप्त हो गई। मनुष्य एक जानवर के रूप मे हिंसक है, परन्तु आत्मा के रूप मे वह अहिंसक है। जिस क्षण वह अपने अदर की आत्मा को जगा पाता है, वह हिंसक नहीं रह जाता। या तो उसका विकास अहिंसा की ओर होता है या वह विनाश को प्राप्त करता है। यदि हम यह विश्वास करते हैं कि मानव अहिंसा की ओर अनवरत रूप स प्रगति कर रहा है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आगे भी वह अहिंसा की ओर ही प्रगति करता रहेगा।'

व्यक्ति का अहिंसक रूप समाज रचना के क्षेत्र म भी अवतरित होता है। ज्यो-ज्यो मनुष्य अहिंसक होता जाता है त्यो-त्यो वह ऐसी सस्थाओ और मूल्यो की स्थापना करने लगता है जिसमे शोषण की मात्रा धीरे धीरे कम होने लगती है तथा हर व्यक्ति को आत्म शक्ति, स्वतत्रता और आनद का अधिक अनुभव होता जाता है। यही कारण है कि गांधी ने आधुनिक युग की सस्थाओ की आलोचना

1 Quoted on *Anil sihi, Op cit*, pp 93 94

की[1] जिनसे शोषण भरा हुआ है। उदाहरण के लिए उनके द्वारा पाश्चात्य प्रजातन्त्र आधुनिक भारी मशीन सभ्यता न्याय और स्वास्थ्य-व्यवस्था और शहरी सभ्यता की आलोचना को समझा जा सकता है। आज तक की सभ्यता में प्रजातन्त्र को सर्वोत्तम राज्य-व्यवस्था के रूप में लिया जाता है। परन्तु अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में व्यक्ति का उचित पोषण नहीं हो पाता है। इसलिए गांधी ने ब्रिटिश प्रजातन्त्र को बन्ध्या औरत और वेश्या के समान माना है।[2] वास्तविक प्रजातन्त्र का आधार वोट नहीं बल्कि व्यक्ति का उसमें भाग लेना है जो ग्राम राज्य में ही सम्भव है। इसी प्रकार भारी मशीन में बेरोजगारी की समस्या पैदा होती है और मानव यन्त्रवत् हो जाता है। उसकी स्वतन्त्रता खंडित होती है। अंग्रेजी दवाइयों से रोगों का वास्तविक इलाज न होकर उसके शरीर पर अनावश्यक रूप से मोह बढ़ाया जाता है तथा इनके लिए अनेक प्राणियों की हत्या करनी पड़ती है। अतः इनके स्थान पर ग्रामीण कुटीर उद्योग और प्राकृतिक चिकित्सा को उन्होंने उपयुक्त समझा। इसी प्रकार आधुनिक न्याय व्यवस्था में वकील लोग न्याय दिलवाने के बदले अपराधों का समर्थन करते हैं जिसमें समाज रचना टूटती है। व्यक्ति व्यक्ति का विरोध करता है। इनके स्थान पर उन्होंने ग्राम-पंचायत की व्यवस्था करना उचित समझा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संस्थाओं के विकास में गांधी ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि उनका विकास अधिक से अधिक शोषणहीन समाज की ओर होना है तथा वैसा होना भी चाहिए। जब संस्थाएँ शोषण-मुक्त होना जाएगी तो फिर पारिवारिक व्यवस्था राष्ट्रीय-व्यवस्था और विश्व-व्यवस्था में कोई अंतर नहीं रह जाएगा। तब राष्ट्र का नियम विश्व के नियम में परिणत हो जाएगा।[3] विश्व मानव एक हो जाएगा। इन्हीं कारणों से डा० सुगत दास गुप्ता ने अहिंसा का अर्थ सामाजिक क्षेत्र में अ शोषण (Non-exploitat on) अ संगठन और अप्रभुता से लिया है।[4] हिंसा का अर्थ शोषण प्रभुत्व और शक्ति का केन्द्रीकरण है जिसमें व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपने को अभिव्यक्त नहीं कर पाता है।

1 Gandhi M K *Indian Home Rule*, Compiled in *The Collected Works of Mahatma Gandhi* (Ahmedabad Navajivan Publishing House 1964) p 113 201

2 *Ibid* p 113

3 Gandhi M K *Young India* 2 3 1922

4 Gupta Sugat Das The Hard Core of Gandhi s Social and Economic Thought' *Khadhi Gramodyoga*, (Bombay July 1969), p p 704-711

प्रश्न है कि अहिंसक व्यक्ति और समाज का विकास किस प्रक्रिया के द्वारा होता है ? गांधी मनोवैज्ञानिक रूप में यह मानते हैं कि हर व्यक्ति में अच्छी और बुरी प्रवृत्तियाँ हैं। उनमें सदैव संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में हमेशा सद्‌प्रवृत्तियों की विजय होती है। प्रकृति में भी विरोधी तत्त्व होते हैं परन्तु अंतिम रूप में प्रकृति का अस्तित्व आकर्षण, प्रेम या सहयोग पर ही कायम रहता है। अतः मनोवैज्ञानिक संघर्ष में व्यक्ति का विकास प्रकृति से संस्कृति की ओर होता है। वह आत्म-विश्लेषण के द्वारा अपनी कुप्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करता जाता है और शनैः शनैः उसका स्वभाव अहिंसा की ओर बढ़ता जाता है। जहाँ तक संस्थाओं की शोषण-मुक्ति का प्रश्न है, यह सत्याग्रह की प्रक्रिया के द्वारा ही सम्पन्न होती है जिसके विषय में हम आगे विशेष रूप से विचार करेंगे। सत्याग्रह की प्रक्रिया की तबतक आवश्यकता बनी रहती है जबतक समाज पूर्णरूपेण शोषणमुक्त नहीं हो जाता है। सत्याग्रह की प्रक्रिया में व्यक्ति या समाज पूर्ण सत्य को एकाएक प्राप्त नहीं कर लेता। धीरे-धीरे वह सापेक्ष सत्य को प्राप्त करते-करते निरपेक्ष सत्य की ओर बढ़ता जाता है। परन्तु पूर्ण सत्य की प्राप्ति वह नहीं कर सकता। इसलिए शरीरधारी मनुष्य कुछ न-कुछ रूप में हिंसक रह ही जाता है, समाज में भी कुछ न-कुछ शोषण की मात्रा रह ही जाती है और इसी कारण से विकास की क्रिया जारी रहती है।

कार्ल मार्क्स ने सम्पूर्ण इतिहास की व्याख्या आर्थिक आधार पर सामाजिक संघर्ष के रूप में की है। हेगेल ने बौद्धिक स्वतन्त्रता के आधार पर इसे समझने का प्रयास किया है। परन्तु गांधी के अनुसार इतिहास न तो शोषक और शोषितों के बीच के संघर्ष की कहानी है और न यह एकांतिक बौद्धिक विकास की घटना है। इतिहास एक ओर मनुष्य की पाशविक और हिंसक शक्ति तथा दूसरी ओर आत्मशक्ति या प्रेमशक्ति के बीच के संघर्ष की कहानी है।[1] इस संघर्ष में हर एक व्यक्ति को विजयी होना है और हर व्यक्ति को दूसरे की विजय के लिए प्रयास करना है। इसे ही गांधी वास्तविक अर्थ में स्वराज्य कहते हैं।[2]

1 Gandhi, M K, *Indian Self rule*, compiled in *The Collected Works of Mahatma Gandhi*, (ed), Narayan, Shriman, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1968), p 201

2 *Ibid*, p 155

इतिहास की प्रक्रिया स्वराज्य की प्राप्ति की प्रक्रिया है। परंतु इसका अर्थ किसी राज्य की प्राप्ति नहीं बल्कि 'आत्मनियंत्रण' की प्राप्ति है। उन्होंने वास्तविक सभ्यता की परिभाषा देते हुए हिंद स्वराज्य में कहा है 'सभ्यता आचरण का वह रूप है जो मनुष्य को कर्त्तव्य का मार्ग दिखलाती है। कर्त्तव्यों का पालन और नैतिकता का पालन—दोनों परिवर्तनीय पद हैं। नैतिकता के पालन का अर्थ है अपने मन और वासनाओं पर विजय प्राप्त करना। ऐसी प्रक्रिया के द्वारा हम अपने को जान पाते हैं। इसीलिए सभ्यता का गुजराती पर्यायवाची शब्द है उत्तम आचरण।[२] इस प्रकार यदि इतिहास सभ्यता और संस्कृति की कहानी है तो इसे नैतिकता के विकास की ही कहानी मानना चाहिए।

गांधी के अनुसार इतिहास अपनी पुनरावृत्ति नहीं करता। अतः यदि बीते हुए समय में नैतिक विकास की घटना नहीं भी मिली हो तो इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भविष्य में भी वह घटना नहीं घटेगी। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है 'यह विश्वास करना कि जो भूत में नहीं घटा है वह भविष्य में भी नहीं घटेगा—मानव की गरिमा में अविश्वास करना है।'[१] अतः भविष्य के समाज के विषय में हम नैतिक विकास की कल्पना कर सकते हैं। इनमें यह भी सिद्ध होता है कि गांधी का इतिहास-दर्शन न तो नियतिवादी (deterministic) है और न चक्राकार (Cyclical)। इनका इतिहास दर्शन वर्गसां के इतिहास-दर्शन के समान दिशाहीन भी नहीं है। हम कुछ दूर तक उर्ध्वरूपी विकास (Linear evolution) की मान्यता दी जा सकती है। परंतु हम हेगल और अलेक्जेंडर के विचारों के समान उर्ध्वरूपी विकास नहीं कह सकते। क्योंकि उनमें एक प्रकार का नियतिवाद है। गांधी के विचार में नियतिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि इनमें नियतिवाद भी है तो इस अर्थ में कि इसकी दिशा निश्चित है। परंतु दिशा निश्चित होते हुए भी स्थान निश्चित नहीं है। आध्यात्मिक साधना का अंत नहीं है। वह अनंत में विलीन होता है। इसलिए गांधी का विचार हेगेल और अलेक्जेंडर के विचारों की जड़ता से मुक्त रह जाता है। सत्य की प्राप्ति ही विकास का लक्ष्य है। परंतु सत्य कोई स्थिर वस्तु नहीं है। वह तो प्रगतिशील है और नित्य नूतन है। डा० विश्वनाथ वर्मा ने गांधी के इतिहास दर्शन को 'ईश्वरीय

---

1 *Ibid* p 201

२ उपरिवत्, पृ० ६५० ।

३ उपरिवत्, पृ० ६५६ ।

नियतिवाद' के अन्तर्गत रखा[1] है, क्योकि गांधी ने अनेक स्थलो पर धार्मिक ईश्वरवादियो की भाति कहा है कि बिना ईश्वर की इच्छा से एक पत्ता भी नही डोलता है। परन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं कि गांधी सामान्य अर्थ मे ईश्वरवादी (Theist) नही हैं। वे समन्वयवादी हैं। फिर भी ईश्वरवादी वाक्य या शब्द केवल अभिव्यक्तियो के पुराने माध्यम हैं। अर्थ नया है। 'सत्य ही ईश्वर है' वाक्य से ईश्वर पर एक नया प्रकाश पडता है। नियतिवाद सच्चे अर्थ मे बाहरी नियन्त्रण का सूचक है। गांधी का ईश्वर अदर बाहर एक है। अत ईश्वर या सत्य को मूल तत्त्व मानने से भी इसमे नियतिवाद नही आ पाता। वस्तुत इसमे नियतिवाद और प्रयोजनवाद का अद्भुत समन्वय है। यदि गांधी का ईश्वर भी मध्ययुगीन सप्रदायवादियो के ईश्वर की भाति विश्व से परे अलग स्वतन्त्र सत्तावान पदार्थ होता तो निश्चय ही कहा जा सकता था कि विश्व की घटनाएँ ईश्वर के द्वारा ही निर्धारित होती है और इसमे ईश्वरीय नियतिवाद है। परन्तु गांधी का ईश्वर विश्व मे व्याप्त भी है और इससे परे भी। वह नियम और नियामक दोनो है। जिस अश तक वह विश्व मे व्याप्त है, नियम स्वरूप है उस अश तक प्रयोजनवाद है तथा जिस अश तक वह विश्व से परे है उस अश तक वह जगत को नियमित करता है, अत नियतिवाद है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ तक इतिहास की दिशा का प्रश्न है वह अहिंसा की दिशा है। अत यहा नियतिवाद है। जहाँ तक सत्य के नए-नए रूपो के विकास का प्रश्न है वहाँ तक प्रयोजनवाद है। परन्तु समग्र रूप मे समन्वयवाद है।

गांधी का इतिहास-दर्शन मानव जीवन के समग्र पहलुओ पर विचार करते हुए नैतिकता की प्रधानता को स्वीकार करता है। अत इसमे पाश्चात्य विचारकों की एकागिता नही आ पाई है। इसमे व्यक्ति और समाज और गौरे आपस की खाइयों मे स्वतन्त्र होकर पूर्णत्व की ओर अग्रसर होना है। परन्तु इस एकत्व भावना की पूर्णता केवल अतर्राष्ट्रिय भावना के उदय मे ही नहा बल्कि समस्त प्राणी मे ईश्वर भावना की अनुभूति से होती है। अत इसे आध्यात्मिक दर्शन कह सकते हैं। परन्तु यह आध्यात्मिक विकास अपने अतगत राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति इत्यादि सभी को समाविष्ट कर लेता है। अत यह सर्वांगीण विचार है। यह सर्वोदय और अहिंसा का विचार है।

1 Verma, V P *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya* (Agra Laxminarayan & Agrawal, 1959), p 62

(ग) **विनोबा की देन** : गाँधी के इतिहास सबधी विचार का विनोबा स्वागत करते है। गाँधी की भाँति ही वे भी आधुनिक युग की मार्क्सवादी व्याख्या की आलोचना करते हैं। गाँधी की भाति ही वे प्रचलित सस्थाओ की आलोचना प्रस्तुत करते हैं। इनके अनुसार समाज का विकास अहिंसा की ओर ही हो रहा है। परतु गाधी ने अहिंसक इतिहास की व्याख्या विशेष रूप म नैतिक दृष्टि स की थी। इसीलिए सच्ची सभ्यता और नैतिकता मे उन्हे कोई भेद मालूम नही देता। विनोबा अहिंसक इतिहास को व्याख्या विशेष रूप से आध्यात्मिक और प्रेम की दृष्टि स करते हैं। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि ये अहिंसा के भावात्मक रूप का ही विकास करना अपेक्षित समझते हैं।

गाधी के अनुसार व्यक्ति के जीवन म शुभ प्रवृत्तियो और अशुभ प्रवृत्तियो के बीच सघर्ष चलता है और विजय सद्प्रवृत्तियो की होती है। विनोबा के अनुसार सघर्ष का मुख्य विषय है श्रद्धा और बुद्धि का द्वद्व[1]। यद्यपि ज्ञान-मीमासा की दृष्टि म इन दोनो के बीच मे विरोध नही है क्योकि हृदय, जिसमे श्रद्धा उत्पन्न होती है, बुद्धि का ही एक भाग है। परतु जबतक मनुष्य बुद्धि के नियत्रण म रहता है, अर्थात बुद्धि स्थिर नही हो जाता है तबतक बुद्धि और श्रद्धा का द्वद्व चलता ही रहता है। हर व्यक्ति की श्रद्धा अहिंसा पर होती है। परतु बुद्धि जिसमे सत्व, रज और तम तीनो का प्रभाव रहता है वह कभी-कभी इसे युद्ध और हिंसा के लिए बाध्य करती है। विशेषकर यह प्रश्न राजनीतिज्ञो के सामने उठता है। उनकी श्रद्धा अहिंसा और रचनात्मक कार्यों पर होती है परतु सम्मिश्रित बुद्धि यह आदेश देती है कि जनता के प्रतिनिधि होने के कारण उनकी सुरक्षा करना कत्तव्य है। अत वह सेना हटाने के बदल बढाने का आदेश देती है[2]। मानव का व्यक्तिगत जीवन भी इन द्वद्वो से अछूता नहीं रहता है। श्रद्धा रहती है परोपकार की। परतु यदि परोपकार के चलते पारि-वारिक जीवन मे कोई भयकर खतरा उपस्थित हो जाय तो परोपकार को छोड-कर स्वार्थ मे ही चिपकना पडता है। यह हमारी बुद्धि का आदेश है। इस प्रकार सपूर्ण मानव-जीवन के इतिहास मे कभी बुद्धि ऊपर आती है तो कभी हृदय। इन दोनो का सघर्ष चलता रहता है। जैसे जैसे हृदय की जीत होती जाती है वैसे वैसे ही प्रेम का विकास भी होता जाता है।

---

१ भावे, विनोबा, तीसरी शक्ति, (वाराणसी, सर्व सेवा सघ प्रकाशन, १९६९), पृ० २१

२ उपरिवत्, पृ० २१।

मानते है। गांधी का ध्यान विज्ञान की ओर उतना नहीं गया था जितना विनोबा का गया है।

विनोबा के अनुसार संपूर्ण मानव-इतिहास विचारों के विकास और परिवर्तन का इतिहास है। विचार ही मानव-जीवन और समाज रचना के परिवर्तन में प्रेरणा प्रदान करता है। वे कहते हैं—"विचार मानव-जीवन की बुनियाद है। विचारों की प्रेरणा मनुष्य को उत्स्फूर्त करती है। मनुष्य का शारीरिक जीवन तो चलता ही है, किंतु उसका जो उत्थान होता है, उसके पीछे भी विचार रहता है। विचार के कारण आंदोलन होते हैं, जोश का निर्माण होता है और नया जीवन बनता है। तब समाज-रचना बदलती है, जीवन का ढांचा बदलता है। ... मनुष्य का विचार ही ताकत देता है। इसी को धर्म या नीति कहते हैं। बुनियाद विचार की होती है और उसी पर जीवन की इमारत खड़ी होती है।"[1]

यहाँ 'विचार' के अंतर्गत नीति और विचार, आदर्श और सिद्धांत—दोनों का समन्वय हुआ है। अतः जहाँ गांधी, नीति को जीवन का आधार मानते हैं वहाँ विनोबा विचार को। विचार में केवल आदर्श या नैतिक विचार ही नहीं आते हैं बल्कि वे सभी विचार आते हैं जो मानव को प्रेरित करते हैं। अतः यहां पर भी विनोबा ने गांधी के विचारों का गुण विस्तार किया है।

गांधी ईसामसीह की भाँति हृदय शुद्धि पर अधिक बल देते हैं। साम्यवादी विचारक समाज-परिवर्तन के लिए बाहरी व्यवस्था के परिवर्तन पर विशेष बल देते हैं। परन्तु विनोबा चित्त शुद्धि और व्यवस्था परिवर्तन—दोनों पर समान रूप में बल देते हैं। वे कहते हैं—'अंदर से शुद्धि और बाहर से व्यवस्था का प्रयत्न एक साथ होना चाहिए। इन दोनों के लिए आत्मज्ञान और विज्ञान की मदद मिल सकती [redacted]। दोनों की मदद से सर्वांगीण विकास करना ही सर्वोदय है।'[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि विनोबा के अनुसार इतिहास की प्रक्रिया एकांगी प्रक्रिया नहीं है। इसकी प्रक्रिया समग्रात्मक है। इसमें अंदर और बाहर—सर्वत्र विकास चलता रहता है। गांधी भी इतिहास को सर्वांगीण विकास की दृष्टि में देखते हैं परंतु नैतिकता के लिए अथवा आंतरिक शुद्धि के लिए कुछ उनके हृदय में अधिक पक्षपात हो जाता है। बाहरी या भौतिक परिस्थिति के विकास के पक्ष को वे समुचित रूप से नहीं देखते हैं। विनोबा

१ भावे, विनोबा, लोकनीति, पृ० १२।

२ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० ६४।

आध्यात्मिक और वैज्ञानिक—दोनो प्रकार के विकास को इतिहास के अन्दर देखते हैं।

गाँधी के अनुसार इतिहास की चरम परिणति मोक्ष या स्वतन्त्रता की प्राप्ति मे होती है। विनोबा इसके लिए एक नवीन शब्द का प्रयोग करते है और वह है "साम्ययोग"। साम्ययोग इतिहास की प्रक्रिया भी है और लक्ष्य भी। जैसा हम ऊपर देख चुके है कि सभी क्षेत्रो मे समन्वय की क्रिया चलती रहती है। इस समन्वय की क्रिया को साम्ययोग की ही क्रिया समझना चाहिए। साम्ययोग जहा लक्ष्य के रूप मे व्यवहृत होता है वहाँ इसका अर्थ है समता, एकता और सतुलन की अवस्था का अनुभव करना। विनोबा यह मानते हैं कि मानव का चरम लक्ष्य परम साम्य की प्राप्ति करना है जिसे आध्यात्मिक साम्य भी कहते हैं। परन्तु इसकी प्राप्ति के लिए हमे कई प्रकार के अपर साम्यो से होकर गुजरना पडता है। जैसे मानसिक साम्य, सामाजिक साम्य, नैतिक साम्य इत्यादि की प्राप्ति के बाद ही हम परम साम्य का दर्शन कर सकते हैं।[१] इस प्रकार विनोबा ने साम्ययोग की कल्पना मे इतिहास की सपूर्ण प्रक्रिया को एक व्यवस्थित रूप दे दिया है। गाँधी ने निष्काम-कर्म पर ही विशेष बल दिया था। फिर उन्होने भौतिक साम्य और आध्यात्मिक साम्य के बीच के सबध का सुव्यवस्थित रूप से विस्तार नही किया था। अत उनकी कल्पना कुछ अश तक अत्यन्त सामान्य और बिखरी हुई थी। परतु विनोबा की कल्पना अधिक व्यवस्थित है। गाँधी के अनासक्ति-योग का विकास विनोबा साम्ययोग मे करते हैं।

जहाँ तक सस्थाओ के विकास का प्रश्न है, गाधी की कल्पना शोषण-मुक्त सस्थाओ तक ही गई थी। विनोबा उससे एक कदम आगे बढते है। उनके अनुसार सामाजिक सस्थाओ को शोषण से मुक्त तो होना ही चाहिए। कुछ सस्थाओ को 'सेवामय' होना चाहिए। इसलिए उन्होने समस्त समाज का विभाजन तीन वर्गो मे किया है—आम जनता, सरकार और सर्वोदय समाज। 'सर्वोदय-समाज की कल्पना उन्होने सेवामय समाज के रूप मे की है। नैतिकता की दृष्टि से इस सर्वोच्च सस्था उन्होने स्वीकार किया है जिसका अनुसरण आम जनता कर सकें। परतु इसकी उपलब्धि मे अभी निराशा ही हाथ लगी है। इसी प्रकार 'आचार्य-कुल' की कल्पना है जिससे निष्पक्ष चिंतन की उम्मीद

१ भावे, विनोबा, साम्यसूत्र, पृ० १२।

की गई है। इस प्रकार विनोबा चिंतन में संस्थाओं का विकास विशेष रूप से सेवामय संस्था की दिशा में होती है। परंतु एक प्रश्न यहाँ रह जाता है। वह यह कि "लोकशक्ति का पूर्ण उदय" और "सेवा" का आपस में कहाँ तक वास्तविक संबंध है? यदि अच्छा शासन भी वांछनीय नहीं है तो फिर सेवा कहाँ तक वांछनीय हो सकती है?

गांधी और विनोबा के इतिहास की व्याख्या के तुलनात्मक अध्ययन में यह निष्कर्ष निकलता है कि इतिहास भविष्य का निर्धारक नहीं है, अतः इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। अर्थात् भूत की घटनाओं के आधार पर ही भविष्य की घटनाओं की व्याख्या नहीं कर सकते हैं। भविष्य हमेशा उन्मुक्त और नित्य नूतन होता है। परंतु इतिहास के आधार पर भविष्य के विकास का अनुमान आसानी से किया जा सकता है। विनोबा के शब्दों में 'पूर्वजों के कंधों पर चढ़ कर हम दूर तक देख सकते हैं यदि हमारी आँख खुली हो।' अतः इतिहास भविष्य की घटनाओं को एक आवश्यक कड़ी है। गांधी इतिहास की व्याख्या 'अहिंसा' के आधार पर करते हैं। विनोबा इसकी व्याख्या 'आध्यात्मिकता' के आधार पर करते हैं। गांधी के विचार अस्फुट रूप में बिखरे हैं। विनोबा ने उन विचारों को समन्वय और 'साम्ययोग' जैसे शास्त्रीय शब्दों के अंतर्गत सुसंबद्ध रूप में रखा है। गांधी का इतिहास शोषण-मुक्ति का इतिहास है, विनोबा का इतिहास सेवा और शासन-मुक्ति का इतिहास है। इस प्रकार विनोबा ने गांधी की अहिंसा के आधार पर अधिक-से अधिक आदर्शात्मक और समग्रात्मक रूप से इतिहास की व्याख्या की है।

राजनीति-दर्शन

१ राज्य सिद्धांत

विषय प्रवेश राजनीति-दर्शन का आधार बिंदु राज्य धारणा है। समाज दर्शन का उद्देश्य यदि सामाजिक संस्थाओं के संबंध में व्यापक सिद्धांतों का अन्वेषण करना है तो राज्य निश्चय ही समाज की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं में से है, जो मानव-जीवन के समग्र क्षेत्र को प्रभावित करता है। भारतवर्ष में अध्यात्म और धर्म की तुलना में राज्य और राजनीति का कम महत्त्व रहा है। राजनीति को धर्ममय बना दिया गया। इसलिए राजनीति के बदले 'राजधर्म' शब्द व्यवहार में आने लगा। यों राजधर्म का महत्त्व माना गया है—सर्वेधर्मा राज धर्मा निमग्ना। किंतु राजनीति विशेषकर पश्चिम की देन है। समाज की

कोई भी सस्था राजनीति के प्रभाव से अलग नही है। अत राजनैतिक सिद्धातो और व्यवस्थाओ की श्रेष्ठता और न्यूनता पर समस्त मानव जीवन की श्रेष्ठता और न्यूनता आधारित है। पश्चिम मे जो राज्य और राजनीति के सबध मे सिद्धात दिये गये है उनमे से अबतक विशुद्ध मानव कल्याण की दृष्टि से कोई भी सिद्धात खरा नही उतरा है। अत आज राज्य और राजनीति की नवीन व्याख्या की आवश्यकता हुई है। गाधी और विनोबा ने इस दिशा मे अपना नया कदम उठाया है। इन विचारको ने पश्चिम की सत्तात्मक राजनीति को दोषपूर्ण बतलाकर अहिंसा, धर्म और आध्यात्मिकता के आधार पर राज्य और राजनीति की नवीन कल्पना दी है। यद्यपि इसकी आलोचना अव्यावहारिक और यूटोपिया कह कर की जाती है, परतु विश्व इतिहास मे यह एक क्रातिकारी सिद्धात है। सगत रूप से इस सिद्धात के महत्त्व को कोई भी अस्वीकार नही कर सकता। अत अब हम इन विचारको के राजनैतिक सिद्धात पर विचार करे। गाधी और विनोबा के राजनैतिक सिद्धातो को मुख्यत निम्न तत्त्वो के आधार पर समझा जा सकता है—

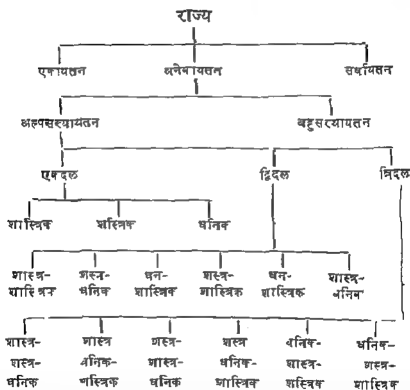
१ प्रचलित राज्य-व्यवस्था की समीक्षा,
२ राज्य और उसकी सार्वभौमता,
३ आदर्श या अहिंसक राज्य का स्वरूप,
४ लोकशक्ति और लोकनीति,
५ अराजकतावाद।

१ प्रचलित राज्य-व्यवस्था की समीक्षा

गाधी-विचार गाधी ने पाश्चात्य राज्य पद्धतियो की आलोचना की। अन्य राज्य पद्धतियाँ तो दोषपूर्ण पहले से भी मानी जाती हैं, परतु सासदिक प्रजातत्र जो सभी राज्य-पद्धतियो मे निर्दोष माना जाता है तथा मानव कल्याण और हित का दावा करता है—वह भी दोषपूर्ण है और हिंसा पर आधारित है। इसमे मानव का सच्चा कल्याण नही हो सकता—ऐसा गाधी का विश्वास है। उन्होने अपनी पुस्तक 'हिंद-स्वराज्य' मे सासदिक प्रजातत्र की कटु आलोचना की है। उनके अनुसार सासदिक प्रजातत्र मे दलगत राजनीति कार्य करती है जिसमे जनता के प्रतिनिधि होते हैं, परतु वास्तव मे उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा या तो अपने परिवार या अपनी पार्टी तक ही सीमित रहती है। जनता के कल्याण के लिए वे कुछ भी नही कर पाते अत उनकी स्थिति उस वेश्या और बध्याकृत महिला

एकायतन के उदाहरण भारत की देशी रियासतें और अन्य राज्यतंत्र हैं। नाजी, फासिस्ट और साम्राज्यवाद अल्पसंख्यायतन के उदाहरण हैं। बहुसंख्यायतन का उदाहरण रूसी समाजवाद है और सर्वायतन का दावा प्रचलित प्रजातंत्र में किया जाता है, जो वास्तव में नहीं है।[१]

इन सभी राज्य-पद्धतियों को निम्न सारणी के आधार पर समझा जा सकता है।



इस व्यापक विभाजन के पश्चात विनोबा सभी प्रकार की राज्य पद्धतियों को हिंसा पर आधारित और दोषपूर्ण मानते हैं। एकायतन व्यवस्था का मूल लक्षण अह-प्रमाणता और निरंकुशता है।[२] अल्पसंख्यायतन व्यवस्था में अर्थात् नाजी, फासिस्ट और साम्राज्यवाद में शासन का आधार हिंसा, यन्त्रवाद, संग्रहीत पूंजी

१ उपरिवत्, पृ० १६०।
२ उपरिवत्, पृ० १६० ६१।

और भारी योजनाएँ है। इन पद्धतियो मे शासक अहिंसा और जनहित के नाम पर हिंसा करते हैं। ऐसी दोषपूर्ण व्यवस्था तभी तक टिकती है जबतक जनता दुर्बल और अज्ञानी रहती है।[१] जन शक्ति और जन-चेतना के जगते ही यह समाप्त हो जाती है। बहुसंख्यायतन की रूसी व्यवस्था एक प्रकार से बहु-सख्यायतन होने का ढोंग है।[२] वास्तविक स्थिति यह है कि यह शस्त्र शास्त्र धनिक अल्पसंख्यायतन पद्धति ही है।[३] फिर जिस राज्य की स्थापना और सुरक्षा हिंसा और शस्त्र पर आधारित होती है वह तो कभी बहुजन-समाज का अस्त्र बन ही नहीं सकता है। राज्य की सुरक्षा के लिए बहुजन को अनिवार्य रूप से शस्त्र धारण करना ही पड़ेगा और उसमे दक्षता प्राप्त करने के लिए अल्पसंख्यको के अधीन रहना ही पड़ेगा। फिर बहुसंख्यक कैसे हो सकता है ?[४] इससे धन-सग्रह और रक्षण के लिए कूटनीति का शास्त्र भी बनाना पड़ता है। राज्य की यह पद्धति भी तभी तक कायम रहती है जबतक बहुसख्या को यह हितकर प्रतीत होती है।[५] विवेक जगने पर इसका भी अंत अवश्यम्भावी है।

सर्वायतन होने का दावा करनेवाली आधुनिक प्रजातांत्रिक व्यवस्था भी सही अर्थ मे सर्वायतन नहीं है। ऐसे प्रजातंत्र का आधार मतदान है जिसे विनोबा ने 'नाटक[६]' 'ढोंग[७]' और 'बोगस[८]' कहा है। वोट के आधार पर शासक सारे कुकर्मों का दायित्व लोकमत या जनता पर देते हैं[९] जहाँ वास्तव मे कार्य एक या दो-तीन व्यक्तियो की इच्छा से होता है जो सत्ताधारी होते हैं। जनता के हाथो कोई शक्ति और नीति नहीं रह जाती है वह शक्ति हीन और चेतनाहीन बन जाती है। अतः लोकशाही का सबसे बड़ा दोष जनता के सारे दायित्व को चंद लोगों पर सौंपना है।[१०] इस प्रकार का प्रजातंत्र

१ उपरिवत्, पृ० १६१।
२ उपरिवत् पृ० १६१।
३ उपरिवत् पृ० १६१।
४ उपरिवत्, पृ० १६१।
५ उपरिवत्, पृ० १६२।
६ भावे, विनोबा लोकनीति, पृ० ६७
७ उपरिवत्, पृ० ६७।
८ उपरिवत्, पृ० ६९।
९ उपरिवत्, पृ० ६९।
१० उपरिवत्, पृ० ६४।

राजतन्त्र से भिन्न नहीं बल्कि अधिक खतरनाक है।[1] यह राजतन्त्र और सामन्त-तन्त्र है क्योंकि इसमें एक ही व्यक्ति प्रधान मन्त्री, मुख्य मन्त्री या राष्ट्रपति (अमेरिका में) कुछ अपने गुट के लोगों के आधार पर शासन करते हैं। अतः शासन की अच्छाई, बुराई प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति की अच्छाई-बुराई के अनुकूल होती है। उसमें जनता का कोई हाथ नहीं रहता। अन्तर इतना ही है कि राजतन्त्र में राजा जीवन भर सत्ताधारी बने रहते हैं, प्रजातन्त्र में पाँच साल के लिए ही एक बार चुने जाते हैं। परन्तु आधुनिक युग में विज्ञान की सुख-सुविधाओं के कारण पाँच वर्षों में जो ये राष्ट्र की बुराई करते हैं उतना राजा जीवन भर में भी नहीं कर सकता है। फिर एक बार सत्ता में आने पर दूसरी बार भी आने का उपाय वे रच ही लेते हैं। ये राजतन्त्र से अधिक खतरनाक इस अर्थ में हैं कि राजतन्त्र में सारा गुण दोष राजा के सर पर मढ़ा जाता है परन्तु प्रजातन्त्र में सारे पाप लोकमत की ओट में होते हैं।[2] राजतन्त्र से यह अधिक खतरनाक इसलिए भी है क्योंकि राजा के द्वारा मानव जीवन के बहुत ही कम क्षेत्रों में हानि होती है क्योंकि राजा का कार्यक्षेत्र सीमित होता है। परन्तु प्रजातन्त्र जो लोक-कल्याणकारी होने का दावा करता है—जनता के सम्पूर्ण जीवन में प्रविष्ट है। अतः इसमें मानव का सम्पूर्ण जीवन प्रभावित होता है।[3]

वोट की अर्थहीनता को विनोबा ने बहुत ही सुन्दर ढंग से गाणितिक प्रणाली के आधार पर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार आज की मतदान प्रणाली में १०० मतदाताओं में यदि ६० व्यक्ति ही वोट देते हैं, ४० व्यक्ति नहीं और फिर ६० में ३० किसी एक पार्टी को आता है तो वह विजयी होता है। इस प्रकार ४० + ३० = ७० व्यक्तियों का मत बेकार हो जाता है। फिर ३० विजयी व्यक्तियों में यदि किसी प्रस्ताव के विपक्ष में १५ व्यक्ति हों तो भी विधेयक उनमें से म पास हो जाता है और विरोध करनेवालों को भी अनुकूल वोट देना पड़ता है। फिर १५ सदस्यों में भी प्रायः सभी दल के एक दो नेताओं की इच्छा के आधार पर ही काम करते हैं। इस प्रकार १०० मतदाताओं पर केवल तीन व्यक्तियों का शासन चलता है।[4] ऐसी पद्धति को प्रजातन्त्र कैसे कहा जा सकता है? वोट में बहुमत का आधार लाठी और हिंसा है। चरागमन

१ उपरिवद्, पृ० ६९।
२ उपरिवद्, पृ० ६९।
३ उपरिवद्, पृ० ६९।
४ उपरिवद्, पृ० ६८।

वहाँ भी अपने अधिकार के प्रयोग से वंचित रह जाते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक प्रजातन्त्र का आधार हिंसा है। अतः विनोबा कहते हैं— हिंसा पर आश्रित कोई भी पद्धति भले ही "जितने सिर उतने मत गिनने का दंभ करे, वास्तव में सर्वायतन नहीं हो सकती। इसके विपरीत सब लोग मिलकर स्वेच्छा से और सोच-समझ कर अपने में से किसी एक को या अनेक को राग द्वेष रहित भूत हित तत्पर, बुद्धिमान और कुशल जानकर सारी सत्ता सौंप दें तो वह सत्ता आकार में एकायतन या अनेकायतन भले ही प्रतीत हो अगर उसका आधार अहिंसा है तो उसे सर्वायतन ही मानना चाहिए।"[1]

यदि यह माना जाए कि संसदिक प्रजातन्त्र में शासक सुन्दर शासन दे सकते हैं तो भी उससे प्रजातन्त्र का उत्तम रूप नहीं निखरता। यदि इन गिने शासक अपने कार्य में दक्ष हों और देश की सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लें, बाकी जनता निर्जीव की भांति दायित्वहीन रहे तो ऐसी स्थिति में भी राज्य सर्वायतन नहीं हो सकता। प्रजातन्त्र में तो साक्षात् रूप से सभी नागरिकों का हाथ बटाना अनिवार्य है। हिंसा पर आधारित प्रजातन्त्र तभी तक कायम रह सकता है जबतक जनता अज्ञानी रहती है, उसमें आपस में फूट पैदा कर राग-द्वेष उत्पन्न कर दिया जाता है। परन्तु जब जनता को यह मालूम होगा कि दलगत राजनीतिज्ञ अपनी सत्ता के लिए समाज को तोड़ते हैं तो फिर इस प्रकार की राज्य पद्धति का अंत होना निश्चित है। विनोबा अलग अलग रूप से विभिन्न राज्य पद्धतियों की समीक्षा के पश्चात् उनके सामान्य और आवश्यक तत्त्वों की खोज करते हैं तथा इनके आधार पर सामान्य ढंग के दोषों और उनके परिणामों का भी विचार करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक राज्य पद्धतियों में चार तत्त्व हैं :[2]

(१) जीवन निष्ठा, (२) बहुजन समाज का सहकार,

(३) समर्थों का धुरीणत्व और (४) प्रमाणभूत व्यक्ति।

१ जीवन निष्ठा : हर राज्य-पद्धति में जीवन निष्ठा भिन्न भिन्न रूप में विद्यमान रहती है। इस आधार पर इसे वास्तविक या कम-से-कम दिखावे के लिए, अतिभ या कम-से-कम तात्कालिक और सर्वात्रिक या कम-से-कम स्थानीय में विभाजित किया जा सकता है।[3] यदि जीवन निष्ठा वास्तविक दूरदर्शितापूर्ण

१ भावे, विनोबा, सर्वोदय विचार और स्वराज्य-शास्त्र, पृ० १६०।

२ उपरिवत् पृ० १६८।

३ उपरिवत् पृ० १६८।

और सार्वभौम होती है तो वह राज्य पद्धति स्थायी रहती है। परन्तु स्थानीय जीवन निष्ठा होने पर उसका अन्य स्थानीय जीवन में विरोध हो सकता है। ऐसी विरोधी जीवन निष्ठा नई जीवन-पद्धति का जन्म देकर स्वयं विनष्ट हो जाती है।[१] तात्कालिक या अदूरदर्शी जीवन निष्ठा उछाले हुए गेंद की भाँति क्षीण-वेग होती जाती है जिसमें बार बार गति देने की आवश्यकता पड़ती है।[२] दिखाऊ जीवन निष्ठावाली राज्य पद्धति तभी तक कायम रहती है जबतक जनता पर उस आभास का जादू चलता है।[३] इस प्रकार स्थानीय, तात्कालिक और दिखाऊ जीवन निष्ठावाली राज्य-पद्धति दोषपूर्ण हैं, इनमें हिंसा समाविष्ट है।

२ बहुजन समाज का सहकार बहुजन समाज का सहकार प्राप्त करना सभी राज्य-पद्धतियों की दूसरी विशेषता है। यह सहकार ऐच्छिक, सुचिंतित, मूक या बलपूर्वक परिपूर्ण या पर्याप्त हो सकता है।[४] जनता के ऐच्छिक, सुचिंतित और परिपूर्ण सहयोग पर ही कोई राज्य-पद्धति टिक पाती है। बलपूर्वक लिए गए सहकार की अवधि बहुजन समाज के जाग्रत और समर्थ होने तक है। परन्तु थोड़ा सुख देने पर इसकी अवधि बढ़ सकती है। लेकिन इससे भी इसका सत्ता-काल तब बढ़ जाता है जब जनता में अशिक्षण या कुशिक्षण का बीज बोकर लोक-जागृति को रोक दिया जाता है।[५] असली सुख नहीं भी देने पर यदि गौण सुखों के देने का आभास उत्पन्न किया जाए तो भी कुछ दिनों तक इसकी सत्ता चलती है परन्तु इसका अंत अवश्यंभावी है। जनता के सुचिंतित सहयोग नहीं मिलने पर मूक सहयोग के आधार पर तभी तक टिकती है जबतक जनता में बुद्धि भेद उत्पन्न न हो। अतः कोई भी स्थायी राज्य-पद्धति जनता के ऐच्छिक और ज्ञानपूर्वक दिए गए सहकार पर आश्रित है।[६]

३ समर्थों का धुरीणत्व किसी भी राज्य का सञ्चालन समर्थ व्यक्तियों के द्वारा होता है जो निर्वाचित मनोनीत या स्वतः एकत्रित हो सकते हैं। निर्वाचित व्यक्तियों का टिकना उसकी सुराज्य शक्ति पर निर्भर है। नियुक्त या मनोनीत व्यक्ति तभी तक कायम रहते हैं जब तक जनता समर्थ नहीं होती या

---

१ उपरिवत्, पृ० १६५।
२ उपरिवत्, पृ० १६६।
३ उपरिवत्, पृ० १६५।
४ उपरिवत्, पृ० १६४।
५ उपरिवत्, पृ० १६५।
६ उपरिवत्, पृ० १६५।

उनमे आपसी फूट नही आ जाती ।[1] स्वत इकटठे होनेवाले समर्थों की अवधि अधिक दिनो तक अवश्य होती है परतु उनम आपसी द्वेष के कारण जनता के सहयोग बिना अधिक दिनो तक एकता बनी नही रह सकती है ।[2]

४ **प्रमाण भूत व्यक्ति** यदि किसी राज्य पद्धति मे अतिम प्रमाण किसी एक व्यक्ति को मान लिया जाए तो उसका चुनाव सर्वमत, बहुमत या अल्प-सख्यको के द्वारा हो सकता है या वह स्वयभू हो सकता है ।[3] स्वयभू होने पर वह राज्य-पद्धति उस व्यक्ति के पराक्रम और प्रभाव तक ही टिक पाती है, उसके पराक्रम समाप्त हो जाने के बाद वह समाप्त हो जाती है । निर्वाचित व्यक्ति का टिकना चुनाव-पद्धति की व्यापकता, उन्मुक्तता और सुव्यवस्थितता पर निर्भर है । यदि निर्वाचन पद्धति व्यापक और खुली है तो वह अधिक दिनो तक चलेगी, यदि सकीर्ण और अव्यवस्थित है तो कम ही दिनो मे समाप्त हो जाएगी ।[4]

ऊपर के तत्त्वो के अतिरिक्त एक दूसरा बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—सार्व राष्ट्रिय-अविरोध ।[5] विज्ञान के युग म वही राज्य अधिक दिनो तक टिक सकता है जो अन्य राज्यो के साथ भ्रातृत्व भाव रखता है अन्यथा विज्ञान की उपलब्धियो म आपसी विरोध के मिलने पर सहार के सिवा कुछ भी नही शेष बचता है ।

ऊपर के विवेचन म यह स्पष्ट होता है कि गाधी की अन्य राज्य-पद्धतियो की आलोचना वर्णनात्मक ढग की थी । ऐसा लगता है कि उसम थोडा आक्रोश भी है । समग्र रूप मे प्रचलित पद्धतियो के दोषो का शास्त्रीय विवेचन नही हो पाया है । फिर यदि कुछ दोषो की ओर इशारा भी किया गया है तो वे विशिष्ट ढग के ही आक्षेप है, सामान्य सिद्धात के रूप म उन्हे नही लिया गया है । विनोबा की आलोचना सुचिंतित और सुव्यवस्थित है । वे विशिष्ट दोषो के अतिरिक्त सामान्य ढग से भी राज्य-पद्धतियो के दोषो की चर्चा करते हैं, तथा उनके स्थायी होने के लिए आवश्यक शर्तों को प्रस्तुत करते है । शायद विनोबा को छोडकर इस प्रकार का प्रयास बहुत ही कम लोगो ने किया है । लगता

---

१ उपरिवत्, पृ० १६५ ।
२ उपरिवत्, पृ० १६५ ।
३ उपरिवत्, पृ० १६४ ।
४ उपरिवत्, पृ० १६६ ।
५ उपरिवत्, पृ० १६७ ।

है यहाँ पर विनोबा ने गांधी के विचारों को चिंतन के आधार पर शास्त्र में बाँधने का प्रयास किया है और तार्किक युक्तियों के द्वारा उन्हें सबल बनाया है।

(ग) राज्य और उसकी सार्वभौमता

गांधी विचार   कोई भी राज्य पद्धति क्या न हो उसमें किसी न किसी रूप में सार्वभौमता होती है। सार्वभौमता के संबंध में कई प्रकार के प्रचलित सिद्धांत हैं। अद्वैतवादी सिद्धांत जिसके समर्थक हूगो, आस्टिन तथा हाब्स हैं, राज्य को निरपेक्ष रूप में सार्वभौमता प्रदान करता है चाहे इसका दैवी आधार हो या कानूनी। दूसरी ओर बहुलवादी सिद्धांत है जिसके समर्थक लास्की कहे जा सकते हैं। इसके अनुसार सम्प्रभुता केवल राज्य में ही नहीं अन्य संस्थाओं तथा व्यक्ति की अंतरात्मा में भी निहित है। रूसो के अनुसार प्रभुत्वशक्ति सामूहिक इच्छाओं (General will) में अभिव्यक्त होती है। अराजकतावादी राज्य को समाप्त कर स्वच्छंद जीवन की कल्पना करते हैं। गांधी न तो राज्य को ईश्वर या कानून के आधार पर निरपेक्ष सम्प्रभुता प्रदान करते हैं और न अराजकतावादियों की भांति राज्य की सम्पूर्ण सत्ता ही समाप्त करना चाहते हैं। ये वस्तुतः समन्वयवादी विचार रखते हैं, जो पश्चिमी राजनीतिक बहुलवाद के समीप है, जिसका समर्थन इंगलैंड में डा० जे० एन० फिगिस, ए० डी० लिंडसे तथा हेरोल्ड जे० लास्की, फ्रांस में लियोन डिग्विट तथा क्राबे करते हैं।[1] इनके विचार को रूसो के "सामान्य इच्छा" के सिद्धांत से भी भिन्न माना जा सकता है क्योंकि इनके अनुसार प्रभुत्व शक्ति मात्र जनता की इच्छाओं पर ही नहीं, उसकी नैतिक शक्ति पर आश्रित है। गांधी राज्य को निरपेक्ष सार्वभौमता नहीं देते हैं—इसके तीन कारण हो सकते हैं।[2] एक तो यह कि तत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से गाँधी क्षणभंगुर वस्तुओं की अपेक्षा आध्यात्मिक वस्तुओं की प्रामाणिकता को अधिक स्वीकार करते हैं। राजकीय सत्ता निश्चय ही क्षणभंगुर सत्ता है। अतः इसे सार्वभौमता नहीं प्रदान कर आध्यात्मिकता को सार्वभौमता प्रदान करते हैं। दूसरी बात यह कि गाँधी राज्य की संगठित शक्ति की तुलना में व्यक्ति की नैतिक अंतरात्मा की प्रधानता स्वीकार करते हैं। अतः यदि

1 Suda, J P, *A History of Political Thought*, (Meerut City, Jai Prakash Nath & Co Educational Publishers, 1968 4th Edn) Vol IV, p 278

2 Bhattacharya, Buddhdeo *Evolution of the Political Philosophy*, of Gandhi (Calcutta, Calcutta Book House, 1969), p 357

राज्य का आदेश व्यक्ति की नैतिक आवाज के विरुद्ध हो तो उसे तोड़ने का व्यक्ति को पूरा अधिकार प्राप्त है। तीसरी बात यह कि गाधी कानूनी सार्वभौमता के सगठित शक्ति प्रणाली के विरुद्ध नैतिकता पर आधारित जनता की सप्रभुता को स्वीकार करते है।

वस्तुत पूर्ण सप्रभुता का अधिष्ठान उसी वस्तु म किया जा सकता है जो अपने आप म साध्य हो। परतु गांधी के लिए 'राजनैतिक सत्ता साध्य नहीं है। यह जीवन के प्रत्येक विभाग मे लोगो के लिए अपनी हालत सुधार सकन का एक साधन है। राजनैतिक-सत्ता का अर्थ है राष्ट्रिय प्रतिनिधियो द्वारा राष्ट्रिय जीवन का नियमन करने की शक्ति। यदि राष्ट्रिय जीवन इतना पूर्ण हो जाय कि वह स्वय आत्म नियमन कर ले तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नही रह जाती। उस समय ज्ञान-पूर्ण अराजकता की स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति मे हर एक अपना राजा होता है। वह उस ढग म अपने पर शासन करता है कि अपने पडोसियो के लिए कभी बाधक नही बनता। इसलिए आदर्श अवस्था म कोई राजनीतिक सत्ता नहा होती, क्योकि कोई राज्य नहीं होता।'[1] अर्थात् गाधी का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति म सार्वभौमता अर्पित करना है क्योकि सभी व्यक्तियो का कल्याण और उदय ही तो चरम लक्ष्य है।

परतु यह आदर्श अवस्था प्राप्त नही भी हो तो भी राज्य को पूर्ण शक्ति देना उचित नही है क्योकि वह हिंसा का अवतार है। गाधी कहते है—"मैं राज्य की शक्ति-वृद्धि को सबसे बडे भय से देखता हूँ क्योकि प्रातिभासिक रूप से यह शोषण कम करते हुए मालूम पड़ता है, परतु यह व्यक्तित्व का समाप्त कर मानवता का सबसे बडा अहित करता है। राज्य हिंसा का केंद्रित और सगठित रूप ही है। व्यक्ति म आत्मा होता है परतु चू कि राज्य एक जड यत्र मात्र है, इसलिए उसे हिंसा मे कभी नही छुड़ाया जा सकता है क्योकि हिंसा स ही तो इसका जन्म होता है।'[2] हिंसक सस्था के हाथो गाधी सार्वभौमता नही सौपना चाहते। यद्यपि हिंसा तो व्यक्ति के द्वारा भी होती है परतु राज्य की सगठित हिंसा म वह कम है। इसलिए गाधी कहते हैं— व्यक्तिगत तौर पर तो मैं चाहूँगा कि राज्य के हाथो म शक्ति का अधिक केद्रीकरण न हो, उसके बजाय ट्रस्टीशिप की भावना का विस्तार हो क्योकि मेरी राय म राज्य की हिंसा को

1 *Young India* 2 7 '31 p 162

2 Bose, N K, *Studies In Gandhism* (Calcutta, Indian Associated Publishing Co Ltd, 1947, 2nd End), p 67-68

तुलना म वैयक्तिक मालिकी की हिंसा कम हानिकारक है। लेकिन यदि राज्य की मालिकी अनिवाय ही हो तो मैं भरसक कम-से-कम राज्य की मालिकी की सिफारिश करूँगा।'[१] इस प्रकार गांधी राज्य को पूर्ण सार्वभौमता का निषेध करते हैं। परतु जब तक उसकी आवश्यकता है, सीमित मात्रा मे उसम शक्ति देना चाहते हैं।

विनोबा की देन गांधी के इस विचार का विनोबा खुले मन स समर्थन करते हैं और व्यावहारिक रूप स सप्रभुता का वितरण जन-जीवन मे हो इसके लिए प्रयास करते है। 'लोकशक्ति' की धारणा का उदय इसी क्रम म होता है। विनोबा 'राज्य शक्ति' और 'राज्य-सत्ता' के स्थान पर 'लोक शक्ति' और 'लोक सत्ता' चलाना चाहत हैं। फिर राज्य की सार्वभौमता का सवाल ही नहीं उठता। गांधी तो राजनीति के शुद्धिकरण की भी बात करते थे परतु विनोबा पूर्ण राजनीति को ही चाहे अच्छी हो या बुरी, समाप्त करना चाहते हैं, इस हम आग लोकनीति के सदर्भ म देखेंगे। व राज्य के स्थान पर स्वराज्य की स्थापना करना चाहत हैं।[२] शास्त्रो की 'राज्यान्ते नरकप्राप्ति' और 'न त्वह् कामय राज्यम' उक्तियो म उन्हे दृढ विश्वास है।[३] वे राजनीति को समाप्त करना चाहत हैं जिसकी बुनियाद हिंसा है तथा जिसम दण्डीय और सत्ता की राजनीति को सुरक्षित रखने के लिए सना, दडनीति और कर का विधान किया जाता है।[४] वे शासन के स्थान पर आत्म शासन चाहत हैं जो *स्वराज्य की अवस्था है जिसम न किसी की सत्ता हम पर चलती है और न हम किसी पर अपनी सत्ता चलाते हैं।*[५] परतु जब तक राज्य की आवश्यकता है तब तक भी भौतिक शक्तियो की सत्ता समाज और गांव को देना चाहत हैं। राज्य और उसम भी बनी केंद्रीय सत्ताओ के ऊपर नैतिक सार्वभौमता प्रदान करना चाहत हैं।[६] यह विनोबा का नवीन विचार है। इसे हम अहिंसक राज्य के सदर्भ म देखेंगे।

---

१ उपरिवत्, पृ० ६८।
२ भावे, विनोबा, लोकनीति, पृ० ८।
३ उपरिवत् पृ० ८
४ उपरिवत, पृ० ५ प्राक्कथन।
४ उपरिवत्, पृ० ८९।
५ भावे, विनोबा, सर्वोदय विचार और स्वराज्य-शास्त्र, पृ० १७९।

(घ) अहिंसक राज्य

१ **गांधी-विचार** गांधी के अनुसार आदर्श या अहिंसक समाज जिसे राज्य-मुक्त समाज कह सकते हैं—प्राप्त करना मानव सभ्यता और संस्कृति का आदर्श है। परंतु "जीवन मे आदर्श की पूरी सिद्धि कभी नहीं होती"[१] है। दूसरी ओर वर्तमान राज्य-व्यवस्था, यहाँ तक कि प्रजातंत्र भी दोषपूर्ण है और हिंसा पर आधारित है। अत कोई नया मार्ग ढूँढना ही होगा। गांधी आदर्श समाज तक पहुचने के लिए "अहिंसक-प्रजातंत्र" की पद्धति को तबतक के लिए उपयुक्त मानते है। यही बीच का रास्ता है। अत हमे यह देखना है कि अहिंसक प्रजातंत्र जो वास्तव में सर्वायतन हो, उसका क्या स्वरूप, संगठन और कार्य होगा ?

(क) **अहिंसक राज्य का स्वरूप** अहिंसक राज्य अहिंसा और प्रजातांत्रिक राज्य-पद्धति का संगठन है। गांधी की राय मे हिंसा और प्रजातंत्र—दोनो एक साथ नहीं रह सकते। असत्य और हिंसा के द्वारा न तो स्वराज्य की स्थापना की जा सकती है और न सच्चे प्रजातंत्र की, क्योंकि हिंसा के द्वारा विरोधियो का दमन होता है या उन्हे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपमान है। यदि व्यक्ति की स्वतंत्रता प्रजातंत्र का सार है तो इसकी सुरक्षा और पूर्ण विकास अहिंसा मे ही संभव है।[२] अहिंसा के विज्ञापन[३] के आधार पर ही वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना की जा सकती है। अतएव गांधी तथाकथित प्रजातंत्रवादियो को ललकारते है कि या तो उन्हे स्पष्ट रूप से अपने को सर्वाधिकारी घोषित कर देना चाहिए या सही अर्थ मे प्रजातंत्र को स्वीकार करना चाहिए जिसके लिए उन्हे साहसपूर्वक अहिंसक बनना पड़ेगा।[४] यह कहना कि अहिंसा का प्रयोग केवल व्यक्ति ही कर सकता है, राज्य नहीं—ईश्वर का अपमान करना है।[५]

---

१ यंग-इंडिया, २ ७ ३१, पृ० १६२।

२ हरिजन, २५-५-३९, पृ० १४३।

३ यंग-इंडिया, ३० ६-२०, पृ० ३।

४ हरिजन, १२-११-३८, पृ० ३२८।

५ यंग इंडिया, ३० ७ ३१, पृ० १९९।

सच्चे प्रजातंत्र या अहिंसक राज्य में पूर्वाग्रह, अज्ञान और अंध-विश्वासों के लिए कोई स्थान नहीं है। यह पूर्णतः ज्ञान और अनुशासन पर आधारित है।[1] इसकी अपनी विशेषता है कि यह सत्ता के अपहरण किए बिना ही राज्य-शक्ति को सफलतापूर्वक नियंत्रित और निर्देशित करता है।[2] इसके अंतर्गत सबल और दुर्बल—सबको विकास का समान सुअवसर मिलता है।[3] हर स्त्री-पुरुष अपने बारे में स्वयं चिंता करते हैं।[4] इसमें भौतिक, आर्थिक, आध्यात्मिक विभिन्न प्रकार के साधनों का उपयोग सभी के सामान्य सुख के लिए होता है।[5] सहिष्णुता और धर्म निरपेक्षता[6] इसके आवश्यक गुण हैं। इसमें विचार का शासन चलता है। परंतु सभी के विचार और सत्य समान नहीं होते। अतः इसके आधार पर न तो शत्रुता की जा सकती है और न अपने विचारों को ही दूसरों पर लादा जा सकता है। अतः सभी को विचार की सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त होती है।

अहिंसक-राज्य के लिए केवल बहुमत का निर्णय ही पर्याप्त नहीं है, इसमें अल्पमत की उपेक्षा के लिए कहीं भी स्थान नहीं है। महत्त्वपूर्ण मामलों में अल्पमत के निर्णय को बहुमत द्वारा ठुकराया नहीं जा सकता क्योंकि अंतरात्मा की आवाज के स्थान पर बहुमत के नियम का कोई मूल्य ही नहीं है।[7] बहुमत की व्याख्या कभी-कभी व्यावहारिक क्षेत्र में संकीर्ण ढंग से की जाती है, अतएव हर व्यवस्था में इसके आधार पर काम करना उचित नहीं। गाँधी कहते हैं : "प्रजातंत्र राज्य वैसा राज्य नहीं है जिसमें जनता भेड़ की तरह कार्य करती है। प्रजातंत्र में विचार और कार्य की स्वतंत्रता को उत्साहपूर्वक सुरक्षित रखा जाता है। अतः मैं विश्वास करता हूँ कि अल्पमत को बहुमत से भिन्न

1 Pyarelal, *Towards New Horizons*, (Ahmedabad; Navajivan Publishing House, 1959) 1 p 91-92,

2 Tendulkar, D G, *Mahatma Life of Mohandas Karamchand Gandhi*, (8 Vols), Vol V, p 343

3 *Harijan*, 14 7 46, p 220

4 *Harijan*, 27 5, 37, p 143

5 *Young-India*, 23 9 '26, p 334

6 *Harijan*, 22 9 '46, p 32

7. *Young India*, Part-I, p 860

कार्य करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।[1] वास्तविक प्रजातन्त्र मे अल्पमत के उत्तम विचारो का बहुमत से अधिक मूल्य है। यदि एक ही व्यक्ति का उत्तम विचार हो तो अनेक को तुलना मे उसका विशेष वजन है।[2] वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि, एकश्चन्द्रोतमो हन्ति न च तारागणापि च —इस संबंध मे प्रसिद्ध है ही। अत बहुमत का यह अर्थ नहीं है कि वह अल्पमत के सुंदर विचार का दमन कर दे। वस्तुत गाधी का यह विचार उनके ज्ञान सिद्धान्त पर आधारित है। जैसा हम पहले देख चुके है कि वे शब्द प्रमाण से अधिक विवेक को स्थान देते हैं। परन्तु अल्पमत और बहुमत मे मतभेद हो ही जाय तो इसको दूर करने के लिए गाँधी विचार-परिवर्तन और आत्मपीडन को आवश्यक मानते है।

जैसा पहले भी कहा गया है कि गाधी के अनुसार राज्य एक साधन है। अत अहिंसक राज्य का लक्ष्य सब को अधिकतम सुख प्रदान करना है। इसमे व्यक्ति के विकास के लिए अधिक से अधिक सुअवसर प्रदान किया जाता है। राज्य कम-से-कम शक्ति और दबाव का प्रयोग करता है। इस संबंध मे गाँधी थूरो की इस नीति मे सहमत है कि वह सरकार सर्वोत्तम है जो कम से-कम शासन करती है। अहिंसक राज्य मे व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए अधिक सुअवसर मिलता है। नैतिकता के विकास के साथ-साथ राज्य अपना कार्य कम करते जाता है। इसके कार्य धीरे धीरे स्वाधीन संस्थाओ के द्वारा होने लगते है। राज्य शक्ति विकेंद्रित हो जाती है अत मे अराजकता की स्थिति आ जाती है।[3] परन्तु जबतक राज्य की आवश्यकता रहती है, इसका कार्य कम से-कम दबाव का प्रयोग कर सेवा करना रहता है।

अहिंसक राज्य मे व्यक्ति के अधिकारो का सृजन राज्य या किसी अन्य संस्था के द्वारा नही होता है वह स्वयं सत्य अहिंसा की खोज के आधार पर अधिकारो के लायक बनता है। राज्य केवल उसके अधिकारो को मान्यता

१ यंग इण्डिया, भाग १ पृ० ८६४-६५।

२ गाँधी जी का २८-९ ४४ का वक्तव्य गोपीनाथ, धावन की पुस्तक **सर्वोदय** *तत्त्व दर्शन (अहमदाबाद, नवजीवन मंदिर, १९६३, द्वितीय संस्करण)* के पृ० ३३१ से उद्धृत।

3 Dhawan, G N, *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi* p 302

देती है।[१] अतः राज्य जितना ही अधिक अहिंसक होता है व्यक्ति उतना ही अधिक अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। गांधी अधिकार से अधिक कर्तव्य को महत्त्व देते हैं। क्योंकि उनके अनुसार अधिकार का अर्थ है आत्मानुभव का सुअवसर प्राप्त करना जो दूसरे के साथ आध्यात्मिक एकता स्थापित कर लेना और कर्तव्य करने से प्राप्त होता है।[२] इसीलिए वे कहते हैं—"कर्तव्य करने का ही एकमात्र अधिकार है जिसके लिए व्यक्ति जी या मर सकता है।"[३] यदि राज्य के द्वारा अधिकार प्रदान कर भी दिया जाय परन्तु व्यक्ति उसके लायक नहीं है तो न तो वह उस अधिकार को कायम रख सकता है और न उसके सुन्दर परिणामों का ही उपभोग कर सकता है। परन्तु लायक बनने पर अधिकार स्वयं आ जाता है। अतः गांधी की राय में आत्मानुभव करना अथवा अहिंसक मूल्यों का आचरण करना और अपनी सरकार बनाना व्यक्ति का सबसे बड़ा कर्तव्य है।[४] अहिंसक राज्य में कर्तव्य के आधार पर मिलनेवाले अधिकारों का उपयोग समाज सेवा के लिए होता है।[५] अतः न तो कोई अपने अधिकारों के आधार पर किसी का शोषण करता है और न अपने अधिकारों को खोता है। आवश्यकता पड़ने पर उसकी सुरक्षा के लिए आत्मपीड़न और असहयोग का सहारा लेता है।[६]

अहिंसक राज्य में शांति सुरक्षा के लिए पुलिस, सेना, जेल और न्यायालय का प्रबन्ध रहेगा, परन्तु उसका रूप बदल जायगा। पुलिस का संगठन अहिंसक स्वयं-सेवकों के द्वारा होगा जो अपने को जन-सेवक समझेंगे। जनता से उन्हें स्वाभाविक रूप से सहयोग मिलेगा। यद्यपि उनके पास अस्त्र रहेंगे परन्तु इनका प्रयोग वे बहुत कम करेंगे। इनका मुख्य कार्य डकैतों और लुटेरों से रक्षा करना होगा।[७] अहिंसक राज्य में अपराध होंगे परन्तु उन्हें अपराधी न समझ कर रोगी के समान व्यवहार किया जायगा।[८] चूंकि दोषपूर्ण समाज-पद्धति के कारण ही

१ उपरिवत्, पृ० ३२१।

२ उपरिवत्, पृ० ३२२।

३ हरिजन, २७-५-३९ पृ० १४३।

4 Dhawan G N, *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi*, p 334

5 *Harijan*, 25 3 '39, p 64

6 *Young India*, 26 3 '37 p 49

७ हरिजन, १-९-४० पृ० २६५।

८ हरिजन, ५-५-४६ पृ० १२४।

अपराध होते है अत हत्यारे को भी रोगी ही समझा जायगा। जेल एक रोगी अपराधियों के लिए आरोग्य केन्द्र होगा जहाँ उनका मानसिक उपचार होगा जिसमे भव्य भवन की जरूरत नहीं होगी जेल पदाधिकारी डाक्टर की भाँति व्यवहार करेंगे जिनमे अपराधी उन्हें अपना मित्र मानेंगे।[१] इस प्रकार जेल मे अपराधियो को मानव बनाने का प्रयत्न किया जायगा। गाँधी यह स्वीकार करते है कि ऐसी व्यवस्था हो सकेगी या नहीं कहना मुश्किल है परन्तु अहिंसक राज्य का सच्चा स्वरूप यही है। इसी प्रकार न्याय के लिए अदालतो के स्थान पर गाँधी ग्राम पचायत का स्थान देते है जहाँ पर सभी झगडो का अत कर दिया जायगा।

गाँधी के अनुसार अहिंसक राज्य मे सेना की आवश्यकता नहीं होगी। १९४६ मे उन्होने कहा— सच्चे जनतन्त्र को किसी भी प्रयोजन के लिए सेना पर आश्रित नहीं रहना चाहिए। सैनिक सहायता पर निर्भर रहनेवाला राज्य नाम मात्र का जनतन्त्र हो जायगा। सैनिक शक्ति मस्तिष्क के स्वतन्त्र विकास मे बाधा डालती है। वह मनुष्य के आत्मा का विनाश करती है।[२] अत विदेशी आक्रमण मे सुरक्षा के लिए भी सेना के प्रयोग की वे अनुमति नहीं देते हैं प्रति रक्षा की समस्या का हल वे विकेन्द्रित व्यवस्था के द्वारा करते है। उनके अनुसार प्रत्येक नागरिक और गाँव मे इतनी क्षमता होनी चाहिए जो विश्व के विरुद्ध अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा कर सके।[३] फिर भी यदि सेना रखने की आवश्यकता हुई तो वे अहिंसक सेना की अनुमति प्रदान करते है।[४]

(ख) अहिंसक राज्य का सगठन गाँधी के अनुसार अहिंसक राज्य का सगठन विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त के आधार पर होगा। विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त राजनैतिक शक्ति और आर्थिक उत्पादन—दोनो क्षेत्रो मे लागू होगा। गाँधी का यह विश्वास है कि केन्द्रित राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था ही शोषण का मूल कारण है जिसमे जनता को अपनी सम्पूर्ण सभावनाओ को विकसित करने का सुअवसर नहीं मिलता। अत सत्ता का केन्द्रीकरण हिंसा है।[५] 'केन्द्रित व्यवस्था

१ हरिजन २ ११ ४७, पृ० ३९५ ९६।

२ हरिजन, १ ६ ४६, पृ० १६९।

3 *Harijan*, 4 8 '46, p 252

4 *Harijan*, 12 5 '46 p 128

5 Centralization as a System is inconsistent with non violent structure of society '—*Harijan* 18 1 '42, p 5

ही अहिंसक है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति गाँव और संस्थाओं को पूर्णरूपेण भौतिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास का सुअवसर मिलता है। इस प्रकार की व्यवस्था में हर व्यक्ति राज्य के कार्य में अपना हाथ बँटाता है, उसके ऊपर कोई कानून या प्रशासन लादा नहीं जाता। इसके लिए प्रत्येक गाँव को राजनैतिक इकाई माना जाता है जिसमें नागरिक जीवन की संपूर्ण व्यवस्थाओं का विधान किया जाता है। गांधी कहते हैं—"शक्ति का केंद्र अभी नई दिल्ली या कलकत्ता या बंबई जैसे बड़े शहरों में है। मैं इसे सात लाख गाँवों में बाँट दिया होता।"[1] विकेंद्रित व्यवस्था में प्रशासनतंत्र सरल होते हैं जिसमें कार्य जल्द होता है और व्यक्ति को न्याय मिल पाता है।

अतः गांधी के अनुसार अहिंसक राज्य का संगठन लगभग स्वावलंबी, स्वशासित और सत्याग्रही गाँवों के आधार पर होगा। राज्य इन गाँवों का संघ होगा। संघ और समुदायों का संगठन स्वेच्छा से होगा जिसमें सहयोग, सम्मान और शांति के जीवन होंगे। प्रत्येक गाँव पूरे अधिकारों से संपन्न एक जनतंत्र या पंचायत होगा। वह अपने संपूर्ण मामलों की देखभाल स्वयं करेगा। वह इतना शक्तिशाली होगा कि सत्याग्रह के द्वारा संपूर्ण विश्व से भी सुरक्षा कर सकेगा। ऐसे गाँव में प्रत्येक नागरिक ग्राम-सम्मान के लिए मरने तक के लिए तैयार होगा।

अहिंसक राज्य की रचना स्तंभ रूपी रचना नहीं होगी, जिसमें शोषण के लिए आधार की जरूरत होगी और शक्ति कुछ ही लोगों के हाथों होगी। वस्तुतः यह रचना क्षैतिज होगी जिसमें कोई भी एक दूसरे पर आश्रित नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति और गाँव अपने मामलों में पूर्ण स्वतंत्र होगा। परंतु अन्य ग्राम समुदायों, संघों और राज्य के साथ उसका संबंध, सहयोग, सेवा और प्रेम पर आश्रित होगा। अतः गांधी ने कहा—"असंख्य गाँवों से निर्मित इस प्रकार की रचना में सदैव फैलाव होता रहेगा परंतु कभी भी आरोहण के वृत्त नहीं बनेंगे। जीवन ऐसे पिरामिड की भाँति नहीं होगा जिसमें शिखर तल पर आधारित हो। लेकिन यह एक सागरीय वृत्त होगा जिसका केंद्र व्यक्ति होगा जो अपने गाँव के लिए मरने के लिए सदैव तत्पर होगा और यह गाँव ग्राम समुदायों के वृत्त में अपने को विलीन कर देगा, तबतक जबतक अंत में संपूर्ण एक ऐसा जीवन नहीं बन जाता जिसमें व्यक्ति कभी अहंकार में चूर नहीं होंगे, हमेशा विनम्र होंगे तथा सागरीय वृत्तों का प्रसाद प्राप्त करते रहते हैं

---

1 Pyarelal *Mahatma Gandhi—The last Phase*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1958), Vol 2 p 614

जो उनका अभिन्न अंग हैं"।[1] इस प्रकार की रचना में बाहरी वृत्त अर्थात् बाहरी सत्ता आन्तरिक वृत्त या सत्ताओं का दमन नहीं करेंगे। बल्कि उन्हें शक्ति प्रदान करेंगे साथ-ही साथ स्वयं उनसे शक्ति प्राप्त करेंगे।[2] इस प्रकार गांवों में राज्य की शक्ति मिलेगी और राज्य में गांवों को। गाँधी इस प्रकार के संगठन को यूटोपिया नहीं मानते। यह ठीक है कि इसका पूरा अनुभव नहीं हो सकता परन्तु जब हम समाज संगठन करना चाहते हों, तो उसका एक खाका दिमाग में होना चाहिए। गाँधी ने कहा —"यदि प्रत्येक गांवों का जनतन्त्र भारत में कभी होता है तो मैं विविध प्रकार के चित्रों का दावा कर सकता हूँ जिसमें अंतिम चित्र प्रथम के बराबर होगा या दूसरे शब्दों में न तो कोई प्रथम होगा और न कोई अंतिम"।[3] गांधी की इस युक्ति से स्पष्ट है कि राज्य के अन्तर्गत अनेक प्रकार के स्वाधीन संगठन होंगे परन्तु उनमें से कोई बड़ा या छोटा कहलाने लायक नहीं रहेंगे। सभी बराबर होंगे। व्यक्ति और व्यक्ति का, गांव और गाँव का, तथा सभी संस्थाओं का आपस में समानता का संबंध रहेगा। वे एक दूसरे से स्वतन्त्र रहेंगे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे अपने पड़ोसियों से या विश्व से सहायता नहीं ले सकते। इसका इतना ही अर्थ है कि वे सहायता स्वतन्त्रतापूर्वक और स्वेच्छा से लेंगे, दबाव या लाचारी से नहीं।[4]

गाँधी की इस प्रकार की विकेंद्रित राज्य-व्यवस्था का समर्थन पश्चिम के राजनीतिक बहुत्ववादियों के द्वारा भी मिलता है। सी० ई० एम० जोड, जुल्यिन हक्सले, हेरोल्ड लास्की और कोल जैसे आधुनिक राजनीतिक-चिंतकों ने भी स्वाधीन संस्थाओं की स्वायत्तता और व्यक्ति के नैतिक पक्ष पर बल दिया है। राज्य की केंद्रित शक्ति का इन विचारकों ने जोरदार विरोध किया है। लास्की के अनुसार राज्य का स्वरूप समष्टि का नहीं व्यष्टि का है जिसमें छोटी-छोटी संस्थाएँ अन्य संस्थाओं के समकक्ष होती है, उपजाति या आश्रित नहीं। राज्य की सभी संस्थाएँ उसकी इकाइयाँ है जो राज्य से किसी भी अर्थ में सार रूप में भिन्न नहीं हैं।[5] अतः राज्य मनुष्य की अनेक संस्थाओं में एक

१ हरिजन, २८-७-४६, पृ० २३६।

२ उपरिवत्, पृ० २३६।

३ उपरिवत् पृ० २३६।

4 "It will be free and voluntary play of mutual forces" —*Harijan*, 28 7 '46, p 236

5 Suda, J P, *A History of Political Thought*, Vol. IV, p 293

सकता है। अत इसमे निरपेक्ष शक्ति का कोई प्रश्न नहीं है। गाधी का विचार बहुत दूर तक इसमें मिलता है।

(ग) अहिंसक राज्य के कार्य पहले कहा जा चुका है कि राज्य नागरिकों को अधिकतम हित प्रदान करने का साधन होगा। अत अहिंसक राज्य के मुख्य रूप मे दो प्रकार के कार्य होगे। एक तो यह कि यह सभी नागरिको के सर्वांगीण विकास के लिए अवसर प्रदान करेगा। दूसरा व्यावहारिक रूप से यह वैसे कार्यों को करेगा जो छोटी छोटी संस्थाओ के द्वारा सभव नहीं है परन्तु जिनका होना जनहित के लिए आवश्यक है। यदि किसी एक भारी उद्योग की आवश्यकता हुई जिसे व्यक्ति ट्रस्टीशिप की भावना से सचालित नहीं कर सका तो राज्य उसे अपने हाथो ले लेगा। इस प्रकार राज्य का काम आर्थिक विषमता को कम करना होगा। इसके लिए वह कानून बना सकता है परन्तु कम-से-कम हिंसा और दवाव का प्रयोग करेगा। इसी प्रकार जन कल्याण के लिए वह जगल, खनिज, शक्ति और यातायात के साधनों का नियन्त्रण अपने हाथ ले लेगा। आर्थिक आत्म-निर्भरता लाने के लिए यह लघु उद्योगों को प्रोत्साहन देगा। परन्तु ये सारे काम राज्य के द्वारा सेवा की भावना से सपन्न होंगे, शासन की भावना से नहीं। जैसे-जैसे व्यक्ति का नैतिक विकास होता जाएगा, आत्म-शक्ति जगती जायगी, राज्य अपने कार्यों को कम करता जायगा।

२ विनोबा की देन विनोबा ने गाधी के अहिंसक प्रजातन्त्र और पाश्चात्य राज्य-पद्धतियो की त्रुटियो के आधार पर आदर्श और निर्दोष राज्य-पद्धतियो के लिए व्यवस्थित ढग से सैद्धान्तिक रूप मे कुछ अनिवार्य विशेषताओ का उल्लेख किया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि गाधी का विचार अहिंसक-राज्य के सबध मे मत और इच्छा के रूप मे प्रकट हुआ था। विनोबा ने उनकी भावनाओ और मतो को अपनी पुस्तक "स्वराज्यशास्त्र" मे सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया है। फिर उनके "ग्राम-जनतन्त्र', और "लोक-सेवक सघ के विचार के आधार पर इन्होने "लोकशक्ति", "लोकनीति' इत्यादि अहिंसक राज्य के सगठन को साकार बनाने के लिए तथा वास्तव मे ग्राम-स्वराज्य और पचायती राज्य की स्थापना करने के लिए ग्रामदान, प्रखडदान, जिलादान, राज्यदान आदि धारणाओं का विकास किया है तथा इनके लिए व्यापक रूप से आदोलन चलाया है जिसे सर्वोदय आदोलन कहते हैं।

आदर्श राज्य पद्धति के लिए उन्होंने दस विशेषताओं का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं[1] —

१ सार्वराष्ट्रिय भ्रातृभाव अर्थात् प्रत्येक राज्य अन्य राज्यों के साथ भाईचारा का सबंध रखेगा अतः उनके बीच पारस्परिक प्रेम होगा, आक्रमण या दमन की नीति नहीं होगी।

२ राष्ट्र के सभी लोगों का ज्ञानपूर्वक यथाशक्ति परन्तु सहजस्फूर्त हार्दिक सहकार अर्थात् अहिंसक राज्य में समस्त जनता का सहयोग होगा परन्तु इसका आधार न तो बाहरी दबाव होगा और न अज्ञानता होगी। ऐसे राज्य में जनता सोच-समझ कर अपनी शक्ति के अनुकूल हृदय से स्वाभाविक रूप में राज्य का सहयोग करेगी।

३ समर्थ अल्पसंख्यकों और सर्वसाधारण बहुसंख्यकों का हितैक्य अर्थात् समर्थ व्यक्ति जैसे धनवान, शक्तिमान और बुद्धिमान चाहे वे आम जनता के रूप में हों या राज्य पद पर हों, असमर्थों के हितों में ही अपना हित देखेंगे। अतः दोनों के हित में किसी प्रकार का विरोध नहीं होगा। अर्थात् राज्य के प्रतिनिधि और आम नागरिकों का हित समान होगा।

४ सभी के सर्वांगीण और समान विकास की दृष्टि अर्थात् राज्य सभी व्यक्ति के आर्थिक सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक विकास के लिए समान रूप से प्रयत्न करेगा। सभी के समान रूप से विकास का अर्थ गणितिक समानता नहीं है। आवश्यकता के अनुसार ही समानता का भाव रखा जाएगा जिसमें व्यक्ति के संस्कार पर भी विचार किया जायगा। इसका विशद उल्लेख पहले नीति संबंधी विचार में किया जा चुका है।

५ राज्य-सत्ता का व्यापकतम विभाजन अर्थात् विकेंद्रित राज्य व्यवस्था होगी जिसमें अधिकतम व्यक्ति राज्य-व्यवस्था में भाग लेंगे और राजनैतिक शक्ति का उपयोग करेंगे। केंद्रित व्यवस्था की भांति राज्य शक्ति कुछ ही लोगों के हाथों नहीं होगी।

६ अल्पतम शासन अर्थात् सरकार की ओर से कम-से-कम शासन या आदेश या दबाव होगा। कम-से कम हिंसक साधन अपनाए जाएँगे। अनुशासन की मात्रा अधिक होगी। राज्य का कार्यक्षेत्र कम-से-कम होगा। अधिकतम कार्य नागरिकों के द्वारा स्वयं कर लिये जाएँगे।

---

१ भावे, विनोबा, सर्वोदय-विचार और स्वराज्य शास्त्र, पृ० १६६।

७ **सुलभतम तंत्र** अर्थात् प्रशासनिक संस्थाओं की रचना इस प्रकार की होगी जिसमें आसानी से शीघ्र बिना किसी परेशानी के नागरिकों का कार्य सम्पन्न होगा। आज की व्यवस्था की तरह लाल फीताशाही नहीं रहेगी। ऐसा करने के लिए प्रशासन तंत्र को भी अधिक से अधिक विकेंद्रित करना होगा।

८ **न्यूनतम व्यय** आदर्श राज्य में कम-से-कम खर्च में अधिक-से-अधिक लाभ की दृष्टि होगी। आज की राज्य-व्यवस्था की भांति सारा खर्च प्रशासन तंत्र पर ही नहीं होगा। विकास के कार्य अधिक होंगे।

९. **कम-से-कम रखवाली** राज्य की व्यवस्था इस प्रकार की होगी कि उसमें सुरक्षा की समस्या कम-से-कम उठेगी। केंद्रित उत्पादन की व्यवस्था में संपत्ति एकत्रित रहती है, अतः वहां सुरक्षा की अधिक चिंता है। आक्रामक या विस्तारवादी नीति रखने वाले राज्य में भी सुरक्षा की समस्या अति तीव्र है क्योंकि शस्त्र से प्राप्त वस्तु की सुरक्षा भी शस्त्र से ही होती है। परंतु अहिंसक-राज्य में *अर्थ व्यवस्था* विकेंद्रित होगी, दूसरे देशों से अविरोधी नीति रहेगी अतः राष्ट्रिय-सुरक्षा की कम-से-कम आवश्यकता होगी।

१० **सार्वजनिक अव्याहत और तटस्थ या मुक्त ज्ञान प्रचार** अर्थात् आदर्श राज्य का आधार निष्पक्ष ज्ञान होगा। अतः राज्य में ज्ञान प्रचार की अधिक आवश्यकता होगी। उसमें किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं किया जायगा।

ऊपर की सभी विशेषताएँ प्रायः गांधी विचार में भी हैं। परंतु विनोबा जनता के ज्ञानपूर्वक सहकार और विचार-प्रचार पर गांधी की अपेक्षा अधिक बल देते हैं। इन दो तत्त्वों के अभाव में कोई भी राज्य-पद्धति आदर्श नहीं मानी जा सकती। उपर्युक्त आदर्श राज्य पद्धति के स्वरूप निरूपण के अतिरिक्त विनोबा निर्दोष राज्य-पद्धति के अनिवार्य तत्त्वों पर भी विचार करते हैं जिनमें ऊपर की बहुत-सी विशेषताएँ भी समाविष्ट हो जाती हैं। उनके अनुसार निर्दोष राज्य-पद्धति के चार लक्षण हैं[1]—

१ समर्थों के सामर्थ्य का जन-सेवा के लिए समर्पित होना।
२ जनता का पूर्ण स्वावलंबी और सहयोगी वृत्ति का होना।
३ नित्य के सहयोग, प्रासंगिक असहयोग या प्रतिकार का अहिंसक रूप।

---

१ उपरिवत्, पृ० १७१।

४ सबके प्रामाणिक परिश्रम की कीमत (नैतिक और आर्थिक) की समानता।

१ विनोबा के अनुसार प्रकृति या सामाजिक परिस्थिति के कारण व्यक्ति को सामर्थ्य समाज-सेवा के निमित्त ही प्राप्त होता है। अत निर्दोष राज्य पद्धति में शक्तिवान, धनवान और बुद्धिमान—सभी अपने सामर्थ्यों का उपयोग जन-सेवा के लिए करेंगे। विनोबा की राय मे—'बुद्धि का उपयोग है लोक जीवन को ज्ञानमय बनाने के लिए, शक्ति का उपयोग लोक हितार्थ पराक्रम करने के लिए और सपत्ति का उपयोग है उचित रीति से समूचे समाज शरीर मे उत्पादन शक्ति का प्रवाहशील और समान रूप से वितरण करने के लिए।'[१] इसलिए निर्दोष राज्य पद्धति मे जनता को इस तथ्य का निरतर भान होता रहेगा तथा वह लोकमत का निर्माण करती रहेगी।[२] राज्य इस कार्य मे अनुकूलता लाने के लिए समयानुकूल व्यवस्था कर सकता है। यदि समर्थ व्यक्ति समाज को अपनी सेवा अर्पित नही करते तो लोक मत राज्य प्रणाली के सिद्धात के अनुसार उन्हे अपराधी ठहरा सकता है।[३]

परतु अपराधी ठहराने का यह अर्थ नही कि उन्हे दण्डित किया जायगा। गाँधी की भाँति विनोबा भी दड-व्यवस्था मे विश्वास नही करते। उनका यह विश्वास है कि अहिंसक राज्य मे कानून या अनुशासन लोक-मत के आधार पर ही बनता है।[४] अत कानून पालन का अर्थ लोकमत के अनुसार चलना है। लोकमत के अनुसार प्राय सामान्य नागरिक चलते ही है। केवल कुछ समाज के इने गिने प्राज्ञ और राग-द्वेष से मुक्त व्यक्ति ही नैतिक मर्यादा के पालन के लिए लोकमत की आवश्यकता नही समझते। दूसरा भ्रात व्यक्ति लोकमत का उल्लघन करते है। अत भ्रात व्यक्तियो को जिन्हे हम अपराधी कहते है दड के बदले उन प्राज्ञ व्यक्तियो के पास सुधार के लिए भेजने की व्यवस्था अहिंसक राज्य मे की जाती है।[५]

निर्दोष राज्य पद्धति मे कृपणता या सग्रह चोरी के समान लोकमत के विरुद्ध समझा जाता[६] है क्योकि कृपणता ही तो चोरी का जनक है। शायद

१ उपरिवत्, पृ० १७२।
२ उपरिवत्, पृ० १७२।
३ उपरिवत्, पृ० १७२।
४ उपरिवत्, पृ० १७२।
५ उपरिवत्, पृ० १७३।
६ उपरिवत्, पृ० १७३।

इसीलिए उपनिषद् का राजा अश्वपति उत्तम राज्य का वर्णन करते हुए कहते हैं—"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्य"। इसीलिए निर्दोष राज्य में जबरदस्ती अर्थात् क्रिया के द्वारा माँगने पर नहीं देना भी शिक्षण शास्त्र के द्वारा अनैतिक सिद्ध किया जायगा।[१] समाज में कुछ सम्पत्तिवान व्यक्ति होंगे। राज्य उनसे सम्पत्ति छीनने के बदले, ऐसी व्यवस्था करेगी जिसमें उन्हें मालूम पड़ेगा कि उनका धन लोकोपयोगी कार्य में लग रहा है। धन के बिना भी उनकी प्रतिष्ठा सुरक्षित है तथा धन की चिन्ता की जगह पर उन्हें लोकोपयोगी चिन्तन का लाभ मिल रहा है।[२] विनोबा का यह विश्वास है कि सम्पत्तिवान संचय की वृत्ति से धन का संग्रह नहीं करते। संग्रह के पीछे प्रतिष्ठा, भावी सुख, भावी जीवन की सुरक्षा, दान ख्याति, सन्तान का पालन-पोषण का भाव रहता है। यदि राज्य के द्वारा इन सारी चीजों की व्यवस्था कर दी जाती है जिनसे उन्हें निश्चिन्तता मिले तो यह सभी को मान्य होगा।[३]

निर्दोष राज्य पद्धति में नागरिकों का यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि विद्या की भाँति धन के वितरण करने में भी वह बढ़ता है तथा 'समाजरूपी बैंक' में उनका धन अधिक सुरक्षित रहता है।[४] वे मानने लगते हैं कि असमर्थों की सेवा में ही समर्थों की शोभा है। विनोबा का यह विश्वास है कि इस प्रकार के लोक चिन्तन नहीं होने का कारण अज्ञान है। समाज में यह 'अन्न-सत्य और अर्थ मिथ्या भावना रूढ़ है' कि हर व्यक्ति अपनी कमाई का जिम्मेदार और हकदार है। लेकिन यह पूर्ण सत्य है कि यथा शक्ति कमाई करनेवाला कोई भी व्यक्ति सम्मिलित कमाई का समान हकदार है।[५] हाँ, जो शक्ति रखते हुए भी कमाई नहीं करता है, वह हकदार नहीं हो सकता।[६] अतः निर्दोष ग्राम-पद्धति में कौटुम्बिक न्याय ही लागू होता है। शक्ति की विषमता नैसर्गिक होने के कारण कार्य की विषमता भी नैसर्गिक है। अतः सम का जिम्मेवारी का प्रश्न ही नहीं है। अतः शक्ति भर कमाई और समान अधिकार का पारिवारिक नियम आर्थिक क्षेत्र में चलता है। राज्य का कार्य इस प्रकार की व्यवस्था देना है। विनोबा की राय में 'इस कार्य को करने के बजाय राज्य व्यवस्था यदि वैषम्य का ही निर्माण

१ उपरिवत्, पृ० १३३।
२ उपरिवत्, पृ० १७४।
३ उपरिवत्, पृ० १७३ ७४।
४ उपरिवत्, पृ० १७०।
५ उपरिवत्, पृ० १७०।
६ उपरिवत्, पृ० १७०।

करती हो तो उसे नष्ट कर अराजकता ही मंजूर करना होगा।[1] समाज समर्थों और असमर्थों के सहयोग से चलता है। एक दूसरे के सहयोग और असहयोग से ही कोई समर्थवान और असमर्थवान बनता है।[2] यह "अन्ध-पंगु न्याय" समाज में लागू है। निर्दोष राज्य-व्यवस्था में समर्थों को इस प्रकार का अनुभव होना है। यदि ऐसा अनुभव नहीं आता तो वह वास्तविक राज्य-व्यवस्था नहीं है। विनोबा कहते हैं—"जिस राज्य-व्यवस्था में समर्थों को इतना समझ सकने की बुद्धि न हो कि इन दोनों के मिलने में पारस्परिक हित है, वह राज्य-व्यवस्था वास्तविक राज्य व्यवस्था नहीं, अराजकता से भी बढ़कर अराजकता है।[3] अतः निर्दोष-राज्यपद्धति में समर्थों के हाथ अधिकार सौंपे जाएँगे परन्तु वह अधिकार जनता की सेवा का ही होगा।

ऊपर के विवेचन से यह लगता है कि गांधी ने निर्दोष राज्य का मात्र विवरण दिया था परन्तु विनोबा उसके आधार पर चिंतन की गहराई में प्रवेश करते हैं तथा बीच-बीच में नए-नए सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन करते हैं। जैसे संग्रह के मनोविज्ञान और आर्थिक विवरण के दर्शन को उन्होंने बहुत ही बोधगम्य तरीके से समझाया है। संग्रह और अदान को चोरी के समान अनैतिक माना है। सबसे बड़ी बात है कि वे राज्य को लोक भावना फैलाने का महत्त्वपूर्ण दायित्व देते हैं। फिर अपराधियों के सुधार के उपाय भी बहुत ही उत्तम हैं।

२ **स्वावलंबन और पारस्परिक सहयोग** निर्दोष-राज्य व्यवस्था में समर्थों के द्वारा सेवा-कार्य आम जनता के स्वावलम्बी रहने पर ही हो सकता है। यदि जनता असहाय और दुर्बल है तथा अपनी स्वाश्रयता का अनुभव नहीं करती है, तो राज्य का शोषण और उसकी परतन्त्रता अवश्यम्भावी है। अतः निर्दोष राज्य-पद्धति में हर व्यक्ति के पास "स्वायत्त' उद्योग की व्यवस्था होगी। हर गाँव को आर्थिक दृष्टि से एक पूर्ण इकाई बन जाना होगा। प्रत्येक गाँव को आवश्यक आवश्यकता के मामले में पूर्णतः और गौण आवश्यकताओं के लिए बहुत अंश में स्वावलंबी होना होगा। बाकी आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य के द्वारा समर्थों के माध्यम से होगी।[4] विनोबा के अनुसार "आदर्श

१ उपरिवत्, पृ० १७६।
२ उपरिवत्, पृ० १७६।
३ उपरिवत्, पृ० १७६।
४ उपरिवत्, पृ० १७७।

समाज-व्यवस्था का यह सहज रूप होगा कि खेती के पूरक ग्रामोद्योगों का जाल सारे राष्ट्र में फैला हो और उनके संरक्षण तथा स्वयं का प्रबंध राज्य व्यवस्था[1] करे।" स्वावलम्बन के लिए ग्रामोद्योग से बढ़कर कोई भी सहज, सुलभ और समर्थ योजना नहीं है।[2] साम्यवादियों की आर्थिक नीति में तीन प्रकार के खतरे हैं।[3] एक तो यह उत्पादन और वितरण की दोहरी प्रक्रिया होने में मँहगी है, दूसरा केंद्रित उत्पादन होने के नाते उसकी सुरक्षा की समस्या है तथा तीसरा समाज-रचना जटिल तथा अन्योन्यावलम्बी हो जाती है जिसमें सुधार के बदले समाप्त होने का ही खतरा है। निर्दोष समाज रचना सरल होती है जिसका इलाज आसानी से किया जा सकता है। इसमें अन्योन्यावलम्बन स्वतन्त्र व्यक्तियों का होता है।[4] अतः विनोबा का कहना है कि "हरएक देहाती किसान को अपना बादशाह होना चाहिए और ग्रामीणों का सहयोग बँटी हुई रस्सी की तरह पक्का होना चाहिए।"[5] ऐसे व्यक्ति और गाँव को मिलाकर एक सहज और करीब-करीब स्वयं पूर्ण संस्था हो जाती है।[6]

इस प्रकार के गाँवों को संगठित करनेवाली प्रांतीय सत्ता निमित्त मात्र की प्रांतीय सत्ता रहती है, उन प्रांतों का संगठित करनेवाली राष्ट्रिय सत्ता भी निमित्त मात्र की राष्ट्रिय सत्ता है तथा ऐसे राष्ट्रों को परस्पर सहकार्य में संगठित करनेवाली निमित्त मात्र अखिल-मानव सत्ता है।[7] अखिल मानव सत्ता ऐसा संगठन होगा जिसमें राग द्वेष से मुक्त प्राज्ञ व्यक्ति होंगे जो अपने नैतिक बल के द्वारा विश्व मानवता का नियमन करेंगे।[8] इसी प्रकार अन्य केंद्रीय-सत्ताओं की नीतिवत्ता श्रेष्ठ होती जायगी। अतः हिंसा और दंड शक्ति के स्थान पर राज्य में "तीसरी शक्ति" (अहिंसा की शक्ति) का उदय होगा। परंतु स्वावलम्बी और सहयोगी नागरिकों के आधार पर ही ऐसी मानवता की कल्पना की जा सकती है।

१ उपरिवत्, पृ० १७७।
२ उपरिवत्, पृ० १७८।
३ उपरिवत्, पृ० १७८।
४ उपरिवत्, पृ० १७८।
५ उपरिवत्, पृ० १७९।
६ उपरिवत्, पृ० १७९।
७ उपरिवत्, पृ० १७९।
८ उपरिवत्, पृ० १७९।

३ **अहिंसक सहकार, प्रासंगिक असहयोग और प्रतिकार** निर्दोष-राज्य-पद्धति ने अहिंसक सहयोग, असहकार और प्रतिकार के लिए पूरा विधान होगा इसके पीछे मूल कारण है कि राज्य एक मानव-सापेक्ष-सत्ता है, अत उत्तमोत्तम राज्य-व्यवस्था मे भी उत्तम व्यवस्था का निर्माण नही किया जा सकता यदि उसके शासक योग्य और न्यायप्रिय नही है। इसके उपायस्वरूप नागरिकों को सहकार, असहकार और प्रतिकार के अवसरो का ज्ञान आवश्यक है। अत आवश्यकता पड़ने पर इन तीनो के प्रयोग करने की अहिंसक शक्ति जनता के पास होगी।[१] अहिंसक सहकार का अर्थ है ज्ञानपूर्वक किया गया सहकार। इसके लिए जनता का यह अनुभव करना आवश्यक होगा कि कानून बहुमत से बना है और उसे बदलने की शक्ति उसमे है। परंतु जबतक कानून बदलता नही है तबतक पसंद नहीं आने पर भी उसका पालन स्वेच्छा से आनंदपूर्वक खुले दिल से वह करे यदि वह नीति नियमो के विरुद्ध न हो।[२] ऐसे नागरिकों को ही असहकार और प्रतिकार का अधिकार प्राप्त होगा।[३] निर्दोष राज्य-व्यवस्था मे अहिंसक असहकार और प्रतिकार की शिक्षा भी विनोबा आवश्यक मानते है।[४] असहकार और प्रतिकार उनके अनुसार एक ही वस्तु की दो अवस्थाएँ है जिसमे पहला सौम्य और दूसरा उग्र अवस्था का सूचक है। जब सहयोग हटा लेने पर भी प्रतिपक्षी का विवेक नहीं जगता तो प्रतिकार किया जाता है जिसमे राज्य के कानून की विशिष्ट मर्यादा मे रहकर अनुशासित ढंग से बिना किसी छल-प्रपंच के दृढतापूर्वक कम-से-कम मांगो के पूरा होने तक हार न मानते हुए भय करना पड़ता है। इसके लिए दी गई सजा को बिना द्वेष के भुगतना पड़ता है। ऐसे असहकारो और प्रतिकारो का प्रयोग सुराज्य व्यवस्था मे प्रासंगिक होता है परंतु समाज-जीवन मे इनका नित्य स्थान है। विनोबा के अनुसार प्रतिकार न करते हुए अन्याय को सह लेना और फिर आवेश मे आकर हिंसक प्रतिकार करना—दोनो बुरा है। अत निर्दोष राज्य-पद्धति मे सविनय असहकार और प्रतिकार के राज्य मार्ग के ग्रहण करने की वृत्ति होगी और शक्ति का समाज मे नैतिक समर्थन होगा जो उत्तम राज्य-व्यवस्था का अंग है।[५] विनोबा यहाँ गांधी के सत्याग्रह पद्धति को ही दूसरे रूप

१ उपरिवत्, पृ० १८०।
२ उपरिवत्, पृ० १८०-८१।
३ उपरिवत् पृ० १८१।
४ उपरिवत्, पृ० १८१।
५ उपरिवत्, पृ० १८३।

में रखते हैं। परन्तु आगे सत्याग्रह के संदर्भ में हम देखेंगे कि उन्होंने सत्याग्रह के प्रतिकार पक्ष के बदले अहिंसक सहकार पर ही बल दिया है तथा उसकी प्रक्रिया सौम्य से सौम्यतर और सौम्यतम मानी है।

४ **सबके प्रामाणिक परिश्रम की कीमत की समानता** निर्दोष राज्य-पद्धति का अंतिम लक्षण है कि इसमें सेवा की वृत्ति से किए गए सभी के परिश्रमों का समान आर्थिक और नैतिक मूल्य होता है। समाजोपयोगी कार्य करनेवाले सभी व्यक्तियों को जीने का अधिकार है, अतः राज्य सभी के सागोपन और संरक्षण का भार लेगा।[१] यहाँ भी पारिवारिक न्याय है—कार्य शक्ति भर और संरक्षण समान। परन्तु संरक्षण की समानता का यह अर्थ नहीं है कि सबको समान वेतन मिलेगा।[२] समान संरक्षण में जरूरत भर ही पारिश्रमिक दिया जायगा। अतः इस आधार पर अधिक समर्थों पर कम आवश्यकतावाले व्यक्तियों को कम और कम समर्थ परन्तु अधिक आवश्यकता वाले व्यक्तियों को अधिक पारिश्रमिक मिल सकता है। फिर भी सभी के वेतन में कम-से-कम विषमता होगी।

निर्दोष राज्य-पद्धति के लक्षणों को देखने से ऐसा लगता है कि विनोबा अहिंसक राज्य की आर्थिक नीति पर गांधी की अपेक्षा अधिक बल देते हैं। गांधी राज्य को सेवा का कार्य देते हैं परन्तु इसके आधार पर विनोबा तीसरी शक्ति की नई धारणा की कल्पना करते हैं। फिर ये स्पष्ट रूप से सम्प्रभुता का विभाजन दो वर्गों में करते हैं जिनमें आर्थिक, भौतिक और राजनैतिक सम्प्रभुता व्यक्ति और स्थानीय संस्थाओं को तथा नैतिक सम्प्रभुता राज्य और अन्य केंद्रीय सत्ताओं को दिया गया है।

(च) लोक शक्ति और लोक-नीति

(१) **लोक-शक्ति** विनोबा के अनुसार अहिंसक-समाज की रचना और सर्वोदय की सिद्धि लोक शक्ति के उदय होने पर ही हो सकती है। लोक-शक्ति का दूसरा नाम 'स्वतंत्र-जन-शक्ति' भी है। 'लोकशक्ति' या 'जन-शक्ति', 'सैन्य-शक्ति' और 'कानून-शक्ति' अर्थात् 'हिंसा-शक्ति' और 'दण्ड-शक्ति' के माध्यम से अभिव्यक्त होनेवाली 'राज्य-शक्ति' से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न है, यद्यपि यह राज्य-शक्ति का विरोधी नहीं है।[३] 'जन-शक्ति' का सामान्य अर्थ

---

१ उपरिवत्, पृ० १८६।

२ उपरिवत्, पृ० १८७।

3 Ram, Suresh, *Vinoba and his Mission*, (Kashi, Akhil Bharat Sarvaseva Sangha Prakashan, 1962, 3rd Edn.), P 97

जनता के प्रबुद्ध-विचार पर आधारित जनमत की शक्ति है ।[1] फिर भी 'लोक-शक्ति' धारणा का प्रयोग विनोबा चिंतन में चार अर्थों में हुआ है ।[2] प्रथम अर्थ में 'लोक-शक्ति' का व्यवहार लघु पड़ोसी की भावना और समुदायों के पुनर्निर्माण के रूप में होता है । इस अर्थ में लोक-शक्ति समुदायों और जन-समुदायों के स्वाधीन और सामूहिक प्रयत्न का सूचक है । जब जनता अपनी-अपनी समस्याओं को पहचानने लगती है तथा उनके समाधान के लिए राज्य की ओर मुखापेक्षी न होकर स्वयं प्रयत्नशील होती है तथा दूसरों को भी सहायता देने योग्य अपने को बना लेती है तब इस अर्थ में वास्तविक लोक-शक्ति का निर्माण होता है ।[3] अतः इस अर्थ में 'लोक शक्ति' नागरिक शक्ति या नागरिकों की अहिंसक स्वावलम्बी शक्ति का सूचक है ।[4] दूसरे अर्थ में लोक शक्ति नागरिकों के प्रतिरोधात्मक कार्य के रूप में प्रकट शक्ति का सूचक है ।[5] गाँधी ने जनता में अन्याय के प्रतिकार के लिए इस शक्ति के जागरण को आवश्यक माना था । अतः लोक-शक्ति के लिए केवल स्वावलम्बी होना ही पर्याप्त नहीं है, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि जनता अपने कार्यों को नियमित और नियन्त्रित करने की शक्ति का परिचय दे । इस अर्थ में लोक शक्ति के उदय के लिए कष्ट सहन और सत्याग्रह की शक्ति का विकास करना अनिवार्य है ।[6] विनोबा ने निर्दोष राज्य पद्धति में जनता के सहकार, असहकार (प्रतिकार-शक्ति) को अहिंसा के जागरण के लिए आवश्यक माना है ।

तीसरे अर्थ में लोक-शक्ति संस्थाओं और नागरिकों की परिस्थितियों में परिवर्तन लानेवाली शक्ति का सूचक है ।[7] इस शक्ति के द्वारा सरकार को

1 *Ibid*, p 98

2 Narayan, J P, "The Concept of Lok-Sakti", *Towards A Philosophy of Social Work in India* (ed) S Das Gupta, (New Delhi, popular Book Services, 1967), p 107

3 *Ibid*, p 107

4 Ram, Suresh, *Vinoba And His Mission*, p 408

5 Narayan J P, "The Concept of Lok-Sakti", *Op Cit*, p 108

6 Ram, Suresh, *Vinoba And His Mission*, p 409

7 Narayan, J P, "The Concept of Lok-Sakti", *Op Cit*, p 108

अपदस्थ कर अपनी कल्पना की सरकार का निर्माण किया जा सकता है। इसके लिए असहकार प्रतिरोध और अन्य अहिंसक साधना का प्रयोग किया जा सकता है जिससे समाज की बुराइयों को मिटाया जा सकता है। अतः इस अर्थ मे लोक शक्ति समाज-परिवर्तन का साधन है। चतुर्थ अर्थ मे लोक शक्ति ऊपर के तीनों अर्थों का समन्वय है।[1] अर्थात् इस अर्थ मे लोक शक्ति नागरिको के स्वावलम्बन प्रतिरोधक और समाज-परिवर्तन की समन्वयात्मक शक्ति का सूचक है। विनोबा विशेष रूप मे इसी अर्थ म लोक शक्ति का प्रयोग करते हैं। अर्थात् लोक शक्ति के लिए नागरिको को अपनी समस्याओ का स्वय समाधान करना पडता है। वह अपने मामलो को नियमित और नियत्रित करने की शक्ति प्राप्त करता है तथा अपनी सरकार बनाने के लिए अपने को प्रबल शक्ति के रूप म परिणत करता है। इसके परिणामस्वरूप लोक शक्ति एक राजनैतिक सस्था का रूप ले लेती है जिसे सामाजिक रचना मे हर व्यक्ति को राजनैतिक जीवन म हाथ बँटाने का सुअवसर मिलता है। इसके लिए समुदाय ग्रामराज्य, नगर राज्य प्रखण्ड राज्य जिला राज्य इत्यादि का विकास करना पडता है क्योकि ऐसी विकेंद्रित समाज रचना मे ही साक्षात् रूप म नागरिको का हाथ बँटाना सभव है। राज्य के स्तर पर तो प्रतिनिधित्वमूलक व्यवस्था ही करनी पडती है।

विनोबा वर्तमान समाज की राज्यमुखापेक्षी प्रवृत्ति की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार वास्तविक शक्ति नागरिको के हाथ म है। राज्य की शक्ति नागरिको के द्वारा प्रदान की गई शक्ति है जो नागरिक शक्ति की तुलना म नगण्य और अमहत्वपूर्ण है। अनुभव यह सिद्ध करता है कि सामाजिक जीवन के सारे कार्य राज्य के कानून से नहीं चलते हैं। अधिकतर सामाजिक जीवन का कार्य सामाजिक मान्यताओ के आधार पर ही चलते हैं। राज्य के द्वारा कानून निर्माण करने पर भी यदि वह लोकमत के अनुकूल नहीं है तो उसका पालन सामाजिक जीवन म नहीं हो पाता है। इससे स्पष्ट है कि नागरिको का कल्याण राज्य की कानून शक्ति म नहीं वल्कि जनमत की शक्ति मे निहित है। जनमत की शक्ति वास्तविक और मूल शक्ति है।

विनोबा के अनुसार वे लोग भ्रम म हैं जो यह मानते हैं कि राज्य के कानून के बिना कोई कार्य या परिवर्तन हो ही नहीं सकता। आखिर कानून भी तो नागरिको की अप्रत्यक्ष सकल्प शक्ति का ही द्योतक है। यदि अप्रत्यक्ष सकल्प शक्ति को हम शक्तिमान मानते है तो फिर साक्षात् जनमत की शक्ति को क्यो नहा

1 *Ibid* p 108

शक्तिमान समझा जाय जो राज्य की शक्ति का मूल आधार है।[1] वस्तुत जन मत की शक्ति की तुलना मे राज्य की शक्ति का कोई मूल्य ही नही है। जनमत कुएं का जल है, कानून बाल्टी का जल है जो कुएं के जल पर ही निभर है यह भी कहा जा सकता है कि कानून शक्ति केतली के जल से उत्पन्न होनेवाले वाष्प के समान है।[2] परन्तु जनमत स्टोव की ताप शक्ति है जिसके द्वारा वाष्प बनता है।[3] जनमत की तुलना विनोबा इकाई से तथा राज्य के कानून की तुलना शून्य से भी करते है।[4] यदि जनमत की इकाई है तो कानूनरूपी शून्य का भी मूल्य हो जाता है। जनमत नही रहने पर वह शून्य ही रह जाता है जिसका अकेले कोई मूल्य नही है। ऊपर के उदाहरणो म यह स्पष्ट है कि राज्य का महत्व है, वह बेकार चीज नही है। परन्तु वह अपने अस्तित्व के लिए लोक शक्ति पर आश्रित है। लोक शक्ति राज्य पर आश्रित नही है। राज्य के द्वारा कभी भी जनमत का निर्माण नही किया जा सकता।[5] अत जनमत के समाप्त होने पर राज्यशक्ति का समाप्त होना स्वाभाविक है। विनोबा का यह विश्वास है कि नागरिकशक्ति की वृद्धि के साथ-ही-साथ राज्य की शक्ति घटती है, और राज्य की शक्ति जितनी मात्रा मे कमती है उतनी ही मात्रा म नागरिक जीवन आनदमय होना है जो उत्तम राज्य का लक्षण है।[6] भूदान-ग्रामदान इत्यादि आदोलन के द्वारा विनोबा इसी लोक शक्ति के निर्माण का प्रयत्न करते है[7] जिसका आधार रचनात्मक शक्ति या प्रेम शक्ति है। लोक शक्ति का विचार गाधी के विचारो म भी था। परन्तु वह उतना विकसित नही था। विनोबा ने इस धारणा का स्पष्ट रूप से विकास किया है। इसी धारणा स जुडी हुई एक-दूसरी धारणा लोकनीति की है अत उसपर भी विचार करना अपेक्षित है।

२ लोकनीति लोकनीति की धारणा दलगत सत्तात्मक राजनीति के विकल्प के रूप म विनोबा चितन मे आती है। विनोबा का यह दृढ विश्वास है कि दलगत सत्तात्मक राजनीति समाज को टुकडे-टुकडे करती है। साथ-ही

1 Ram Suresh *Vinoba And His Mission* p 407
2 *Ibid* p 408
3 *Ibid* p 408,
4 *Ibid* p 409
5 *Ibid* p 409
6 *Ibid*, p 409
7 *Ibid*, p 413

किसी भी मूल्य पर प्राप्ति, समाज के बदले पक्ष या दल के प्रति वफादारी इत्यादि। विनोबा इस प्रकार की राजनीति का उन्मूलन करना चाहते हैं।

विनोबा के अनुसार वर्तमान युग की समस्या का समाधान राजनीति में नहीं, लोकनीति से ही संभव है। विज्ञान के चमत्कार के कारण सभी राष्ट्र एक हो गए हैं, उनकी दूरी बहुत कम गई है। अब अब विश्वव्यापक राजनीति की आवश्यकता है जिसे लोकनीति कहते हैं। उनकी राय में—"अब हमें विश्व-व्यापक राजनीति का विचार करना चाहिए। हम ऐसी व्यापक-विशाल राजनीति को लोकनीति कहते हैं, जिसमें सारा विश्व एक है, हम सारे उसके नागरिक हैं, जिसमें किसी का किसी पर अनुशासन नहीं चलता, हर मनुष्य का अपने पर अनुशासन चलता है।[१] यह नई राजनीति लोकनीति है[२] जिसकी स्थापना करना आधुनिक मानव का कर्तव्य है।"

दलगत प्रजातान्त्रिक राजनीति में निर्णय का आधार बहुमत है। लोक-नीति में निर्णय का आधार सर्वानुमति है।[३] बहुमत के निर्णय में अल्पमत की सुरक्षा नहीं होती है। परन्तु "जहाँ अल्पमत की रक्षा होती है, वहाँ लोकमत और लोकनीति है, भीड़ की वृत्ति लोक-नीति नहीं।"[४] अल्पमत की स्वतन्त्रता की रक्षा 'बहुमत के सौजन्य और शुभ व्यवहार पर ही निर्भर है।'[५] यह दल-निरपेक्ष और सत्ता-निरपेक्ष है। इसी दल और सत्ता-निरपेक्ष राजनीति को लोकनीति कहते हैं।[६]

जहाँ लोकनीति चलती है वहाँ गाँव-गाँव में सत्ता का विभाजन कर दिया जाता है।[७] आज की कल्याणकारी राज्य की कामना नहीं की जाती जो जनता के लिए सब कुछ कर दे। अब विनोबा कहते हैं वेल्फेयर स्टेट इज दी इल्लफेयर[८] स्टेट। लोकनीति में व्यक्ति अपनी सारी व्यवस्था अपने हाथ में ले लेता है। यह शांति-सेना, ग्राम दान और सर्वोदय के कार्यों से ही संभव है[९]

१ भावे, विनोबा, लोक-नीति, पृ० ५१।
२ उपरिवत्, पृ० ४८।
३ उपरिवत्, पृ० ५२।
४ उपरिवत्, पृ० ८।
५ उपरिवत्, पृ० ८।
६ उपरिवत्, पृ० ८।
७ उपरिवत्, पृ० ७२-७१।
८ उपरिवत्, पृ० ७२ ७३।
९ भावे, विनोबा, लोकनीति, पृ० ८३।

लोकनीति के ऊपर के विचारसमाज-व्यवस्था या समाज रचना के आदर्श के सूचक हैं। परन्तु लोकनीति का मुख्य पक्ष केवल नई समाज रचना ही नहीं है। इसका दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष लोक सेवा की भावना है जिसका आधार प्रेम है।[२]

सेवा की दृष्टि से विचार करने पर लोकनीति नागरिकों के विशेष प्रकार के व्यवहार का सूचक है जिसका मुख्य लक्षण नैतिक और सामाजिक भावना है। दादा धर्माधिकारी कहते हैं—"नागरिकों में एक दूसरे के लिए जब इज्जत होती है और जब एक नागरिक दूसरे नागरिक की सुख-सुविधा का विचार अपनी सुख-सुविधा के विचार में पहले करता है तब उस नागरिक व्यवहार को लोकनीति कहते हैं"।[३] आगे भी वे कहते हैं—'लोक व्यवहार ही जब सदाचारमूलक और नीतिमय बन जाता है तब सवत्र यथार्थ लोकनीति विराजती है। लोकनीति के ये निष्कर्ष समाज में कायम करने के लिए उन व्यक्तियों का परामर्श उपयोगी सिद्ध होता है जिन्होंने अपरिग्रह का और सत्ता निरपेक्ष जीवन का व्रत लिया है।[४] लोकनीति में सभी व्यक्ति सामाजिक आदर्शों के अनुकूल लोकमत तैयार करने की कोशिश करते हैं।[५] ऊपर के उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि लोकनीति व्यवस्थासूचक पद ही नहीं, एक विशेष प्रकार की जीवन-पद्धति का सूचक है जिसमें आत्मनियन्त्रित जीवन तो व्यतीत होता ही है[५] सामाजिक-संवेदनशीलता अधिक मात्रा में बढ़ जाती है। इसीलिए विनोबा ने ऐसे लोगों की एक जमात बनाने का निर्णय किया जिसे सर्व सेवा संघ कहते हैं। अर्थात् इसमें कुछ ऐसे लोग सदस्य होंगे जो नैतिकता की मूर्ति होंगे और सदैव समाज सेवा में तत्पर रहेंगे। इन्हें देखकर समाज के अन्य व्यक्ति भी वैसा ही आचरण करेंगे।

समाज सेवा का विचार कई प्रकार से हमारे सामने आता है। कुछ लोग तो यह समझते हैं कि सेवा के लिए पहले राजनैतिक सत्ता प्राप्त करना आवश्यक है। कुछ सेवा के द्वारा राजनैतिक सत्ता को प्राप्त करना चाहते हैं। विनोबा का तीसरा ही रास्ता है। "सेवा के जरिए सत्ता को खतम करना।"

1 Ram, Suresh, *Vinoba And His Mission* p 445

२ भावे, विनोबा, लोकनीति, पृ० ६।

३ उपरिवत् पृ० ९१।

४ उपरिवत् पृ० ७।

5 Tondon, Vishwanath, *The Social And Political Philosophy of Sarvodaya After Gandhi* p 125

अपने नैतिक विवेक से स्वाभाविक रूप से काम करने लगते हैं तब राज्य से मुक्ति हो जाती है या रामराज्य की स्थापना हो जाती है जिसमे किसी प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं रहती पूरा कार्य लोकनीति से चलता है। यह लोकनीति की पूर्णता है।

लोकनीति और राजनीति

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि राजनीति से लोकनीति भिन्न है। यह ठीक है कि जहा पर यह विशेष प्रकार की व्यवस्था का सूचक हो जाता है वहा वही अर्थ मे यह राजनीति है परतु इसगत राजनीति से यह निम्न बातो मे भिन्न है

लोकनीति	राजनीति
(१) नागरिक के पुरुषार्थ को प्रोत्सा हन देता है क्योकि यह नाग रिको की राजनीति है।	राज्यवाद पुष्ट होता है क्योकि यह राज्य सत्ता की राजनीति है।
(२) लोकनीति का मुख्य आधार लोक शक्ति है।	राजनीति का आधार दड शक्ति या कानूनी शक्ति तथा सैनिक शक्ति है।
(३) लोकनीति मे सत्य की उपासना होती है अत इसका लक्ष्य जन कल्याण है।	राजनीति मे पार्टी और असत्य की उपासना की जाती है अत इसका लक्ष्य अपनी पार्टी का उत्थान और दूसरे की पार्टी का पतन है।
(४) लोकनीति नागरिको का एक दूसरे की स्वतन्त्रता के अभि भावक मानकर स्वायत्त सस्थाओं द्वारा लोकहित का मार्ग प्रशस्त करती है।	राजनीति राज्य सस्था को लोक कल्याण का मुख्य उपकरण मानती है, अत वह नागरिको को राज्यावलबी और सत्तामुखी बनाती है।
(५) लोकनीति मे अनुशासन और आत्मसयम से काम होता है।	राजनीति मे प्रशासन अधिक तीव्र और विस्तृत होता है।
(६) लोकनीति सार्वभौम होती है क्योकि इसमे सभी का समर्थन होता है।	राजनीति कुछ ही धनिक और सत्तावान लोगो के लिए ग्राह्य होती है।

(७) इसमे चुनाव पद्धति और समाज व्यवस्था के परिवर्तन की नीति है।	राजनीति चुनाव पर ही टिकी होती है अत इस व्यवस्था को कायम रखना चाहती है।
(८) इसमे हृदय जोडने का काम होता है।	राजनीति मे हृदय तोडने का काम होता है।
(९) लोकनीति मे लोक चारित्र्य के विकास के लिए सेवा की तत्परता होनी है, उम्मीदवारो का निर्णय होना है।	राजनीति मे सत्ता की प्रतिस्पर्धा, अधिकार ग्रहण तथा प्रतिनिधित्व के लिए उम्मीदवारी होती है।
(१०) इसमे नागरिक अपने कर्त्तव्य और दूसरे के अधिकार के प्रति जागरूक होते है।	राजनीति मे केवल अपने अधिकार और दूसरे के कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहते है।

गाँधी और विनोबा के सपूर्ण राजनीति-दर्शन पर विचार करने से यह लगता है कि विनोबा ने गाधी के विचारो को ही विकसित किया है। लोक शक्ति और लोक-नीति का विचार गाधी के विचार मे बीज रूप से है। विनोबा ने उसपर सर्वांगीण रूप से विचार कर उसका विस्तार किया है। गाधी लोकनीति के प्रथम चरण पर अग्रसर हो अर्थात् राजनैतिक स्वतत्रता या केंद्रीय स्वराज्य प्राप्त कर इस ससार से चल बसे। विनोबा ने अपना कार्य दूसरे चरण से अर्थात् ग्राम राज्य से आरभ किया है जो गाधी की अतिम इच्छा थी। ये ग्राम राज्य की स्थापना द्वारा राज्यमुक्त समाज की स्थापना करना चाहते हैं। ग्राम राज्य स्थापित हो इसके लिए उन्होने भूदान, ग्रामदान, प्रखडदान, जिलादान, प्रात दान इत्यादि आदोलन चलाया है। वस्तुत ये विभिन्न प्रकार के दान नई समाज रचना के ही सूचक हैं जिसमे सत्ता का वास्तविक विभाजन और लोक-शक्ति के उदय का भाव है। हम आगे भावात्मक सत्याग्रह के सदर्भ मे इन पर विशेष रूप से विचार करेंगे।

(ख) **गाँधी विनोबा और अराजकतावाद** आधुनिक अराजकतावादियो का इतिहास गाडविन से आरम्भ होता है तथा प्रोधोन, थूरो, बाकूनिन, क्रोपोटकिन, बेंजामिन आर० टकर, जोसिया वारेन, तथा टाल्सटाय इत्यादि इसके प्रमुख विचारक हैं। गाँधी और विनोबा आदर्श के रूप मे राज्य-मुक्त समरस समाज की कल्पना करते हैं जो अराजकतावादियो का भी लक्ष्य है, परतु इन्हे

ठीक से किसी भी अराजकतावादियों की कोटि में नहीं रख सकते क्योंकि मौलिक रूप से इनके सिद्धांत अराजकतावाद से भिन्न हैं।

गोडविन के साथ गांधी और विनोबा मानव-स्वभाव और उसकी सहयोगी सामाजिक वृत्ति, स्वाधीन संस्थाओं के निर्माण, और मानव की शुभ वृत्ति को समाप्त करनेवाली दबाव तथा बल-प्रयोग के विरोध के विचारों से सहमत हैं। गोडविन राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। इस सिद्धांत से भी इनका कुछ दूर तक मेल हो जाता है क्योंकि इनके अनुसार भी राज्य हिंसा का अवतार है। परन्तु न तो गोडविन अपने को स्पष्ट रूप में अराजकतावादी घोषित करते हैं और न गांधी और विनोबा। गोडविन के विचार में १८ वीं शताब्दी के उग्र व्यक्तिवादियों का प्रभाव है, राज्य के विरोध का भाव है, परन्तु इसके लिए किसी साधन का विचार नहीं हुआ है और भावी समाज-रचना के सिद्धांत भी नहीं आए हैं। गांधी और विनोबा के सिद्धांत उग्र व्यक्तिवाद के विरोधी हैं, इनमें सामाजिकता के सिद्धांत का गहरा विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा भावी समाज-व्यवस्था की भी कल्पना की गई है।

गाँधी और विनोबा के विचार पियर जोसफ प्रोधोन के विचार से भी भिन्न हैं। प्रोधोन का विचार मुख्यतः आर्थिक दृष्टिकोण से समाज का चित्रण करता है। अपनी पुस्तक "ह्वाट इज प्रोपर्टी" में उन्होंने व्यक्तिगत संपत्ति को चोरी कहा है।[१] इसी पुस्तक में उन्होंने अपने को अराजकतावादी भी घोषित किया है। उनके अनुसार राज्य और पूँजीवादी समाज धनिकों का गरीबों पर षड्यन्त्र है।[२] राज्य का विकास व्यक्तिगत संपत्ति की प्रणाली से हुआ है तथा राज्य ने इस प्रणाली के दोषों का समर्थन किया है।[३] राज्य उनके अनुसार न्याय, विवेक और ज्ञान के स्थान पर मनोवेगों का आधिपत्य स्थापित करता है।[४]

१ कोकर, फ्रांसिस डब्ल्यू०, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, (अनु०)—श्री राम नारायण यादवेन्दु, (आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशक, १९५५, प्रथम संस्करण), पृ० २०१।

2 Bhattacharjee, N G, "Is Non-Violent State Possible", *Gandhian Concept of State*, (ed), Dr B B Majumdar, (Calcutta, M C Sarkar & Sons Ltd 1957), 1st Edn, p, 32

३ कोकर, फ्रांसिस डब्ल्यू, आधुनिक राजनीतिक चिंतन, पूर्ववत्, पृ० २०१।

४ तत्रैव, पृ० २०१।

अतः सरकार ईश्वर का चाबुक है[1] जिससे मुक्ति के लिए सममामयिक सरकारी संगठन को तोड़ना अनिवार्य है। विनोबा प्रोधोन के इस विचार से सहमत हैं कि संपत्ति चोरी है। परंतु प्रोधोन आवेशपूर्ण ढंग से संपत्ति और राज्य के विरुद्ध आवाज उठाते हैं[2] जो कुछ दूर तक गाँधी के लिए लागू हो सकता है परंतु विनोबा के लिए नहीं। 'हिंद स्वराज्य'' में सरकार और राज्य की तत्कालीन प्रशासन-व्यवस्था के विरुद्ध गाँधी का आक्रोश ही व्यक्त हुआ है जो बाद में कुछ मंद होता हुआ प्रतीत होता है जब वे राज्यविहीन समाज की स्थापना के लिए अहिंसक प्रजातांत्रिक राज्य को स्वीकृति देते हैं। विनोबा सरकारी संगठन के तोड़ने के बदले जन-शक्ति के निर्माण पर बल देते हैं जिसे बाद की परिस्थिति में गाँधी ने भी स्वीकार किया। प्रोधोन ने भावी समाज रचना का चित्र नहीं दिया है, अतः इनके विचार को अपेक्षाकृत अपरिपक्व माना जा सकता है। परंतु गाँधी और विनोबा के विचार दूरदर्शितापूर्ण और परिपक्व हैं। ये समाज को केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं समग्र दृष्टि में देखते हैं। विनोबा ने स्थितप्रज्ञ की भाँति तटस्थ बुद्धि से विभिन्न राज्य-पद्धतियों का सुचिंतित रूप से विवेचन किया है तथा ऐसी समाज रचना की कल्पना की है जिसमें राज्य का अस्तित्व रहेगा परंतु उसका स्वरूप सेवामय और नैतिक होगा।

थूरो सरकार के कानून की तुलना में व्यक्ति की नैतिक आत्मा की प्रधानता स्वीकार करते हैं तथा राज्य-संस्था को अनैतिक, दबावपूर्ण और व्यक्ति की स्वतंत्रता का विरोधी मानते हैं। अतः वे राज्यविहीन समाज की कल्पना करते हैं तथा इसके साधन के रूप में *सिविल डिसओबिडियेंस को स्वीकार* करते हैं। गाँधी, थूरो के विचार से कुछ दूर तक सहमत हैं परंतु थूरो के विचार में आत्यंतिक व्यक्तिवाद का प्रभाव है, उनका राज्य विरोध वस्तुतः दासता और राज्य द्वारा लाए गए कृत्रिम प्रतिबंध का विरोध है तथा उनके सिविल डिसओबिडियंस में अहिंसा का कोई दार्शनिक आधार प्राप्त नहीं है।[3] उन्होंने

1 Bhattacharjee, N G, "Is Non Violent State Possible" *Gandhian Concept of State*, op Cit, p 32

2 "Prodhon's sentimental and romantic protest against property and government does not mature into a well defined ideal as Gandhijee's' —*Ibid*, p 33

३ उपरिवत, पृ० ३३।

भावी समाज-व्यवस्था का भी कोई भावात्मक चित्र प्रस्तुत नहीं किया है। परन्तु गाँधी और विनोबा के सिद्धांत में व्यक्ति और समाज का संतुलित विचार है और बहुत अंश तक राज्य के नियंत्रण को भी स्वीकार किया गया है। राज्य की बुराइयों के प्रतिकार के लिए अहिंसा पर आधारित सत्याग्रह की कल्पना की गई है। गाँधी ने प्रतिकार को तात्कालिक परिस्थिति के अनुकूल देखा। विनोबा ने प्रतिकार का माध्यम विशेषकर रचनात्मक कार्यक्रम को ही बनाया है। यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर संयमित असहयोग को उन्होंने ठुकराया नहीं है, परन्तु उनकी अभिरुचि अहिंसक सहकार की ओर ही है जिसमें सत्याग्रह की प्रक्रिया सौम्य, सौम्यतर तथा सौम्यतम हो जाती है। अतः राज्य की बुराइयों का प्रतिकार मुर्यादित दार्शनिक रूप में होता है।

बाकूनिन और क्रोपोटकिन के क्रांतिकारी और साम्यवादी अराजकतावाद में भी गाँधी और विनोबा के सिद्धांत भिन्न हैं। ये विचारक व्यक्तिगत पूँजी को उत्पादक की दासता और शोषण का मूल कारण मानते हैं। इनके अनुसार राज्य के अस्तित्व का आधार व्यक्तिगत पूँजी है। संगठित धर्म की आड़ में राज्य और संपत्ति—दोनों का पोषण मिलता है। इस प्रकार राज्य, संपत्ति और संगठित धर्म—तीनों के द्वारा मनुष्य में भौतिक और नैतिक दुर्गुणों का विकास होता है।[1] अतः राज्य, संपत्ति और संगठित धर्म—तीनों का उन्मूलन व्यक्ति के आदर्श रूप के विकास के लिए आवश्यक है। परन्तु ये दोनों विचारक आरंभ में राज्य के उन्मूलन के लिए हड़ताल, तोड़फोड़ और युद्ध में विश्वास करते हैं।[2] ये भावी समाज की रचना स्वाधीन संस्थाओं से निर्मित वृत्ताकार समाज के रूप में करना चाहते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होगा। गाँधी और विनोबा, इन दोनों विचारकों के भावी समाज-रचना के संबंध में सहमत हैं परन्तु ये किसी भी मूल्य पर राज्य के उन्मूलन के लिए हिंसा की स्वीकृति नहीं देते हैं। गाँधी और विनोबा का साधन-शुद्धि पर सबसे महत्त्वपूर्ण आग्रह है। टाल्सटाय का ईसाई, आध्यात्मिक और शांतिवादी अराजकतावाद प्रचलित ईसाई-धर्म के पारंपरिक सिद्धांतों का विरोधी और ईसा के उपदेशों पर आधारित वास्तविक ईसाई धर्म का समर्थक है। यह मानता है कि

१ कोकर फ्रांसिस डब्ल्यू०, आधुनिक राजनीतिक चिंतन, पृ० २५५ और २२२।

व्यक्तिगत सपत्ति और राज्य दोनो ईसाई मत के प्रतिकूल है[1] क्योंकि राज्य की रक्षा के लिए सशस्त्र व्यक्तियो की जरूरत पडती है जो ईसा के "बुराई का प्रतिरोध बल से मत करो"[2] के विरुद्ध है तथा व्यक्तिगत सपत्ति म कुछ अल्प-सख्यक बहुसख्यको के श्रम स उपार्जित धन को विलासिता म खर्च करते है जो ईसा के मानवभ्रातृत्व और दानशीलता के विरुद्ध है। परतु टाल्सटाय ने भावी समाज का कोई चित्रण नही किया है[3] और न उसके लिए कोई व्यवस्था दी है। गाधी ने भी भावी समाज का कोई पूण चित्र नही खीचा था फिर भी तात्कालिक रूप स अहिंसक राज्य की व्यवस्था उन्होने दी थी। विनोबा ने भावी समाज का एक मोटा चित्र प्रस्तुत कर अहिंसक साधन से राज्य की शक्ति को कम करने की पद्धति भी ढूढ निकाली है। फिर गाधी और विनोबा का सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध से भिन्न तथा अपने आप म काफी सक्रिय सिद्धात है। पुन गाधी ने अतिम रूप स यह स्वीकार किया था कि पूर्ण अहिंसक राज्य अर्थात् राज्यविहीन समाज रेखागणित के बिंदु के समान है जिसे प्राप्त नही किया जा सकता है। अत उन्होंने केवल हिंसा पर आधारित राज्य का विरोध किया है राज्य का नही। यदि वे राज्य का विरोध करते तो स्वराज्य भी नही चाहते परतु वे सर्वोदय समाज के लिए राजनैतिक स्वतत्रता आवश्यक मानते थे। विनोबा ने भी दलगत राजनीति का विरोध किया है लोकनीति के समर्थन राज्य का नही। इससे यह स्पष्ट है कि गाधी और विनोबा के राजनैतिक विचार मे सभी प्रकार के अराजकतावादियो के कुछ शुभ अश आते हैं परतु किसी भी प्रकार के अराजकतावाद स उनका तादात्म्य स्थापित नही हो सकता है।

गाधी और विनोबा का विचार मार्क्स और लेनिन के समाजवादी तथा विकासवादी अराजकतावाद स भिन्न है। आधुनिक अराजकतावादियो स भिन्न मार्क्स राज्यविहीन समाज की स्थापना करने के लिए शोषितो की तानाशाही तथा शक्ति प्रयोग कुछ काल तक आवश्यक मानते है परतु गाधी और विनोबा के चितन म राज्य की शक्ति के सगठन को थोडे दिनो के लिए भी आवश्यक नही माना जाता है राज्य के समाप्तिकरण का काय तुरत अहिंसक साधन के द्वारा

१ उपरिवत् पृ० २३६।
२ उपरिवत् पृ० २३६।
३ उपरिवत् पृ० २३६।

शुरू कर दिया जाता है।[1] विनोबा साम्यवादियों की भाँति यह भी आश्वासन नहीं देते हैं कि सर्वोदय-समाज के द्वारा सत्ता ग्रहण करने पर राज्य से मुक्ति होगी। राज्य से मुक्ति के लिए वे हर व्यक्ति के प्रयत्न को सामूहिक समष्टि पर बल देते हैं।

वस्तुतः गांधी और विनोबा के विचारों में एक ओर राजनैतिक बहुल-वादियों की भाँति निरपेक्ष सार्वभौमता का विरोध किया गया है तो दूसरी ओर आदर्श के रूप में अराजकतावाद की कल्पना की गई है। साधन की पवित्रता का सदैव ख्याल रखा गया है। सिद्धान्त की विकासशीलता के लिए पर्याप्त स्थान है। व्यक्ति और समाज के संबंध का विचार संतुलित है तथा अहिंसक राज्य के लिए स्वाधीन संस्थाओं में निर्मित सरल और ग्रामीण राज्य की भावी योजना है। अतः इनका विचार समन्वयात्मक है जिसे अराजकतावाद कहना अनुचित होगा।

६ ट्रस्टीशिप का दर्शन अहिंसक राज्य पद्धति की धारणा के साथ समाज की नवीन आर्थिक-संरचना के संबंध में गाँधी का ट्रस्टीशिप सिद्धांत विशेष रूप में मालकियत और आर्थिक वितरण के प्रश्न पर नैतिक और अहिंसक समाधान का एक प्रयास है। वर्तमान समाज की आर्थिक-व्यवस्था के संबंध में मुख्य रूप से दो विचार प्रचलित हैं—व्यक्तिवादी और समष्टिवादी या पूँजी-वादी और समाजवादी विचार। व्यक्तिवादी-पूँजीवादी विचार उत्पादन के व्यक्तिगत स्वामित्व का समर्थन करता है जिसमें व्यक्ति को अपनी क्षमता भर उपार्जन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। ऐसी अर्थ रचना का मुख्य आधार माँग और पूर्ति का नियम है। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था का आवश्यक परिणाम प्रतिस्पर्धा, उपनिवेशवाद, अमीर और गरीब के बीच विषमता, शोषण और स्वार्थपरता है। परन्तु इसकी एक विशेषता है कि यह व्यक्ति को अपनी शक्ति भर उत्पादन करने को प्रेरित करता है। उत्पादन पर किसी प्रकार का अनावश्यक प्रतिबंध न लगाने से राष्ट्रिय आय की वृद्धि होती है। इस प्रकार की आर्थिक संरचना अमेरिका जैसे देशों में है। समाजवादी विचार पूँजीवादी व्यवस्था का घोर विरोधी है। यह व्यक्तिगत स्वामित्व को ही शोषण का मूल कारण मानता है। अतः उत्पादन और वितरण के कार्यों को राज्य के हाथों सौंपता है। ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति की स्वाभाविक उत्पादन की प्रेरणा समाप्त हो जाती है तथा वह अपनी सारी स्वतंत्रता खोकर यंत्रवत् जीवन व्यतीत

1 Bose, N K, *Studies in Gandhism* p. 70-71

करता है। आर्थिक विषमता को मिटाने के लिए इसमे हिंसा का भी सहारा लिया जाता है जो समस्या का वास्तविक और उचित समाधान नहीं है। परन्तु इस प्रणाली की एक विशेषता है कि यह अर्थ का वितरण व्यापक रूप से संपूर्ण समाज मे करना चाहता है। इस विचार के समर्थक रूस और चीन आदि साम्यवादी देश माने जाते हैं। इन दोनो से भिन्न एक तीसरे प्रकार का दृष्टिकोण भी है जिसमे आर्थिक जीवन को तिरस्कृत कर परलोकमुखी जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा है। वास्तव मे यह पलायनवादी विचार है जिसका आधार सन्यासवाद ही है। इस प्रकार के विचार मे सरल और त्यागमय जीवन को ही उचित समझा जाता है। आर्थिक उत्पादन और प्रगति को ही उपेक्षित किया जाता है। इस प्रकार की दृष्टि मे सारी अच्छाइयो के बावजूद सामाजिक और भौतिक वास्तविकता का तिरस्कार होता है।

ट्रस्टीशिप के सिद्धात मे गाधी ने ऊपर के तीनो सिद्धातो की बुराइयो का परित्याग कर उनकी अच्छाइयो को ग्रहण किया है। पूंजीवादी व्यवस्था का व्यक्तिगत स्वामित्व और उसका अभिक्रम, समाजवादी व्यवस्था का समाज-कल्याण और परलोकवादियो की अर्थ विमुखता और त्यागमय जीवन—तीनो का एक साथ मिलन ट्रस्टीशिप के सिद्धात म होता है। इस धारणा मे गीता के अपरिग्रह और समत्व भावना,[1] कानून के ट्रस्टीशिप[2] और ईशावास्य के "तेन त्यक्तेन[3] भुंजीथा" का अपूर्व समन्वय हो जाता है। यहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व समाज के पवित्र धरोहर के रूप मे रहता है। अत सामाजिक सपदा भोग के लिए नहीं बल्कि जन-कल्याण के लिए ही माना जाता है। इसीलिए यहाँ मालिक और मजदूर के बीच वर्ग-सघर्ष नही बल्कि एक नवीन सबध की कल्पना की गई है जिसमे दोनो के बीच हितैक्य का भाव रहता है। यह अमीरो और गरीबो के बीच विषमता को मिटाने का अहिंसक-समाजवाद है।[4] इसके द्वारा पूंजीपति को सुधार का एक सुअवसर[5] प्रदान किया जाता है, यह विश्वास

1 Gandhi, M K, *An Autobiography or the Story of My Experiments with Truth*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1966) p 198

2 *Ibid*, p 198

3 *Harijan*, 22 2 '42, p 49

4 *Harijan*, 20 4 '40, p 97

5 *Harijan*, 25 ▮ '52, p 301

रखकर कि मानव स्वभाव बदल सकता है। इसमें स्वार्थ और संग्रह के लिए उत्पादन का निषेध[1] और सामाजिक आवश्यकतानुकूल समाज हित के लिए उत्पादन का भाव है।[2]

गाँधी के अनुसार संसार की सभी वस्तुओं का वास्तविक मालिक ईश्वर है[3] जिसने इसका सृजन किया है। 'संपत्ति सब रघुपति के आही'। 'सबै भूमि गोपाल की'। उसने विश्व का सृजन किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं किया बल्कि समस्त प्राणियों के लिए किया है।[4] वह सर्वशक्तिमान होते हुए भी संग्रह नहीं करता है, रोज का काम रोज करता है।[5] मनुष्य उसी ईश्वर का एक छोटा-सा रूप है, अत उसे भी उत्पादन समाज हित की भावना से करना चाहिए, स्वार्थ की भावना से नहीं। ईश्वर की भाँति ही उसे भी भविष्य के लिए संग्रह नहीं करना चाहिए। अपनी आवश्यकता की पूर्ति के बाद जो धन बच जाय उसे अपना नहीं मानकर ट्रस्ट मानना चाहिए तथा उस संपत्ति का सदुपयोग समाज हित[6] और राज्य हित[7] में करना चाहिए। यदि इस प्रकार का विचार समाज में रूढ़ हो जाय, तो गाँधी का यह दृढ़ विश्वास है कि समाज में आर्थिक विषमता मिट कर रहेगी।

ट्रस्टीशिप के सिद्धांत में आर्थिक विषमता मिटाने का प्रयत्न बलपूर्वक हिंसा के आधार पर नहीं, विचार-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन के आधार पर किया जाता है।[8] गाँधी की यह मान्यता है कि यदि राज्य हिंसा के आधार पर पूँजीवाद का दमन करती है, तो समाज में कभी भी अहिंसा पनप नहीं सकती है। यदि व्यक्ति ट्रस्टीशिप के सिद्धांत का पालन नहीं भी करता है तो राज्य की तुलना में यह कम हिंसा है।[9] अतः ट्रस्टीशिप के विचार का प्रचार ही सामाजिक आर्थिक विषमता को दूर कर सकता है। गाँधी यह

1 *Ibid*, p 301
2 *Ibid*, p 301
3 *Harijan*, 23 2 '47, p 39
4 *Ibid*, p 39
5 *Ibid*, p 39
6 *Harijan*, 22 2 '42, p 49
7 *Young India*, 26 11 '31, pp 368-69
8 Pyarelal, *Towards New Horizons*, pp 90-91.
9 *Modern Review*, 1935, p 412

मानते हैं कि विना हृदय परिवर्तन और विचार परिवर्तन के कानून के द्वारा भी सच्चा समाजवाद नहीं ला सकते हैं। अत सबसे अधिक महत्त्व ट्रस्टीशिप के पक्ष मे जनमत तैयार करने का है। यह सपत्ति और व्यक्तिगत स्वामित्व के मूल्य मे ही प्रहार है। मुख्य वस्तु मूल्य-परिवर्तन है। जब सपत्ति सग्रह का मूल्य समाप्त हो जायगा तो फिर इसके दोष स्वय विदा हो जाएगे। जबतक सत्ता प्राप्त नहीं होती है तबतक हृदय-परिवर्तन का कार्य अनिवार्य रूप मे और सत्ता प्राप्त करने पर ऐच्छिक रूप मे होना अनिवार्य है।[१]

गाधी समाज को एक परिवार के रूप मे देखते हैं। परिवार मे हर व्यक्ति की क्षमता एक समान नहीं रहती। अत हर व्यक्ति एक समान उत्पादन नहीं कर सकता। परतु जो कुछ वह उत्पादन करता है उसका एक ही मालिक उस परिवार का मुखिया है जो उस सपत्ति का उपयोग समस्त परिवार के लिए करता है। ठीक उसी प्रकार समाज मे भी शक्ति की विषमता के कारण उत्पादन की विषमता होगी। इसलिए व्यक्ति को अपनी शक्ति तथा मेधा के अनुकूल करोड़ों के उपार्जन करने का अधिकार है।[२] गाधी समाज मे समता लाना चाहते है, परतु ऐसी समता नहीं लाना चाहते जिसमे व्यक्ति अपनी मेधा का पूरा उपयोग ही न कर सके। यदि व्यक्ति की शक्ति और मेधा को बेकाम बनाने वाली समता लाई गई तो वह मृतवत् समता होगी जिसमे समाज जीवित नहीं रह सकेगा।[३] अत गाधी का यह सुझाव है कि व्यक्ति उपार्जन अपनी शक्ति और मेधा भर करे परतु उसका उपयोग समाज हित के लिए हो। उत्पादन का अधिकाश भाग राज्य के कल्याण मे खर्च हो। इसी प्रकार वितरण की समता का यह अर्थ नहीं कि कम आवश्यकता और अधिक आवश्यकतावाले को एक समान ही मिले। पाचन क्रिया कमजोरवालो को और अधिक पचानेवालो को समानता के नाम पर एक समान भोजन नहीं दिया जायगा।[४] समता का अर्थ अधिक से अधिक समता है। इसीलिए गाँधी निम्नतम पारिश्रमिक और उच्चतम आय को निर्धारित करना चाहते थे तथा समय-समय पर उसे बदल

---

1 Pyarelal *Towards New Horizons* p 90

2 *Harijan*, 22 2 '42, p 49

3 *Ibid* p 49

४ हरिजन, ५ ८ ४० & Bose, N K, *Studies on Gandhism*, p 96

कर धीरे-धीरे विषमता कम करना चाहते थे।[१] गाँधी यह तय नहीं करना चाहते कि कौन व्यक्ति कितना समाज हित मे देगा। एक सौ रुपये कमानेवाला पचास रुपये श्रमिक को देने के लिए बाध्य है तो करोड़ों उपार्जित करनेवाला केवल एक प्रतिशत का ही हकदार है।[२] अत मुख्य चीज उत्पादक की आवश्यकता ही है। अपनी आवश्यकता से अधिक रखने का उत्पादक को अधिकार ही नही है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक रख ही नही सकता तो वह करोड़ो की संपत्ति क्यों उत्पन्न करेगा? फिर जो करोड़ों की संपत्ति उत्पन्न करेगा वह बिना हिंसा और शोषण के संभव ही नहीं है। अत ट्रस्टीशिप के बदले धन कम उत्पादन करने की ही क्यों न शिक्षा दी जाय? इस प्रश्न के उत्तर मे गाँधी का यह कहना है कि वित्त की तृष्णा नही करना ही सर्वोत्तम है।[३] इसीलिए उन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन मे इस इच्छा का त्याग किया। परन्तु वे जानते थे कि ऐसा सभी नही कर सकते। अत एक ओर स्वामित्व उनके हाथ मे रहे ताकि उन्हे संतोष हो और अधिकाधिक संपत्ति उत्पादन के लिए प्रेरणा मिलती रहे, लेकिन इसका उपभोग वे समाज के लिए करें। इसमे उनकी धर्म-भावना भी पुष्ट होगी—उनके 'स्व' को भी संतोष मिलेगा। अत कुछ व्यक्ति जो पहले से धन जमा कर चुके है तथा धन संग्रह करने की इच्छा का त्याग नही कर सकते हैं उनके लिए ट्रस्टीशिप का सिद्धांत लागू होता है। इसके पीछे व्यावहारिक बुद्धि का बल है।[४]

दूसरा प्रश्न यह किया जा सकता है कि अनुभव मे यह सिद्ध होता है कि बड़े-बड़े संत महात्मा हुए परन्तु पूँजीपति के हृदय का परिवर्तन नहीं कर सके। अत यह कोई जरुरी नहीं है कि जमीदार या पूँजीपति स्वेच्छा से अपनी संपत्ति को गरीबों की सेवा मे लगावे। ऐसी स्थिति मे समाज की विषमता सदैव ज्यों-की-त्यों बनी ही रहेगी। गाँधी इस प्रश्न का भी सुंदर उत्तर देते हैं। उनके अनुसार जमींदारो और पूँजीपतियो की सत्ता श्रमिको के सहयोग

1 *Harijan*, 25 10 '52, p 301

2 *Young India*, p 369

3 *Harijan*, 3 8 '42, p 67

4 *Ibid*, p 67

पर आश्रित है।[1] यदि श्रमिक वर्ग उनका सहयोग करना बंद कर दें तो वे विपुल धनराशि इकट्ठा नहीं कर सकते हैं। अतः यदि वे मजदूरों के प्रति ट्रस्टी का बर्ताव नहीं करते हैं तो श्रमिकों में अहिंसक असहयोग करने की शिक्षा दी जा सकती है और इससे बाध्य होकर उन्हें ट्रस्टी का आचरण करना पड़ेगा।[2] दूसरी बात यदि पंचायती राज की स्थापना हो जाती है और जनमत ट्रस्टीशिप के पक्ष में होता है तो पूंजीपति जनमत का विरोध कर टिक नहीं सकते।[3] यदि इतने पर भी व्यक्ति में ट्रस्टीशिप की भावना का विकास नहीं होता है तो राज्य को यह अधिकार होगा कि जनहित के लिए कम से-कम बल प्रयोग और हिंसा का सहारा लेकर उनकी सम्पत्ति का अपहरण कर ले[4], अथवा उसका कमीशन तय करे।[5] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गांधी का यह सिद्धांत कल्पनालोक का प्रत्यय नहीं बल्कि व्यावहारिक सिद्धांत है। परन्तु इसकी व्यावहारिकता उत्तम संस्कृति पर आधारित है। यह ठीक है कि इसका आचरण करना कठिन है, परन्तु यदि सिद्धांत सही है, तो इस दिशा में प्रयत्न ही उचित है। बिना किसी सफलता और विफलता का विचार किये अहिंसा का पुजारी इसका आचरण करेगा। गांधी भी इस बात से अवगत हैं कि पूर्ण ट्रस्टीशिप का पालन रेखागणित के बिंदु के समान[6] है जो कभी वास्तविक नहीं हो सकता। परन्तु उनका यह भी विश्वास है कि यदि इस दिशा में प्रयास किया जाय तो धीरे धीरे प्रेम की मात्रा समाज में बढ़ने लगेगी और हमें यह विश्वास होने लगेगा कि इससे बढ़कर पृथ्वी पर समता लाने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।[7] गांधी का यह भी विश्वास है कि चूँकि इस सिद्धांत के पीछे धर्म और दर्शन का आधार प्राप्त है,[8] अतः सभी सिद्धांत समाप्त हो सकते हैं लेकिन यह सदैव सत्य रहेगा।[9] इसके द्वारा एक सार्वभौम जीवन-पद्धति का विकास होगा जिसमें लोग अपने पड़ोसियों के लिए चिंता करेंगे।[10]

१ हरिजन, २२-८-४०, पृ० २६० ६१।
२ उपरिवत्, पृ० २६०-६१।
3 Pyarelal *Towards New Horizons*, p 67
४ हरिजन, २५-१० ५२, पृ० ३०१।
५ हरिजन ३१-३-४६ पृ० ६३-६४।
6 *Modern Review* 1935 p 412
7 *Ibid* p 412
8 *Harijan*, 16 12 '39, p 376
9 *Ibid* p 376
10 *Harijan*, 22 2 '42, p 49

मार्क्सवादी विचारक आर्थिक समता लाने के लिए बलपूर्वक पूँजीपतियो की सपत्ति का अपहरण करना चाहते हैं। अत मे व्यक्तिगत पूँजीवाद समाप्त तो होता है लेकिन पूँजी के लिए व्यक्तिगत स्पृहा नही जाती। व्यक्ति का जीवन-मूल्य नही बदलता। अत गाँधी पूँजीपतियो का सास्कृतिक परिवर्तन करना चाहते हैं जिससे वे अपने को स्वार्थ और सग्रह की वृत्ति से अलग कर धन रहते हुए भी श्रमिको का सरल जीवन व्यतीत कर सकें[1] और श्रमिकों को ऐसा अनुभव हो कि पूँजीपति भी उसी के समान हैं। उनमें इस चेतना का विकास हो कि जो सपत्ति उनके पास है, उससे वे केवल जीने भर के लिए हकदार हैं, बाकी सपत्ति समुदाय की है। इससे एक लाभ यह भी है कि हमे न केवल पूँजीपतियो की पूँजी प्राप्त होती है बल्कि उनकी व्यवस्था और व्यापक-बुद्धि का भी लाभ होता है।

मार्क्सवादी विचारक समता लाने के लिए पूँजीपतियो के प्रति प्रतिशोध का भाव रखते हैं। गाँधी पूँजीपति के प्रति न तो ईर्ष्या रखते हैं और न प्रतिशोध का भाव रखते हैं। वे केवल पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन करना चाहते हैं।[2] मार्क्सवादियों का यह विश्वास है कि केंद्रित उत्पादन और वितरण की व्यवस्था से आर्थिक विषमता मिटाई जा सकती है। गाँधी का यह विश्वास है कि विकेंद्रित उत्पादन की व्यवस्था से ही आर्थिक विषमता मिटाई जा सकती है। समाजवादी पूँजीवादी व्यवस्था बदलने के लिए जनता मे हिंसा की शिक्षा देते हैं। केंद्रीकरण के मूल मे ही हिंसा बैठी हुई है जिसका बीभत्स रूप आज हम दुनियाँ के औद्योगिक राज्यो मे देख रहे हैं। इसलिए भी विकेंद्रीकरण जरूरी है। गाँधी पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने के लिए श्रमिको मे अहिंसक-असहयोग का प्रशिक्षण करना चाहते हैं जिससे श्रमिक अपनी ही शक्ति का[3] विकास कर परिस्थिति मे अनुकूल परिवर्तन ले आते हैं, हिंसा करने की जरूरत नही पड़ती है। गाँधी ट्रस्टीशिप के सिद्धात के द्वारा आय का समान वितरण करना चाहते हैं। वे तो वकील, डाक्टर, हाथ-कारीगर और मेहतर—सब के समान वेतन की बात करते हैं। परतु समाजवादी विचारक शायद ही समानता का समर्थन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि समाजवादी प्रक्रिया और गाँधीवादी प्रक्रिया मे मुख्य रूप से हिंसक साधन और अहिंसक

---

1. *Harijan*, 3 6 '39, p 145.
2. Bose, N K, *Studies In Gandhism*, p 92
3. *Ibid*, p 92

साधन का ही भेद है।[1] गांधी का सिद्धात समाजवादियो के सिद्धात की तुलना मे काफी दूरदर्शितापूर्ण और व्यावहारिक है। गान्धी ट्रस्टीशिप के सिद्धात को केवल पूंजीपति के लिए ही लागू नही करते बल्कि यह सभी पर लागू होता है। धन के अतर्गत केवल स्थूल धन ही नही आते हैं बल्कि बुद्धि,[2] शक्ति सभी धन के अतर्गत ही आते है। अत इनके सबध म भी ट्रस्टीशिप का सिद्धात लागू होता है। इसका आचरण व्यक्ति, समुदाय और राज्य—सभी के लिए अभिप्रेत है।

ट्रस्टीशिप के सिद्धात के प्रति कई प्रकार के आक्षेप लगाये जाते हैं। कुछ लोग इस यूटोपिया कहते है तो कुछ इसम गांधी का पूंजीपति के प्रति पक्षपात देखते है। यह भी कहा जाता है कि गांधी यह नहा समझ सके थे कि पूंजीवादी-व्यवस्था ही शोषणपूर्ण और मानवतावाद के विरुद्ध है। यहां इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पूर्ण सत्य और सापेक्ष सत्य, पूर्ण अहिंसा और व्यावहारिक अहिंसा, राज्य निरपेक्ष-समाज और अहिंसक राज्य के बीच गांधी ने भेद कर पूर्ण आदर्श को केवल सामने रखा है तथा व्यवहार और परिस्थिति के समुचित ज्ञान के आधार पर ही उस यथासभव रूप म कार्य म परिणत करने का प्रयत्न किया है उसी प्रकार पूण ट्रस्टीशिप का सिद्धात भी आदर्श है। व्यवहार परिस्थिति के अनुकूल है, अत किसी प्रकार की आलोचना इस सिद्धात के विरुद्ध टिक नही पाती है। डा० राममनोहर लोहिया ने तो भारतीय ससद मे कानूनी ट्रस्टीशिप का बिल भी पेश किया था जिसस यह प्रकट होता है कि इसका व्यावहारिक रूप भी है। आज मालिक-मजदूर क नित्य प्रति सघष और घनघोर दारिद्र य के बीच वैभव के वीभत्स प्रदशन को देखकर मानवता जाग रही है। फ्रास और यूरोप के कुछ देशो मे कुछ मालिक अपने कारखाने मजदूरो को सौप कर उनके ट्रस्टी बन गय हैं।

२ **विनोबा और विश्वस्त वृत्ति** विनोबा के अनुसार सही अर्थ म ट्रस्टीशिप सिद्धात का अभिप्राय है, शरीर, बुद्धि और सपत्ति—तीनो मे से जो भी प्राप्त हो उस सबके हित म लगाना।[3] किसी भी परिस्थिति मे यह अपरिग्रह का उत्तम उपाय है।[4] परतु शुरू स ही 'ट्रस्टीशिप' शब्द का प्रयोग

1 *Ibid*, p 91

2 *Ibid*, p 117

3 भावे, विनोबा, सर्वोदय और स्वराज्य शास्त्र, पृ० १२४।

४ उपरिवत्, पृ० १३२।

गलत अर्थ में हो रहा है, अतः विनोबा इस शब्द के बदले 'विश्वस्त-वृत्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं।[१] उनके अनुसार विश्वस्त-वृत्ति का अर्थ है—दूसरे पर विश्वास रखते हुए जीना।[२] वे इस बात का समर्थन करते हैं कि व्यक्ति को किसी के ऊपर आश्रित नहीं रहना चाहिए, परन्तु इस स्वावलंबन के सिद्धांत का यह अर्थ नहीं है कि वह दूसरे पर भरोसा रखना छोड़ दे। यदि हर व्यक्ति दूसरे का भरोसा करना छोड़ दे तो ऐसी समाज रचना 'नरक की योजना होगी'।[३] अतः विश्वस्त वृत्ति का अर्थ है—माँ-बाप को संतान पर, संतान को माँ-बाप पर, पड़ोसियों को पड़ोसियों पर तथा भिन्न भिन्न राष्ट्रों को एक दूसरे पर विश्वास होना चाहिए। इस प्रकार की विश्वस्त-वृत्ति को शिक्षण से परिपुष्ट किया जा सकता है। विनोबा उस समाजवादी रचना को "बौद्धिक आलस्य" कहते हैं जिसमें सारे समाज को एक साँचे में ढाल कर यंत्रवत् बनाने की योजना होती है जिसमें दूसरे पर विश्वास करने की आवश्यकता न हो।[४] परस्पर विश्वास पर आधारित समाज रचना के लिए "विविध शक्तियों का सुसंवादी संयोजन" आवश्यक है।[४] 'लोक-संग्रह' और 'व्यक्तिगत अपरिग्रह' का अर्थ भी विनोबा विश्वस्त वृत्ति में अपनी शक्ति का सबके भले के लिए उपयोग करना मानते हैं।[५] इससे यह स्पष्ट होता है कि गाँधी जहाँ मुख्य रूप में संपत्ति के संबंध में ट्रस्टीशिप का विचार करते हैं वहाँ विनोबा सभी प्रकार की शक्तियों के सामाजिक उपयोग पर अधिक बल देते हैं। गाँधी कानून के ज्ञाता होने के नाते ट्रस्टीशिप शब्द पसंद करते हैं, विनोबा सन्यासी होने के नाते 'विश्वस्त-वृत्ति' शब्द पसंद करते हैं। गाँधी के लिए ट्रस्टीशिप का सिद्धांत मुख्यतः एक सामाजिक आर्थिक आवश्यकता और व्यावहारिक बुद्धि का परिणाम है। विनोबा विश्वस्त वृत्ति को सामाजिक रचना का स्थायी मूल्य तो प्रदान करते हैं किन्तु इसके मूल में नैतिकता और आध्यात्मिकता पर विशेष बल प्रदान करते हैं।

इस संबंध में विनोबा की सबसे बड़ी देन यह है कि वे गाँधी के ट्रस्टीशिप सिद्धांत का विनियोग सामाजिक रचना के क्षेत्र में करते हैं तथा इसी आधार पर

---

१ भावे विनोबा, सर्वोदय विचार और स्वराज्य-शास्त्र, पृ० १३४।

२ उपरिवत्, पृ० १३४।

३ उपरिवत्, पृ० १३४।

४ उपरिवत्, पृ० १३४।

५ उपरिवत्, पृ० १३४।

भूदान, ग्राम-दान इत्यादि धारणाओ का विकास करते हैं। गाधी ट्रस्टीशिप के सिद्धात के अतगत वितरण का निश्चित विचार शास्त्रीय रूप स पल्लवित नहीं कर सके थे। विनोबा ने भूदान, सपत्तिदान और ग्रामदान आदोलन मे कितना समाज के निमित्त देना है—इसे तय किया है। दान के द्वारा भूमि, सपत्ति की समस्या का हल निकालना और स्वावलबन युक्त परस्पर विश्वासपूर्ण समाज की रचना की कल्पना करना ट्रस्टीशिप का व्यापक प्रयोग है।

फिर विनोबा के 'दान' और गाँधी के ट्रस्टीशिप सिद्धात म मुख्य रूप स दो बातो का भेद है।[1] ट्रस्टीशिप के सिद्धात मे नाम मात्र के स्वामित्व की कल्पना है क्योकि सपत्ति के उपभोग म भी सामाजिक हित के सिद्धात के द्वारा यह निर्धारित होता है तथा सपत्ति के उत्तराधिकार के निर्धारण मे भी व्यक्ति का पूरा वश नही चलता है, अतिम रूप म राज्य के द्वारा उसका निर्धारण होता है। फिर भी कानूनी रूप स व्यक्ति को अपनी सपत्ति पर पूरा हक रहता है। भूदान सपत्तिदान और ग्रामदान म व्यक्तिगत स्वामित्व नाम मात्र के लिए भी नही रह जाता है। यह ठीक है कि सुलभ ग्राम-दान म कुछ व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिकार मिलता है परतु यह केवल व्यावहारिक बनाने के लिए। ग्राम-दान म कानूनी रूप स सारी जमीन की मालकियत ग्राम-सभा के जिम्मे चली जाती है, व्यक्ति को जमीन की खरीद बिक्री का कोई हक नही रह जाता। इस प्रकार ग्राम दान का विचार कानूनी ट्रस्टीशिप का व्यावहारिक पक्ष है। इसी प्रकार सपत्ति और श्रमदान मे भी निश्चित रूप स उत्पादन का चालीसवा भाग और महीने म एक दिन का वेतन चला जाता है। अत जहाँ गाँधी व्यक्तिगत स्वामित्व म थोडे काल के लिए विश्वास करते है, विनोबा उसे तुरत समाज के हाथो सौंप देना चाहते है।

दूसरी बात यह है कि गाँधी ने केवल इतना कहा था कि ट्रस्टीशिप का सिद्धात सभी लोगो पर लागू होगा।[2] परतु विशेष रूप स उन्होने इसे धनी, जमीदारो और पूँजीपतियो पर लागू किया। विनोबा भूदान-ग्रामदान योजना के अतर्गत धनी-गरीब सभी से दान लेते हैं। अत इन्होने ट्रस्टीशिप का

1 Doctor, Adi H, *Sarvodaya A Political And Economic Study*, p 111

2 Pyarelal, *Towards New Horizons*, pp 90-91

प्रयोग सभी लोगो पर वास्तविक रूप से किया है। वस्तुत ट्रस्टीशिप के द्वारा गांधी भी एक सार्वभौम जीवन-पद्धति का निर्माण करना चाहते थे। परन्तु ऐसा नहीं कर सके। विनोबा ने वास्तव मे इनकी इस छिपी भावना को साकार रूप देने का प्रयास किया है। सबसे दान लेना वस्तुत एक सार्वभौम जीवन और समाज पद्धति का ही निर्माण करना है जिसपर हम भूदान, सपत्तिदान, ग्रामदान आदि के सदर्भ मे विचार करेंगे।

अष्टम अध्याय



समाज-दर्शन-२
(क्रांति-दर्शन)

समाज-दर्शन-२
क्रांति-दर्शन

१ (क) विषय-प्रवेश

व्यक्ति और समाज के कुछ स्थायी और शाश्वत तत्त्व होते हैं जिन्हें बदलने की कभी आवश्यकता नही पडती है। उनकी उपयोगिता सर्वकालीन होती है। सत्य और अहिंसा ऐसे मूल्य हैं जिनसे समाज को विलग नही किया जा सकता है—गाँधी और विनोबा का यह दृढ विश्वास है। ऐसे मूल्यो और सिद्धातो का सातत्य (Continuity) रहता है। परतु व्यक्ति और समाज की मनावृत्तियो, जीवन पद्धतियो, चेतनाओ और सामाजिक सस्थाओ की रचना को कभी-कभी हम पूर्ण जीवन के सिद्धातो के अनुकूल नही पाते है। ऐसी स्थिति मे समाज मे व्यक्ति के व्यक्तित्व, उसकी सस्कृति और सामाजिक परिस्थितियो मे परिवर्तन लाना अनिवार्य हो जाता है—चाहे यह परिवर्तन सुधार के द्वारा हो अथवा पूर्णरूपेण तात्कालिक स्थितियो के परिवर्तन से हो। यदि सामाजिक परिवर्तन आशिक, अचेतन और क्रमिक रूप से होता है तो इसे साधारण परिवर्तन कहते हैं जिसे 'विकास' या 'सुधार' शब्दो के आधार पर समझ सकते है। परतु जब सामाजिक परिवर्तन चेतन रूप से, पूर्णरूपेण एकाएक कर दिया जाता है तो ऐसे परिवर्तन को क्राति की सज्ञा दी जाती है।[1] गाँधी और विनोबा के समाज परिवर्तन के सिद्धातो मे यद्यपि आशिक रूप से कुछ भेद है फिर भी हम इन्हें मूलत क्रातिकारी परिवर्तन ही मानेंगे भले ही इनमे कुछ

---

1 "Changes take place either consciously or unconsciously, suddenly or gradually, thoroughly or partly In the former case alone, it is called revolution Otherwise it may be evolution or reform—as the case may be"—Singh, Dr Ramjee, "Gandhian Approach to Social Revolution", Vidyarthy, L. P, (ed) *Gandhi and Social Sciences* (New Delhi, Bookhive, 1970), (pp 63–71), p 63

सुधारवादी तत्त्व क्यों न हो। इसे समन्वयवादी विचार भी कहा जा सकता है। अब हम एक एक कर गांधी और विनोबा के विचारों का अध्ययन करेंगे।

(ख) गांधी विचार

१ सामान्य विशेषताएँ गांधी-दर्शन में सबसे अधिक प्रमुखता उनके समाज-परिवर्तन के सिद्धांत को मिली है जिसने केवल भारत को ही नहीं विश्व मानव को भी आकर्षित किया है। इनके सिद्धात की यह विशेषता है कि यह समाज के किसी एक पहलू के परिवर्तन पर बल नहीं देकर उसके समस्त पहलुओं के परिवर्तन पर बल देता है। किसी भी सामाजिक व्यवहार के मुख्यत तीन पहलू होते[1] हैं—व्यक्तित्व, समाज और संस्कृति। व्यक्तित्व का अर्थ है कि व्यक्ति सामाजिक जगत में अपने को किस प्रकार सबंधित करता है। समाज से तात्पर्य समाज के विभिन्न समुदायों और संस्थाओं के आपसी संबंध से है। जैसे जाति, वर्ग, गाव, समुदाय इत्यादि। इसके अतर्गत उन पद्धतियों का विचार आता है जिसके द्वारा आर्थिक राजनैतिक और सामाजिक संस्थाएँ एक दूसरे के साथ व्यवहार करती हैं। संस्कृति से सांकेतिक तत्त्वों का बोध होता है जिसमे समाज के सदस्य भाग लेते हैं। यह मानव के चरम मूल्यों का परिभाषित करता है तथा उचित अनुचित का सिद्धात निरुपित करता है। इसके अतर्गत धर्म और नीति सभी आ जाते हैं। फ्रायड व्यक्तित्व परिवतन पर बल देते हैं तो कार्ल मार्क्स समाज अर्थात् आर्थिक संस्थाओ के परिवतन पर। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जैसे कलाकार, जिनका यह दावा है कि केवल मूल्यों म परिवर्तन हो जाने से अन्य सभी अंगों में परिवर्तन हो जाता है। जो व्यक्तित्व-परिवर्तन पर बल देते हैं वे परिवर्तन के लिए शिक्षा और मनोचिकित्सा के लिए तर्क देते हैं, जो समाज-परिवर्तन पर बल देते हैं व आर्थिक क्रांति, तकनीकी विकास और राजनैतिक रचना में परिवर्तन पर बल देते हैं तथा जो सांस्कृतिक परिवर्तन पर बल देते हैं वे शिक्षा के द्वारा मूल्य परिवर्तन, समाचार-पत्र द्वारा विचार-परिवर्तन तथा धार्मिक और सांस्कृतिक आदोलन को समाज-परिवर्तन का साधन मानते हैं।[2] परतु ये सभी सिद्धात एकांगी हैं। समसामयिक विचारकों में कान्त, मकियावेली, हेगल, शोपेनहावर, मार्क्स तथा फ्रायड—सभी के सिद्धातों

---

1 Lakey, George, "Revolution Violent or non-violent", *Gandhi Marg*, (English) 15, 1 (January, 1971), pp 6-25, p 7

2 *Ibid*, pp 7-8

के द्वारा समाज के आंशिक परिवर्तन पर ही प्रकाश पड़ता है। गाँधी ने संपूर्ण समाज के अखंड परिवर्तन पर बल दिया है जिसे उन्होंने सर्वोदय की संज्ञा दी है। उनके अनुसार समाज खंड-खंड कर परिवर्तित नहीं होता।[1]

गाँधी के सिद्धांत की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें समाज-परिवर्तन के लक्ष्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता का होना भी अनिवार्य है।[2] यह उनकी साधन-साध्य एकता के सिद्धांत का निष्कर्ष है। इसीलिए जहाँ कार्ल मार्क्स उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हिंसक साधन की छूट दे सकते हैं वहाँ गाँधी समाज परिवर्तन के लिए अहिंसक और शांतिमय साधन को ही अपनाते हैं। इसीलिए इनका मार्ग 'अहिंसक क्रांति का मार्ग' (Non-violent Revolution) या जेम्स डब्लू डगल्स के शब्दों में "नीरव-क्रांति[3]" (Revolution through Solitude) है।

तीसरी विशेषता इस सिद्धांत की है कि यह परिवर्तन की द्वैत प्रणाली[4] में विश्वास करता है। अर्थात् समाज-परिवर्तन में परिवर्तन का संचालक और परिवर्तन की विषयवस्तु (व्यक्ति, समाज, राज्य इत्यादि)—दो तत्त्व होते हैं। इसलिए वास्तविक परिवर्तन के लिए परिवर्तक और परिवर्त्य—दोनों में परिवर्तन होना चाहिए। गान्धी ने अहिंसक प्रतिकार में सत्याग्रही और प्रतिपक्षी दोनों के हृदय-परिवर्तन की बात की है। दुर्भाग्यवश आधुनिक समाज में परिवर्तकों की संख्या में कमी नहीं है। परंतु ये अपने को शुद्ध करना नहीं

---

1 "Society cannot change in bits There has to be a mass revolution, a mass movement and a massive change".—Narayan, Jayaprakash, "Gandhi and Social Revolution", *Gandhi Marg*, 13, 4 (Oct, 1969) & 14, 1 (Jan, 1970), pp 5-15, p 7

2 Gupta, S Das, "Gandhian Constructs for a new Society", *Gandhi Marg*, 14 (Oct, 1970) pp 333-343, p 333

3 Douglass, James, W , "Revolution through Solitude", *Gandhi Marg* 15, 4 (Oct, 1971), pp 253-260, p 259

४ चटर्जी, विश्वबंधु, 'गाँधी-दर्शन की दृष्टि से हृदय परिवर्तन" सिंह, रामजी, सपा० **आधुनिक युग मे गांधी-विचार की सार्थकता**, (भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, १९६८), पृ० २९।

नैतिकता के पालन, स्वशासन तथा ऐसे समाज पर बल देते हैं जो समता और स्वतन्त्रता पर आधारित हो।[1] इसके अतिरिक्त विकेंद्रित समाज-व्यवस्था, लोकनीति की स्थापना और नीचे से क्रांति के शुभारम्भ में दोनों का दृढ़ विश्वास है। परन्तु इन समानताओं के आधार पर गांधी के विचार को अराजकतावादी विचार नहीं कह सकते। जहाँ अराजकतावादी विचारक मुख्यतः अनीश्वरवाद, बुद्धिवाद, प्रकृतिवाद, संहारवाद के समर्थक हैं तथा शोषक-शोषित का भेद करते हैं[2], वहाँ गांधी का सिद्धांत धार्मिकता तथा निरपेक्ष नीति पर आधारित है।[3] गांधी वर्ग, योन, जाति धर्म का संघर्ष नहीं चाहते। वे सभी के बीच सहयोग देखते हैं। अराजकतावादियों की भांति तुरंत राज्य को समाप्त करना उनका उद्देश्य नहीं है।[4] इसलिए श्रीमती जॉनस्ट्राट गोपीनाथ धावन के इस विचार का ठीक ही खंडन करती हैं कि गांधी राजनैतिक अराजकतावादी थे।[5]

गांधी कार्ल मार्क्स के इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं कि आर्थिक समानता के अभाव में रामराज्य की स्थापना नहीं हो सकती है।[6] परन्तु वे इस विचार से असहमत हैं कि आर्थिक समानता हिंसा या अहिंसा किसी भी साधन से लाई जाय। गांधी अहिंसक साधन के द्वारा ही परिवर्तन लाना चाहते हैं क्योंकि हिंसा के आधार पर कोई स्थायी परिवर्तन नहीं हो सकता।[7]

यह स्पष्ट है कि गांधी के समाज परिवर्तन के सिद्धांत को न तो समाजवादी सिद्धांत कह सकते हैं, न अराजकतावादी और न विकासवादी। वस्तुतः यह एक समन्वयवादी सिद्धांत है जिसमें उपर्युक्त वादों के उत्तम

---

1 Ostergaard, Geoffrey, & Currell, Melville, *The Gentle Anarchists* (Oxford, The Clarendon Press, 1971), p 33

2 *Ibid*, pp 37-43

3 *Ibid*, p 37.

4 *Ibid*, p 39.

5 Bondurant, J V, *The Conquest of Violence*, Op cit, p 172

6 *Harijan*, 1. 6 '47, p 172 & *Selections From Gandhi*—N K Bose, p. 212.

7 *Ibid*, p 172

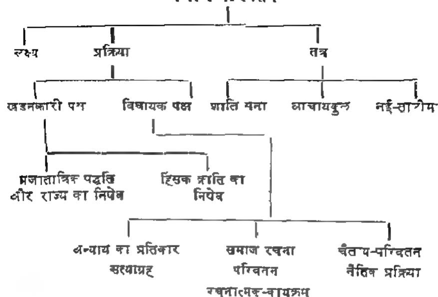
तत्त्व विद्यमान है। इसीलिए श्रीमती बॉनडूराट कहती है —"गांधी को अपने को यथास्थितिवादी, उदारवादी, समाजवादी या अराजकतावादी के रूप में वर्गीकृत करने का धैर्य नहीं होगा। वे ये सभी थे और इनमें से कुछ भी नहीं थे। क्योंकि उन्होंने अपने गहरे क्रांतिकारी स्वरूप को कभी नहीं खोया।"[1] कुछ विचारकों का यह कहना कि गांधी परंपरावादी थे—भी गलत है। वस्तुतः उन्होंने अपने सिद्धांत में परंपरा और आधुनिकता का समन्वय किया है।[2] अब हम इन विशेषताओं को सामने रखते हुए गांधी के सिद्धांत के विभिन्न पहलुओं पर एक-एक कर विचार करेंगे।

२ सिद्धांत-विभाजन विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम अध्ययन की सुविधा के लिए उनका विभाजन कर लें। पहले हम संपूर्ण सिद्धांत का वर्गीकरण तीन वर्गों में कर सकते हैं—(१) समाज-परिवर्तन का लक्ष्य, (२) उसका तंत्र, और (३) उसकी प्रक्रिया। समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया के अंतर्गत खंडनकारी और विधायक दो प्रकार के विचार हैं। खंडनकारी पक्ष में विशेष रूप से आधुनिक प्रजातांत्रिक पद्धति और अन्य हिंसक क्रांतियों की आलोचना का विचार है। विधायक पक्ष में मुख्य रूप से तीन सिद्धांत हैं (१) नैतिक साधनों से व्यक्ति के चैतन्य का परिवर्तन (२) रचनात्मक कार्यक्रम और सर्वोदय से समाज-रचना का परिवर्तन तथा (३) सत्याग्रह से सभी प्रकार के मतभेदों और संघर्षों का निराकरण। इन्हें हम आगे के पृष्ठ में सारणी के द्वारा इस प्रकार रख सकते हैं।

---

1 Gandhi would have had no patience with attempts to classify him as conservative, liberal, socialist or anarchist He was all these and none of them for he never lost his profoundly revolutionary character "—Bondurant, *Conquest of Violence*, p 188

2 "Gandhi used the traditional to promote the novel, he re-interpreted tradition in such a way that revolutionary ideas, clothed in familiar expression were readily adopted and employed towards revolutionary ends The traditional Indian and the modern Western both function within Gandhian Philosophy "—*Ibid*, p 105



१ समाज परिवर्तन का लक्ष्य

गांधी विचार जैसा हम पहले देख चुके हैं कि गांधी अपने समय की स्थापित सामाजिक संस्थाओं और उनकी मान्यताओं से असंतुष्ट थे। सर्वप्रथम, दक्षिण अफ्रिका में उन्हें रंगभेद-नीति, उपनिवेशवाद पूंजीवाद के शोषण और अत्याचार का कटु अनुभव हुआ। फिर आधुनिक सभ्यता के नाम पर प्रजातंत्र, कानून, अंग्रेजी चिकित्सा, भारीमशीनी-सभ्यता के नाम पर उत्पीड़न और शोषण से भी उनका हृदय कराह उठा था। इसी प्रकार भारतीय समाज की छुआछूत नीति शराबखोरी, जाति प्रथा, नारी के प्रति कठोर दृष्टि धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्याय और शोषण तथा अंग्रेजी शिक्षा से भी वे क्षुब्ध हो चुके थे। वर्तमान समाज में उन्हें व्यापक रूप से शोषण का दर्शन हुआ। उनके अनुसार शोषण का अर्थ केवल किसी को अपने अधिकारों से वंचित करना ही नहीं बल्कि चेतन रूप से उन प्रवृत्तियों और मापदंडों की स्थापना करना है जिससे समाज में संशयपूर्ण मूल्य को गौरव मिलता है। ऐसे मूल्यों के कारण समाज में कलह, प्रतियोगिता, घृणा और पाशविक शक्तियों को बढ़ावा मिलता

है।[1] शोषण के अंतर्गत व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच तथा समाज और समाज के बीच मे चलनेवाले सभी प्रकार के शोषण आ जाते हैं।[2] गांधी के समाज-परिवर्तन का लक्ष्य शोषण पर आधारित सस्थाओ का उन्मूलन कर एक आदर्श समाज की रचना करना है। वे ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिसका आधार अहिंसा हो, जिसमे व्यक्ति की स्वतत्रता, समानता और गरिमा सुरक्षित हो तथा आपस मे सभी के बीच प्रेम और सहयोग की भावना हो। इस अहिंसक समाज को उन्होने सर्वोदय-समाज की सज्ञा दी। इस प्रकार गांधी के समाज-परिवर्तन का लक्ष्य सर्वोदय समाज की स्थापना है, केवल अग्रेजी सत्ता का उन्मूलन नही। श्री जयप्रकाश नारायण के शब्दो मे—"सर्वोदय समाज उस समाज की कल्पना थी जिसे भारत ने स्वतन्त्रता के २२ वर्षो के बाद भी प्राप्त नही किया है। यह वैसे समाज की कल्पना थी जिसमे शोषण नहीं होगा, राज्य जितना हो सके कम-से-कम काम करेगा और जनता अपनी सुरक्षा स्वय करेगी। यह एक आत्म-नियन्त्रित समाज होगा।"[3]

गांधी अपने जीवन मे इस लक्ष्य को प्राप्त नही कर सके। राजनैतिक स्वतन्त्रता तो मिली परन्तु सर्वोदय-समाज की स्थापना करना बाकी रहा।

विनोबा का दायित्व विनोबा के समाज-परिवर्तन का लक्ष्य गाधी के इस अधूरे कार्य को पूरा करना है। गांधी की भांति ही वे वर्तमान समाज-व्यवस्था में लोक शक्ति के उदय की आशा नही करते। फिर भी वे गांधी की भांति वर्तमान समाज को *"शोषणपूर्ण समाज" नहीं मान कर "अज्ञानी समाज"* मानेंगे। इनकी भाषा सौम्य है। यह भी कहा जा सकता है कि इनके विचार अधिक सौम्य हैं। जबतक समाज की रचना अज्ञान पर आधारित होगी तबतक गांधी का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। अतएव विनोबा ने भी अज्ञान पर आधारित सभी सस्थाओ का उन्मूलन समन्वयात्मक नीति के आधार पर करना चाहा। गांधी के निधन के बाद शीघ्र ही मार्च मे उन्होंने गाधी के विचारों को समाज मे कार्यान्वित करने के लिए सर्वोदय-समाज की स्थापना

1 Dasgupta, Sugat, "Gandhian Constructs for a new Society", *Gandhi Marg*, 14 4 (Oct, 1970), p 336

2 *Ibid*, p 336

3 *Gandhi Marg*, 13, 4 (Oct, 1969) & 14, 1 (Jan, 1970), p 5

को तथा सर्व सेवा संघ को इसका यंत्र बनाया। अतः गांधी और विनोबा दोनों के लक्ष्य समान हैं। परन्तु गांधी ने सर्वोदय को एक दिशासूचक के रूप मे स्वीकार किया था।[1] उसकी सुनिश्चित योजना वे नहीं दे पाये थे। वे केवल सत्य के साथ प्रयोग करते रहे। विनोबा ने सुनिश्चित योजना बनाकर सर्वोदय का कार्य भूदान, ग्रामदान के आधार पर शुरू किया। अब हम इन विचारकों की क्रांति की प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धांतों का अवलोकन करें।

२ क्रांति की प्रक्रिया

विषय प्रवेश समाज-परिवर्तन की तीन प्रक्रियाएँ हो सकती हैं—हिंसा, कानून और करुणा पर आधारित अहिंसक प्रक्रिया। गांधी और विनोबा हिंसक प्रक्रिया का तो बिल्कुल खंडन करते ही हैं। कानून के विषय में भी उनकी शंकाएँ हैं। यों जनता द्वारा जनहित के लिए कानून बनाये जाने के वे विरुद्ध नहीं हैं। उनके अनुसार परिवर्तन लाने की वास्तविक शक्ति न तो हिंसा मे है और न कानून पर आधारित दंड शक्ति में। समाज में स्थायी और वास्तविक परिवर्तन अहिंसा, प्रेम और करुणा के आधार पर ही लाया जा सकता है जिसे विनोबा ने तीसरी शक्ति कहा है।

(क) करल

१ सामान्य अवलोकन अमरिकन, रूसी, फ्रांसीसी, ब्रिटिश और चीनी क्रांतियों के पीछे हिंसा जुटी हुई है। अतएव कुछ लोग इस निष्कर्ष पर आये हैं कि हिंसा के बिना क्रांति हो ही नहीं सकती है। परन्तु गांधी इसकी आलोचना करते हैं। उनके अनुसार चाहे फ्रांस की राज्य-क्रांति हो या रूसी लाल-क्रांति, जहां तक उनमें शस्त्र और हिंसा का सहारा लिया गया वहाँ तक उसे हम क्रांति की सज्ञा नहीं दे सकते। किसी भी सच्ची क्रांति के लिए स्वतन्त्रता समान रूप मे सबके लिए वाछनीय है।[2] वास्तविक क्रांति तब होती है जब प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वयं मालिक होता है।[3] हिंसा के द्वारा लाये हुए

1 Dasgupta, Sugat, "Gandhian Constructs for a new Society", *Gandhi Marg* 14, 4 (Oct 1970), p 334

2 *Gandhi's correspondence with the Government*, (1942-44) (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 2nd Edn, 1945)' p 173

3 *Ibid*, p 173.

परिवर्तन मे व्यक्ति की स्वतत्रता कायम नही रह सकती है। इतिहास इस बात का साक्षी है। उदाहरण के लिए फ्रास की क्राति म एक विनम्र राजा लुई सोलहवें के स्थान पर सशक्त नेपोलियन आये। इगलैंड म चार्ल्स प्रथम के स्थान पर क्रूर क्रामवेल आये। रूस मे जार के स्थान पर उससे भी कठोर स्टालिन आये। इसी प्रकार जर्मनी और इटली जैसे देशो म भी समान घटनाएँ ही घटी। इन व्यक्तियो के हाथ मे जनसाधारण की स्वतत्रता पहले मे भी अधिक खडित हुई और जनता के हाथो मे राज्य कही भी नही आया। इससे यह स्पष्ट है कि हिंसा के द्वारा व्यक्ति की स्वतत्रता को सुरक्षित नही रखा जा सकता। हिंसा व्यक्ति की गरिमा और नैतिकता का आदर नही कर सकती। वहा नैतिकता स्वार्थ-साधन की वस्तु बन जाती है। व्यक्तिगत स्वतत्रता के लिए कोई स्थान नही रह जाता है। राजनैतिक शक्ति ठगो और धूर्तों के हाथो म चली जाती है। इसीलिए गाधी ने कहा —'एक सफल खूनी क्राति का अर्थ है समूह के दुखो मे वृद्धि करना क्योकि इसम उनके लिए पराये का ही शासन रह जाता है।'[1] परतु अहिंसा म दुर्बल व्यक्ति भी विना दुर्बलता का अनुभव किये भाग लेते हैं। अहिंसक क्राति का अनिवार्य परिणाम सामूहिक रचना और सगठन है।[2] गाधी क्राति के लिए जनता का सक्रिय सहयोग आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार 'वह आदोलन जिसमे जनता सक्रिय रूप से भाग न ले जन समूह का कल्याण नही कर सकता।[3]

गाधी यह मानते थे कि हिंसा के वातावरण म क्राति हो ही नही सकती। क्राति के लिए व्यक्ति की स्वतत्रता और सुधार की तत्परता अनिवार्य है। यदि समूह को बिना उसकी सुधार की आवश्यकता का ज्ञान कराये हम दबाव स उनमे परिवर्तन लाना चाहेगे तो इसके परिणामस्वरूप उसम प्रतिहिंसा की प्रतिक्रिया होगी और वह दूसरे की सहायता म प्रतिशोध लेने के लिए उतारू रहेगा[4]। फिर इस प्रकार से हिंसा प्रतिहिंसा तथा परतत्रता का चक्र चलता रहेगा क्राति नही हो सकेगी।

खूनी क्राति और शीत युद्ध म विश्वास रखनेवालो का सबसे बड़ा तर्क है कि खूनी क्राति बहुत ही तीव्र होती है। अत थोडी देर के लिए कष्ट ही क्यो

1 *Young India* 12 2 25 p 60
2 *Ibid* p 60
3 *Young India*, 12 2 25, p 60
4 *Young India* 2 1 '30 p 4

न उठाना पड़, यह अहिंसा म उत्तम है। अहिंसक क्रांति देर न होती है और उसम बहुत दिनो तक घुटघुट कर दुख भोगना पडता है। वर्षों दुखो म रहन स यह उत्तम है।[1] परन्तु गार्ज म्दी ने बहुत ही उत्तम ढग स इस विचार का खडन किया है।[2] उनके अनुसार माओ ने यह स्वय स्वीकारा है कि चीन म उपनिवेशवाद के अत करन म एक सौ वर्षो का समय लगा और दस लाख व्यक्तियो की हत्या की गई।[3] माओ की अपनी क्राति भी १९२? म लेकर १९४९ तक अर्थात् २८ वर्षों तक चली। वियतनाम म द्वितीय विश्व महायुद्ध म ही हिंसा चल रही है और २५ वर्षों के बाद भी कोई स्पष्ट निर्णय नहीं हुआ। बल्कि हिंसा उग्रतम रूप धारण करती गई। इसी प्रकार की बात फिलीपाइन और मलाया के साथ रही है। इस यह स्पष्ट है कि हिंसक क्राति की शीघ्र सफलता एक भ्रम है। इसकी तुलना मे अहिंसक क्राति की सफलता को देर की सफलता नही कही जा सकती। इसलिए गाधी ने कहा— अहिंसक क्राति सबस तीव्र क्राति है।[4] यह सबस उत्तम क्राति है।[5] हिंसक क्राति की तुलना म इसम हत्या कम होती है, आर्थिक वस्तुओ का विनाश कम होता है जबकि हिंसक क्राति म केनथ बोल्डिंग के अनुसार आर्थिक विकास दो पीढी पीछे पड जाता है।[6] अहिंसक क्राति म हिंसक क्राति की तुलना म प्रतिपक्षी के चातुर्य का परिणाम कम आता है जबकि हिंसक क्राति म आर म हाथ धोना पडता है। इसी प्रकार अहिंसक क्राति म समाज क मूल्यवान तत्वो को कम खोना पडता है जिसम पुनर्निर्माण म सुविधा होती है।[7] यदि क्राति म समाज क विकास और पुनर्निर्माण का तत्त्व ही समाप्त हो जाय तो वह क्राति किस काम की? अहिंसक क्राति से एक प्रकार स हम शिक्षण मिलता है। हमम सत्य, न्याय और नि स्वार्थता के लिए जीन की आदत हो जाती है और इनके लिए दुख सहने की तत्परता रहती है। अत जो कोई इसका उपयोग करता है वह लाभान्वित होता है। जायर वास्कोव के अनुसार इसक द्वारा व्यक्ति को इस

1. *Gandhi Marg*, 15 1 (Jan 1971), p 12
2. *Ibid*, p 13
3. *Ibid*, p 12
4. Gandhi, M K *Young India*, 30 4 1945
5. *Ibid*, 29 10 31
6. *Gandhi Marg*, 15 1 (Jan 1971) p 12
7. *Ibid*, p 12

बात की शिक्षा मिलती है कि रचनात्मक अस्तव्यस्तता (Creative disorder) ध्वंसात्मक अस्तव्यस्तता (Destructive disorder) से उत्तम है।[1]

हिंसक क्रांति में केवल हिंसा की ही शिक्षा दी जाती है। परंतु जब स्वतन्त्रता मिल जाती है तब भी शासकों के अन्याय से जूझने की आवश्यकता पड़ती ही है। यदि उस समय भी जनता हिंसा में संलग्न हो जाय तो देश का क्या होगा? परंतु अहिंसक क्रांति से जनता में अन्यायपूर्ण शासन के विरुद्ध लड़ने की एक शक्ति आ जाती है जिससे संहार के बिना शासन की बुराइयों का अन्त कर दिया जाता है।

अतः स्पष्ट है कि खूनी क्रांति को समाज परिवर्तन की उत्तम प्रक्रिया नहीं मानी जा सकती। हिंसा के द्वारा जो क्रांति होती भी है वह पूर्ण क्रांति नहीं आंशिक क्रांति होती है।[2] पूर्ण क्रांति सरकार और संविधान के बदलने में नहीं, बल्कि समाज व्यवस्था के पुनर्निर्माण में आती है।[3] इसलिए गांधी और विनोबा ने हिंसक और खूनी क्रांति को समाज परिवर्तन के लिए अनुपयोगी सिद्ध किया। श्री जयप्रकाश नारायण इसे 'पैलेस रीवोल्यूशन' मानते हैं 'सोशल रीवोल्यूशन' नहीं। इसके द्वारा क्रांति का ढोंग रचाकर जनता की आंखों में धूल झोंकी जाती है। यह इस अर्थ में उचित है कि समाज की पुरानी व्यवस्था को उखाड़ फेंकती है परंतु जिस लक्ष्य के लिए क्रांति की जाती है उसमें यह असफल हो जाती है।[4] विनोबा ने सामाजिक और आर्थिक समस्या के

---

1 *Ibid* p 13

2 Singh Dr Ramjee "Gandhian Approach to Social Revolution', *Gandhi And Social Science, Op cit* pp 63 71, p 69

3 *Ibid*, pp 63 71

4 ' My conclusion after the study of violent revolution is that a violent revolution does bring about a revolution in the sense that it uproots the old social order and destroys it from its foundation Therefore, *it is looked upon a successful revolution* But it fails in achieving the objectives for which the revolution is made '—Narayan, Jayaprakash, "Gandhi And Social Revolution " *Gandhi Marg*, 13, 4 & 14, 1 (Oct 1969 & Jan 1970), p 11

समाधान के लिए अहिंसक आंदोलन—भूदान और ग्रामदान का आंदोलन शुरू किया।

(२) मार्क्सवादी व्याख्या गांधी के सामने मार्क्सवादी क्रांति की प्रक्रिया सबसे अधिक सुस्पष्ट थी। मार्क्स ने शास्त्रीय ढंग से संपूर्ण क्रांति का वर्णन किया है। उनकी क्रांति का आधार है—वर्ग संघर्ष और नैतिक-सापेक्षवाद का सिद्धांत। उन्होंने कहा है कि अबतक का संपूर्ण समाज वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। 'उत्पादन शक्ति' और उत्पादन संबंधों में सदा से विरोध रहा है जिसके कारण मजदूर और पूंजीपति वर्गों के बीच संघर्ष चलता रहता है। जब संघर्ष हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है तब क्रांति होती है। जब मजदूर वर्ग पूंजीपति पर विजय प्राप्त कर लेता है और राज्य सत्ता अपने हाथों में ले लेता है तो क्रांति होती है।[1] इस प्रकार मार्क्स और ऐंजिल्स ने सभी पूंजीपतियों के विरुद्ध हिंसा को क्रांति के लिए आवश्यक माना।

परंतु गांधी के अनुसार हिंसा के आधार पर कोई स्थायी और सुदृढ़ समाज नहीं बन सकता है।[2] वर्ग संघर्ष अनिवार्य नहीं।[3] मार्क्सवाद की प्रक्रिया में कहीं भी क्रांति का लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता। यदि मान लिया जाय कि मजदूर वर्ग के हाथ में शासन आने से क्रांति होगी तो यह कुछ वर्गों तक ही सीमित रहेगी, संपूर्ण जनता को तो इससे लाभ नहीं होगा। दूसरी बात यह कि यदि राज्य विहीन समाज की स्थापना मार्क्सवाद का उद्देश्य है तो फिर कुछ काल तक केवल मजदूरों के हाथों में सत्ता सौंपने की क्या आवश्यकता है? इसका अर्थ केवल प्रतिशोध के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता है। फिर मार्क्सवाद उत्पादन के साधनों और राज्य-व्यवस्था—दोनों को सत्ता के हाथों में केंद्रित कर देता है। यही तो पूंजीवादी व्यवस्था का भी सार है। फिर अर्थ-व्यवस्था और राजनीति में क्रांति कैसे आ सकती है? इसमें क्रांति तो तभी आ सकती है जब सत्ता का विकेंद्रीकरण हो। मार्क्सवाद वस्तुतः व्यक्ति के विचार को केवल अर्थ और राज्य संगठन के ढांचे में ढाल देना चाहता है। परंतु क्रांति के लिए मानव के संपूर्ण मनोविज्ञान को समझना अनिवार्य है। जबतक संपूर्ण

1 Engels, F., *Dialectics of Nature*, p. 405

2 "Nothing enduring can be built upon violence".—*Young India*, 15. 11. 28, p. 381

3. "There is for me nothing like an inevitability of class conflict".—*Harijan*, 5. 12. '36, p. 338

विचारो, मूल्यो और सबधो मे परिवर्तन नही होता तबतक क्राति नही हो सकती। फिर मार्क्सवाद के प्रचार के लिए भी तो विचार प्रचार की आवश्यकता पड़ती ही है। मार्क्सवाद की यह मान्यता कि केवल समाज रचना मे बाहरी परिवर्तन कर देने से क्राति होगी—भ्रम है। पूर्ण क्राति के लिए व्यक्ति को भी बदलना होगा, उसकी स्वतत्रता को अक्षुण्ण रखना होगा और क्राति की प्रक्रिया को बँधा नही रखकर उन्मुक्त रखना होगा। उसमे हर व्यक्ति का सहयोग होगा।

विनोबा ने भी गाधी की भाँति साम्यवादी क्राति की कटु आलोचना की। उनके अनुसार यह एक "आत्यन्तिक निष्ठा[1]", "आसक्ति का विचार[2]" और "रचनाग्राही-क्राति निष्ठा[3]" है। इसमे नैतिकता का आधार नही है। जिस प्रकार "माता की पगली ममता जो त्वरित परिणाम के चक्कर मे पडकर स्थायी परिणाम पर ध्यान[4] नही देती", उसी प्रकार हिंसक क्राति भी दूरदृष्टि से काम नही करती। यह एक आत्मघातक सिद्धात भी है क्योकि यह बुद्धिपूर्वक हृदय परिवर्तन का विरोध नही कर सकता जो इस बात से स्पष्ट है कि मार्क्स के सिद्धात को पढकर ही साम्यवादियो का हृदय-परिवर्तन हुआ।[5] साम्यवाद एक अर्थ मे अशातिवादी सिद्धात है जो हर गाँव प्रात और देश को टुकडे-टुकडे कर देता है जिसमे झगडे चलते रहते हैं।[6] इनकी दृष्टि मे पूँजीपति चोर तथा हिंसक है परतु चोरी और हिंसा का प्रतिकार ये चोरी और हिंसा के आधार पर ही करते है जिससे चोरी और हिंसा घटने के बजाय बढती है।[7] इसलिए महात्मा बुद्ध ने कहा है वैर को निर्वैरता से, क्रोध को अक्रोध से तथा घृणा को प्रेम से जीतो।[8] यह सच्ची प्रक्रिया है।

साम्यवाद परिवर्तन की प्रक्रिया के लिए लबे चौडे सघर्ष का तत्त्वज्ञान बुनता है जिसमे कोई सार नही है। इसमे कोई कारीगरी नही बाजीगरी"

१ भावे, विनोबा, सर्वोदय विचार और स्वराज्य-शास्त्र, पृ० १३०।
२ उपरिवत् पृ० १२८।
३ उपरिवत् पृ० १२६।
४ उपरिवत्, पृ० १२७।
५ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० ९२।
६ उपरिवत्, पृ० ६०।
७ उपरिवत्, पृ० ६१।
८ भावे, विनोबा धम्मपद, (वाराणसी, सर्व सेवासघ प्रकाशन, १९५९, प्रथम सस्करण, पृ० १३।

है। यह "पोथिया वाले की दृष्टि है" जिसे सघर्ष के सिवा दुनिया मे कुछ सूझता ही नही है। शायद इनके लिए बच्चो का माँ के स्तन से दूध प्राप्त करना भी सघर्ष पर ही आधारित होगा।[१] वस्तुत यह एक "आत्मशून्य विचार है[२]" जिसमे व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का कोई स्थान ही नही रह जाता है। फिर ऐसे विचार से क्रांति कैसे हो सकती है? क्रांति एक मानसिक समस्या है जिसका समाधान विचार बदल कर[३] ही किया जा सकता है, जबरदस्ती नही। कोई भी सद्‌विचार जबरदस्ती नहीं फैलाये जा सकते।[४]

विनोबा यह स्वीकार करते हैं कि साम्यवादियो की दृष्टि भी करुणा की ही दृष्टि है। वे गरीबी मिटाना चाहते हैं। गरीबो के दुःख मिटाने की उनकी तीव्रता भी है। परंतु उनकी गलती यह है कि वे इसके लिए हिंसा को साधन मानते हैं।[५] हिंसा से तो प्रतिहिंसा ही होती है, इसके कारण मनुष्यता का मूल्य और प्रतिष्ठा घटती है।[६] अत क्रांति तभी हो सकती है जब इसके साथ अहिंसा जुड़ी हो। हिंसा कभी भी बहुजन समाज का शस्त्र नही बन सकती है। यह तो "शस्त्र शास्त्र वनिक अल्पसख्यायतन[७] पद्धति" है, जिसमे "जो हम हिंसा के आधार पर प्राप्त करते हैं उस शस्त्र या हिंसा के आधार पर सभालना पड़ता है।"[८] इतना ही नहीं शस्त्र धारण करने के लिए बहु-सख्या को अल्पसख्यकों के पास शिक्षा के लिए जाना पड़ता है। उनकी स्वतत्रता वहीं खडित हो जाती है और सदैव उनका शोषण[९] होता रहता है।

विनोबा के अनुसार साम्यवादियो की योजना खतरनाक है।[१०] इनकी योजना के अनुसार पहले सपत्ति जमा करनी पड़ती है फिर उसे बराबर-बराबर बाँटना पड़ता है जो आर्थिक दृष्टि से एक महँगा कार्य है। ऐसी योजना मे समाज आव-श्यकता से अधिक जटिल हो जाता है। सपत्ति के एक जगह सग्रह होने से विदेशी

---

१ भावे, विनोबा, सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र, पृ० १२८।

२ उपरिवत्, पृ० १२९।

३ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० ८१।

४ उपरिवत्, पृ० ८५।

५ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० ४६।

६ उपरिवत्, पृ० ३४।

७ भावे, विनोबा, सर्वोदय-विचार और स्वराज्य-शास्त्र, पृ० १६१।

८ उपरिवत्, पृ० १६१।

९ उपरिवत्, पृ० १६७।

१० उपरिवत्, पृ० १२८।

आक्रमण के समय विनाश की सभावना भी बनी रहती है। अत इस आर्थिक योजना को क्रांतिकारी नही कहा जा सकता।

साम्यवाद पूँजीवादी व्यवस्था की प्रतिक्रिया है। परतु आश्चर्य तो यह है कि यह पूँजीवाद के चार सिद्धातो—केंद्रीकरण, यत्र-पूजा, शस्त्र-निष्ठा और शोषण मे से केवल शोषण को मिटाने का प्रयत्न करता है और बाकी तीन ज्यो-के त्यो रह जाते है। फिर केंद्रीकरण, यत्र-पूजा तथा शस्त्र-पूजा की उपस्थिति मे शोषण को भी दूर करना असभव है। इस प्रकार विनोबा इस निष्कर्ष पर आते हैं कि साम्यवाद का बहुजन हित-वाद खोखला है। इसमे हितैक्य की दृष्टि नही हित-विरोध की दृष्टि है। यह समूह को "समत्वयुक्त और विवेकशील दृष्टि"[1] सिखाने के बदले उन्हे आवेश म डालता है जहाँ क्रांति असभव है।

विनोबा हिंसक और साम्यवादी क्रांति की आलोचना मूलत गाँधी के विचार के आधार पर ही करते हैं। क्रांति के लिए व्यक्ति की स्वतत्रता, सहयोग, सत्ता और धन का विकेंद्रीकरण दोनो स्वीकार करते है। विचार-परिवर्तन को दोनो आवश्यक मानते है। केवल अतर इतना ही है कि विनोबा ने शास्त्रीय और तार्किक ढग मे स्पष्ट व्याख्या के साथ गाधी के विचार को नये सदर्भ मे रखा है और आर्थिक क्रांति पर अधिक बल दिया है। यदि गाँधी जीवित रहते तो वे भी शायद यही करते।

(ख) कानून

समाज-परिवर्तन का दूसरा तरीका कानून, राज्य-सत्ता अथवा दड-शक्ति है। परतु प्रश्न है क्या सचमुच कानून और राज्य सत्ता के द्वारा समाज-परिवर्तन हो सकता है? गाधी और विनोबा न निरपेक्ष रूप स इसका निषेध तो नहीं किया है, परतु इस के गौणत्व को स्वीकार किया है।

कानून के मुख्यत दो कार्य है—एक समाज की तात्कालिक स्थिति में परिवर्तन लाना और दूसरा व्यक्ति का न्यायिक सुरक्षा प्रदान करना। गाधी अग्रेजी राज्य सत्ता और कानून को भारत के हित मे नहीं बल्कि अग्रेजो के व्यापारिक हित म मानते थे। अत उन्होने उन अग्रेजी कानूनो का विरोध किया जिनस भारत की जनता का शोषण होता था। अत उनके सामने यह प्रश्न ही नही था कि अग्रेजी सत्ता कानून के द्वारा भारत में क्रांति लाने की कोशिश करेगी। परतु उनके इस

१ भावे, विनोबा, सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र, पृ० १६९।

कथन म कि राज्य एक सगठित हिंसा की सस्था है ' 'वास्तविक स्वराज्य व्यक्ति के सहयोग म होगा , यह सिद्ध होता है कि उन्हे यह दृढ विश्वास था कि कानून के द्वारा क्राति नहीं हो सकता है। शायद इसीलिए स्वतत्रता के बाद उन्होने काग्रेस का विघटन कर उस लोक-सेवक-सघ मे परिणत करना चाहा । परोक्ष रूप स उन्होने कहा भी था कि कानून तो एक दिशा सूचक है। मुख्य चीज है समाज की मान्यता नैतिकता और उसकी नई परिस्थितियो म आवश्यकता के पहचान करन की शक्ति। उन्होने हिंदू कानून के सबध म लिखा— स्मृतियो के प्रतिबधो के पालन की शक्ति कानूनी मान्यता म अधिक सामाजिक मान्यता के कारण आती थी। स्मृतियो म भी हमलोगो की भाँति परिवतन हुए थ, और उन्हे समाज शास्त्र की नई खोजो के साथ अभियोजित किया गया था। बुद्धिमान राजा नई परिस्थितियो म कानून की नई व्याख्या प्राप्त कर लता था। अतएव स्मृति के वे श्लोक जो आपस मे आत्म विरोधी हैं अथवा हमारी नैतिक चेतना के विरोधी हैं आसानी स तिरस्कृत किय जा सकते हैं।[1] इस उद्धरण स यह स्पष्ट है कि सामाजिक चेतना और नैतिक चतना कानून की तुलना में मुख्य हैं। कानून इनकी दासी है। फिर यह कल्पना करना कि बिना नैतिक और सामाजिक चेतना के विकास किए क्राति होगी गलत है। हिंद स्वराज्य म तो उन्होन यह भी बतलाया कि वकील लोग कानून के आधार पर न्याय दिलाने के बदले समाज को टुकडे टुकडे करते हैं।[2] हाँ, कुछ इसके अपवाद अवश्य हैं। ऐसी स्थिति म कानून स न्याय पान की उम्मीद भी बेकार है। यदि कानून के पीछ दण्ड शक्ति का बल है तो इसका पालन भय स ही होगा और यदि वकालत स भय शक्ति भी समाप्त हो जाती है तो इसका पालन नहा होगा। इस प्रकार कानून जन मानस पर ऊपर स लादा जाता है। इसके द्वारा जनसमूह की आतरिक चेतना विकसित नहा होती और आतरिक चेतना के विकास के बिना क्राति हो नहा हो सकता।

विनोबा के ग्रामदान आदोलन म गाधी स भिन्न परिस्थिति है। अपना शासन है और जनता क प्रतिनिधि शासन म हैं। दश म न्याय व्यवस्था और

1 Gandhi M K *The Law and the lawyers* (ed) Kher S B, (Ahmedabad Navajivan Publishing House, 1962), p 122

२ गाँधी महात्मा हिंद स्वराज्य (अनु०) कालिका प्रसाद (नई दिल्ली सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, १९५८), पृ० ५४ ५७।

विकास के लिए वे उत्तरदायी हैं। अतः ऐसी परिस्थिति में यह ऐसा लगता है कि हम कानून और राज्य सत्ता के द्वारा देश की सभी समस्याओं का हल ढूँढ लेंगे। विनोबा कानून का विरोध नहीं करते। उनका इतना ही कहना है कि यदि बिना उचित वातावरण का निर्माण किए कानून बनता है तो उसमें समाज दो पक्षों में विभाजित हो जायगा और उनमें आपस में संघर्ष होगा।[1] फिर कानून का निर्माण भी तो कठिन परिस्थिति में ही होता है जिसका विरोध स्वाभाविक है।[2] अतः जबतक हम किसी विचार का अच्छी तरह से प्रचार नहीं करते, नैतिक वातावरण नहीं बनाते, तबतक कोई उत्तम कानून भी नहीं बन सकता है।[3] यदि राजसत्ता के द्वारा उत्तम कानून बन भी जाता है तो कोई जरूरी नहीं है कि उसका प्रभाव जनता पर पड़े ही। जनता का काम अपने विचार से चलता है।[4] माता कानून के आधार पर बच्चों को दूध नहीं पिलाती, कानून के कारण ही चोरी करना लोग बुरा नहीं मानते।[5] वस्तुतः ये सभी धर्म-भावना के कारण होते हैं। अतः धर्म-भावना के विकास किए बिना कोई मौलिक सामाजिक क्रांति संभव नहीं है। उदाहरणस्वरूप, बिहार में बँटाईदारी, सीलिंग, सूद, बासगीर जमीन, विवाह और दहेज संबंधी कानून पास तो हुए किंतु अभी तक उनका कार्यान्वयन नहीं हो सका है। भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को कानून में गलत करार दिया गया है किंतु अभी भी अस्पृश्यता समाज में कायम है। उल्टे कई जगहों पर हरिजनों को जीवित जलाने की घटनाएँ भी घटी हैं। बिहार में भूमि-सुधार के तमाम कानूनों के बाद भी जो लोग बटाई पर जमीन जोतते थे उनकी भी जमीन छीन ली गई और जो पुश्त-दर-पुश्त से किसी जमीन पर बसे थे उनका घर उजाड़कर उन्हें वहाँ से निष्कासित कर दिया गया। इसी प्रकार भूमि की हदबंदी का कानून बनेगा फिर उसका भी लोग कोई नुस्खा ढूँढ ही निकालेंगे। अधिक आमदनी वालों से कानून के द्वारा अधिक आयकर लेने की व्यवस्था की गई है। परंतु इसके द्वारा धनी डॉक्टरों, वकीलों और व्यापारियों पर क्या असर पड़ता है? इसके द्वारा तो कुछ ही समाज के लोग जिनकी आमदनी कागज पर निश्चित है, प्रभावित होते हैं। धनवान तो धनी बने ही रहते हैं, गरीब की गरीबी बनी ही रहती है, कुछ मध्यवर्गी लोग पीसे

१ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पूर्ववत्, पृ० ११२।

२ उपरिवत्, पृ० ११३।

३ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पूर्ववत्, पृ० ११२।

४ उपरिवत्, पृ० १३३।

५ उपरिवत्, पृ० १३३ १३४।

जाते हैं। इनसे जाहिर है कि कानून के द्वारा समाज-व्यवस्था में क्रांति नहीं लायी जा सकती है। श्री जयप्रकाश नारायण ने भी इसे स्वीकार किया है।[1]

विनोबा का यह कहना है कि कानून से जो चीज बनती है वह छोटी चीज बनती है। इसमें महान् चीज नहीं बन सकती।[2] समाज-परिवर्तन और क्रांति महान् कार्य है। वह इसके द्वारा कैसे संभव है? वास्तव में क्रांति जनमानस के हृदय में प्रवेश पाने से होती है।[3] इसलिए विनोबा भूमि के वितरण के लिए कानून का सहारा नहीं लेकर लोक शक्ति, दान शक्ति प्रेम और करुणा की शक्ति का आवाहन करते हैं। उनका उद्देश्य यह है कि बिना कानून के भी ऐसी परिस्थिति का निर्माण किया जाय कि भू वितरण की समस्या अपने आप हल हो जाय।[4] वे ऐसी परिस्थिति का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें दंड शक्ति की जरूरत ही नहीं पड़े।[5] वे साम्यवादियों की इस पद्धति की आलोचना करते हैं जहाँ परिवर्तन का काम शासन और कानून से आरंभ किया जाता है और व्यक्ति अपने परिवर्तन की बारी अंत में रखता है। सचमुच इसमें एक प्रकार की धूर्तता है। विनोबा इससे भिन्न यह मानते हैं कि पहले परिवर्तन व्यक्ति को खुद के जीवन में करना चाहिए और इसकी समाप्ति सरकार या कानून से होनी चाहिए।[6] इस प्रक्रिया के द्वारा कानून पर रोक नहीं लगती है बल्कि इसके बनने में बल मिलता है।[7] अतः परिवर्तन का मूल तत्त्व लोकमत है। कानून लोकमत पर मुहर के समान है।[8] उसका वास्तविक मूल्य नहीं।

विनोबा वस्तुतः यहाँ भी गाँधी के विचार का ही स्पष्टीकरण न्य संदर्भ में करते हैं। गांधी के समान ही ये कानून को समाज का विनाशक मानते हैं। गाँधी ने भी लोकमत को राज्य और सरकार के नियंत्रण का सबसे प्रमुख

1 *Gandhi Marg* 13, 4 (Oct., 1969) & 14, 1 (Jan., 1970), p 9

२ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० ११२।

३ भावे, विनोबा, सर्वोदय विचार और स्वराज्य- शास्त्र, पृ० १०२।

४ उपरिवत्, पृ० १०२।

५ उपरिवत्, पृ० १००।

६ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० ९७।

७ उपरिवत्, पृ० १०४।

८ उपरिवत्, पृ० ११२।

साधन माना था और विनोबा भी यह स्वीकार करते हैं। यदि दोनों के विचारो मे कही भेद है तो वह परिस्थिति का भेद है। एक कानून पर न्याय की दृष्टि से विशेष विचार करते है और उसके परिस्थिति के साथ परिवतन पर जोर देते हैं तो दूसरे इसपर विचार विधायक और विधान की दृष्टि से करते हैं तथा अच्छे कानून के निर्माण के लिए परिस्थिति के सुधार पर बल देते है। परतु दोनो अतिम रूप से यह स्वीकार करते है कि कानून, दड और राज्य सत्ता से क्राति नही होती।

(ग) करुणा

गांधी और विनोबा की क्राति की प्रक्रिया सत्य, प्रेम और करुणा पर आधारित अहिंसक प्रक्रिया है। इनके अनुसार क्राति रक्तपात, वर्ग संघर्ष और राज्य सत्ता के कानून मे नही बल्कि जनसमूह के विचार और हृदय परिवर्तन से होती है। जब व्यक्ति की चेतना बदलती है, उसके मूल्य बदलते है तो फिर सामाजिक परिस्थिति का परिवर्तन हो जाता है। अत क्राति का आरभ व्यक्ति से और इसकी पूर्णता समाज रचना परिवर्तन मे होती है। इस प्रकार गाधीवादी क्राति का *अर्थ* दोहरी क्राति है जिसमे अतर बाह्य और मानवीय तथा सामाजिक दोनो प्रकार के परिवर्तन होते है।[1]

इतिहास के देखने से पता चलता है कि अबतक समाज-परिवर्तन की दो ही प्रक्रियाएँ रही हैं—एक सतो और रहस्यवादियो की प्रक्रिया जिसमे व्यक्ति के नैतिक गुणो का विकास ही एकमात्र समाज बदलने का साधन रहा है और दूसरा बुद्धिवादियों की प्रक्रिया जो केवल समाज रचना को बदल कर समाज मे परिवतन लाना चाहते हैं। गाधी अपने विचार मे रहस्यवादियो और बुद्धिवादियो का आपस मे समन्वय करते हैं।[2] इनके अनुसार क्राति मे एक साथ दोनो प्रक्रियाएँ पायी जाती है। विनोबा ने इस क्राति की नैतिक प्रक्रिया

1 Narayan, Jayaprakash, "Gandhi Vinoba and Bhoodan Movement", *Gandhi Marg*, 1, 4 (1960) pp 28-38, p 35

2. Singh Dr Ramjee, "*The Change of Heart A Study in Gandhism*", *Champa*, (Journal of Post graduate department of Phil. Bhagalpur University, 8 (12) 1965), p 17

कहा है।[१] सतो और साम्यवादियों की प्रक्रिया नैष्ठिक प्रक्रिया है।[२] अब हम आगे विचार करेंगे कि करुणा की क्रांति के गति तत्त्व क्या हैं।

खंड ३ क्रांति के गति तत्त्व

अब प्रश्न है कि यदि व्यक्ति और समाज दोनों को एक साथ बदल कर क्रांति लायी जा सकती है तो फिर पहले की प्रक्रिया क्या होगी—व्यक्ति बदलने की या समाज बदलने की ? अर्थात् क्रांति का गतिशास्त्र क्या होगा ? यदि व्यक्ति को पहले बदलना है तो वह किस प्रक्रिया से सभव है ? फिर समाज को कैसे बदला जा सकता है ? इस सदर्भ म गाँधी और विनोबा के विचारों को तीन धारणाओं के आधार पर समझा जा सकता है—ये हैं हृदय-परिवर्तन, विचार परिवर्तन और स्थिति परिवर्तन के सिद्धात।

(क) **हृदय परिवर्तन** व्यक्तित्व-परिवर्तन की दृष्टि से हृदय परिवर्तन का सिद्धात विश्व संस्कृति को गाँधी की अपनी मौलिक देन है। सामान्यत हृदय-परिवर्तन का सबध उन आवेगिक घटनाओं से है जो व्यक्ति के जीवन-दर्शन म एकाएक पूर्ण और सर्वांगीण परिवर्तन ला देती हैं।[३] रामकृष्ण के चरण-स्पर्श म नास्तिक स्वामी विवेकानन्द का आस्तिक म परिणत हो जाना एक प्रकार का हृदय परिवर्तन है। इसी प्रकार चडाशोक का प्रियदर्शी अशोक[४] म, डाकू अगुलीमाल का बौद्ध भिक्षुक म, डाकू वाल्मीकि का राम भक्त म, चबल के डाकुओं का विनोबा और जयप्रकाश के सामने आत्म समर्पण—ये सारे हृदय परिवर्तन के उदाहरण हैं। मनोविज्ञान म हृदय-परिवर्तन को कई अर्थों मे लिया गया है। सकीर्ण अर्थ मे हृदय-परिवर्तन का अर्थ है धार्मिक या ईश्वर विश्वास म परिवर्तन।[५] इस अर्थ म हमारे धार्मिक या ईश्वर सबधी विश्वास जो चेतना के दूर प्रदेशों म होते हैं केंद्रीय स्थान धारण कर लेते हैं और यह धार्मिक

१ भावे, विनोबा सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० १३।

२ उपरिवत् पृ० १३।

3 Singh Ramjee, "*The Change of Heart A Study* in *Gandhism*", *Champa*, Op cit, p 8 (12) 1965, p 13

४ चटर्जी, विश्वबधु "गाँधी-दर्शन की दृष्टि से हृदय परिवर्तन" *आधुनिक युग* म *गांधी विचार की सार्थकता* (सम्पा), सिंह, रामजी (भागलपुर विश्वविद्यालय भागलपुर गाँधी शताब्दी समिति १९६८) पृ० ३२।

5 Singh, Ramjee, "*Change of Heart A Study* in *Gandhism*" *Champa*, 8 (12) 1965, p 13

लक्ष्य[1] हमे स्वाभाविक रूप से शक्तिपुंज प्रदान करता है। प्रो० लियूबा हृदय परिवर्तन में ईश्वर विश्वास के बदले नैतिक विश्वास की चर्चा करते हैं।[2] जे० बी० प्राट के लिए यह एक प्राकृतिक मानवीय घटना है जो अति प्राकृतिक हस्तक्षेपो से तथा ईश्वरीय पूर्व आस्थाओ मे स्वतन्त्र है।[3] इन अर्थो से यह प्रकट होता है कि मनोविज्ञान में हृदय परिवर्तन (Conversion) एक-पक्षीय तथा वैयक्तिक घटना है। गांधी के हृदय परिवर्तन का सिद्धांत इनसे भिन्न है। आधुनिक राजनीति दवाओ और विद्युत् की मार तथा अन्य उपायो से मस्तिष्क शोधन (Brain Washing) भी करती है। किंतु गांधी का हृदय-परिवर्तन मस्तिष्क शोधन से भिन्न है। जहाँ मस्तिष्क-शोधन में व्यक्ति के सामने कोई स्वतंत्रता नही रहती है वहा हृदय परिवर्तन में व्यक्ति बदलने के लिए स्वतंत्र रहता है।[4] इसी प्रकार इस क्रिया मे चिंतन के साथ भावावेग और क्रिया का समावेश होता है[5] क्योंकि जबतक संपूर्ण मूल्य बोध, दर्शन, आस्था और आचरण नही बदलता तबतक स्थायी रूप से हृदय परिवर्तन नहीं होता है। यह क्रिया फ्रायड के व्यक्तित्व परिवर्तन के सिद्धांत से भी भिन्न है। फ्रायड के अनुसार अतरात्मा या विवेक के द्वारा अह के ऊपर दमन किया जाता है। मानस परिवर्तन मे इसी विवेक के दमन को शिथिल कर दिया जाता है। परंतु गांधी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत मे विवेक का शिथिलीकरण नही बल्कि उसे सुदृढ किया जाता है।[6] फ्रायड के सिद्धांत में मानस-परिवर्तन मानसिक दृष्टि से रुग्ण व्यक्ति का किया जाता है परंतु गांधी का हृदय-परिवर्तन स्वस्थ-मानस की घटना है।

---

1 James W *Varieties of Religious experience*, (The Modern Library Series), p 193

2 Leuba, C I "Studies in the Psychology of Religious Phenomenon" *American Journal of Psychology*, VII 1896, p 309

3 Pratt J B *The Religious Consciousness* (Macmillan, 1920), p 128

४ चटर्जी, डा० विश्वबंधु 'गाँधी दर्शन की दृष्टि से हृदय परिवर्तन' आधुनिक युग मे गांधी विचार की सार्थकता, (सपा०) डॉ० रामजी सिंह, पूर्ववत् पृ० ३२।

५ उपरिवत्, पृ० ३२।

६ उपरिवत्, पृ० ३२।

गांधी हृदय-परिवर्तन के द्वितीय प्रणाली (diadic method) में विश्वास करते हैं। अर्थात् इस प्रणाली में परिवर्तक और परिवर्तित—दोनों का हृदय-परिवर्तन होता है। साथ-ही-साथ यह केवल वैयक्तिक जीवन के परिवर्तन की ही प्रणाली नहीं है बल्कि समूह का भी परिवर्तन इस प्रक्रिया के द्वारा होता है।[1] गांधी ने विशेष रूप से इस प्रणाली का प्रयोग समूह के लिए ही किया था। इस प्रणाली के द्वारा जन-मानस में आमूल परिवर्तनशक्ति, अहिंसा, प्रेम तथा आत्म-पीड़न के द्वारा लाया जाता है जिसे सत्याग्रह की प्रणाली भी कहते हैं। उन्होंने कहा है—"सत्याग्रह एक हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया है। मैं इस बात के लिए पूर्ण आश्वस्त हूँ कि सुधारक अपने-अपने मतों को समूह पर लादने की कोशिश नहीं करते हैं। वे हृदय को छूने की कोशिश करते हैं।"[2] अतः हृदय परिवर्तन की प्रणाली दूसरे के हृदय को स्पर्श कर बदलने की प्रणाली है। समस्या केवल इतनी ही है कि हम कैसे हृतन्त्री के तारों को झंकृत करें ताकि उससे करुणा का संगीत फूट सके।

मनोविज्ञान भावों और संवेगों की बात करता है परंतु हृदय नामक किसी मानसिक यंत्र में विश्वास नहीं करता। ज्ञान की प्रणाली की इतिश्री मस्तिष्क या बुद्धि की क्रियाओं में ही दर्शा जाती है। अतः विज्ञान को 'हृदय' की बात कोरी अजनबी जैसी लगेगी। परन्तु हम ज्ञान-मीमांसा के अध्याय में कह आए हैं कि उपनिषद् और गीता में मस्तिष्क के बाद हृदय का स्थान आता है जो एक सिरे से बुद्धि से तथा दूसरे सिरे से आत्मा के समीप होता है। गांधी और विनोबा इसी सिद्धांत के आधार पर हृदय-परिवर्तन की बात करते हैं। हृदय को स्पर्श करने की दो पद्धतियाँ हो सकती हैं—एक बौद्धिक चिंतन,

1 Chatterjee, B B, "Gandhian Concept of Change of Heart" (unpublished material, manuscript) P 1

2 "Satyagraha is a process of conversion The reformer, I am sure, does not force their views upon the community, he strives to touch his heart Outside force must not interfere with the love forces" Gandhi *Young India*, Jan 19, 1921 Quoted in B B Chatterjee's "Gandhian Concept of Change of Heart", (Unpublished material available at Gandhian Institute of Studies, Rajghat Varanasi)

मनन और आचरण की अनवरत प्रक्रियाओ के द्वारा विचार को भावना का रूप देना और दूसरा आत्म-पीडन के द्वारा प्रतिपक्षी के ऊपर प्रेम का अद्भुत चमत्कार प्रकट करना है।[1] अर्थात् सत्याग्रही आत्म पीडन स दूसरे के हृदय को सस्पर्श करता है। पहली पद्धति का सबध विशेष रूप स वैयक्तिक जीवन मे हृदय परिवतन स है और सामाजिक जीवन मे इसका माध्यम विचार का प्रचार है जिसके कारण मानव समाज की आस्थाएँ लबी अवधि के बाद बदलती हैं। विनोबा का भुकाव एक ऋषि और प्रखर बुद्धिवादी होने के नाते हृदय परिवर्तन की इसी पद्धति की ओर है। गाँधी का भुकाव एक मा के हृदय होने के कारण दूसरी पद्धति की ओर है।[2] एरिक इर्कसन ने गाँधी के व्यक्तित्व का मनोविश्लेषण करते हुए यह बतलाया है कि उनके अचेतन मन मे मातृत्व-भावना है, जिसका विकास उनके सपूर्ण जीवन मे हुआ है।[3] यह उनके (गाधी) इस कथन से सिद्ध होता है—"मैं इस मौलिक निष्कर्ष पर आया हूँ कि यदि आप कुछ महत्त्वपूर्ण काम करना चाहते हैं तो केवल बुद्धि को ही सतुष्टि नही करें, हृदय को भी द्रवित करें। बुद्धि की पहुँच विशेष रूप से मस्तिष्क तक रहती है। परतु आत्म पीडन के द्वारा हृदय मे प्रवेश किया जाता है।" आगे भी कहा है—"अहिंसा अपनी गतिशील अवस्था मे चतन दुख भोग है। यह अन्यायियो की इच्छाओ के विरुद्ध छेदन करने की क्रिया है।[4] इसीलिए श्रीमती जॉन बॉनडूरान्ट ने कहा है कि सत्याग्रह मे आत्म-पीडन नैतिक दबाव

1 Kini, N G S, "Techniques and Tools of Gandhian Revolutions" *Gandhi Marg*, 151 2 (April, 1971) pp 114-130, p 121

2 Erikson, Erik H, *Gandhi's Truth on the surface of Militant non violence*, p 404

3 Gandhi, M K, *Young India*, 15 11 '28, p 381

4 "Non-violence in its dynamic condition means conscious suffering It does not mean submission to the will of evil doer, but it means the pitting of one's whole soul against the will of the tyrant" Gandhi, M K, *Young India*, 8 11 1920

परिवर्तन नहीं । यह मात्र सत्याग्रही के असाधारण चमत्कार का परिणाम नहीं ।

विनोबा गाँधी की भाँति हृदय परिवर्तन के आधार पर क्रांति चाहते हैं। परन्तु गाँधी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत से इनका सिद्धांत कुछ विकसित मालूम पड़ता है। गाँधी का 'आत्म-पीडन' विनोबा के आचार और विचार में सूक्ष्म और सौम्य रूप मे प्रकट होता है। यह ठीक है कि सामाजिक संतुलन के लिए तथा हृदय परिवर्तन के लिए इन्होंने तपस्या की बात की है परन्तु प्रकट आत्म पीडन की नहीं। स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस सरकार ने अनेक गलत कदम उठाए जिसे विनोबा ने बौद्धिक धरातल पर स्वीकार भी किया। परन्तु उन्होंने स्वयं अथवा उनकी शांति सेना ने अपवाद छोड़कर इसे रोकने के लिए कोई आत्मपीडन पर आधारित कदम नहीं उठाया। यहाँ तक कि इन्होंने अपने सत्याग्रह के सिद्धांत में प्रतिकार के बदले 'सहकार' की बात की है।[1] उन्होंने गाँधी की पद्धति विशेष को एक प्रकार की निषेधात्मक पद्धति तथा दबाव पर आधारित पद्धति बतलाया है।[2] अतएव इनके अनुसार हृदय-परिवर्तन भावात्मक प्रेम और सहयोग के आधार पर होता है जो अधिक प्रभावोत्पादक होता है। कांग्रेस सरकार के साथ विनोबा का संबंध भी यही रहा। ये हृदय परिवर्तन की सौम्य और सूक्ष्म पद्धति में विश्वास करते हैं[3] उग्र और स्थूल पद्धति में नहीं। इनसे भिन्न श्री जयप्रकाश नारायण हृदय-परिवर्तन की उग्र और स्थूल पद्धति में भी विश्वास करते हैं। इसीलिए उन्होंने १६७४ के बिहार आंदोलन में घेराव, उपवास, बंध इत्यादि का सहारा लिया जिसमें उन्हें पुलिस की लाठी खानी पड़ी।

परन्तु प्रश्न है कि प्रेम और सहकार पर आधारित प्रक्रिया का स्वरूप क्या है? विनोबा की प्रक्रिया वैचारिक प्रक्रिया है। हृदय-परिवर्तन के लिए प्रतिपक्षी के सामने विचार रखे जाते हैं, साथ-ही-साथ उनके कार्यों में सहयोग दिया जाता है। धीरे धीरे जब वह विचार बुद्धि के धरातल से आगे जाकर हृदय के धरातल पर पहुँचता है, तो हमारे विचार तो बदल ही जाते हैं, हमारी आस्थाएँ भी बदल जाती हैं। इसी को हृदय-परिवर्तन कहते हैं। इसी कारण विनोबा साम्यवादी विचारकों में हृदय-परिवर्तन होने देखते हैं क्योंकि वे

१ भावे, विनोबा, विनोबा चिंतन, ३४–३५ (नवम्बर दिसम्बर, १९६८), पृ० ४६३

२ उपरिवत्, पृ० ४५९

३ उपरिवत्, पृ० ४६०

साम्यवादी क्रूर हिंसा की पद्धति में विश्वास करते हैं उन साम्यवादी के नेता नम्बूदरीपाद उनके 'ग्रामदान' के कार्यक्रम का समर्थन करते है।[१] रूसी नेता क्रुश्चेव[२] का क्यूबा के प्रश्न पर अपनी जहाजी बेड़ा को लौटा लेना उनके लिए हृदय-परिवर्तन की घटना है। यदि हिंसा में दृढ आस्था होती तो क्रुश्चेव अमेरिका के साथ शक्ति-परीक्षण करके विश्वयुद्ध छेड सकता था। परन्तु उसे हिंसा *आत्मघातक और निस्सार मालूम हुई। यह एक प्रकार से उनकी आस्था का* बदलना है। इस प्रकार आस्था बदलने की क्रिया हृदय-परिवर्तन की क्रिया है जो शांति और सहयोग के वातावरण पर आश्रित है।

जो साम्यवादी यह मानते है कि मानव का हृदय-परिवर्तन नहीं होता, उसका उत्तर देते हुए विनोबा कहते हैं कि यह विश्वास गलत मनोविज्ञान पर आधारित है। यदि हम मानते है कि हृदय परिवर्तन नही होता है, तो इसका अर्थ यह है कि हम मानव स्वभाव की जडता[३] को स्वीकार कर लेते है जो गलत है। *उनके अनुसार मानव स्वभाव परिवर्तनशील और विकासशील है। अत*- हृदय-परिवर्तन स्वाभाविक है।

हृदय-परिवर्तन के लिए विनोबा आत्मशुद्धि पर विशेष बल देते हैं। इसीलिए उन्होंने हृदय परिवर्तन के कार्य के रूप में शुद्धि[४] का कार्य उठाया और उसके लिए गीता प्रवचन[५] का अध्ययन-मनन आवश्यक समझा। उनकी यह धारणा है कि हृदय-परिवर्तन मोहग्रस्तों का होता[६] है और यह कार्य संत ही कर सकते हैं।[७] संत अपनी आत्मा की शुद्धि की पराकाष्ठा पर होते हैं। अत किसी के हृदय-परिवर्तन के लिए उन्हें कुछ कहने की भी आवश्यकता नही पड़ती। उनकी मात्र उपस्थिति और उनका नाम ही हृदय परिवर्तन के लिए पर्याप्त है।[८] यह विचार उन्होंने सूक्ष्म कर्मयोग के रूप में बतलाया है। उनके अनुसार

1 *Bhoodan*, (English Weekly from Wardha), March 19, 1958

२ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० ७२।

३ भूदान यज्ञ, बिहार, (हिंदी साप्ताहिक पटना), ५ जनवरी, १९५४ देखें।

४ भावे, विनोबा सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० १०० १०१।

५ उपरिवत्, पृ० १०१।

६ भूदान यज्ञ बिहार, २ जुलाई, १९५४ और सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० १०२।

७ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० १००।

८ भावे, विनोबा, गीता-प्रवचन, पृ० ६७।

सन्यासी कुछ भी नही करता हुआ सब कुछ करता है।[१] अर्थात् उसकी आत्म-शुद्धि ही दूसरे को काफी प्रेरित करती है और वह भी अपने आचरण मे शुद्धि लाने का प्रयत्न करता है। शायद इसीलिए हृदय परिवर्तन के लिए विनोबा आत्मशुद्धि और परिस्थिति की पवित्रता पर काफी बल देते है। किसी ने उनसे एक बार पूछा 'क्या उनके आदोलन म सबका हृदय परिवर्तन हो जायगा ?' तो उन्होंने इसका उत्तर दिया 'मेरा शब्द नही बल्कि परिस्थिति की विवशता उसके हृदय को बदलेगी। कुछ व्यक्ति ऐसे होगे जो परिस्थिति के इशारे को समझ लेगे, कुछ वातावरण के द्वारा प्रभावित होगे और कुछ को बाध्य होकर बदली हुई परिस्थितियो म बदलना पडेगा।''[२] अत हृदय परिवर्तन के लिए जितनी आवश्यकता शब्द, कष्टो या पीडा सहन की नही है उतनी ही आवश्यकता हृदय शुद्धि की है। इसी आधार पर विनोबा ने एक प्रवचन मे कहा कि जब व सूक्ष्म कर्मयोग म प्रवेश नहा किय थ काफी भाषण करते थे, प्रचार करत थे और घूमते थ तो ग्रामदान की आनुपातिक सख्या कम थी। परतु जब व सूक्ष्म मे प्रवेश किये तो इसकी सख्या बढ गई।[३] इन सारी बातो स यह स्पष्ट होता है कि विनोबा हृदय परिवर्तन के लिए आत्म शुद्धि के विचार को ही प्रधानता देते हैं। गांधी म भी आत्मशुद्धि का विचार था, परतु इसके साथ-साथ उनम कुछ दबाव, चाहे नैतिक दबाव ही क्यो न हो, विद्यमान था। गाधी की तुलना मे विनोबा की पद्धति व्यावहारिक दृष्टि स बहुत ही ऊँची तथा व्यापक है। अत यह अधिक आदर्शात्मक है। परतु व्यावहारिक या आदोलनात्मक दृष्टि से शायद गांधी की तुलना म कुछ कम प्रभावोत्पादक है। आदोलन के लिए कुछ चमत्कार चाहिए ही फिर शुद्धिकरण के साथ के रूप मे आत्म शुद्धि के साथ ही साथ सामाजिक बुराइयो की शुद्धि का भी सक्रिय अहिंसक परतु प्रतिरोधात्मक मार्ग ढूँढना ही होगा। केवल मीठी औषधि से ही ताप नही उतरता। कभी-कभी ज्वर की तीव्रता मे कडवी औषधि का भी सेवन करना आवश्यक हो जाता है। गांधी की आत्म-पीडन

१ उपरिवत् पृ० ६६।

2 Majumdar, Dhirendra, *Bhoodan Yagya The Great Challange of the Age*, (Varanasi, Bhoodan Samiti, 1954) p 40

३ सितम्बर, १९६७ में पूसा लक्ष्मी नारायण पुरी में एक प्रवचन में उन्होंने कहा (लेखक की व्यक्तिगत डायरी से)।

की पद्धति आदर्शात्मक के साथ साथ व्यावहारिक भी है। सच तो यह है कि अबतक गाधी और विनोबा म से किसी ने हृदय-परिवतन का पूर्ण शास्त्र नही बनाया है। जो बना है वह अभी अधूरा है।

(ख) **विचार परिवतन** हृदय परिवर्तन की पहली आवश्यक भूमिका है विचार परिवतन। विचार-परिवतन के कारण ही मनुष्य का हृदय-परिवर्तन होता है अतएव करुणा के द्वारा क्राति लाने के लिए गाधी और विनोबा ने विचार-परिवर्तन को आवश्यक समझा। विश्व मे जितनी भी क्रातिया हुई हु चाहे वे हिंसक हो या अहिंसक, उनके पीछे विचार और विचारमथन का पवल हाथ रहा है। साम्यवादी क्राति म भी कार्ल माक्स के विचार का ही प्रभाव रहा है। गाधीवाद म हृदय परिवतन की प्रक्रिया के साथ-ही-साथ पूरक[1] प्रक्रिया के रूप म विचार परिवर्तन की क्रिया चलती है।

गाधी सामाजिक क्राति लाने के लिए जनमत का निर्माण करना आवश्यक समझते थे। उनके अनुसार सभी प्रकार के शोषण[2] और असमानताओं[3] का मूल अज्ञान है। यदि गरीबो को इस बात की शिक्षा दी जाए कि आर्थिक मामलो म उनके शोषण का आधार पू जीपति के साथ सहयोग करना है,[4] असहयोग स ही उनके शोषण का अत हो सकता है तो फिर क्राति मे कोई देर नही लगेगी। अत समूह को अपनी शक्ति का ज्ञान करवाना गाधी क्राति के लिए आवश्यक मानते थे। परतु यह काम हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया स नही विचार परिवतन की प्रक्रिया से होगा। विचार-परिवतन के लिए गाधी ने अनेक माध्यम अपनाए—जसे प्रार्थना सभा म भाषण पत्रिका का प्रकाशन, ग्राम रचना का कायक्रम इत्यादि। फिर उनमे अनेक प्रश्न पूछे जाते थे और उनका वे तर्कसगत उत्तर देते थे। अनुभव के आधार पर काय करना और युक्ति के आधार पर लोगो को समझाना—ये दोनो काय वे करते थ। उन्होने कहा भी था कि जबतक किसी को उनकी बात मस्तिष्क और हृदय को तुष्ट नही करे

1 Singh, Ramjee "The Change of Heart A Study in Gandhism", p 17 Champa, 8, (12) 1965, p 17

2 Ibid 28 7 40, p 326

3 Ibid 2 8 '42, p 249

4 Young India 26 11 '31, p 369

तबतक वह उनके विचार को नहीं माने ।[१] किसी भी क्राति का स्थायी आधार विचार परिवर्तन ही है ।

गांधी की भांति विनोबा ने भी अपने आंदोलन मे विचार परिवर्तन को क्रिया की प्राथमिकता दी है । जिस प्रकार सुकरात ने ज्ञान के क्षेत्र मे प्रत्यय का सिद्धात दिया और प्लेटो ने उसे स्वीकार कर उसको तात्त्विक स्वरूप प्रदान किया, उसी प्रकार विनोबा ने गांधी के विचार परिवर्तन के सिद्धात को दार्शनिक आधार दिया है । एक जगह वे कहते हैं—"विचार मानव जीवन की बुनियाद है । विचारो की प्रेरणा मानव जीवन को उत्स्फूर्त करती है । मनुष्य का शारीरिक जीवन तो चलता ही है किन्तु उसका जो उत्थान होता है, उसके पीछे भी विचार रहता है । विचार के कारण ही आदोलन होते हैं, लोक-निर्माण होता और नया जीवन बनता है । तब समाज रचना बदलती है, जीवन का ढाचा बदलता है । मनुष्य को विचार ही ताकत देता है बुनियाद विचार की ही होती है उसी पर जीवन की इमारत खड़ी होती है ।'[२] जब विचार ही मानव जीवन का मूल तत्त्व है, तो क्राति के लिए इसका प्रचार आवश्यक है । अत विनोबा अपने कार्यक्रम म सर्वोदय तत्त्वज्ञान का प्रचार भी करते हैं[३] तथा अपने कार्यकर्ताओं को सर्वोदय की पुस्तको की बिक्री तथा गीता प्रवचन को घर घर तक पहुँचाने का आदेश देते हैं ।[४] विचार प्रचार की दृष्टि से ही उन्होंने अपने आदोलन म पद यात्रा को चुना ।[५] जिसके द्वारा उन्हें भारत की अधिक स अधिक ग्रामीण जनता म मिलने का अवसर मिला । फिर गांधी की भाँति ही विनोबा विचार प्रसार के लिए पत्रिका पुस्तक, प्रवचन, ग्रामदान कार्यक्रम देश के भिन्न भिन्न भागो म आश्रम निर्माण आदि का सहारा लेते हैं ।

विनोबा यह मानते हैं कि विचार-परिवर्तन के द्वारा ही मानव के नैतिक मूल्यो म परिवर्तन लाया जा सकता है जिसके बिना क्राति सभव नहीं है ।[६] साम्ययोग का मुख्य उद्देश्य नैतिक मूल्यो मे परिवर्तन लाना है ।[७] उनका यह

१ हरिजन, १५-७-३९

२ भावे विनोबा, लोकनीति, पृ० १२

३ भावे, विनोबा सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० १००

४ भावे, विनोबा, विनोबा चिंतन, ३ (अप्रील, १९६६), पृ० १४

५ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० १०१ ।

६ उपरिवत्, पृ० ३८-३९ ।

७ उपरिवत्, पृ० ३८ ३९ ।

भी विश्वास है कि विचार-परिवर्तन या धर्म प्रचार का कार्य राज्य-सत्ता से सभव नही है।[1] यह कार्य राज्य और सरकार से अलग रहने वालो के द्वारा ही हो सकता है। राज्य के हाथ मे विचार-प्रचार और धर्म के कार्य देने से वास्तव मे विचार और धर्म ही समाप्त हो जाते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब राज्य ने धर्म और विचार प्रचार का कार्य अपने हाथो लिया तब तब काफी खून-खराबिया हुई और उपनिवेशवाद को बल मिला। प्रजातान्त्रिक राज्य व्यवस्था मे भी सरकार विचार का प्रचार अपनी सत्ता की दृष्टि से ही करती है। अतएव विनोबा का कहना है कि स्वतन्त्र सस्था के द्वारा सही ज्ञान का प्रचार कर संस्कार के द्वारा समूह को बदलने के बदले लोगो के द्वारा सरकार के बदलने का प्रयत्न होना चाहिए।[2] तभी समाज मे सर्वांगीण क्रांति आ सकती है।

(ग) स्थिति परिवर्तन हृदय और विचार परिवर्तन के द्वारा मनुष्य के सपूर्ण जीवन मे परिवर्तन हो जाता है। जब समाज मे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन परिवर्तित हो जाता है तो सामाजिक परिस्थिति का परिवर्तन स्वाभाविक है। परतु इसका यह अर्थ नही कि इससे परिस्थिति अपने आप बदल जाती है और समाज रचना मे परिवर्तन हो जाता है। वस्तुत समाज रचना मे परिवर्तन करने की अलग से आवश्यकता पडती है। हृदय परिवर्तन और विचार-परिवर्तन एक प्रकार से स्थिति-परिवर्तन की आवश्यक भूमिकाएँ हैं। स्थिति परिवर्तन इन दोनो से भिन्न प्रक्रिया है। प्रेम पीडा तथा तप से व्यक्ति और समुदाय मे हृदय-परिवर्तन कर दिया जा सकता है परतु इससे सपूर्ण समाज का हृदय परिवर्तन नही हो सकता।[3] इसी प्रकार शिक्षा और अन्य माध्यमो मे विचार मे क्रांति लाई जा सकती है परतु इससे पूर्ण क्रांति असभव है। पूर्ण क्रांति के लिए समय और इतिहास की नब्ज को पकड कर सपूर्ण परिस्थिति मे परिवर्तन लाने की आवश्यकता पडती है। इसीलिए गाधी और विनोबा ने क्रांति के इस शस्त्र को भी आवश्यक समझा है।

गाधी से एक बार यह पूछे जाने पर कि जमीदार राजा या पूँजीपति अपने को गरीबो का ट्रस्टी समझते है और ऐसा होना सभव है? उन्होने उत्तर

---

१ भाव विनोबा, लोकनीति पृ० १४।

२ उपरिवत पृ० ४२।

3 Singh Ramjee Th Change of Heart A Study in Gandhism *Champa*, 8, (1?) 1965 p 17

दिया —"If they do not become trustees of their own accord, force of circumstances will compel the reform unless they court utter destruction When Panchayat Raj is established, public opinion will do what violence can never do The present power of the Zamindars, the capitalists and Rajas can hold sway only so long as the common people do not realise their own strength"[1]

ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि गांधी के अनुसार केवल विचार-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन ही संपूर्ण क्रांति के लिए पर्याप्त नहीं है। समाज रचना का परिवर्तन अर्थात् पंचायती राज की स्थापना भी क्रांति के लिए आवश्यक है जिसमे जनमत के आधार पर शासन चल सकता है। जनमत के सामने कोई भी शक्ति नहीं टिक सकती है। उसे अपने को बाध्य होकर भी बदलना पड़ता है।

विनोबा गांधी के विचार को शास्त्रीय ढंग से रखते हैं। उनके अनुसार ऊपर के दोनो परिवर्तनों के परिणामस्वरूप[2] ही परिस्थिति का परिवर्तन होता है जिसे स्थिति परिवर्तन भी कहते हैं। स्थिति परिवर्तन कानून से नहीं, विचारों से ही होता है।[3] विनोबा स्थिति-परिवर्तन का विचार साम्यवादियो की समाज रचना परिवर्तन[4] के विचार से प्राप्त कर इनका संतो और आचार्यों की पद्धति के साथ समन्वय करते हैं। समाज परिवर्तन के नायं के रूप मे वे प्रत्यक्ष काम मे कार्य-कुशलता की अपेक्षा रखते हैं[5], तथा इसके लिए समाजव्यापी सुलभ ग्राम-दान आंदोलन[6] खड़ा करते हैं। इस प्रकार व क्रांति के त्रिकोण[7] की कल्पना करते है जिसमे एक भुजा हृदय परिवर्तन की, दूसरी विचार परिवर्तन की और तीसरी स्थिति-परिवर्तन की होगी।

परिस्थिति परिवर्तन की प्रक्रिया कुछ कठिन है और यह कुछ देर मे संपन्न होती है। परंतु परिस्थिति का परिवर्तन होना असंभव नहीं। आज गांधी

1 Gandhi, M K, *Harijan*, 1 6 '47, p 172
२ भावे विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद, पृ० १०३।
३ उपरिवत् पृ० १०३।
४ उपरिवत् पृ० १००।
५ उपरिवत्, पृ० १०१।
६ उपरिवत् पृ० १०१।
७ उपरिवत् पृ० ९९।

और विनोबा के आदोलन के परिणामस्वरूप बहुत-सी परिस्थितियां बदली नजर आती हैं। ब्रिटेन की उपनिवेशवादी नीति का अंत, छुआछूत का अंत, लड़कियों का कालेजों और दफ्तरों में आना तथा पर्दा का अंत—ये सभी स्थिति परिवर्तन के उदाहरण हैं। इसी प्रकार निःशस्त्रीकरण की ओर रूस जैसे युद्धोन्मादी राष्ट्र का अग्रसर होना, शान्ति की नीति की ओर झुकाव होना स्थिति परिवर्तन ही है। सबसे उत्तम उदाहरण तो यहां मिलता है जब विनोबा ने भूदान आंदोलन शुरू किया था तो अमेरिका के डब्लू एफ० सागवर्न ने अपने एक भाषण में कहा कि यदि विनोबा अमेरिका में होते तो या तो वे जेल में होते या पागलखाने में।[1] परन्तु आज परिस्थिति इतनी बदली है कि अनेक पाश्चात्य विचारक इसमें सक्रिय सहयोग दे रहे हैं। विनोबा के आंदोलन के पूर्व एक इंच जमीन के लिए लोग खून बहा डालते थे देने की बात तो अलग। परन्तु आज परिस्थिति इतनी बदली है कि एक मामूली सर्वोदय कार्यकर्ता[2] गांव में जाते हैं और उन्हें लोग दान पत्र पर हस्ताक्षर कर देते हैं। इतना ही नहीं आज सरकार के लिए भी भूमि की हकबदी करना आसान हो गया है। इसके लिए कोई प्रभावकारी विद्रोह की संभावना नहीं रह गई है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि स्थिति परिवर्तन मानसिक कल्पना नहीं वास्तविकता है।

गांधी ने परिस्थिति का परिवर्तन स्वराज्य और पंचायती राज्य के रूप में देखा। विनोबा इस स्वीकार करते हैं। परन्तु ग्राम-स्वराज्य की स्थापना कैसे होगी? इसके लिए भी भावात्मक रूप में परिस्थिति का परिवर्तन अनिवार्य है जो विनोबा भूदान आंदोलन के द्वारा कर रहे हैं। गांधी के विचारों में क्रांति की तीनों प्रक्रियाएं अलग वर्णित हैं। गांधी ने इसके अनुसार काम भी किया। परन्तु विनोबा ने इन तीनों को एक साथ संगठित कर एक नये शब्द (क्रांति का त्रिकोण) की रचना की। इसी प्रकार गांधी ने करुणा की प्रक्रिया पर आधारित समाज परिवर्तन की स्पष्ट रूप रेखा नहीं दी थी विनोबा इसका स्पष्ट शास्त्रीय ढंग में देते हैं। इनके अनुसार करुणा और प्रेम पर आधारित समाज परिवर्तन का निम्न स्वरूप है[3]—

---

1 Groom, Donald G, Sarvodaya Across the World, *Bhoodan*, (English) December 18, 1957

२ मजुमदार, धीरेन्द्र दण्डनिरपेक्ष समाज रचना, (वर्धा सर्व सेवा संघ प्रकाशन १९५४) पृ० ६।

३ भावे, विनोबा, सर्वोदय और साम्यवाद पृ० ४६ ४७।

१ सत्ता का विकेंद्रीकरण। नीचे अधिक-से-अधिक सत्ता, ऊपर कम-से-कम सत्ता, सबसे ऊपर नैतिक सत्ता।[१]
२ सहकारिता।
३ व्यक्ति के विकास के लिए पूरा मौका।
४ समाज के लिए समर्पण बुद्धि।
५ शिक्षा में ज्ञान और कर्म का संयोग।

यहाँ विनोबा गाँधी के विचारों को ही एक साथ क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करते हैं।

खण्ड—४ सत्याग्रह-दर्शन

गाँधीवाद में सत्याग्रह को समाज-परिवर्तन की पद्धति या शस्त्र के रूप में स्वीकार किया गया है। सत्याग्रह की पद्धति से व्यक्ति और समाज की सभी प्रकार की अंतर्निहित बुराइयों तथा संघर्षों का प्रतिकार अहिंसक तरीके से किया जा सकता है और उनकी स्थिति सुधारी जा सकती है। संपूर्ण मानव इतिहास में गाँधी को छोड़कर किसी दूसरे ने इसका प्रयोग इतने व्यापक क्षेत्र (आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक) में नहीं किया था।[२] इसलिए यह गाँधी की देन है। गाँधीवाद में समाज परिवर्तन की प्रक्रिया और सत्याग्रह की प्रक्रिया एक प्रकार से समानार्थक हैं। अतः इस संदर्भ में 'सत्याग्रह' के ऊपर विचार करना अपेक्षित है।

(क) सत्याग्रह का अर्थ शब्दार्थ 'सत्याग्रह'—'सत्य' और 'आग्रह' से निर्मित सामासिक शब्द है जिसका अर्थ सत्य का आग्रह है। परन्तु सत्य के अलग अलग अर्थ किये जाते हैं, इसलिए सत्याग्रह के अर्थ में भी

---

१ श्री जयप्रकाश नारायण ने इसके संबंध में बहुत ही उत्तम ढंग से कहा है, जिसका सार यह है कि अब सत्ता के पिरामिड को जो सिर के बल खड़ा है, उसे पैर के बल खड़ा करना है।

'It (Democracy) is like an inverted Pyramid that stands on its head Our obvious task is to set this picture right and stand the Pyramid on its base"—Narayan, Jayaprakash, *Swaraj For the People*, (Varanasi, Sarva Seva Sangh Prakashan, 1963), 3rd Edn , p 2

2 Bose, N K , *Studies in Gandhism*, (Calcutta, Indian Associated Publishing Co Ltd , 1947, 2nd Edn ,) p 126

भिन्नता आ जाती है। जयतनुजा बन्धोपाध्याय ने गाँधी के सत्य को तथ्य और मूल्य—दो अर्थो मे लिया है।[1] मूल्यात्मक अर्थ मे सत्य' न्याय का सूचक है।[2] अत सत्याग्रह का अर्थ हुआ न्याय का आग्रह। इसी प्रकार डॉ० सुगत दास गुप्ता सत्य' को मौलिक धारणा नही मानकर इसे सामाजिक-व्युत्पन्न (Societal Product) वस्तु मानते हैं।[3] उनके अनुसार मौलिक धारणा 'अहिंसा है'[4] जिसका मुख्य अर्थ है 'अशोषण'। अत सत्याग्रह सामाजिक सत्य के रूप मे अशोषण के लिए अहिंसक प्रक्रिया है। परन्तु गहराई से विचार करने पर ये दोनो अर्थ सतही स्तर के मालूम पड़ते हैं। गाँधी ने सत्याग्रह को सत्य शक्ति[5] के रूप मे स्वीकार किया है। सत्य का अर्थ उन्होने 'आत्मा'[6] से लिया है। अत सत्याग्रह का अर्थ है आत्म शक्ति,[7] प्रेम शक्ति[8] और सत्य शक्ति का आग्रह। इस अर्थ को भी हम मूल्यात्मक अर्थ ही कहेंगे। अत सत्याग्रह वह प्रक्रिया है जिसमे आत्म शक्ति और प्रेम शक्ति का विकास होना है। *न्याय और अशोषण आत्म शक्ति तथा प्रेम-शक्ति के विकास के लिए* आवश्यक शर्तें हैं। अत सत्याग्रही को न्याय तथा अशोषण का आग्रह रखना ही पड़ता है। परन्तु न्याय और अशोषण अंतिम रूप से आत्म शक्ति मे विलीन हो जाते हैं। उनकी अपनी सत्ता नही है। आत्म शक्ति और प्रेम-शक्ति अपने आप मे पूर्ण अर्थ रखते हैं, ये स्वत साध्य है, अत सत्याग्रह का अर्थ आत्म शक्ति तथा प्रेमशक्ति के प्रति आग्रह करना ही उचित है।

---

1 Bandyopadhyaya, J *Social And Political Thought of Gandhi*, (Bombay Allied Publishers, 1969), pp 20 21

2 *Ibid*, p 21

3 Gupta, Sugatdas, "Gandhian Constructs For a New Society" *Gandhi Marg* 14 10 1970, pp 333 343 340-41

4 Gupta, Sugatdas The Hard Core of Gandhi's Social And Economic thought", *Khadi Gramodyoga*, (July 1967), pp 704-711

5 Gandhi, M K *Satyagraha* (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1958), p 3

6 *Ibid*, p 3

7 *Ibid*, p 3

8 *Ibid*, p 6

प्रयोग पर आधारित सत्याग्रह के अर्थ सत्याग्रह शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है। इसको ध्यान में रखते हुए आर्ने नैश महोदय ने सत्याग्रह के चार[1] अर्थ किए हैं। एक अर्थ में सत्याग्रह उस सामूहिक आदोलनात्मक पद्धति का नाम है जिसे गाँधी ने स्वतन्त्रता अभियान में अपनाया। दूसरे अर्थ में यह गाँधी के कार्यों में अन्तर्भूत सिद्धान्त की ओर इशारा करता है। इस अर्थ में सत्याग्रह 'अहिंसक साधन की शक्ति' या उसका पर्यायवाची है। तीसरे अर्थ में यह उन सभी सम्भव अहिंसक पद्धतियों का सामान्य नाम है जिसे चाहे गाँधी ने अपनाया था या नहीं। इस व्यापक अर्थ में गाँधी का सत्याग्रह अहिंसक प्रतिकार का ही एक भेद है। इसे गाँधी ने विशेष परिस्थिति में अपनाया। इसका प्रयोग सामूहिक संघर्ष में किया जाता है। यह अर्थ गाँधी के इस कथन से निकलता है —"चूँकि सत्याग्रह साक्षात् प्रतिकार की सबसे शक्तिशाली पद्धति है अतः सत्याग्रही इसका प्रयोग तब करता है जब सभी साधन विफल हो जाते हैं। नैश इस कथन का अर्थ करते हुए बतलाते हैं कि सत्याग्रह के प्रयोग के पहले सभी सम्भव प्रयत्नों में प्रतिपक्षी को समझाने का प्रयत्न किया जाता है। अतः सत्याग्रह अहिंसक प्रक्रिया का एक भेद है।

नैश के अनुसार सत्याग्रह बिना किसी खास घटना का उल्लेख किए, सामूहिक संघर्ष की प्रक्रिया का सामान्य नाम है।[2] यह एक ऐसा शब्द है जो राजनैतिक तथा सामाजिक संघर्ष में खास करके गाँधीवादी दृष्टिकोण को सूचित करता है।[3] श्रीमती बानडुरान्ट के अनुसार यह केवल विशेष प्रकार की क्रिया का ही सूचक नहीं है बल्कि यह एक खोज[4] की पद्धति है जिसमें सापेक्ष सत्य, अहिंसा, मानवतावाद और आत्मपीड़न का समन्वय है।[5] परीक्षा करने पर नैश महोदय का विचार थोड़ा सा एकांगी मालूम पड़ता है। पहली बात तो यह कि सत्याग्रह का प्रयोग गाँधी ने केवल सामूहिक संघर्ष के ही अर्थ में नहीं किया था बल्कि घरेलू प्रश्नों पर भी उन्होंने इसका प्रयोग किया था। एक बार

1 Naess, Arne, *Gandhi And The Nuclear Age*, op cit, pp 63 64

2 *Ibid*, p 64

3 *Ibid*, p 62

4 Bondurant, J V, *Conquest of Violence*, (Revised Edn) Author's Preface, p V

5 *Ibid*, p 31

जब उन्होंने कस्तूरबा से दाल और नमक का परहेज करने के लिए कहा तो इसपर कस्तूरबा ने गांधी को स्वयं इस कार्य के करने के लिए ललकारा। गांधी ने बिना किसी डाक्टर की सलाह के एक साल के लिए नमक और दाल का परित्याग कर दिया। इस घटना को उन्होंने घरेलू जीवन में सत्याग्रह का एक उदाहरण माना।[१] इससे यह सिद्ध होता है कि सत्याग्रह केवल सामूहिक संघर्ष और प्रतिकार की ही पद्धति नहीं है यह व्यक्तिगत तथा घरेलू संघर्ष का भी समाधान प्रस्तुत करता है। दूसरी बात यह है कि 'सत्याग्रह' शब्द केवल संघर्ष और प्रतिकार का ही सूचक नहीं है यह रचनात्मक कार्यों का भी सूचक है। फिर यह कहना कि यह सामूहिक संघर्ष का सामान्य नाम है, उचित नहीं। ऐसा कहने से सत्याग्रह का भावात्मक रूप ही समाप्त हो जाता है।

श्रीमती बान्डूरान्ट जब इसे अन्वेषण की पद्धति मानती हैं तो निश्चित ही वे इसके भावात्मक पहलू पर ध्यान देती हैं? परन्तु यह प्रश्न रह ही जाता है कि इसमें किस वस्तु का अन्वेषण होना है, सत्याग्रह में वास्तव में आत्मशक्ति और प्रेम शक्ति का अन्वेषण होता है। इसकी हर प्रक्रिया का संबंध चाहे वह रचनात्मक कार्यक्रम हो या आत्म पोषण हो अथवा कोई प्रतिकारात्मक प्रक्रिया हो किसी-न किसी रूप में आत्म शक्ति तथा प्रेम शक्ति के विकास से ही रहता है। अतः सत्याग्रह की हम ऐसी परिभाषा करनी होगी जो इसके सभी अंगों को समाविष्ट कर सके। इसको ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं—सत्याग्रह व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन संघर्ष की वह प्रक्रिया है जिसमें आत्म शक्ति और प्रेम शक्ति का अन्वेषण किया जाता है।

सत्याग्रह के अर्थ को और स्पष्टता से जानने के लिए हम कुछ अन्य समानार्थक शब्दों के संदर्भ में देखना अनिवार्य है क्योंकि सामान्य रूप से सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध, सविनय कानून भंग तथा असहयोग आदोलन का पर्याय वाची माना जाता है। परन्तु सत्याग्रह का इन सभी में अंतर है।

(क) सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध जब गांधी ने सबसे पहले सत्याग्रह का प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में किया तो इसे गोरे सममानसियों इंग्लैंड और अफ्रीका में प्रचलित निष्क्रिय प्रतिरोध के समानार्थक मानने लगे। परन्तु गांधी ने बतलाया कि सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध में उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से भिन्न है।[२] उनके अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध

1 Gandhi M K *Satyagraha* p 5

2 *Ibid*, p 6

सत्याग्रह का गलत नाम है। सत्याग्रह जो असहयोग के द्वारा अभिव्यक्त होता है उसमे शारीरिक प्रतिरोध अथवा हिंसा से अधिक सक्रियता रहती है। अत यह सक्रियता की गहन अवस्था है।[१] फिर इसे निष्क्रिय कहना भूल है। फिर निष्क्रिय प्रतिरोध मे हिंसा के लिए पर्याप्त स्थान है क्योकि वहाँ पर मौका देखकर शस्त्र का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु सत्याग्रह मे अनुकूल परिस्थिति रहने पर भी शरीर बल का प्रयोग वर्जित है।[२] इसका कारण है कि सत्याग्रह का आधार गीता का निष्काम कर्मयोग है परतु निष्क्रिय प्रतिरोध फलवादी सिद्धात है। इसमे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी समय साधन को बदला जा सकता है। सत्याग्रह का आधार साधन-साध्य की एकता है। निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलो[३] का अस्त्र है। इसके पीछे भय का सवेग काम करता है। प्रतिपक्षी को परेशान[४] करने की भावना रहती है। अत यह एक प्रकार की दबाव[५] की पद्धति है। इसमे प्रेम[६] का कही भी स्थान नही होता है। परतु सत्याग्रह बहादुरो का अस्त्र है। वह हँसते-हँसते अपनी सारी चीजो का बलिदान कर सकता है। वह अभय[७] व्रत का उपासक होता है। सत्याग्रही प्रतिपक्षी को न तो दबाव देना चाहता है और न उसे परेशान करना चाहता है। इसके बदले वह स्वय अपने ऊपर दु ख[८] का बोझ ले लेता है। आत्म पीडन के द्वारा सत्याग्रही प्रतिपक्षी के हृदय मे प्रवेश करता है। अत यह हृदय परिवर्तन[९] की पद्धति है। इसका आधार ही प्रेम है।

निष्क्रिय प्रतिरोध एक प्रकार की अभावात्मक[१०] वस्तु है। इसमे मानव के हृदय परिवर्तन की शक्ति नही है।[११] यहाँ मानव की अच्छाइयो मे विश्वास नही

1 *Young India*, 29 8 20

2 Gandhi, M K, *Satyagraha in South Africa*, 2nd Edn (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1950), p 179

3 Gandhi, M K *Satyagraha*, p 3

4 Gandhi, M K *Satyagraha in South Africa*, p 179

5 *Harijan*, 8 7 39, p 123

6 Gandhi, M K *Satyagraha in South Africa*, p 178

7 *Harijan*, 25 3 '39, p 64

8 Gandhi, M K *Sataygraha in South Africa*, p 179

9 *Harijan*, 8 7 '39 p 193

10 *Harijan*, 14 5 '38, p 111

11 *Harijan*, 20 7 '47, p 243

किया जाता। सत्याग्रह एक भावात्मक सिद्धात है। यह मानव की अच्छाइयो मे अखड विश्वास करता है। इसके द्वारा प्रतिपक्षी के दिल और दिमाग का परिवर्तन किया जा सकता है। चूँकि निष्क्रिय प्रतिरोध मे हिंसा की भावना रह जाती है अत यह प्रतिपक्षी के मन मे प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। अत उसका परिणाम प्रतिहिंसा है। परन्तु सत्याग्रह पूर्णरूपेण अहिंसक सिद्धात है, अत यहाँ प्रतिपक्षी के मन मे कोई प्रतिक्रिया या प्रतिहिंसा उत्पन्न नहीं होती। उसका केवल हृदय बदल जाता है। निष्क्रिय-प्रतिरोध मे रचनात्मक कार्यक्रम का कोई स्थान नही है।[1] परन्तु रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह का आवश्यक अग है। अत डॉ० आर० आर० दिवाकर के अनुसार निष्क्रिय-प्रतिरोध जीवन-दर्शन नही बन सकता।[2] परन्तु सत्याग्रह भावात्मक होने के कारण एक स्वस्थ जीवन-दर्शन है। यह किसी भी व्यवस्था तथा बुराई का विरोध करता है। परन्तु व्यवस्थापक अथवा बुराई करने वाले का विरोध नहीं करता है।[3] निष्क्रिय-प्रतिरोधी व्यक्ति से भी घृणा करने लग जाते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सत्याग्रह निष्क्रिय-प्रतिरोध से भिन्न एक प्रकार की साक्षात् अहिंसक प्रक्रिया है जिसमे काफी सक्रियता है तथा परिवर्तन करने की शक्ति है।

(ग) सत्याग्रह और दुराग्रह सत्याग्रह की प्रक्रिया दुराग्रह की प्रक्रिया से भी भिन्न है। दुराग्रही निरपेक्ष सत्य मे विश्वास करता है। परन्तु सत्याग्रह का आधार ही सापेक्ष सत्य है।[4] सत्याग्रही इस बात से परिचित रहता है कि मानव द्वारा प्राप्त ज्ञान सापेक्ष सत्य का ज्ञान है। जो एक के लिए सत्य है वह दूसरे के लिए असत्य हो सकता है। अत सत्याग्रही अपने विचारों को दूसरे पर लादने की कोशिश नही करता है।[5] इसके सघर्ष का लक्ष्य सुलह और समझौता है, दबाव

1 The constructive goodwill attitude so fundamental in the Satyagraha approach was a novel introduction into social and political tactics, even to those which were characterized by Passive resistance" —Bondurant J V, *Conquest of Violence*, p 120

2 Diwakar, R R, *Satyagraha The pathway to Peace*, (Patna, Pustak Bhandar, 1950), p 27

3 *Young India*, 25 5 '21, p 164

4 Gandhi, M K, *Satyagraha*, *op cit*, p 3

5 *Young India*, 1 5 1924

नहीं।[1] अत सत्याग्रही प्रतिपक्षी को नीचा दिखाना नही चाहता है। दुराग्रह मे एक प्रकार का दबाव है। परतु सत्याग्रह सभी प्रकार के दबाव तथा हिंसा से मुक्त है। दुराग्रही वह होता है जो अपने आत्मा, विचार तथा स्वार्थ का विशेष महत्त्व देता है। परतु सत्याग्रही अपने स्वार्थों को समूह के स्वार्थ के लिए तिलाजलि दे देता है। वह अपने ऊपर ही दुःख लेना चाहता है। अत उसे दुराग्रही कहना गलत होगा।

सत्याग्रह और सविनय कानून भग आधुनिक काल मे सविनय कानून भग के सिद्धात का प्रतिपादन सर्वप्रथम अमेरिकन विचारक थूरो ने किया था। इसका उद्देश्य राज्य के द्वारा निर्मित अनैतिक कानूनो का विनम्रतापूर्वक उल्लघन था।[2] अत सविनय कानून भग एक परतत्र राज्य के नागरिकों को अनैतिक कानून के प्रति प्रतिरोध करने का एक अस्त्र प्रदान करता है।[3] परतु इस सिद्धात मे पूर्ण मात्रा मे अहिंसा का अभाव रहता है।[4] इसीलिए शायद थूरो ने अपना सबध केवल करो से सबधित आर्थिक कानूनो के ही विरोध से रखा था। परतु गाधी का सविनय कानून भग सभी प्रकार के अनैतिक कानूनो का अहिंसक प्रतिरोध करता है। यह सत्याग्रह सिद्धात का एक अग है।[5] अत इसे पूर्ण सत्याग्रह नही समझना चाहिए।

इसी प्रकार असहयोग भी सत्याग्रह की एक शाखा है[6] जिसमे किसी राज्य के सभी नागरिक भाग ले सकते हैं और राज्य के शोषण मे अपना असहयोग कर सकते हैं। इसका अर्थ हुआ कि सत्याग्रही सत्य के लिए अनेक प्रकार के अहिंसक[7] उपायो को ग्रहण कर सकता है।

(घ) सत्याग्रह की आधारभूत मान्यताएँ सत्याग्रह के प्रयोग करने के पूर्व गाँधी ने कुछ मौलिक मान्यताओ, शर्तों तथा नियमो का पालन अनिवार्य

---

1 *Harijan*, 23 3 '40, p 53

2 Gandhi, M K, *Satyagraha*, p 3

3. *Ibid*, p 3

4 *Ibid.*, p 3

5 *Ibid*, p 4

6 *Ibid*, p 4

7. *Ibid*, p 4

माना था। इनके पालन के अभाव में सत्याग्रह हिंसा में युक्त होकर अन्य प्रक्रियाओं में परिणत हो जाता है। इन मान्यताओं तथा शर्तों को मुख्यत तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—तात्त्विक, नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक।

तात्त्विक मान्यता इस मान्यता के अनुसार प्रत्येक सत्याग्रही को ईश्वर में अटूट विश्वास रखना पड़ता है।[1] ईश्वर विश्वास का अर्थ गांधी ईश्वर-विश्वास का ढोंग नहीं मानते हैं। इसका अर्थ है ईश्वर के नाम पर अपने सारे सिद्धान्तों को पूरा करने में तैयार रहना।[2] परन्तु ईश्वर विश्वास का यह भी तात्पर्य नहीं है कि सभी एक ही ईश्वर में, एक स्वरूप में विश्वास करें। प्रत्येक व्यक्ति की ईश्वर की परिभाषा भिन्न भिन्न हो सकती है परन्तु अन्तिम रूप में सभी को ईश्वर में ही विश्राम लेना पड़ता है। ईश्वर में विश्वास किए बिना, सभी प्रकार की पीडाओं को बिना किसी प्रतिकार तथा आवाज के सहन करना असम्भव है। ईश्वर विश्वास से ही इन पीडाओं को सहने की शक्ति आती है। अत गांधी की दृष्टि में बौद्ध तथा जैन आदि नास्तिक सत्याग्रह के लिए अयोग्य सिद्ध किए जा सकते हैं क्योंकि उन्हें ईश्वर में विश्वास नहीं है।[3] किन्तु गांधी का ईश्वर सम्बन्धी कल्पना इतनी व्यापक है कि इसमें सभी समा जाएंगे। तर्क के लिए यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह में ईश्वर में विश्वास होना अनिवार्य नहीं है। यदि कोई मानवता में विश्वास रखता है तो वह सत्याग्रही हो सकता है। परन्तु ईश्वरवादी कह सकते हैं कि मानवता में दृढ़ विश्वास ईश्वरीय शक्ति को आधार मानने के कारण ही हो सकता है। ईश्वर विश्वास से एक अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है। विलियम जेम्स ने कहा है कि ईश्वर विश्वास हमें अद्भुत शक्तिवर्द्धक (tonic) प्रदान करता है। क्योंकि हम ने भी कहा है—भले ही हम सैद्धान्तिक अर्थ में धार्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करें या न करें परन्तु हमें यह अवश्य सोचना होगा कि सत्याग्रह की भावना का प्रादुर्भाव मानव स्वभाव में तभी होता है जब उसमें

1 I am afraid not For a Satyagrahi has no other stay but God, and he who has any other stay or depends on any other help cannot offer Satyagraha He may be a passive resister, non-co-operator and so on, but not a true Satyagrahi "—Gandhi, M K, *Satyagraha* p 364

2 *Ibid*, p 364

3 *Ibid*, p 364

धार्मिक भावना की तरह गहरी आस्था जन्म लेती है, जहाँ पर संत और शहीद के व्यक्तित्व का उदय होता है, और धार्मिक व्यक्ति उस तत्त्व का साक्षात्कार करता है जिसे वह ईश्वर मानता है।[1] इस प्रकार की गहरी आस्था के अभाव में सत्याग्रही एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता।

नैतिक मान्यता—सत्याग्रह युद्ध का एक नैतिक विकल्प है इसलिए इसके लिए उच्च कोटि की नैतिकता का पालन आवश्यक है। सत्य और अहिंसा ही इसके मुख्य अस्त्र शस्त्र हैं। इसलिए गांधी ने सत्याग्रही को एकादश व्रत—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सर्व धर्म-समभाव, स्वदेशी तथा स्पर्श भावना के पालन पर जोर दिया। यहाँ पर रामायण के लंकाकाण्ड में वर्णित धर्मरथ का प्रकरण स्मरण किया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक मान्यता—सत्याग्रही के लिए उपर्युक्त शर्तों के पालन के अतिरिक्त निम्न सामान्य नियमों का पालन आवश्यक है।[2] यद्यपि हृदय-परिवर्तन के लिए इन मनोवैज्ञानिक उपायों का अवलम्बन किया जाता है किंतु गंभीर रूप से विचार करने से इन सब का आधार भी नैतिकता ही सिद्ध होती है

१ अक्रोध का पालन।
२ अपने प्रतिपक्षी के क्रोध तथा प्रहार को सहन करने की शक्ति का होना।
३ स्वेच्छा से बंदी हो जाने के लिए तैयार हो जाना तथा अपनी संपत्ति इत्यादि के अपहरण में भी प्रतिरोध नहीं करना।
४ अपमान और शपथ से अपने को अलग रखना तथा प्रतिपक्षी का अपमानित नहीं करना यदि संघर्ष की अवधि में कोई प्रतिपक्षी को

1 "Whether or not we accept the religious view point in a doctrinal sense, we must think of Satyagraha as some thing that happens at a level of human nature correspon ding to the deepest conviction, the level where saints and Martyrs are made the heart of the personality where the religious believer encounters what he regards as God". *Gandhi Marg*, 12, 4 (October 1968), pp 347 248

2 *Young India*, 27 2 '30 & *Satyagraha*, pp 78-80

अपमानित करता है अथवा उसपर प्रहार करता है, तो उससे सुरक्षा अपने जान को बाजी लगाकर भी करना ।

५ कैद होने पर जेल के सभी नियमों का विनम्रता से पालन करना ।

६ बिना किसी हिचकिचाहट के सत्याग्रह के नेता के आदेश का पालन करना ।

७ अपने आश्रितो के लिए भत्ते की माग नही करना ।

८ किसी साम्प्रदायिक दगे का कारण नही बनना ।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि सत्याग्रही को सत्य, अहिंसा का पालन धर्म की तरह करना पड़ता है । मानव की प्रच्छन्न अच्छाइयो मे विश्वास रखना पड़ता है और उसे अपने प्रेम तथा आत्मपीडन के द्वारा दूसरे के हृदय को जगाना पड़ता है । अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे प्राण तथा सपत्ति के न्यौछावर के लिए तैयार रहना पड़ता है । किंतु इस अंतिम बलिदान की तयारी के साथ सत्याग्रही को समाज का एक आदर्श-चरित-व्यक्ति तथा सच्चा सेवक भी होना अनिवार्य है । इसीलिए गाँधी ने सत्याग्रही के लिए न केवल एकादश-व्रतो के ही पालन पर जोर दिया बल्कि रचनात्मक कार्यक्रमो मे भाग लेने का आदेश दिया । इसी दृष्टि से स्वदेशी व्रत और शरीर-श्रम (Bread labour) के सिद्धात के पालन के लिए खादी पहनने तथा सूत कातने पर जोर दिया । इसलिए उनका यह मानना था कि यदि कोई व्यक्ति सत्याग्रह के सभी नियमो का पालन करता है परतु खादी नही पहनता तो वह प्रतिष्ठित व्यक्ति हो सकता है उसकी उपयोगिता अन्य कार्यो मे हो सकती है परतु वह सत्याग्रही नही कहला सकता । इसी प्रकार सत्याग्रही के जीवन को भी व्यसन मुक्त रहना अनिवार्य है । चाय को छोड़कर किसी प्रकार के नशे का सेवन नहीं किया जा सकता है जिससे उसकी विवेक शक्ति धूमिल हो । उसका जीवन पूर्ण रूप से अनुशासित होता है ताकि वह दूसरो का भी आदर्श बन सके । इसलिए समय समय पर दिये गये आदेशो का पालन वह हृदय से करता है ।[1] ईमानदारी तथा मनसा, वाचा, कर्मणा निर्वैरता के बिना तो सत्याग्रह की कल्पना ही असभव है ।[2]

ऊपर के नियमो तथा श्रद्धाओ को देखकर यह प्रश्न किया जा सकता है कि इतने कड़े आदर्श का पालन पूर्णरूपेण कोई कर सकता है ? यदि नही तो

1 *Harijan*, 25 3 39, & *Satyagraha*, p 88

2 *Harijan*, 22 10 '38, p 298

क्या सत्याग्रह केवल गाँधी जैसे अत्यन्त ऊँचे व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रह जायगा ? यह सर्व-साधारण का अस्त्र कभी बन सकता है ? परंतु गाँधी का यह आशय नहीं था कि पहले कोई पूर्ण सत्याग्रही बन जाय और बाद में वह दूसरे के हृदय परिवर्तन में लगे।[1] उनके अनुसार सत्याग्रह तो एक प्रकार की प्रगतिशील शैक्षणिक प्रक्रिया है।[2] धीरे धीरे इसका विकास होता है। अत उनके अनुसार सत्याग्रही केवल वे नहीं हैं जो अहिंसा की सभी गुत्थियों का अक्षरशः पालन करते हैं, सत्याग्रही वे भी हैं जो अहिंसा की सभी गुत्थियों को स्वीकार करते हैं तथा उसे पालन करने के लिए उत्तरोत्तर प्रयत्न करते जाते हैं।[3] अत केवल पूर्ण अहिंसकों की जमात के रूप में ही सत्याग्रहियों को नहीं लिया जा सकता। उन्होंने स्वयं लिखा है— जैसा मैं अपूर्ण हूँ, मैंने अपूर्ण नर-नारियों को लेकर ही अपनी यात्रा शुरू की। परंतु ईश्वर को धन्यवाद है कि अभी तक नाव किनारे नहीं लगी है, परंतु यह बाधाओं को झेलने लायक अवश्य सिद्ध हुई है।[4] अत सत्याग्रह में मुख्य बात है ऊपर की मान्यताओं में सैद्धांतिक रूप में दिल में विश्वास करना तथा अपनी शक्ति और क्षमता भर उसे आचरण में लाने का प्रयत्न करना।

(च) सत्याग्रह के त्रिविध आयाम सत्याग्रह की प्रक्रिया के तीन आयाम हैं। प्रथम आंदोलनात्मक तथा संघर्षात्मक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सत्याग्रही अन्याय का प्रतिकार अहिंसक प्रक्रिया से करता है। इसे श्री आर० आर० दिवाकर ने "aggressive Satyagraha" कहा है।[5] दूसरी प्रक्रिया भावात्मक है जिसमें समाज रचना का कार्यक्रम होता है। इसे श्री दिवाकर "Constructive Satyagraha" की संज्ञा देते हैं।[6] तीसरी, मूल्य परिवर्तनात्मक प्रक्रिया है जिसके अनुसार सत्याग्रही और समाज का मूल्य परिवर्तन होता है। अब हम इन तीनों प्रक्रियाओं पर एक एक कर अलग से विचार करेंगे।

1 Bose, N K *Studies in Gandhism*, p 125

2 *Ibid* p 125

3 *Harijan*, 24 3 '40, pp 214 p 125

4 *Harijan* 12 4 '42, p 146

5 Diwakar R R *Satyagraha*, (Bombay, Hind Kitab, 1946), p 47

6 *Ibid*, p 47

१ आंदोलनात्मक प्रक्रिया

(क) व्याख्या आंदोलन या संघर्ष सत्याग्रह की पहली और महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। कुछ लोग तो इसी क्रिया के साथ सत्याग्रह का तादात्म्य भी स्थापित कर देते हैं। सत्याग्रह की प्रक्रिया के पीछे डा० हरिद्वार राय के अनुसार चार विचार हैं[1]—पहला संसार में कुछ गलतियाँ या अव्यवस्थाएँ है, दूसरा इनपर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है, तीसरा, हिंसा के द्वारा इनपर विजय प्राप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि हिंसा बुरी इच्छाओं को गहरी और सबल बनाती है तथा चौथा, गलतियों पर विजय शुभ संकल्प से प्रेरित होकर आत्म पीडन के द्वारा किया जा सकता है। ऊपर के चारो विचारो से यह स्पष्ट है कि सत्याग्रह की प्रक्रिया समाज मे प्रचलित बुराइयो से संघर्ष करने के लिए आरभ होती है। ये बुराइयां आर्थिक सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक—किसी प्रकार की हो सकती है। इसी प्रकार इस संघर्ष मे व्यक्ति, समुदाय, जन-समुदाय तथा अंतर्राष्ट्रिय समुदाय कोई भी भाग ले सकते है।[2] इसलिए यहाँ पर सत्याग्रह एक आंदोलन तथा संघर्ष की अहिंसक प्रक्रिया के रूप मे हमारे सामने आता है। आंदोलन के रूप मे सत्याग्रह के अंतर्गत कई प्रकार के अहिंसक कार्य करने पडते है जिन्हे भिन्न भिन्न विचारको ने "सत्याग्रह की शाखा"[3] 'सत्याग्रह के सोपान'[4], "सत्याग्रह के प्रकार"[5] इत्यादि नाम से विभूषित कर उन्हें वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। कृष्णलाल श्रीधरानी[6]

1 Rai, Haridwar, "Sociology of Gandhian Satyagraha Some Developments and Dilemmas", *Relevance of Satyagraha For Modern Times* (ed), Dr Ramjee Singh (T N B College Bhagalpur, 1971), Part 2, p 45

2 Bandyopadhyaya, J, *Social and Political thought of Gandhi, Op cit*, p 228

3 Prasad, Mahadev *Social Philosophy of Mahatma Gandhi Op cit*, p 162

4 Bondurant, J V *Conquest of Violence, Op cit*, pp 40 41

5 Bandyopadhyaya, J, *Social and Political thought of Gandhi*, p 227

6 Shridharani K *War Without Violence*, (Bombay, Bhartiya Vidya Bhavan, 1962), Chap I

के अनुसार सत्याग्रह के १३ सोपान हैं। श्रीमती बॉनडूरान्ट ने इन्हें संक्षिप्त कर नौ सोपानों को ही रखा है। वे हैं—

१ बातचीत और मध्यस्थता (Negotiation and arbitration)।
२ साक्षात् रूप से संघर्ष के लिए समुदाय को तैयार करना तथा उन्हें अनुशासित करना।
३ हलचल उत्पन्न करना (Agitation)।
४ अन्तिम विचार को प्रस्तुत करना (Issuing of an ultimatum)।
५ आर्थिक बहिष्कार, हड़ताल, धरना इत्यादि।
६ सविनय-कानून भंग।
७ असहयोग और ऐच्छिक पदत्याग।
८ सरकार के कार्यों का अपहरण।
९ समानान्तर सरकार की स्थापना।

आर्ने नैस[1] ने इन सभी सोपानों का क्रिया व स्वरूप के आधार पर तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। पहली श्रेणी में सत्याग्रह की सौम्य प्रक्रिया आती है। इसके अन्तर्गत विचार विमर्श मध्यस्थता हलचल, तथा प्रदर्शन के कार्य आते हैं। दूसरी श्रेणी में सत्याग्रह की तीव्र प्रक्रिया आती है। इसके अन्तर्गत सीमित और सामूहिक क्षणिक और अनतकालिक हड़ताल, आर्थिक बहिष्कार तथा सामाजिक बहिष्कार (जैसे स्कूल, कॉलेज तथा पद का त्याग) आते हैं। तीसरी श्रेणी में तीव्रतम प्रक्रिया आती है जिसके अंतर्गत उपवास, सामूहिक असहयोग, सविनय अवज्ञा, क्रमिक-अवज्ञा, पूर्ण अवज्ञा, समानान्तर सरकार की स्थापना इत्यादि आते हैं।

श्री बंद्योपाध्याय[2] ने सत्याग्रह के विभिन्न सोपानों का वर्गीकरण लम्ब तथा क्षैतिज—दोनों दृष्टियों से किया है तथा उन्होंने श्रीधरानी तथा बानडूरान्ट के विचारों की आलोचना की है। क्षैतिज दृष्टि[3] से सत्याग्रह के चार भेद उन्होंने किए हैं—(१) व्यक्तिगत सत्याग्रह—जहाँ पर व्यक्ति अन्याय का प्रतिकार करता है, (२) सामुदायिक सत्याग्रह—जहाँ पर एक समुदाय किसी समुदाय या व्यक्ति के विरुद्ध प्रतिकार करता है (३) सामूहिक सत्याग्रह—

1 Naess, Arne *Gandhi And The Nuclear Age*, pp 62-64

2 Bandyopadhyaya J *Social and Political Thought of Gandhi*, p 228

3 *Ibid*, p 228

जहाँ पर पूरा समूह सत्याग्रह करता है। (४) अंतर्राष्ट्रिय सत्याग्रह—जिसमें विश्व के अनेक राष्ट्र मिलकर सत्याग्रह कर सकते हैं। रूप से सत्याग्रह का विभाजन उन्होंने पांच वर्गों में किया है—

(क) उपवास
(ख) हिंसा का प्रतिकार
(ग) उपवास को छोड़कर अन्य आत्मपीड़न
(घ) असहयोग और हड़ताल
(ङ) सविनय-अवज्ञा।

एन० जी० एम० कीनी[1] ने उपर्युक्त सभी वर्गीकरणों की आलोचना की है। उनके अनुसार उपर्युक्त सत्याग्रह के कार्यों में आपसी कोई तार्किक संबंध नहीं है। उन विभिन्न सोपानों को आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार बदला जा सकता है। उनसे कोई सैद्धान्तिक समस्या का हल नहीं निकलता है। वस्तुतः वे अहिंसक प्रतिकार की व्यूह रचना है जिनका संबंध सिद्धान्त से हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। श्री बंद्योपाध्याय का संख्या के आधार पर वर्गीकरण भी कोई महत्त्व नहीं रखता क्योंकि गुणात्मक दृष्टिकोण से व्यक्तिगत सत्याग्रह और अंतर्राष्ट्रिय सत्याग्रह में कोई भेद नहीं है।[2]

वैचारिक दृष्टि से संपूर्ण सत्याग्रह की प्रक्रियाओं में कीनी महोदय एक प्रकार की प्रक्रिया देखते हैं—वह है उच्च नैतिकता के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की प्रक्रिया।[3] यदि सत्याग्रही स्थितिप्रज्ञ और उत्तम आचरण का है तो फिर उसपर विरोधियों के हिंसक से हिंसक प्रहारों का भी कोई असर नहीं होगा। इससे जन-समूह तथा प्रतिपक्षी में उसके प्रति चमत्कार का भान होता है। कुछ तो इस चमत्कार के कारण प्रतिपक्षी का हृदय-परिवर्तन होता है। फिर वास्तविकता[4] का ख्याल रखकर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए भी वह सत्याग्रही के आगे झुक जाता है और सत्याग्रही की विजय हो जाती है। संक्षेप में

1 Kini, N G S, 'Techniques and Tools of Gandhian Revolution', *Gandhi Marg*, (English) 15, 2 (April, 1971), pp 119-120

२ उपरिवत्, पृ० १२०।

३ उपरिवत्, पृ० १२१।

४ उपरिवत्, पृ० १२२।

उच्च नैतिकता के कारण पीड़ाएँ सही जाती हैं, जिनसे जनमत का जागरण होता है तथा अंत में प्रतिपक्षी को भी झुकना पड़ता है। कौनी महोदय उच्च नैतिकता के लिए अंतर्बोध अथवा ईश्वर-विश्वास आवश्यक नहीं मानते[1] यद्यपि गांधी के सत्याग्रह का यह सार है। पश्चिमी सत्याग्रहियों में मानवता, स्वतन्त्रता-प्रेम, सुधार की भावना तथा नागरिक दायित्व का बोध ही सत्याग्रह की सफलता का सार माना जाता है।

श्री बंद्योपाध्याय तथा कौनी महोदय ने सचमुच सत्याग्रह की विभिन्न क्रियाओं को व्यापक सैद्धांतिक प्रक्रिया में ढालने का प्रयास किया है। परंतु उनका वर्गीकरण दार्शनिक दृष्टि से व्यापक तथा तात्विक नहीं हो सका है। वस्तुतः समाज शास्त्र की दृष्टि से इन विचारकों ने सत्याग्रह का अध्ययन किया है तथा आनुभविक साँचे में ढाल कर इसे समझने की कोशिश की है जिससे वस्तुतः सत्याग्रह के आध्यात्मिक तथा उदात्त नैतिक आयाम धूमिल पड़ गए हैं। उदाहरणस्वरूप श्री बंद्योपाध्याय ने ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर सफलता और विफलता को सामने रखकर सत्याग्रह को समझने का प्रयास किया है। परंतु इसका खंडन स्वयं गांधी ने किया था। उनके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करे। ऐसी परिस्थिति में ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर प्राप्त ज्ञान की सत्यता खंडित हो जाती है। दूसरी बात यह कि सत्याग्रह की साधना तो निष्काम कर्मयोगी करता है। फिर इसकी सफलता और विफलता को भौतिक दृष्टिकोण से देखना उपयुक्त नहीं। तीसरी बात यह कि दर्शन में न तो ऐतिहासिक घटना का उतना महत्त्व है और न व्यावहारिक परिणामों का। परिणामों के पीछे बहुत-सी शर्तें काम करती हैं। दर्शन का संबंध संगत विचारों से है। इस दृष्टिकोण से देखने पर सत्याग्रह आंदोलन के विभिन्न कार्यों में सन्निहित मूल सिद्धांतों को देखना होगा तथा उनकी आपसी संगति देखनी होगी। कौनी महोदय ने संपूर्ण प्रक्रिया को "नैतिकता + आत्म पीड़न + चमत्कार = सफलता" के रूप में देखा। परंतु इन विचारों की संगति न तो अनुभव से सिद्ध होती है और न विचार से। अनुभव यह तो सिद्ध करता है कि उच्च नैतिकता तथा आदर्श के कारण व्यक्ति अनंत पीड़ाओं को झेलता है, परंतु अनुभव यह सिद्ध नहीं करता कि केवल सत्याग्रही का आत्मपीड़न ही प्रतिपक्षी के मन में चमत्कार उत्पन्न करता है और जिससे अंततोगत्वा सफलता मिलती है। यदि चमत्कार ही सफलता का कारण हो तो आत्मपीड़न ही क्यों

[1] उपरिवत् पृ० १०० ।

अनेक माध्यम है, जैसे जादू टोना इत्यादि, जिनके माध्यम से चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है और सफलता प्राप्त की जा सकती है। तब सत्याग्रह से उत्पन्न चमत्कार और अन्य चमत्कार में भेद करना पड़ेगा अन्यथा सत्याग्रह प्रक्रिया की मौलिकता सामने नहीं आ सकेगी। फिर यदि चमत्कार को सफलता का कारण मान लिया जाय तो हिंसक और अहिंसक प्रक्रिया में कोई भेद नहीं रह जायगा क्योंकि इतिहास इसका प्रमाण है कि नेपोलियन और हिटलर जैसे व्यक्तियों में चमत्कार उत्पन्न करने की कम शक्ति नहीं थी। पुनः यह कहना कि आत्मपीडन से हृदय-परिवर्तन नहीं होता है, व्यावहारिक लाभ के कारण सफलता मिलती है—गलत है। यह ठीक है कि पहली बार सत्याग्रह की प्रक्रिया से प्रतिपक्षी में थोड़ी देर के लिए विचार बदलता है, फिर बाद में पुराने संस्कार ही सामने आ जाते हैं। यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया उतनी आसान नहीं है कि वह एक ही बार पूर्णरूपेण व्यक्ति या समूह को बदल दे। व्यक्ति और समाज के पीछे पुराने संस्कार कार्य करते हैं। अतः स्थायी तथा क्षणिक हृदय-परिवर्तन इन संस्कारों की तीव्रता पर निर्भर करते हैं। परन्तु एक बार क्षण भर के लिए भी हृदय परिवर्तन होता है तो समझना चाहिए कि दूसरी बार सत्याग्रह की प्रक्रिया से आसानी से और अपेक्षाकृत अधिक स्थायी रूप में उसका हृदय-परिवर्तन किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक बार सीख लेने के बाद दूसरी बार उसको सीखना आसान पड़ जाता है।

जैसा बंद्योपाध्याय महोदय ने कहा है कि उपवास की सफलता मानवतावादी सिद्धान्त के कारण होती है[1] न कि सत्याग्रह के कारण। कीनी महोदय कहते हैं कि जनसमूह के सामने अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए प्रतिपक्षी सत्याग्रही के सामने झुकता है। यहाँ हम केवल यही कहना है कि यदि किसी में इतनी चेतना आ जाय कि मानवता के लिए अपने स्वार्थ को छोड़ने के लिए तैयार हो जाय और जन-समूह के सामने अपने को प्रतिष्ठित रखने के लिए बर्बरता छोड़ दे तो यह भी हृदय परिवर्तन ही कहा जायगा। वास्तविक स्थिति यह है कि जब सत्याग्रही उच्च नैतिकता के कारण पीडाओं को झेलता है, तो इस प्रक्रिया के द्वारा प्रतिपक्षी को अपने आत्मा की याद आती है। हिंसक प्रतिकार नहीं होने से उसकी हिंसात्मक वृत्ति को कोई पोषण नहीं मिलता

1 Bandyopadhyaya, J, *Social and Political Thought of Gandhi*, p 244

है, अपेक्षाकृत उसका मस्तिष्क शांत होता है और उसकी सद्प्रवृत्तियाँ उभड़ने लगती हैं। यही सफलता का सार्वभौम रहस्य है।

यदि वंद्योपाध्याय महोदय के सत्याग्रह के विभाजन को स्वीकार किया जाय तो वैचारिक दृष्टि से इसमें भी एक प्रकार की पुनरावृत्ति तथा संकर विभाजन (Overlapping division) का दोष है। उपवास, हिंसा का उल्लंघन तथा आत्मपीड़न इन तीनों को यदि एक शब्द आत्म पीड़न के अंतर्गत रखा जाय तो वैचारिक दृष्टि से इसमें कोई भी हानि नहीं होगी। इसी प्रकार सविनय अवज्ञा तथा असहयोग में भी वैचारिक रूप से कोई भेद नहीं है। सविनय अवज्ञा भी असहयोग का ही एक रूप है। अतः वास्तव में संपूर्ण सत्याग्रह आंदोलन के अंतर्गत आत्म-पीड़न तथा असहयोग दो ही सिद्धांतों को देखा जा सकता है। इन सिद्धांतों के आधार पर विभिन्न कालों और परिस्थितियों में सत्याग्रह के नये नये रूप आ सकते हैं। जैसे, डा० राममनोहर लोहिया का 'घेराव' और अकाली दल नेताओं का 'आत्म-दहन' असहयोग और आत्मपीड़न के ही नये रूप हैं। अतः हम इन्हीं दो धारणाओं पर अलग अलग रूप से दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करेंगे।

(क) आत्म पीड़न आत्म-पीड़न सत्याग्रह का वह अंश है जिसे गांधी ने अपनी भारतीय परंपरा से प्राप्त किया था। भारतवर्ष में महान् उपलब्धियों के लिए साधना, तप तथा आत्म बलिदान की आवश्यक समझा जाता है। साधना का अर्थ है सामान्य और उत्तम लक्ष्य के लिए नैष्ठिक खोज करना तथा तप इस कार्य के लिए स्वेच्छा से आनंदपूर्वक कष्ट उठाना है।[१] यद्यपि पुराणों में तप के स्वार्थजनित उदाहरण भी मिलते हैं, परंतु वह इस बात का भी साक्षी है कि व्यक्तिगत स्वार्थ से किए गए तप को अंतिम रूप से हार और सामान्य अथवा सत्य के उद्देश्य से किए गए तप की जीत हुई है। हिरण्यकश्यप और प्रह्लाद, शिव और भस्मासुर आदि के उदाहरणों से यह स्पष्ट है। उत्तम जीवन के लिए आत्म बलिदान की बात तो सर्वथा प्रसिद्ध है।[२] गांधी का सत्याग्रह मानों व्यक्तिगत साधना के साथ-साथ सामाजिक तप भी है। व्यक्तिगत मोक्ष और स्वार्थ के लिए आत्म-पीड़न की बात तो आम बात रही है। परंतु सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिए आत्म पीड़न सहना गांधी की ही देन है।

१ उपरिवत्, पृ० २२२।

२ हेगेल का 'Die to live" और स्वामी रामतीर्थ का 'मिटा दे अपनी हस्ती को अगर तू मरतबा चाहे। कि दाना खाक में मिल कर गुले गुलजार होता है' प्रसिद्ध उक्तियाँ हैं।

गाँधी के सत्याग्रह मे आत्म-पीडन के कई उदाहरण आते है। इसका पहला उदाहरण वहाँ पर मिलता है जहा पर साक्षात् रूप मे प्रतिपक्षी के द्वारा दिए गए शारीरिक कष्ट को सहिष्णुतापूर्वक क्षमा भाव से लिया जाता है। दक्षिण अफ्रीका मे गाधी को ऐसे कष्ट का सामना दो बार करना पडा था।[१] इसका दूसरा उदाहरण उपवास की क्रिया मे मिलता है। परतु गाधी ने इसे अतिम अस्त्र के रूप मे स्वीकार किया था। इसमे उन्होने सावधानी बरतने की आवश्यकता का अनुभव किया था। इन दोनो के अतिरिक्त सामान्य रूप से अन्य सभी प्रकार के कष्टो पर विचार किया जा सकता है जिसे सत्याग्रही अपने ऊपर लेने के लिए सहर्ष तैयार रहते है। अब हमे यह देखना है कि प्रतिकारात्मक क्रिया मे आत्म-पीडन क्यो सफलीभूत होता है ? इसकी सफलता का क्या रहस्य है ?

प्रसिद्ध अमरिकन शातिवादी विचारक मेसिल ई० हिनशा ने इसके रहस्य को निम्न प्रकार रखा है। उनके अनुसार 'मनुष्य स्वभाव से ही दु:ख से द्वेष रखता है।[२] किसी का दु:ख कोई देखना नही चाहता है। मनुष्य के दु:ख को ही नहा, पशुओ के दु:ख को भी व्यक्ति देखना नही चाहता। इस कारण वह अपनी विवेक-बुद्धि का सहारा लेकर अनेको प्रकार के ऐसे आचरणो को करता है जिनमे उसे दु:ख का सामना न करना पडे। दु:खो के प्रति घृणा तब और अधिक तीव्र हो जाती है जब व्यक्ति किसी के दु:ख का कारण स्वय को समझता है।[३] परिस्थितिवश वह किसी को दु:ख पहुचाता है, परतु पीछे उसके मन मे पश्चाताप होता है। यह ठीक है कि कभी-कभी वह क्रूर व्यापारो के बीच भी उदासीन मालूम पडता है, परतु यह स्वभाव का वैपरीत्य उसकी आतरिक-सघर्ष की अवस्था का ही सूचक है।[४] क्रूरता मनुष्य के स्वभाव में नही है ऐसा सभी मानसशास्त्री स्वीकार करते है।

आत्म पीडन मे सफलता का यह भी रहस्य है कि जब प्रतिपक्षी की निर्दयता और सत्याग्रही की निरपराधिता का सघर्ष होता है तो प्रतिपक्षी अपने

---

१ एक बार १८९६ में दक्षिण अफ्रीका के नवयुवक गोरों ने इस गलतफहमी में पडकर कि गाँधी ने भारत में आकर उनके विरुद्ध शिकायत की है, बुरी तरह पीटा और दूसरी बार भारतीय मीर आलम ने १९०६ में मतभेद के कारण प्रहार किया।

२ हिनशा, मिसिल ई०, अहिंसात्मक प्रतिरोध (अनुवा०), लक्ष्मण नारायण, (वाराणसी), अ० भा० सर्व सेवा सघ प्रकाशन, १९६०), पृ० ६५

३ उपरिवत्, पृ० ६६।

४ उपरिवत् पृ० ६७।

कृत्यों का मनोवैज्ञानिक समर्थन चाहता है। यह समर्थन उसे अपने विरोधी के भौतिक प्रतिरोध, क्रोध और कायरता से प्राप्त होता है।[1] अतः दुष्कृत्य करने पर भी वह द्वेष भाव और हिंसा वृत्ति के कारण एक प्रकार का स्वाभिमान प्राप्त करता है। परंतु जब अहिंसक प्रतिकार के कारण सत्याग्रही प्रतिपक्षी का सामना कष्ट, सहिष्णुता तथा प्रेम के द्वारा करता है तो प्रतिपक्षी के मन में पश्चात्ताप होता है तथा विरोधी के अहिंसात्मक व्यवहार में अपने दुष्कर्म का कोई मनोगत समर्थन नहीं पाने से उसमें वैराग्य उत्पन्न होता है।[2] उसका मनुष्यत्व जाग उठता है और हृदय-परिवर्तन हो जाता है। गाँधी आत्म-पीड़न की सफलता का रहस्य अपने तत्त्वशास्त्रीय और ज्ञान-शास्त्रीय विचार में पाते हैं। वे गीता के 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने आत्मा को कष्ट नहीं देना चाहता। आत्मा ईश्वर के विभिन्न रूप होने के कारण समान है। अतः जब सत्याग्रही आत्म-पीड़न सहता है तथा दूसरों की पीड़ा में भाग लेता है, तो उसे एक प्रकार की गहरी अनुभूति प्राप्त होती है जो बुद्धि से ऊपर की चीज है। इसे गाँधी ने आत्मा या हृदय का ज्ञान कहा है जो दुःख में ही प्राप्त होता है। अतः जब प्रतिपक्षी सत्याग्रही के आत्म-पीड़न पर विचार करता है तो उसका हृदय परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार जब व्यक्ति पीड़ा के द्वारा दूसरे के हृदय में प्रवेश करने की कोशिश करता है तो उसे उस कार्य में महती सफलता मिलती है। यही कारण है कि प्रति-रक्षात्मक तथा आक्रमणात्मक सत्याग्रह में गाँधी ने आत्म पीड़न को भिन्न-भिन्न रूप में स्वीकार किया।

(ग) असहयोग आत्म-पीड़न सत्याग्रह की एक प्रकार की स्थिर और शांत शक्ति है। असहयोग अहिंसा की गतिशील अवस्था[3] है। अतः इसे सत्याग्रह की गतिशील अवस्था समझना चाहिए। असहयोग के पीछे मूल दर्शन है सभी प्रकार के राजनैतिक तथा सामाजिक संबंधों का आपसी सहयोग पर निर्भर होना। यदि विशेष प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक व्यवस्था अन्याय तथा शोषण को प्रश्रय देती है, तो इसके उन्मूलन का सबसे सरल तथा मौलिक तरीका है, असहयोग के आधार पर पुराने संबंधों को तोड़ना और नई व्यवस्था में सहयोग देना। गाँधी ने स्वयं कहा था—"सभी प्रकार

१ उपरिवत्, पृ० ६७।

२ दिनरात, मिलिश ई०, अहिंसात्मक प्रतिरोध, पृ० ६८

3. *Young India*, 11 8 '20.

के शोषण शोषितों के ऐच्छिक या बाह्य सहयोग पर निर्भर है। यदि लोग शोषक की आज्ञा का पालन करना बंद कर दें तो शोषण नहीं होगा।"[1] इस प्रकार असहयोग एक प्रकार की सफाई की प्रक्रिया है। यह रोग के लक्षणों से अधिक उसके मूल कारण[2] पर ही प्रहार करता है। यह बतलाना मुश्किल है कि इस धारणा का स्रोत क्या है? प्राचीन[3] भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में इस प्रकार का प्रचलन देखा जाता है कि जब राजा प्रजा पर अधिक अन्याय करता है तो प्रजा राजा के राज्य से निकल कर जंगल जाने की धमकी देता है और जंगल जाने पर वह कर देना बंद कर देता है। कभी-कभी तो सामूहिक रूप से राज्य छोड़ने की बात भी आती है। यह वस्तुतः असहयोग का ही उदाहरण है। परंतु असहयोग का स्पष्ट उदाहरण आधुनिक काल में अमेरिकन विचारक थूरो के सविनय अवज्ञा के सिद्धांत में मिलता है। गांधी के असहयोग सिद्धांत पर भी थूरो का प्रभाव हो सकता है किंतु शायद यह उनके अपने अनुभव का ही परिणाम है।

गांधी के असहयोग आंदोलनों में मुख्यतः तीन प्रकार के असहयोग देखने को मिलते हैं। पहले प्रकार के असहयोग में सत्याग्रही साक्षात् रूप से कार्य करना स्थगित कर देता है अथवा स्थगित करने की सूचना देता है। इसे प्रायः हड़ताल कहा जाता है। १६१८ का अहमदाबाद के मिल मजदूरों का गाँधी के नेतृत्व में हड़ताल असहयोग का ही उदाहरण है। दूसरे प्रकार का असहयोग विभिन्न प्रकार के बहिष्कारों के रूप में प्रकट होता है। इसके अंतर्गत उपाधियों तथा सम्मानित पदों का त्याग, सरकारी दरबार में आने-जाने, सरकारी अफसरों के महोत्सव में भाग लेने तथा उन्हें सम्मानित करने का त्याग, अंग्रेजी स्कूल से विद्यार्थियों को हटाना, अंग्रेजी अदालत में वकीलों का त्याग, अंग्रेज की सेना में काम करने तथा कलर्की करने का त्याग, विधान सभा के लिए निर्वाचित होने और वोट देने का त्याग, तथा विदेशी सामानों का परित्याग

---

1 "All exploitation is based on co-operation, willing or forced, of the exploited The fact remains that there would be no exploitation if people refuse to obey the exploiter"—Bose, N K, *Selections From Gandhi*, p 93.

2 *Young India*, 22 12 '20

3 *Gandhi Marg*, (English), 16, 1 (Jan, 1972), p 62

आता है।[1] असहयोग आंदोलन आरम्भ करने के एक महीना पूर्व गांधी ने कहा— यदि कोई पिता अन्याय करता है तो बच्चों का यह कर्त्तव्य है कि वह पैतृक छत्र-छाया को छोड़ दे। यदि किसी स्कूल का प्रधानाध्यापक अनैतिकता से संस्था को संचालित कर तो विद्यार्थी अवश्य ही उस स्कूल का त्याग कर दें। यदि नगर निगम के अध्यक्ष भ्रष्टाचारी हों तो उसके सदस्यों को उससे अलग कर भ्रष्टाचार से मुक्त कर देना चाहिए। यहां तक कि यदि सरकार प्रजा के प्रति अन्याय करती है तो उसकी दुष्टता को मिटाने के लिए जनता को आंशिक या पूर्ण रूप में उसका असहयोग करना चाहिए।[2]

तीसरे प्रकार का असहयोग सविनय-कानून भंग के रूप में प्रकट होता है। सविनय कानून भंग सामान्य रूप में असहयोग आंदोलन में भिन्न है क्योंकि जहां पहले में कुछ चुने हुए व्यक्ति ही भाग ले सकते हैं वहां दूसरे में सभी व्यक्ति भाग ले सकते हैं।[3] दूसरा सरकारी व्यवस्था से व्यक्ति को अलग करने पर जोर देता है वहां पहला केवल गलत कानून के ऐच्छिक उल्लंघन पर बल देता है। परन्तु व्यापक अर्थ में सविनय कानून भंग असहयोग का ही मौलिक रूप है। किसी सरकार के कानून के पालन करने में बढ़कर उसका क्या सहयोग हो सकता है? सविनय-कानून भंग के पीछे यही तर्क काम करता है। सरकार के कानून का चेतन रूप से बहिष्कार करना वस्तुतः सरकार का असहयोग करना है। गांधी ने कहा है— थोड़े में विचार करने पर यह मालूम पड़ेगा कि सविनय-कानून भंग असहयोग का अनिवार्य अंग है। आप किसी प्रशासन को इसके आदेशों तथा आज्ञाओं का पालन कर, इसका सहयोग करते हैं। कोई भी गलत प्रशासन इस प्रकार के सहयोग के लिए हकदार नहीं है। अतः किसी बुरे राज्य के कानूनों का उल्लंघन करना कर्त्तव्य है।[4] इसलिए १९३० में गांधी ने नमक-कानून का उल्लंघन किया था।

असहयोग चाहे जिस रूप में हो यह सत्याग्रह की क्रिया में शक्ति प्रदान करता है। यह सत्याग्रह का क्रांतिकारी रूप है। इसकी भी कोई सीमा नहीं

1 Bandyopadhyaya J, *Social And Political Thought of Gandhi*, Op cit p 97

2 *Young India*, 16 6 1920

3 Gandhi M K *Satyagraha* P 4

4 *Young India*, 27 3 1930

है। व्यक्ति समुदाय और जनसमूह सभी इसका सहारा ले सकते हैं। यहाँ मार्क्सवादियों और रवीन्द्रनाथ टैगोर की आलोचना पर विचार करना आवश्यक है।

मार्क्सवादियों ने असहयोग आंदोलन को पूँजीपतियों का आंदोलन बतलाया है। परन्तु बंद्योपाध्याय ने ठीक ही इस आलोचना का खंडन किया है।[1] मार्क्सवादी मित्रों को शायद यह लगता हो कि विदेशी वस्त्र और स्वदेशी आंदोलन के पीछे देशी पूँजीपतियों के समर्थन का रहस्य छिपा है किंतु उन्हें मालूम होना चाहिए कि गाँधी ने ग्रामोद्योग का कार्यक्रम रखकर सच्चे अर्थ में समाजवाद को प्रतिष्ठित किया। गाँधी द्वारा चलाये गए खिलाफत आंदोलन के पीछे भी सामंतशाही के समर्थन की झलक देखी जाती है किंतु असल में खिलाफत आंदोलन ब्रिटिश सरकार के खिलाफ था और उसके पीछे यह भी प्रेरणा थी कि भारत के हिंदू-मुसलमान एक होकर यहाँ भी अंग्रेजों से लोहा लें। सी० आर० दास मोतीलाल नेहरू जैसे अनेक कानूनवेत्ताओं ने अदालत का त्याग किया। यदि वे इसका त्याग नहीं करते तो उन्हें फायदा हो था। अतः मार्क्सवादियों की यह एक सामान्य बीमारी है कि सभी चीजों को पूँजीपति और अर्थ के चश्मे से ही देखते हैं।

श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने असहयोग आन्दोलन की आलोचना करते हुए इसे निषेधात्मक[2] बतलाया था। उनके अनुसार विशुद्ध नैतिक रूप में असहयोग आंदोलन राजनैतिक सन्यासवाद है और सक्रिय नैतिकता के रूप में यह एक प्रकार की हिंसा है। मरुस्थल और समुद्रिक-लहर—दोनों हिंसा के ही प्रकार हैं क्योंकि दोनों जीवन के विरुद्ध हैं।[3] सृष्टि सहयोग के नियम पर आधारित है। व्यक्ति अपने को सृष्टि के किसी भाग से विलग कर मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता है। सृष्टि के साथ ऐक्य स्थापित कर ही वह मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। असहयोग आंदोलन के द्वारा पश्चिमी जनता के मन और हृदय से अपने को अलग कर लेना एक प्रकार से आध्यात्मिक आत्महत्या है।[4] इस प्रकार टैगोर ने गाँधी के असहयोग आंदोलन की आलोचना की। परन्तु टैगोर

1 Bandyopadhyaya : *Social And Political Thought of Gandhi*, pp 305-312

2 *Ibid* p 312

3 *Gandhi Marg*, (English) April, 1961, p 148

4 *Ibid* pp 149 51

की आलोचना मे कोई ताकत मालूम नहीं पड़ती है। लगता है कि वे केवल असहयोग के बाहरी रूपों को ही देखते थे। उसके अंदर सन्निहित विशाल भावात्मक दर्शन को वे नहीं देख सके थे। गाँधी ने उनको आलोचना का उत्तर बहुत ही उचित शब्दों मे दिया जो इस प्रकार है—उनके अनुसार "तात्कालिक परिस्थिति अनिवार्य सहयोग की माग करती है, परतु असहयोग का उद्देश्य भारत और ब्रिटेन के बीच पारस्परिक सम्मान तथा विश्वास पर आधारित वास्तविक, सम्मानित और ऐच्छिक सहयोग का मार्ग प्रशस्त करना है।"[1] उनके अनुसार किसी वस्तु का बहिष्कार करना उतना ही आदर्शजन्य है जितना किसी चीज को स्वीकार करना, सत्य का पालन उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना असत्य का परित्याग, बुराइयो के प्रति असहयोग करना वैसा ही कर्त्तव्य है जैसा अच्छाइयो के प्रति सहयोग करना।[2] अत असहयोग का निषेधात्मक स्वरूप केवल प्रातिभासिक सत्य है वास्तविक नहीं। राष्ट्र का असहयोग करना मानो इस प्रकार की सूचना है कि वह सरकार का सहयोग अपने हित को सामने रखकर करना चाहता है और यह प्रत्येक राष्ट्र का अधिकार और सरकार का कर्त्तव्य है।[3] पुन गाँधी ने कहा कि भारतीय जनता का असहयोग न तो ब्रिटेन और न पश्चिम के प्रति है। इसका असहयोग अग्रेजो के द्वारा स्थापित तत्त्वों से है जो भौतिक-सभ्यता को जन्म देती है तथा समाज के दुर्बल वर्गों का शोषण करती है।[4]

वस्तुत असहयोग का बाहरी रूप निषेधात्मक मालूम पड़ता है परतु अदर से यह भावात्मक है। यदि गाँधी अग्रेजी सस्थाओ के बहिष्कार के साथ साथ नई वैकल्पिक जनतात्रिक सस्थाओ के निर्माण का उद्देश्य नहीं रखते तब उनके कार्यों को निषेधात्मक कहा जा सकता था। परतु उन्होने हर अग्रेजी सस्था का प्रभावकारी विकल्प भारतीय ढग से दिया तथा रचनात्मक कार्यक्रमो मे अपनी शक्ति को लगाया। फिर इसे निषेधात्मक कैसे कहा जा सकता है? भावात्मक कार्य का यह कभी भी अर्थ नहीं होता कि अच्छे-बुरे सभी को एक ही समान स्वीकार करे। यदि ऐसा हो तब एक चोर की चोरी को रोकना

1 Bandyopadhyaya J, *Social And Political Thought of Gandhi*, p 314

2 *Ibid*, p 314

3 *Ibid*, p 314

4 *Ibid*, p 314

निषेधात्मक क्रिया होगी। परन्तु चोरी रोकना धन को सुरक्षित रखना है अत यह भावात्मक क्रिया है। इसी प्रकार डाक्टर किसी अंग के बेकार हो जाने पर उसे काट कर अलग कर देता है। परंतु इसका भावात्मक अर्थ है उसके अन्य अंगों को सुरक्षित रखना तथा रोगी का प्राण बचाना। अत इसे निषेधात्मक नहीं कह सकते। इसी प्रकार असहयोग-आंदोलन को गांधी ने राष्ट्रिय, अन्तर्राष्ट्रिय, मानवीय तथा आध्यात्मिक —सभी प्रकार के स्वास्थ्य को बढ़ाने के लिए किया था। जिसका मूल सबंध नैतिक उत्थान से था। फिर इसे निषेधात्मक कहना गलत होगा।

२ रचनात्मक आयाम

(क) व्याख्या सत्याग्रह को, आंदोलनात्मक और प्रतिकारात्मक प्रक्रिया वस्तुत सामाजिक संस्थाओं और संबंधों के मार्ग में व्यवधान के निराकरण का एक उपकरण है। परन्तु सत्याग्रह केवल इतना ही नहीं है। पूर्ण सत्याग्रह में निषेधात्मक तत्वों के साथ-साथ भावात्मक मूल्य भी जुड़े हुए होते हैं। यह एक जीवन पद्धति है। जीवन और जीवन के संपूर्ण पहलुओं के प्रति इसमें एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है—यह ऐसे जीवन जीने की प्रवृत्ति है जो जीवन-निर्माण, उत्थान तथा विस्तार के साथ चलनेवाली विकासात्मक शक्तियों के अनुकूल है तथा जिसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार के उत्पादन तथा रचनात्मक कार्यों के रूप में प्रकट होती है।[१] अत संक्षेप में रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह के भावात्मक पक्ष हैं। अन्याय के प्रति प्रतिकार और नई व्यवस्था के निर्माण के लिए रचनात्मक कार्यक्रम—ये दोनों सत्याग्रह के अवियोज्य अंग हैं। गांधी ने स्वयं "Constructive Programme' नामक अपनी पुस्तक में निष्कर्ष के रूप में लिखा है—" my handling of civil disobedience without the constructive programme will be like a paralized hand attempting to lift a spoon '[२]

पुस्तक की प्रस्तावना में तो उन्होंने कहा—

1 Diwakar, R R, *Satyagraha*, (Bombay, Hind Kitabs, 1946), p 41

2. Narayan, Shriman, (ed), *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, (Ahmedabad, Navajivan Press, 1968), Vol. IV, p 371

'For civil disobedience it means the constructive Programme'[1]

उनके अनुसार यदि प्रतिकारात्मक सत्याग्रह को रचनात्मक सत्याग्रह से नहीं जोड़ा जाय तो वह पूर्णरूपेण अहिंसक नहीं हो सकेगा। एक बार उन्होंने कहा—'सेवा की भावना से प्रेरित होकर जेल जाना लाठी खाना आदि तो एक प्रकार से हिंसा के रूप हैं।'[2] अमल में रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह को पूर्णतः अहिंसक और सजनात्मक बनाता है। रचनात्मक कार्यक्रम गाँधीवादी सत्याग्रह रूपी आत्मा का शरीर है। यह सत्याग्रह का सहवर्ती और पूरक तत्त्व है।[3] डा० दिवाकर ने भी इसका समर्थन किया है— गाँधीजी द्वारा बताये गये १५ प्रकार के तथा अन्य सभी रचनात्मक कार्यक्रम वस्तुतः सत्याग्रह के रचनात्मक और भावात्मक रूप हैं।'[4] इसी को डा० हरिद्वार राय ने दूसरे शब्दों में समझाते हुए कहा है— गाँधीजी के लिए सत्याग्रह केवल अन्याय के प्रतिकार का साधन नहीं है किंतु यह स्पष्ट रूप से एक स्वस्थ और सजनात्मक जीवन पद्धति है।[5] इसीलिए प्रायः सभी विचारक इसपर एकमत हैं कि 'सत्याग्रह और रचनात्मक कार्यक्रम समाज परिवर्तन तथा समाज नियमन की दो परस्पर पूरक-पद्धतियाँ हैं।'[6] यह बात विदेशी लेखकों की पैनी दृष्टि से भी ओझल नहीं हो सकी और श्रीमती बानडूरान्ट ने स्पष्ट कहा वास्तविक सत्याग्रह अन्याय के प्रतिकार में सर्वथा सक्रिय होने के साथ-साथ रचनात्मक और आंदोलनात्मक होने के साथ-साथ समन्वयकारी है।[7]

यों तो गाँधी ने अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियाँ देश भर में चलाई थीं किंतु उन्होंने अपनी पुस्तक (रचनात्मक कार्यक्रम) में निम्नलिखित १५ कार्यक्रमों का उल्लेख किया है—

1 Ibid p 336

2 Harijan 25 March 1939

3 Sitaramayya B P Gandhi And Gandhism, (Allahabad Kitabistan 1942) Vol. I, p 170

4 Diwakar, R R Satyagraha, p 47

5 Relevance of Satyagraha For Modern Times (Ed) Dr Ramjee Singh p. 52.

6 Bandyopadhyaya J Social And Political Thought of Gandhi pp 203 4

7 Bondurant J, Conquest of Violence p 43

१ साम्प्रदायिक एकता
२ अछूतोद्धार
३ मद्य निषेध
४ खादी
५ ग्रामीण कुटीर-उद्योग
६ ग्राम-सफाई
७ नई तालीम
८ वयस्क शिक्षा और साक्षरता
९ नारी का उद्धार
१० समग्र-ग्राम सेवा
११ हिंदुस्तानी का प्रचार
१२ मातृभाषा के प्रति प्रेम
१३ आर्थिक समानता के लिए कार्य
१४ आदिवासियो की सेवा
१५ विद्यार्थी, किसान और मजदूरो का सगठन ।

उपर्युक्त रचनात्मक कार्यक्रमो को गांधी ने नीचे मे नई समाज रचना प्रस्तुत करने के लिए रखा था । परतु गाधी इन्ही कार्यक्रमो को ही अतिम और पूर्ण नही मानते थे ।[1] उन्होने इन्हे उदाहरण के रूप मे रखा था । आवश्यकता पडने पर नये कार्यक्रमो को भी जोडा जा सकता था । इन कार्यक्रमो को लागू करने के लिए उन्होने स्वयसेवको का भी सगठन किया ।

रचनात्मक कार्यक्रमो के द्वारा समाज का सुधार खड खड करके होता है । परतु समस्त समाज के परिवर्तन के लिए एक समग्र भावात्मक प्रक्रिया भी चाहिए । इसके लिए गाँधी के दिमाग मे सर्वोदय का कार्यक्रम था ।[2] परतु इसे पूरी तरह स कार्यान्वित करने का समय उन्हें नही मिला । विनोबा ने अपने आदोलन मे उसे ही मुख्य विषय माना ।

1 Narayan, Shriman, (ed), *The Selected Works of Mahatma Gandhi* Vol IV, p 335

2 Narayan, Jayaprakash, 'Gandhi And Social Revolution', *Gandhi Marg*, (English) 13, 4 & 14, 1 (Oct , 1969, & Jan , 1970), pp 5-15, p 7

३ मूल्य-परिवर्तनात्मक आयाम

सत्याग्रह की प्रतिकारात्मक प्रक्रिया का उद्देश्य समाज मे अंतर्निहित बुराई, शोषण और अन्याय को दूर करना है। रचनात्मक कार्यक्रम को विधायक-प्रक्रिया के द्वारा नवीन समाज-रचना का कार्य सपन्न किया जाता है। परतु दोनो के अतिरिक्त एक और प्रक्रिया सत्याग्रही तथा प्रतिपक्षी के बीच चलती रहती है। इसे मूल्य-परिवर्तनात्मक-क्रिया कहते हैं।[1] किसी भी समाज का अपना मूल्य तथा आदर्श होता है। अत उसकी अपनी अलग सस्कृति होती है। चाहे सत्याग्रही समुदाय या व्यक्ति हो या अन्यायी प्रतिपक्षी—दोनों की सस्कृतियो मे कुछ अच्छे और कुछ बुरे मूल्य होते हैं।[2] सत्याग्रह की प्रक्रिया के द्वारा दोनों के बुरे मूल्यों मे परिवर्तन होता है तथा शुभ-मूल्यो का विकास होता है। सत्याग्रही अपनी क्रिया तब आरभ करता है जब उसे यह भान होता है कि शासक की राज्य, दड या हिंसा शक्ति मे उसकी नैतिकशक्ति श्रेष्ठ है तथा वह भौतिकशक्ति मे हीन होते हुए भी नैतिकशक्ति के सहारे सबल-से-सबल प्रतिपक्षी को जीत सकता है। जबतक सत्याग्रही अपने जीर्ण शीर्ण गलत मूल्यो को नही बदलता, वह सत्याग्रह नही कर सकता। शासक चाहे कितना भी कठोर और नृशस क्यो न हो फिर भी हमे यह समझना चाहिए कि उसका परिवर्तन हो सकता है और ऐसे अन्यायी की आज्ञा पालन करना प्रजा का धर्म नही है। अत इससे स्पष्ट है कि सत्याग्रह की प्रक्रिया मे सत्याग्रही एक ओर शत्रु की भौतिकशक्ति का ख्याल नही करके धर्मयुद्ध मे अपनी अतिम आहुति देने के लिए भी तत्पर हो जाता है, दूसरी ओर वह उसकी अच्छाइयो और नैतिक शक्ति के जागरण मे भी विश्वास करने लगता है। इसी आधार पर उसकी समस्त योजना चलती है। विशेष समुदाय जब इन मूल्यो को मानने लगता है तो परिवर्तन व्यक्ति से बढकर समुदाय तक आता है। जब समूचे समाज मे यह मूल्य परिनिष्ठित हो जाता है तो सामाजिक क्रांति होती है।

इसी प्रकार प्रतिपक्षी की ओर से भी मूल्य परिवर्तन होते हैं। प्रतिपक्षी का शोषण इस बात पर निर्भर करता है कि शोषित के बारे मे उसकी क्या धारणा है। यदि वह शोषित व्यक्ति को स्वभाव से दुष्ट, कायर तथा हीन मानता है तो उनके साथ हिंसा से पेश आता है। परतु इसके बदले यदि शोषित हिंसा से प्रतिकार करता है तो शोषक की धारणा पुष्ट हो जाती है

1 Lakey, Jeorge, "Revolution Violent or Non-violent", *Gandhi Marg*, (English) 15, 1 (Jan, 1971), pp 6-25, p 14

और हिंसा प्रतिहिंसा चलती रहती है। परंतु यदि शोषित अहिंसक साधन को अपनाता है तो शोषक का पुराना विश्वास टूट जाता है। उसकी नैतिक हार हो जाती है। वह शोषित के बदले स्वयं को दुष्ट और हिंसक पाता है। अतः उसके पुराने मूल्य बदल जाते हैं। विचार जब बदल जाता है तो आचार भी उससे प्रभावित होगा ही। पुराने मूल्य बदलने लगते हैं और नये मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है। फिर तो समाज का स्वरूप ही बदल जाता है। यही पर क्रांति की प्रक्रिया पूर्ण होती है। अतः समाज परिवर्तन के लिए मूल्य परिवर्तन आधारभूत शर्त है। इसके बिना क्रांति न तो प्रभावकारी होगी और न स्थायी। प्रतिक्रांतियों का भय भी बना रहेगा। मूल्य जब नहीं बदलता है तो फिर समाज-व्यवस्था टिकाने के लिए तानाशाही और उसकी दंड शक्ति चाहिए ही।

(छ) मूल्यांकन

१ प्रजातंत्र और सत्याग्रह जब हम प्रतिकारात्मक सत्याग्रह की बात करते हैं तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न हमारे सामने आता है कि सत्याग्रह की सार्थकता केवल परतंत्र राज्य और विदेशी शासन के संदर्भ में ही है या प्रजातंत्र में भी इसका कोई स्थान है? जब प्रजातंत्र के संदर्भ में सत्याग्रह को हम देखने हैं तो इसके संबंध में कई प्रश्न उठते हैं। पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या सत्याग्रह की प्रक्रिया प्रजातांत्रिक शासन पद्धति में संगत है? दूसरा प्रश्न है क्या सत्याग्रह की सफलता केवल प्रजातांत्रिक शासन पद्धति में ही संभव है या अन्य शासन पद्धति में भी? तीसरा प्रश्न है क्या प्रजातंत्र सत्याग्रह प्रक्रिया के अभाव में कायम रह सकता है? इन प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है।

कुछ लोगों के अनुसार प्रजातंत्र में सत्याग्रह का प्रयोग नहीं होना चाहिए। श्री बलराज पुरी ने युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि प्रजातांत्रिक शासन में सत्याग्रह की प्रक्रिया अवैध और अनुचित है। उनकी युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

प्रजातंत्र की शक्ति किसी समस्या के संवैधानिक तरीके से समाधान ढूँढने में है। यदि संवैधानिक साधनों को छोड़कर हम कोई ऐसा साधन ढूँढते हैं जिसमें समस्या का समाधान सीधे अपने हाथों में ले लेते हैं चाहे वह हिंसक हो या अहिंसक —दोनों परिस्थितियों में इससे प्रजातंत्र की शक्ति क्षीण होती है।[1]

1 Krishnakumar (ed.), *Democracy And Non-Violence*, (New Delhi: Gandhi Peace Foundation, 1968), p. 104

प्रजातांत्रिक व्यवस्था मे बहुसंख्यकों को सत्याग्रह करने की आवश्यकता नहीं है और अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों पर अपनी इच्छा लादना उचित नहीं है। यदि बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के बीच हित विरोध हो तो वहाँ पर बहुसंख्यक को भी यह अधिकार नहीं है कि वह अपनी इच्छाओं को अल्पसंख्यकों पर लादे।[1] इस प्रकार किसी भी परिस्थिति मे प्रजातन्त्र मे सत्याग्रह वांछनीय नहीं है। यहाँ यह देखना आवश्यक है कि प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था मे विवेक और सख्या बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परन्तु जब साक्षात् अहिंसक कार्यों के द्वारा संवैधानिक प्रजातांत्रिक प्रक्रियाओं को अपने हाथ में ले लेते हैं तो वहाँ पर विवेक और बहुमत्ता के स्थान पर आत्मपीडन और दया औचित्य का आधार बन जाते हैं। इस साधन को हिंसक साधन की तुलना मे भले ही अच्छा कहा जाय परन्तु यह संवैधानिक साधनों की तुलना में बहुत ही कम प्रजातांत्रिक है।[2]

अंतिम रूप मे यह भी कहा जा सकता है कि जो अहिंसक साधन को संवैधानिक साधन का एक विकल्प मानते हैं, वे सचमुच अहिंसा के साथ हिंसा करते है। कारण यह है कि जब प्रजातन्त्र में बुद्धि और सम्पत्ति को उचित स्थान नहीं मिलता है तो अहिंसा दबाव मे परिणत हो जाती है।[3] अत बलराज पुरी इस निष्कर्ष पर आते है कि वास्तविक प्रजातन्त्र, वास्तविक क्रांति और वास्तविक अहिंसा वास्तव मे एक दूसरे से अवियोज्य हैं।[4]

1 "In a democratic system, a majority has no need to resort to Satyagraha and a minority is not right to use it to impose its will on a majority Even a majority should not impose its will on a minority on matters of exclusive concern to the latter "—*Ibid*, p 104

2 *Ibid*, p 104

3 "Those who insist on posing non-violence as an alternative to constitutionalism, do violence to the spirit of non violence For when reason and consent are discounted, non-violence is reduced to mere coercion "—*Ibid*, p 107

4 "Real democracy, real revolution and real non-violence are in reality, indispensable to one another "—*Ibid*, p 107

दूसरी ओर आचार्य जे० बी० कृपलानी विनोबा भावे तथा अन्य लेखक और सर्वोदय विचारक प्रजातत्र मे सत्याग्रह को सवैधानिक तथा उचित मानते है।

आचार्य कृपलानी के अनुसार गांधी ने प्रजातान्त्रिक सरकार मे सविनय-अवज्ञा का कभी भी निषेध नही किया है। वे इसमे कभी भी विश्वास नहीं करते कि बहुसख्यक गलती कर ही नही सकते हैं। उन्होने व्यक्ति की अतरात्मा को सर्वोपरि स्थान दिया है।[1] उन्हे इस बात की जानकारी थी कि प्रजातान्त्रिक सरकार भी स्वेच्छाचारी, भ्रष्ट और केंद्रित व्यवस्था का समर्थक हो सकती है। ऐसी परिस्थिति मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता और गरिमा खतरे मे आ सकती है। तब व्यक्ति को अपनी अतरात्मा की आवाज को ही प्रधानता देनी होगी।[2]

गांधी के अनुसार सत्याग्रह एक शुद्ध और असदिग्ध शस्त्र है। उनका यह विश्वास है कि शुद्ध शस्त्र के व्यवहार से शुभ का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है, भले ही हम भ्रमित उद्देश्य मे ही उसका व्यवहार क्यो न करें।[3] फिर उनका यह कहना कि "अहिंसक प्रतिकार को दबाना अतरात्मा को कैद करना है", सत्याग्रह का समर्थन करता है।[4] प्रजातत्र मे सत्याग्रह की आवश्यकता तब नही पड सकती है जब इसमे भ्रष्टाचार और व्यक्ति को पीडित करने का कोई स्थान नहीं रहे, जो वास्तव मे असभव है। इसलिए गांधी ने कहा—मैं असहयोग को सार्वभौमिक रूप से व्यवहार की वस्तु मानता हूं।[5]

प्रजातन्त्र मे जनता को 'नागरिक' और सर्वाधिकारी—राज्य म 'प्रजा' कहा जाता है। गांधी ने यह इच्छा व्यक्त की है कि "मैं प्रत्येक नागरिक को यह बात मालूम करा दूँ कि सविनय प्रतिकार उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। इसको खोना मानो मानत्व को खोना है।"[6] जब राज्य भ्रष्ट और कानूनहीन हो जाता है तो सविनय अवज्ञा नागरिको का पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है। ऐसी

1 *Ibid*, p 129-30

2 *Ibid*, p 131

3 "*I* believe that the use of a pure weapon even from a mistaken motive does not fail to produce some good"—*Ibid*, p 131

4 *Ibid*, p 131

5 *Ibid*, p 131

6 *Ibid*, p 132

स्थिति म जो कोई राज्य का साथ देता है वह भ्रष्टाचार और कानून-हीनता का भी भागी बनता है।[1] सबसे बडी बात तो यह है कि सविनय अवज्ञा कानून का उल्लघन नहीं बल्कि उच्चतर नियम का पालन है।[2] फिर सत्याग्रह पुत्र, पत्नी, शासक, मित्र तथा समस्त विश्व के विरुद्ध किया जा सकता है तो फिर यह प्रजातान्त्रिक सरकार के विरुद्ध क्यो नही किया जा सकता है ?[3] इस प्रकार आचार्य कृपलानी प्रजातन्त्र म सत्याग्रह का प्रयोग प्रतिकारात्मक अर्थ मे आवश्यक मानते हैं।

श्री मोहन मुरारी के अनुसार तो सत्याग्रह चाहे जीवन-पद्धति के रूप म लिया जाय अथवा अहिंसक प्रतिकार के अर्थ म लिया जाय, सही अर्थ म प्रजातन्त्र का जीवन-रक्त (Life blood) है।[4] उनके अनुसार सत्याग्रह व्यक्ति के हृदय म स्वतन्त्रता की भावना तथा इसके प्रति प्रेम को वशीभूत कर देता है। प्रजातन्त्र के लिए भी स्वतन्त्रता प्रेम आवश्यक है। फिर सत्याग्रह के द्वारा राष्ट्र को त्याग, आत्मानुशासन तथा सजनात्मकता की शिक्षा मिलती है जो प्रजातन्त्र के लिए अनिवार्य है। वस्तुत सत्याग्रह राष्ट्र को अन्याय और हिंसा स लडने के लिए एक शक्ति प्रदान करता है। अत सत्याग्रह प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार डा० नागेश्वर प्रसाद भी यह मानते हैं कि मैत्र राजनैतिक व्यवस्था म सत्याग्रह का विचार गाधी की मौलिक देन है।[5] खासकर प्रजातन्त्र म एक वर्ग जिसकी पहुच राजनीति म प्रभावकारी नही है, सत्याग्रह का प्रयोग अनुशासित और सास्कृतिक ढग म कर सकते हैं।

इस बात म सदेह नही है कि गाधी प्रजातन्त्र म सत्याग्रह का प्रयोग उचित मानते थे। उन्होंने हटर-कमिटी के सामने स्पष्ट रूप स कहा था— मैं सत्याग्रह की अनिवार्यता आनुवाशिक जवाबदेह सरकार म भी मानता हूँ।[6] मैं कल्पना कर सकता हूँ कि स्वराज्य म भी कुछ बातें ऐसी आ सकती हैं जहा सत्याग्रह की आवश्यकता पडे।[7] १९१४ म इंडियन ओपिनियन म भी

1 *Ibid*, p 132

2 *Ibid* p 134

3 *Ibid* p 133

4 *Ibid*, p 147

5 Prasad, Nageshwar 'Satyagraha And Political System', *Quest*, (Bombay, July September, 1970), pp 39-42

6 Gandhi M K *Satyagraha*, p 33

7 *Ibid*, p 34

उन्होने लिखा—"राजनीति मे इसका (सत्याग्रह का) प्रयोग इस सत्य पर आधारित है कि जनता की सरकार तभी सभव है जब चेतन या अचेतन रूप मे उसकी सम्मति से शासन हो।"[1] इसलिए उन्होने अपने सर्वोदय-समाज के आदर्श के सबध मे लिखा—"सत्याग्रह और असहयोग से परिवेष्ठित अहिंसा ग्राम समुदाय की मान्यता होगी।"[2] सिविल डिसओबिडियेन्स आदोलन के समय भी उन्होने कहा—"मैं जानता हूँ कि यदि मैं स्वतन्त्रता-सघर्ष के बाद बच जाऊँगा तो निश्चय ही अपने देशवासियो को अहिंसक सघर्ष की अनुमति दूँगा जो इस समय के सघर्ष के समान दुर्दान्त और हठपूर्ण होगा।"[3]

परतु बाद मे जब स्वतन्त्रता सन्निकट आई तो गाँधी सत्याग्रह के प्रयोग पर काफी सावधानी की आवश्यकता का अनुभव करने लगे। १९४६ मे उन्होने कहा कि पूर्ण अहिंसक असहयोग कितना भी सुन्दर क्यो न हो परतु लोकप्रिय शासन मे इसके लिए स्थान नही है।[4] फिर १९४७ मे उन्होने कहा—"यदि प्रत्येक व्यक्ति कानून अपने हाथ मे ले ले तो इससे अराजकता छा जायगी तथा स्वतन्त्रता की हत्या होगी।"[5] पुन उन्होने लिखा—"सत्याग्रह, सविनय-अवज्ञा और उपवास का प्रजातन्त्र मे सीमित व्यवहार है।"[6] इसलिए सत्याग्रह के प्रयोग पर गाँधी ने कुछ शर्तों को लगा रखा। अर्थात् इसका प्रयोग तभी किया जा सकता है जब अन्य कानूनी औपचारिक और अहिंसक तरीके म विफल हो जाते हैं। सत्याग्रह शुरू करने के पूव इसके अनुशासन और मूल्यो को अच्छी तरह जान लेना आवश्यक है। उपयुक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रजातन्त्र मे सत्याग्रह की सार्थकता है परतु उसका प्रयोग सावधानीपूर्वक होना चाहिए।

दूसरा प्रश्न है—सत्याग्रह की सफलता और प्रजातन्त्र का सबध। अनेक विद्वान इस निष्कर्ष पर आये हैं कि सत्याग्रह की सफलता केवल प्रजातान्त्रिक उदार शासन मे ही सभव है। इस सबध मे श्री वद्योपाध्याय डॉ० राजेन्द्र

1 *Ibid*, p 35

2 *Harijan*, July 25, 1941

3 *Young India*, January 30, 1930

4 *Harijan*, July 14, 1946

5 Rai, Haridwar, "Sociology of Gandhian Satyagraha", *Relevance of Satyagraha For Modern Times*, (ed), Singh, Ramjee, p 56

6 Tendulkar, G D, *Mahatma*, Vol VII, p 100

प्रसाद[1] और क्लिटगार्ड का नाम लिया जा सकता है। बंद्योपाध्याय ने बतलाया है कि गांधी के सत्याग्रह की अधिकांश सफलता अंग्रेजों की उदार और प्रजातान्त्रिक नीति पर आश्रित है।[2] क्लिटगार्ड ने भी कहा है[3]—"गांधी की व्यूह-रचना सम्भवतः प्रजातन्त्र में सबसे अच्छी तरह कार्य करती है

---

1 " he (Gandhi) found suitable ground in this country and he also found—I must confess-noble adversaries who were capable of yielding to the appeal which non-violence makes They had set a limit to their own action below which the British could not and did not go and we must admit, we must confess that Gandhiji's success was due very largely to himself and his people but also to the British I do not know and it would be merely speculating as to what would have happened if we had got an adversary of another kind all together who put no limit to his atrocities, who put no limits to what he would do to and adversary who was proving himself dangerous "— Dr Rajendra Prasad's concluding address to the International seminar, Gandhian Outlook and Technique, p 338

2 "One of the essential conditions for the success of Satyagrah as technique of resistance is a relatively liberal political system, and that it would be extremely difficult, if not impossible, to organise a successfull Satyagraha in a dictatorial political system "—Bandyopadhyaya, *Social And Political Philosophy of Gandhi*, p 343

3 "Gandhi's tactics probably works best in a democracy, where the role of the State as an enforcer is tempered by the nature of popular sympathy, with the great respect for human life and equality "

—Klitgaard, R E, "Gandhi's non-violence As Tactic' *Journal of Peace Research*, (Oslo, International Peace Research Institute), 2 (1971), pp 143-53, p 148

जहाँ पर राज्य लोकप्रिय सहानुभूति के आधार पर है जिसमे मानव जीवन और समानता के प्रति सम्मान होता है।" परतु ऊपर के दोनो विचार सत्याग्रह को पूर्ण परिप्रेक्ष्य मे देखने मे असफल है। यदि सच्चे अर्थ मे सत्याग्रह को लिया जाय तो यह केवल प्रजातत्र मे ही नही, तानाशाही सरकार मे भी सफलीभूत होगा। अग्रेजी शासन मे भी सत्याग्रहियो के साथ नृशसता का व्यवहार किया गया। नागपुर का झडा सत्याग्रह, बिट्टपुर का दमन और 'जालियावाला बाग का गोलीकाड इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके अतिरिक्त भी अग्रेज शासको की बर्बरता के कई उदाहरण है। अत कीनी महोदय ने ठीक ही कहा है—

" it was not the 'civilized nature' of the government considered in the abstract but the concrete nature of the situation which it faced that was the determinant of its postures "[1]

जैसे शार्प ने भी लिखा है—

"If the British exercised some restraint in dealing with non-violent rebellion, this may be related to the more peculiar problems posed by a non-violent resistance movement and to the kind of forces which the non-violence set in motion, than to the opponent being "British" The same people showed little restraint in dealing with the Mau Mau in Kenya or in saturation bombings of German cities,"[2]

वस्तुत सत्याग्रह की सफलता प्रतिपक्षी के स्वभाव पर आश्रित नही है। इसका अपना तर्कशास्त्र है। यदि प्रतिपक्षी के गुणो का हम विचार करते भी

1 Kini, N G S, "Techniques And Tools of Gandhian Revolution", *Gandhi Marg* (English) 15, 2 (April, 1971), p 125

2 Sharp, Gene, "Gandhi's Political Signifiance Today", *Gandhi His Relevance For our Times* (ed), G Ramchandran & T K Mahadevan, (New Delhi, Gandhi Peace Foundation, 1967), p 148

हैं तो वहाँ पर इसका सबंध सत्याग्रह की व्यूह रचना और काल से है।[1] प्रतिपक्षी के स्वभाव तथा काल के अनुरूप सत्याग्रही को अपनी व्यूह रचना बनानी पड़ती है। सत्याग्रह की सफलता परिस्थिति की सरलता और जटिलता पर भी आधित है। सर्वाधिकारी तथा प्रजातान्त्रिक राज्य दो विभिन्न बल्कि विरोधी सामाजिक परिस्थितियों के सूचक हैं। यदि एक सकीर्ण और बद्ध समाज तथा राजनैतिक व्यवस्था का द्योतक है, तो दूसरा उदार और मुक्त सामाजिक रचना का सूचक है जिसमे जनमत तैयार करने मे कोई प्रतिबंध नही है। पहली सामाजिक रचना मे सत्याग्रही को व्यूह रचना भी जटिल बनानी पड़ेगी। यहाँ जनमत और जन शक्ति तैयार करने के लिए गुप्त साधनो का भी सहारा लिया जा सकता है क्योंकि विचार प्रचार करने का कोई खुला विकल्प सामने नहीं है। अहिंसा के मूल सिद्धात को व्यूह रचना, प्रचार के साधन इत्यादि को बदल कर भी सुरक्षित रखा जा सकता है। इस प्रकार की व्याख्या को कीनी महोदय 'Creative interpretation of non violent combat" कहते हैं।[2] इसके अभाव मे सर्वाधिकारी राज्य मे सफलता पाना मुश्किल है। गाँधीवाद की केवल यात्रिक व्याख्या से हम सभी समाज के अनुकूल नहीं बनाया जा सकता।

जहाँ तक सर्वाधिकारी राज्य की क्रूरता का प्रश्न है यह तो प्रजातान्त्रिक कहे जानेवाले शासको मे भी कम नही है। जालियावाला बाग की क्रूरता हिटलर की क्रूरता से कम नही है। इसी प्रकार और गहराई से विचार किया जाय तो प्रजातन्त्र के नाम पर जनता की आँखो मे धूल झोंककर समूह के हित के साथ खिलवाड करनेवाले शासक कम अमानवीय नहीं हुए है। सत्ता प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिए प्रजातन्त्र के नाम पर व्यक्ति-व्यक्ति को, जाति जाति को, सम्प्रदाय सम्प्रदाय को तोडा जाता है तथा उनके बीच वैमनस्य के बीज बोये जाते हैं। उससे वर्ग-कलह होते ही रहते हैं। अत यह कहना कि सत्याग्रह केवल भद्र, सुसस्कृत और प्रजातान्त्रिक शासको के विरुद्ध ही सफल होगा, क्रूर तथा सर्वाधिकारी शासन के विरुद्ध नहीं, उचित नही है। कीनी महोदय ने ठीक ही कहा है—"Although it is true that we do not have many cases of non violent combat under totalitarian regimes still the suggestion is based on the confusion of issues and

1 Kini, N G S, *Gandhi Marg*, 15, 2 (April 1971), p 126

2 *Ibid*, p 127

a failure to understand and what Sharp has called 'the kind of forces which non-violence sets in motion' "[1]

तीसरा प्रश्न है क्या सत्याग्रह और अहिंसा के बिना प्रजातन्त्र कायम रह सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह की प्रक्रिया और प्रजातन्त्र मे कोई अनिवार्य सबंध नही है। यह ठीक है कि अहिंसा और सत्याग्रह की प्रक्रिया से प्रजातान्त्रिक वातावरण बनाने मे सहायता मिलती है। इसलिए इस प्रजातन्त्र की सफलता की आवश्यक शर्तों मे से एक शर्त मान सकते हैं। परतु यह कहना कि सत्याग्रह के अभाव मे जनतन्त्र कायम नही रहेगा, गलत होगा। हम ऐसे भी प्रजातन्त्र के बारे मे सोच सकते है जहाँ के शासक नागरिक के कल्याण के प्रति सच्चे दिल से वफादार है, उनके कानून समस्त समाज के हित के अनुकूल है तो फिर वहाँ सत्याग्रह की कोई आवश्यकता नही रहेगी। किंतु सत्याग्रह की सार्थकता प्रजातन्त्र मे तब तक रहती है जबतक शासको मे स्वार्थ भावना, सत्ता से चिपके रहने का मोह, सत्ता के मद से उत्पन्न निरकुश प्रवृत्ति तथा भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति बनी रहती है।

अत सत्याग्रह और प्रजातन्त्र के आपसी सबधो को इस प्रकार रख सकते हैं—

(क) विशुद्ध प्रजातन्त्र विशुद्ध सत्याग्रह से स्वतन्त्र है। यहाँ हम साकेतिक रूप से कह सकते है 'अ' 'ब' से स्वतन्त्र है अर्थात् विशुद्ध प्रजातन्त्र में सत्याग्रह की आवश्यकता ही नही है। यहाँ जनता को शासक के विरुद्ध किसी प्रकार की ऐसी शिकायत नही रह सकती जिसके लिए सत्याग्रह करना पड़े।

(ख) जहाँ प्रजातन्त्र का केवल ढाँचा हो, दिखावा हो किंतु वास्तव मे वहाँ पार्टी और पार्टी के कुछ व्यक्तियों की तानाशाही हो वहाँ सत्याग्रह की अत्यन्त अपेक्षा है। बिना सत्याग्रह के यहा पर हम प्रजातन्त्र को अपने वास्तविक स्वरूप मे नही लौटा सकते। सत्याग्रह के अभाव मे प्रजातन्त्र दिन प्रतिदिन समाप्त होता जायगा और अन्त मे शुद्ध तानाशाही की स्थापना हो जायगी। अत यहाँ प्रजातन्त्र सत्याग्रह पर आश्रित हो जाता है। साकेतिक भाषा मे हम इस प्रकार कह सकते है—'अ' 'ब' पर आश्रित है। परतु इसका विपरीत सत्य नही।

---

1 Kim, N G S, *Gandhi Marg*, 15, 2 (April 1971), p 126

कुछ विचारक जो यह मानते हैं कि प्रजातंत्र मे ही सत्याग्रह सफलीभूत हो सकता है, प्रजातंत्र और सत्याग्रह को एक दूसरे का पूरक मानते है। परंतु ऐसा कहना भूल है। यदि सत्याग्रह को विशुद्ध अर्थ मे लिया जाय तो इसकी शक्ति सत्य और नैतिकता की शक्ति है। इसे किसी बाहरी शक्ति पर आश्रित नहीं रहना पड़ता है। यदि वातावरण की दुरूहता म क्षणिक विफलता भी मिले तो भी इस सत्याग्रह को विफलता नही कह सकते क्योंकि इसका मूल्यांकन क्षणिक सफलता या विफलता से नही किया जा सकता। यह कहना कि सत्याग्रह और प्रजातंत्र एक दूसरे के पूरक हैं, पूर्णरूपेण सत्य मालूम नहीं पड़ता।

२ शंकाएँ और समाधान

रावर्ट ई० क्लिटगार्ट ने द्विविधा के आधार पर तार्किक ढंग से गाँधी के सत्याग्रह की असंगतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[1] इनके अनुसार गाँधी की अहिंसा एक सामाजिक व्यूहरचना है। एक ओर वे अन्यायपूर्ण कानून का उल्लंघन करना हर नागरिक का कर्त्तव्य मानते हैं, तो दूसरी ओर कानून की अवज्ञा की धमकी अपने प्रतिपक्षी को देते हैं। इसी प्रकार उपवास की धमकी दी जाती है जो दबावपूर्ण है। अतः गांधी के सिद्धांत और व्यवहार में विरोध मालूम पड़ता है। सिद्धांततः गाँधी सत्याग्रह मे किसी भी प्रकार की धमकी, दबाव और हिंसा का स्थान नही देते है, परंतु व्यवहार म ये सभी आ जाते हैं। आचार्य रजनीश भी इस बात को अपने ढंग स रखते हुए कहते हैं—"गांधीजी अहिंसात्मक रूप स जो आंदोलन चलाते थे वह आंदोलन ही दबाव डालने के लिए था और मेरी दृष्टि मे जहाँ दबाव है वहाँ हिंसा है।" आगे भी उन्होंने कहा—"कई बार यह भी हो सकता है कि मैं आपको मारने की धमकी दूँ तो आप मेरा मुकाबला कर सकते हैं। लेकिन जब मैं अपने को मारने की धमकी दूँ तो आपकी निहत्या कर देता हूँ। यह हिंसा ज्यादा सूक्ष्म है और बहुत टिकी हुई है।" क्लिटगार्ड और आचार्य रजनीश शायद यह मानते हैं कि दबाव डालने के ढंग अहिंसात्मक हो सकते हैं किंतु दबाव खुद हिंसा है।

लगता है ये दोनो विचारक "दबाव" और "अहिंसा" इन दोनो शब्दो के अंदर की भावना पर कम ध्यान देते हैं, शब्दों के बाह्य अर्थ पर अधिक। "दबाव" तो कई प्रकार के हो सकते हैं। "भय का दबाव" और "मुहब्बत

1 Klitgaard, R. E., "Gandhi's Non violence As Tactic", *Journal of Peace Research*, 2, (1971), pp 143-53

का दबाव" एक नहीं हो सकता। सच्चा सत्याग्रही प्रतिपक्षी को कष्ट नहीं देना चाहता। वह उसकी अप्रतिष्ठा भी नहीं करना चाहता है। वह तो स्वयं कष्ट सहन कर प्रतिपक्षी में सात्विकता प्रकट करने की कामना करता है। लगता है ये विचारक गांधी की अहिंसा को "निष्क्रिय प्रतिकार" के संदर्भ में समझना चाहते हैं जिसका गांधी ने बराबर विरोध किया। इसीलिए उनके सामने यह प्रश्न अभी बना हुआ है कि गांधी का अहिंसक प्रयोग वस्तुतः कितना अहिंसक था?

गांधी के अनुसार सत्याग्रही परिणाम का बिना ख्याल किए प्रतिपक्षी पर विश्वास करता है। यदि प्रतिपक्षी बीसों बार धोखा देता है तो भी सत्याग्रही इक्कीसवीं बार भी विश्वास करने के लिए तत्पर रहता है। क्लिटगार्ड इस संबंध में महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं कि यदि दोनों पक्ष एक दूसरे पर विश्वास करते हैं तो दोनों को लाभ मिलता है, यदि कोई विश्वास नहीं करते तो किसी को लाभ नहीं मिलता है। यदि एक पक्ष दूसरे पक्ष में विश्वास करता है और दूसरा इस विश्वास का उल्लंघन करता है, तो दूसरा तो लाभान्वित होता है परन्तु पहला प्रतिपक्षी द्वारा अविश्वास से उत्पन्न दुःखों से भी अधिक दुःख भोगता है। अतः सत्याग्रह के द्वारा बहुत लंबी अवधि के बाद सफलता मिलती है।[१] इस चित्र के द्वारा उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

	विश्वास	अविश्वास
पूर्वपक्ष	१ —१	२ —१
प्रतिपक्ष	—१ २	० ०

यहाँ क्लिटगार्ड दैनिक व्यवहार और सामान्य मनोवैज्ञानिक विज्ञान की दृष्टि से विचार करते हैं। किंतु सत्याग्रही मनुष्य को जड नहीं मानता है। विश्वास के बदले अविश्वास के रास्ते से चलकर मानवता आज कहाँ तक पहुँच गई है, यह सर्वविदित है। फिर विश्वास के बदले सर्वदा अविश्वास ही मिलेगा—यह मान्यता अमनोवैज्ञानिक है। सत्याग्रही का कष्ट सहन प्रतिपक्षी

१ उपरिवत्, पृ० २४७।

के हृदय को संस्पर्श नहीं करेगा—यह सोचना भी ठीक नहीं। इसलिए यहाँ पर विश्वास-अविश्वास का सामान्य बनियाँशाही हिसाब नहीं चलेगा।

क्लिटगार्ड के अनुसार सत्याग्रह की सफलता प्रतिपक्षी की उदारवृत्ति पर निर्भर है। यदि प्रतिपक्षी जिद्दी हो तथा वह अपने कानून को हर परिस्थिति में अमल करने के लिए तैयार हो जाय तो फिर सत्याग्रह नहीं चल सकता है। गांधी यहाँ पर कहेंगे कि "आवश्यकता पड़ने पर मैं करोड़ों जीवन की जोखिम उठा सकता हूँ यदि वे स्वेच्छा से आत्मपीड़न के लिए तैयार हों तथा उनका व्यक्तित्व सरल तथा निष्कलंक हो।"[1] परन्तु जब गांधी यह कहते हैं कि "आप अन्याय के विरुद्ध उपवास नहीं कर सकते"[2] तो लगता है कि फिर निरंकुश और नृशंस शासन व्यवस्था में सत्याग्रह सफलीभूत नहीं हो सकता। यहाँ यह कहा जा सकता है कि मानव स्वभाव पाषाण की भाँति जड़ नहीं है, उसमें नमनीयता है। अतः हमेशा एक समान रहने की कल्पना ही गलत तथा अमनोवैज्ञानिक है। अपने व्यक्तिगत लाभ तथा स्वार्थ के लिए उपवास आदि सत्याग्रह नहीं, दुराग्रह है।

क्लिटगार्ड महोदय का कहना है कि सत्याग्रह में प्रतिपक्षी को साक्षात् रूप से धमकी दी जाती है। यद्यपि सत्याग्रह का सिद्धान्त किसी भी प्रकार के दबाव का स्पष्टतः विरोध करता है।[3] अतः उनके विचारों में असंगति है। इस

1 "I would risk if necessary a million lives so long as they are voluntary sufferers and are innocent spotless victims."—*Young India*, June 2, 1920

2 "You cannot fast against a tyrrant."—Fisher Louis, *Mahatma Gandhi*, 1954, p 76, *Journal of Peace Research*, 2 (1971), p 148.

3, (a) "The opponent is forced to do something because of a threat to his own pay-off—a direct destructive threat pregnant with violence Yet the doctrine of Satyagraha explicitly opposed any compulsion or coercion."—Klitgaard, R. E., "Gandhi's Non-violence As Tactic", *Journal of Peace Research*, 2 (1971), p 149

(b) "I have always opposed obstruction as being anti-Satyagraha"—*Harijan*, June 25, 1940

(c) "Such blocking the way will be sheer compulsion And there should be no compulsion in religion or in matters of any reform"—*Harijan*, April 15, 1933

प्रकार की धमकी से गाँधीवाद के मूल सिद्धांत की ही हत्या हो जाती है।[1] यथार्थ स्थिति तो यह है कि दबाव के स्थान पर हिंसा स्थान ग्रहण कर लेती है। सत्याग्रह आंदोलन में अनेक व्यक्तियों की संपत्ति का दहन कर दिया गया। हड़ताल, धरना तथा असहयोग के द्वारा निर्दोष व्यक्तियों की संपत्ति के दहन को रोका नहीं जा सका। यह शारीरिक हिंसा से बढ़कर हिंसा है तथा इसके द्वारा सामूहिक शासनहीनता और हिंसा का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अतः सत्याग्रह की प्रक्रिया में हिंसा और अहिंसा को अलग करना असंभव है।[2] यहाँ यह स्पष्ट है कि हमें सत्याग्रह और दुराग्रह में भेद करना होगा। सच्चे सत्याग्रह में कहीं भी हिंसा का स्थान नहीं। यदि कहीं हिंसा फूट पड़ती है तो जानना चाहिए कि अहिंसक-संघर्ष की तैयारी में कहीं अपूर्णता है। धमकी आदि का तो प्रश्न ही नहीं। प्रश्न है सत्य की निष्ठा का और उसका साधन होगा प्रेम और अहिंसा। विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के विषय में रवीन्द्र नाथ टैगोर की आलोचना पर हम विचार कर चुके हैं।

एक विशेष प्रकार की आलोचना यह की जाती है कि चूँकि गाँधी के सत्याग्रह का आधार अंतरात्मा की आवाज है, अतः सत्याग्रही एक प्रकार से एकांतवादी और निरंकुश होता है। परंतु यदि प्रतिपक्षी भी उसी की भाँति निरपेक्षवादी हो तो इसका परिणाम भयंकर होगा। दोनों बिना किसी परिणाम के विचार किए हुए अपनी अपनी बात पर डट रहेंगे और नरसंहार होता रहेगा। सत्याग्रही प्रतिपक्षी की निरंकुश नीति का अविवेकपूर्ण और रूढ़ कह कर आलोचना करेंगे तथा अपनी निरंकुश नीति को अहिंसक मानकर प्रशंसा

---

1 Klitgaard, R E, "Gandhi's Non-violence As Tactic", *Journal of Peace Research* 2 (1971), p 149

2 "Thus Gandhi's philosophy of non violence seems contradicted by the violent nature of some of his tactics sprawned The distinction between violence and non-violence does not seem crucial in describing what Satyagraha does"—Klitgaard, R E, "Gandhi's Non-violence as Tactic", *Journal of Peace Research*, 2, (1971), p 150

करेंगे, जो उचित नही है।[1] फिर भी गांधी प्रतिपक्षी पर अखड रूप से विश्वास करते हैं। उनकी यह युक्ति है कि यदि "मैं विश्वास नही कर सकता तो दूसरा क्यो विश्वास करेगा ?" लेकिन यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब गांधी प्रतिपक्षी के हृदय-परिवर्तन की बात करते हैं तो वस्तुत यहाँ पर प्रतिपक्षी की पराजय नही बल्कि विजय होती है। यहाँ उसकी उदार नीति की विजय मानी जा सकती है। दूसरी ओर जब वे सत्य के आग्रह की बात करते हैं तो यहाँ निरकुश नीति की विजय होती है। इसे परस्पर विरोधपूर्ण नही मानना पडेगा क्योकि सत्य की विजय से सबकी विजय है। सत्य किसी एक का नही है, अत यदि सत्य का आग्रह है तो इसमे किसी की विजय और किसी की पराजय का प्रश्न ही नही उठता है।

सिद्धातत सत्याग्रह का मौलिक सिद्धात है कि यदि कोई शाति, प्रेम और विश्वास चाहता है तो दूसरे के प्रति भी वह शातिपूर्ण बने, प्रेम करे तथा विश्वास करे। परतु इस नियम का पालन करना बहुत ही कठिन है। इस आलोचना के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि कठिनाई तो प्राय सभी अच्छे आदर्शों को व्यवहार मे लाने मे होती है परतु इससे वह आदर्श तो स्वय खडित नही होता। दूसरी बात यह कि नियम के पालन की कठिनाई तथा सरलता व्यक्ति के अभ्यास और सस्कार पर निर्भर करती है। यह व्यक्तिगत बात है। एक ही नियम का पालन करना 'अ' के लिए आसान और 'ब' के लिए कठिन हो सकता है। अत सरलता और कठिनाई के आधार पर किसी सिद्धात का मूल्याकन नही किया जा सकता है। फिर व्यावहारिकता तथा अव्यावहारिकता का प्रश्न बडा टेढा है। खूनी-क्राति व्यावहारिक है, यह भ्रामक सिद्ध हो चुका है। ५० वर्षों के बाद भी आज रूस और चीन मे क्राति पूर्ण नही हुई और हर समय प्रतिक्राति का भय बना है। हिंसक-क्राति मे तो कुछ चुने व्यक्ति ही भाग ले सकते हैं किंतु अहिंसक-क्राति मे स्त्री, पुरुष, बच्चे-

1 'If both decide that the best strategy is to 'do their duty' come what may, the solution will be disastrous for both We often condemn absolutist strategy used against us because it is 'unreasonable' or 'fanatical', but we often praise its use by our side because it is non-violent Surely this is unfair "—*Ibid*, p 150

बूढ़े सभी भाग ले सकते है।¹ इसलिए एक को व्यावहारिक और दूसरे को अव्यावहारिक मानना ठीक नही।

क्लिटगार्ड की अंतिम आलोचना है कि गांधी के सविनय-कानून भंग सिद्धांत मे विरोधाभास है। इसे "Paradox of Civil disobedience" कहते हैं। एक ओर गांधी यह मानते हैं कि आदर्श की रक्षा के लिए अनैतिक कानून की अवश्य अवज्ञा करनी चाहिए¹ परंतु दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि कोई निरपेक्ष सत्य नहीं जानता है, इसलिए कुछ कानूनी यंत्रो का पालन आदर्श प्रजातंत्र के लिए आवश्यक है।² इस प्रकार क्लिटगार्ड को यह असंगत मालूम पड़ता है। किंतु इसके पहले हमे गांधी की कल्पना के आदर्श प्रजातंत्र या रामराज्य का स्वरूप समझना होगा। आदर्श प्रजातंत्र मे वस्तुत कानून की अवज्ञा का अवसर ही नहीं रहेगा और रहेगा भी तो नगण्य। वहाँ प्रजा के सक्रिय सहयोग से लोकशक्ति के आधार पर शासन व्यवस्था चलेगी। राज्य का आधार सैन्य शक्ति या दंड शक्ति नहीं रहेगा।

गांधी के सत्याग्रह की एक सूक्ष्म आलोचना डा० के० सच्चिदानंद मूर्ति ने प्रस्तुत की है। उनके अनुसार गांधीवादी चिंतन मे ही यह दोष है कि इसमे "हिंसा" और "शक्ति" का भेद नहीं किया जाता है। फिर शक्ति के खुले प्रयोग की अपेक्षा पच्छन्न शक्ति के विनियोग को नैतिक दृष्टिकोण मे अधिक

1. "I wish I could persuade everybody that civil disobedience is the inherent right of the citizen it is the inherent right of a subject to refuse to assist a government that will not listen to him." "I do not consider non-co-operation to be unconstitutional —*Young India*, Jan, 5, 1922

2 "We have the paradox of civil disobedience One side says that a particular law is unjust and thus Is obligated to disobey it, while the other side realizes that some sort of legal mechanism is necessary to make ideal democracy, possible, and since no man can prescribe absolute truth, one is obligated to obey the law"

—Klitgaard, "Gandhi's Non violence As Tactic', *Op. cit*, p 151

उचित माना जाता है। ऐसा करने में न तो आध्यात्मिकता और प्रेम का ही विकास हो पाता है और न भौतिक वस्तुओं की ही उपलब्धि हो पाती है।[1] दोनों दृष्टि से हम दुर्बल हो जाते हैं और अंत में निराशा और विफलता मिलती है। इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि गाँधी का दृष्टिकोण ही समन्वयात्मक था, विश्लेषात्मक नहीं। उनका एक विशेष मिशन था—वह था राजनीति के शुद्धिकरण का। उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति को इसीलिए मानव-सेवा का रूप दिया। राजनीति पर भी अध्यात्म और धर्म का रंग चढ़ाया। इससे उनका केवल एक राजनैतिक-आंदोलन नहीं रहा उसमें ऐसे असंख्य लोग थे जो राजनीति के जीव नहीं थे। बापू स्वयं भी राजनैतिक जीव नहीं थे। राजनीति सत्य की खोज का अंग थी। राजनीति में सत्य-बल चलता नहीं—इस मान्यता का उन्होंने विरोध किया। सत्यनिष्ठा जितनी धर्म और पारमार्थिक साधना के लिए आवश्यक है उतनी ही सांसारिक व्यवहार के लिए भी आवश्यक है। राजनीति को उदात्त बनाकर उसे अध्यात्म की योग्यता तक पहुंचाना उनकी विशेष देन है।

आध्यात्मिकता और प्रेम का अनिवार्यतः सांसारिक लाभ के साथ विरोध नहीं है। यदि संसार आध्यात्मिक तत्त्व की ही अभिव्यक्ति है तो वह अध्यात्म से अलग कैसे रह सकता। यदि व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं, राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र नहीं, और आर्थिक दृष्टि से समर्थ नहीं हो तो सचमुच आध्यात्मिकता मानसिक कल्पना ही रह जायगी। अतः आध्यात्मिक और भौतिक के बीच लक्ष्मण रेखा खींचना ही गलत है। वस्तुतः गाँधी की

---

1 Men of the Gandhian way of thinking confuse two very different things with each other, namely, violence and force, and also tend to think that a concealed application of force is ethically more justifiable than an open use of it They also try to mix up the spiritual with the worldly type of activity, love with resistance for gaining material ends, which weakens both and is bound to fail "—Murty, K Sachchidanand, "A critique of Satyagraha", *Gandhi Theory And Practice, Social Impact And Contemporary Relevance*, Op cit, pp 346-357, p 354

यह महत्त्वपूर्ण देन है कि उन्होने हम एक ऐसी पद्धति दी है जिसमे आध्यात्मिक साधन के द्वारा सासारिक लाभ भी सभव है।

जहा तक हिंसा और शक्ति के अर्थ के भेद को स्पष्ट नही करने का गाधी पर आरोप है, उस सबन्ध मे इतना ही कहना काफी होगा कि गाधी ने हिंसा और शक्ति का भेद भुलाया नही था। हिंसा का भी उन्होने भेद किया— प्रकट हिंसा और सूक्ष्म हिंसा। वचन और कर्म मे जो हिंसा है वह प्रकट हिंसा है, किन्तु हिंसा तो मन से ही उत्पन्न होती है और वह काफी भयकर है। फिर सूक्ष्म हिंसा का रूप हम सामाजिक शोषण और विषमता मे भी पाते है। किंतु जहाँ तक शक्ति का प्रश्न है वह हिंसक भी हो सकती है और अहिंसक भी। इसीलिए वह चाहे प्रकट शक्ति या प्रच्छन्न सूक्ष्म शक्ति की बात करते हो, उसमे उनका अर्थ कभी भी हिंसा शक्ति से नही था। शक्तिहीनता की तो वे भर्त्सना करते थे। इसे वे कायरता मानते थे। जहाँ हिंसा और अहिंसा के बीच चुनाव करना था, वहा बापू सर्वदा अहिंसा को चुनते थे। लेकिन जहा हिंसा और कायरता के बीच चुनाव करना होता तो वे हिंसा को चुनते थे। 'आत्मबल', 'सत्यबल' और 'प्रेमबल' का बापू बराबर प्रयोग करते थे। अत डा० मूर्ति की आलोचना सगत नही मालूम पड़ती है। यह ठीक है कि गाधी शरीरबल की अपेक्षा नीतिबल और आत्मबल को अधिक श्रेष्ठ मानते थे।

इसी प्रकार डा० एस० ए० बारी के अनुसार गाँधी की पद्धति सन्यासवादी पद्धति है। यहाँ राजनीति को आध्यात्मिक बनाने का प्रयत्न किया जाता है। परतु ऐसा करने मे 'धर्म' स्वय 'धर्म निरपेक्ष' और 'राजनैतिक' हो जाता है। धर्म और राजनीति का गठबन्धन हो ही नही सकता।[1] अत गाँधी द्वारा राजनीति को धर्ममय बनाने का यह प्रयास बिल्कुल निष्फल है। परतु हम देख चुके हैं कि धर्महीन राजनीति किस प्रकार मानवता के लिए अभिशाप बनती जा रही है। राजनीति नीतिशास्त्र का ही एक अग है। राजनीति का अर्थ है भाईचारा। यही सुकरात और गाँधी ने सिखाया। महाभारत मे इसी लिए इसको राजधर्म कह कर इसके साथ नीति और धर्म को जोड़ा गया।

डा० बारी की एक और शका है कि यदि अन्तरात्मा की आवाज ही हमारे शुभ कार्यों का निर्देशक हो तो फिर सगठित मानव जीवन को खतरा हो जायगा। यहाँ तक कि सत्याग्रही भी परस्पर विरोधी दलो मे बट जाएँगे। फिर

1 Bari, S A. *Gandhi s Doctrine of Civil Resistance* (New Delhi Kalamkar Prakashan, 1971,) p 179

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अंतरात्मा की आवाज को ही सत्य माने तो सत्यान्वेषण ही निरर्थक हो जायगा और सत्य-प्राप्ति मात्र सयोग की वस्तु रह जायगी।[1] यहाँ यह मानना होगा कि सत्याग्रही एकात-दृष्टि और अहकार-शून्य होता है। वह समझता है कि सत्य के अनेक रूप होते हैं। वह अनेकातात्मक होता है। अत हमेशा दूसरे की दृष्टि से भी सोचना होगा। फिर आग्रह तो अहकार से होता है। सत्याग्रही नम्रता की मूर्ति होता है। अत विचार में वह अनेकात-वादी तथा व्यवहार मे समन्वयवादी होता है।

डा० वारी का यह भी कहना है कि सत्याग्रह का शैदाणिक और बौद्धिक महत्व भले ही हो, परन्तु जन-साधारण की समझ से यह बाहर की बात है। कोई दुश्मन अपमानित करता रहे, पीड़ा पहुँचाता रहे तथा मृत्यु के द्वार तक पहुँचाने के लिए तैयार हो और हम उसमे प्रेम करते रहें—यह अस्वाभाविक बात है। अत सत्याग्रह की पद्धति अमनोवैज्ञानिक, अव्यावहारिक तथा असभव है।[2] इस बुराई मे भरे ससार मे सत्याग्रह करना मानों आग्त वहन करना है।[3] लगता है व्यक्तिगत-नैतिकता मे और राजनैतिक-नैतिकता मे जो आवश्यक भेद होना चाहिए, गांधी वह नही कर पाये हैं।[4] उपवास[5] और आत्मपीडन[6] की उनकी धारणाएँ एक प्रकार मे सूक्ष्म रूप में दवाव के द्योतक हैं तथा उनकी सीमाएँ हैं।

इससे कोई सदेह नहीं कि गांधी का सत्याग्रह मानव सभ्यता और सस्कृति का उत्कृष्ट रूप है जो हर व्यक्ति से सभव नहीं। सभी इसको ग्रहण नहीं कर

---

1 'If the dictates of conscience are to become the guide of one's conduct in society, the very basis of organised life will be in danger and the will of the community blown up into splinters Even Satyagrahi may arrayed into hostile camps If each person regards his own inner voice as truth, the pursuit of truth becomes futile and left to chance" *Ibid*, p 170

2 *Ibid*, p 171

3 *Ibid*, p 172

4 *Ibid*, p 175

5 *Ibid*, p 170

6. *Ibid*, p 173.

सकते। परंतु यह कोई सबल तर्क नहीं है कि जो जन-साधारण के लिए ग्राह्य हो वही सत्य है। मानवीय सभ्यता और संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास भी इस बात की अपेक्षा रखता है कि समाज परिवर्तन के उपकरण भी अधिक श्रेष्ठ और सौम्य हों। अब हम पुनः बर्बरता और जंगली मानव-समाज के युग में नहीं जा सकते। विज्ञान ने भी हिंसा के उपयोग को धीरे-धीरे सीमित कर दिया है। राज्य के पास हिंसा की विपुल शक्ति है। हिंसा का हिंसा से मुकाबला अधिक अव्यावहारिक और कठिन है।

वास्तव में ऊपर की सभी आलोचनाएँ सत्याग्रह के प्रतिकारात्मक रूप को ही सामने रखकर की गई है। सत्याग्रह के विधायक और मूल्यात्मक पक्ष पर विचारकों का ध्यान गया ही नहीं है। विनोबा-चिंतन के संदर्भ में हम उन पर विचार करेंगे।

२ विनोबा-विचार

१ सत्याग्रह सिद्धांत-दर्शन विनोबा का सत्याग्रह गांधी के बीज-तत्त्वों का ही विकास है। विनोबा ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि सत्याग्रह के संबंध में उन्होंने कोई नई बात नहीं कही है बल्कि गांधी के विचार को ही नये संदर्भ में सही अर्थ में रखने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है—"लड़का पिता के कंधों पर खड़ा है, इसमें वह पिता की अपेक्षा दूर का देख सकता है, लेकिन मैंने उसमें कोई वृद्धि नहीं की। अगर की होती तो आपसे अवश्य कहता, क्योंकि विनय जैसी कोई चीज ईश्वर कृपा से मुझ में नहीं है।"[१] इनके सत्याग्रह-संबंधी विचार का मुख्य आधार गांधी के जीवन की अंतिम इच्छा तथा पूर्व के सत्याग्रह में हुई गलतियों की स्वीकृति है। फिर विनोबा अपनी वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि को भी सत्याग्रह के साथ जोड़ते हैं जिससे इनकी व्याख्या नवीन हो जाती है तथा इसपर विचार करने के लिए हम मजबूर हो जाते हैं। यहाँ हम विनोबा के संपूर्ण सत्याग्रह-संबंधी विचारों को दो खंडों में विभाजित कर देखेंगे—सिद्धांत और व्यवहार।

विनोबा के अनुसार 'सत्याग्रह' एक मध्यमपदलोपी समास से बना हुआ शब्द है जिसका अर्थ है 'सत्य के लिए अहिंसापूर्वक आग्रह।'[२] अतः स्पष्ट है कि सत्याग्रह अहिंसा का प्रयोग है। यहाँ पर 'अहिंसापूर्वक आग्रह' का अपना एक विशेष अर्थ है। सामान्यतः गांधी के सत्याग्रह में अहिंसक आग्रह का अर्थ है

१ शाह, कांतिभाई, संपा०, गांधी जैसा देखा समझा विनोबा ने, पृ० ६९.
२ उपरिवत्, पृ० ४९।

'अंतरात्मा की आवाज से प्राप्त सत्य का बुरे-से-बुरे परिणामों को भी झेलकर आग्रह करना।' विनोबा के अनुसार जीवन का स्वरूप है सत्य-शोधन जिसमे सत्य का एक-एक अंश ही प्राप्त होता है, और वह भी नम्रता, तटस्थता तथा अनाग्रह से।[१] ऐसी स्थिति मे यदि कोई यह समझ कर कि उसे सत्य का साक्षात्कार मिल गया है, उसका आग्रह करे अथवा उससे चिपका रहे तो यह गलत होगा।[२] 'अहिंसक-आग्रह' का अर्थ है 'सत्याग्रही' होना जिसमे सत्य स्वयं ही आग्रहकर्त्ता होता है।[३] इसमे सत्याग्रही सर्वव्यापक सत्य से चुन-चुन कर ग्रहण करता है। अत सत्याग्रह मे सत्य का आचरण स्वयं आग्रहपूर्वक करना होता है, इसमे दूसरे के आचरण करवाने का आग्रह नही है, जैसा डा० राम मनोहर लोहिया भी मानते हैं। विनोबा के शब्दो मे ही—"दूसरो को तकलीफ दिए बिना स्वयं सहन करना और समझाना, यही सत्याग्रह है। सत्याग्रह में तो सत्य का आचरण स्वयं आग्रहपूर्वक करना चाहिए, जिससे सामने वाले का हृदय पिघल जाय। इसके लिए चाहे जैसे त्याग की तैयारी हो, यही सही सत्याग्रह है।"[४] आगे भी वे कहते हैं—"यदि मुझे सत्य का आग्रह है तो मैं अपना सत्य दूसरो पर लाद नही सकता और दूसरे भी अपना सत्य मुझ पर लाद नही सकते। हम एक दूसरे को समझा सकते हैं, मत-परिवर्तन की कोशिश कर सकते हैं। वह हुआ तो हम बदलेंगे, नही तो अपने मत पर डटे रह सकते हैं।"[५] इस प्रकार के वास्तविक अर्थ में जो सत्याग्रही हैं, उनके संबंध मे विनोबा का कहना है कि वे संख्या मे समस्त संसार मे एक ही क्यो न हो, उनका "सारी दुनिया पर असर होगा", "लेकिन उसके हृदय मे दुनिया के लिए प्रेम होना चाहिए।"[६]

विनोबा के अनुसार सत्याग्रह एक आत्म-संशोधन या आध्यात्मिक-संशोधन की पद्धति है। इस पद्धति के अनुसार न तो अन्यायियो के अन्याय को स्वीकार

१ शाह, कांतिभाई, (सपा०), गांधी जैसा देखा समझा विनोबा ने, पृ० ६८।

२ उपरिवत्, पृ० ६८।

३ उपरिवत्, पृ० ६८।

४ उपरिवत्, पृ० ६८।

५ विनोबा-चिंतन, (सत्याग्रह विचार), ३४–३५ (नवम्बर-दिसम्बर, १९६८), पृ० ५००।

६ शाह, कांतिभाई, गांधी जैसा देखा समझा विनोबा ने, पृ० ६८।

कर चुपचाप बैठा जाता है और न उसके प्रति विद्रोह का झंडा ही उठाया जाता है। इसमे आत्म-सशोधन की तीसरी प्रक्रिया शुरू हो जाती है जिसमे हम अपने दोषो और अपनी न्यूनताओ का निरीक्षण, परीक्षण, समीक्षण, निराकरण तथा सशोधन करते है।[१] स्वभाव मे आध्यात्मिक होने के कारण ही इसकी सफलता भारत मे मिली जहाँ पहले से ही अहिंसा की आध्यात्मिक भूमिका तैयार है।[२] अत सत्याग्रह सचमुच मे आत्मबल का ही व्यापक प्रयोग है।[३]

विनोबा के अनुसार सत्याग्रह एक जीवन-पद्धति तथा कार्य-पद्धति है।[४] यह ऐसी जीवन-पद्धति है जिसमे सपूर्ण जीवन का गठन सत्याग्रही निष्ठा पर करना पडता है चाहे उसके लिए लाखो आपत्तियो का सामना क्यो न करना पडे।[५] सत्याग्रही को यह भी भान नही होता कि उसे कष्ट सहन करना पड रहा है। वह तो सत्य के लिए कष्ट-सहन करने मे आनद का अनुभव करता है।[६] सत्याग्रह के द्वारा समाज की सभी प्रकार की समस्याओ का समाधान हो सकता है, यह हिंसा से बचाने की एकमात्र शक्ति है, विनोबा यह मानते है कि "सत्याग्रह से बढकर मुक्ति-दायक कोई दूसरा शस्त्र नही।" इसलिए इसे शिक्षण-योजना मे स्थान मिलना[७] चाहिए। परतु सत्याग्रह की साधना निर्भयता के बिना नही हो सकती है। निर्भयता के लिए आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान आवश्यक है। आत्मज्ञान के बिना सत्य-निष्ठा सभव ही नही है,[८] अत इसे सत्याग्रह का आधार मानना चाहिए।

फिर, सत्याग्रह एक ऐसी जीवन-पद्धति है जिसमे सत्य के साथ-साथ निर्वैरता की भी साधना होती है। विनोबा के शब्दो मे—"महर्षि पतजलि कहते हैं कि 'पूर्ण अहिंसा मे सहज ही वैर त्याग होता है, वैर बचता ही नही।' नाथ (एकनाथ) कहते हैं कि "परिपूर्ण भगवत्-भावना के सामने दुर्जनता दर्शन ही नही देती।" वेद कहता है कि 'इन्द्र को वैर मालूम ही नही।' गाधी जी कहते हैं कि "सत्याग्रह-शस्त्र को पराजय का पता ही नही।" इन सब का

१ उपरिवत्, पृ० ४७।
२ उपरिवत्, पृ० ४९।
३ उपरिवत् पृ० ५०।
४ उपरिवत, पृ० ६०।
५ उपरिवत, पृ० ५१।
६ उपरिवत, पृ० ५१।
७ उपरिवत, पृ० ५१।
८ उपरिवत, पृ० ५२।

वर्य एक ही है।"[१] वे यह मानते हैं कि सत्याग्रह प्रेम के विकास की ही एक अवस्था है। वेदों में दुनिया को मित्र-भाव से देखने कहा गया, महात्मा बुद्ध ने कहा "वैर से वैर का कभी शमन नहीं होता" "अक्रोध से क्रोध को जीतो।" ईसा दुश्मन पर भी प्रेम करने का आदेश देते हैं। गांधी दुश्मन-समूह पर भी प्रेम करने का आदेश देते हैं। उनके सत्याग्रह में केवल भारत-प्रेम ही नहीं इंगलैंड-वासियों का भी प्रेम छिपा है।[२] इस प्रेम को वे "प्रतिरोधी प्रेम" कहते हैं। इसमें सामने का प्रतिपक्षी जितना रोषवान् होता है हमें उतना ही गुणवान् होना पड़ता है तथा उसे अपनी आत्मा में स्थान देना पड़ता है। इसी वृत्ति से सत्याग्रह संभव है।[३] यही कारण है कि सत्याग्रह को "प्रेम का प्रकर्ष" कहा गया है जिसमें आनंद, वात्सल्य तथा माधुर्य भरा होता है।[४]

सत्याग्रह एक विचार-पद्धति भी है। इसलिए यह व्यवधान उपस्थित करने तथा युद्ध की प्रक्रिया से भिन्न है। युद्ध किसी के विरुद्ध किया जाता है। उसमें प्रतिक्रिया होती है तथा एक की हार और दूसरे की जीत होती है। परंतु सत्याग्रह किसी के विरुद्ध नहीं बल्कि आगे या साथ[५] की जाती है, जिसमें न तो किसी की हार होती है और न किसी की जीत। इसमें दोनों पक्षों की जीत होती है।[६] सत्याग्रह की मुख्य बात है सामनेवाले का विचार बदलना।[७] "यथार्थ सत्याग्रह का स्वरूप है स्वयं शुभ विचार करना, सामनेवाले को ठीक-ठीक समझा कर वह उसके गले उतारना, उसके साथ विचार-विनिमय करते हुए अपने विचार में कुछ दोष हो तो उसका शोधन करना।"[८] यदि कोई क्रोध-मोहादिवश सुनने, समझने के लिए तैयार नहीं है तो इसके लिए तप, दुःख-सहन या अहिंसा का सहारा लेना।[९] परंतु तप के कारण मा

१ विनोबा-चिंतन, ३४-३५ (१९६८), पृ० ४६३।
२ शाह, कांतिभाई गांधी, जैसा देखा समझा विनोबा ने, पृ० ६४।
३ उपरिवत्, पृ० ६४।
४ उपरिवत्, पृ० ६५।
५ उपरिवत्, पृ० ५२।
६ उपरिवत्, पृ० ५३।
७ उपरिवत्, पृ० ५२।
८ उपरिवत्, पृ० ५२-५३।
९ उपरिवत्, पृ० ५३।

उसके बिना भी समझने की मन स्थिति आ जाती है तो उसके बाद का काम विचार का ही होता है।[१] विनोबा का कहना है कि "सत्याग्रह स एक दूसरे की बुद्धि के परदे खुल जाते है और वह विचार करने के लिए प्रेरित होती है। लडाई मे तो विचार कुंठित हो जाता है।"[२] सत्याग्रह म अनेक उपाय से हम धीरजपूर्वक अपना विचार समझाते रहते हैं। यही इसका वास्तविक स्वरूप है। विनोबा कहते हैं—"यह जो ज्ञान-शक्ति पर, विचार शक्ति पर विश्वास है, उसी का नाम सत्याग्रह है।"[३] आदि मे विचार, अन्त मे विचार और मध्य मे विचार—यह सत्याग्रह का नित्य धर्म है। आदि मे विचार, अन्त मे विचार और मध्य मे अहिंसा की तपस्या, इसे 'सत्याग्रह का आपद्धर्म'[४] समझना चाहिए। इसलिए "विचार पर स्वयं अमल कर उसे सतत् सभालते रहना और दूसरे के विचार समझने के लिए सदैव तैयार रहना ही सत्याग्रह का मुख्य स्वरूप है।"[५]

विनोबा के अनुसार विश्व मे विचार के हमले चलते रहते हैं और उनके प्रचार के लिए ही शस्त्रास्त्रो का प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति म 'अहिंसक प्रतिकार' के स्थान पर 'सम्यक्-चिंतन मे अहिंसक सहयोग' की बात ही सत्याग्रह मे होनी चाहिए।[६] सत्याग्रह म आवेश म काम लेना उचित नहीं। हिंसा के कार्य भी सोच विचार कर ही चलते है। अत व्यक्ति जिस देश मे हो उसे सम्यक् चिंतन म सहायता करनी चाहिए। पडोसी देशो के प्रति भी यही दृष्टि होनी चाहिए। आवश्यकता पडने पर बाहर से विरोध और असहयोग भी किया जा सकता है,[७] परन्तु उसका रूप 'सम्यक-चिंतन' मे अहिंसक सहयोग का ही होगा। हमारे व्यवहार से सामनेवालो को यह मालूम होना चाहिए कि हम उनकी मदद कर रहे हैं। इस प्रकार सत्याग्रह मे विचार निष्ठा, सत्य शोधन तथा निर्वैरता—तीनों आवश्यक अग हैं। इसी-लिए विनोबा कहते हैं—"मूलत सत्य शोधक-वृत्ति ही सत्याग्रह का बीज है, विचार-निष्ठा सत्याग्रह की शक्ति है और निर्वैरता है सत्याग्रह का खूंटा।"[८]

१ उपरिवत्, पृ० ५३।
२ उपरिवत्, पृ० ५३।
३ उपरिवत्, पृ० ५२-५३।
४ उपरिवत्, पृ० ५३।
५ उपरिवत्, पृ० ५३।
६ उपरिवत्, पृ० पृ० ६७।
७ उपरिवत्, पृ० ६७।
८ उपरिवत्, पृ० ६३।

सत्याग्रह के इस स्वरूप विवेचन के बाद यह प्रश्न उठता है कि विनोबा के सत्याग्रह में प्रतिकार का स्थान है या नहीं ? यदि है, तो किस अर्थ में ? अतः अब हम इसपर विचार करना उचित समझते हैं।

२ सत्याग्रह की प्रक्रिया : सौम्य, सौम्यतर सौम्यतम

(क) प्रतिकार की नई व्याख्या : सत्याग्रह एक जीवन-पद्धति है और प्रतिकार-पद्धति भी। विनोबा यह मानते हैं कि नित्य रूप से यह जीवन-पद्धति है और नैमित्तिक या प्रासंगिक रूप से प्रतिकार पद्धति।[१] परन्तु इन दोनों में कोई विरोध नहीं—बल्कि एकरूपता है।[२]

मनुष्य जबतक शरीर की उपाधि से ग्रस्त है तबतक वह पूर्णात्मा नहीं हो सकता है। उसमें न्यूनाधिक मात्रा में अपूर्णता रहती है। इसी अपूर्णता के कारण उस न्यूनाधिक मात्रा में दुर्जनता से पाला पड़ता है और यहां पर प्रतिकार की समस्या खड़ी होती है। विनोबा सत्याग्रह में प्रतिकार का निषेध नहीं कर उसे सूक्ष्म रूप में लेते हैं। उनके अनुसार प्रतिकार का सबसे सुन्दर रास्ता है—जो दुर्गुण प्रतिपक्षी में दिखलाई पड़ रहा है, उसे अपनी आत्मा में ढूंढना। अर्थात् सत्याग्रही निष्ठा के विनियोग से ही बुराई की समस्या का हल हो सकता है। इसलिए उन्होंने कहा है— 'दुर्जनों के प्रतिकार का अर्थ दुर्जनता का प्रतिकार और इसी का अर्थ है बाहर दिखाई देनेवाली दुर्जनता को निज हृदय में खोजना। यदि यह समीकरण-सूत्र दृढ़ हुआ तो फिर क्षमाशील वृत्ति, कष्ट सहन, उदार भाव, निरहंकार वृत्ति, नम्रता, अक्षोभ्य शांति, मुक्त-हृदय, प्रयत्न सातत्य, फलत्याग—यही प्रतिकार का मार्ग निश्चित होता है।[३] यह भक्तों की नित्य-जीवन-पद्धति है। यहां सत्याग्रह भक्ति का शास्त्र बन जाता है।

प्रतिकार का आदर्श उदाहरण विनोबा एकनाथ के सत्याग्रह में देखते हैं[४] जिनके शरीर पर दुर्जन थूकते जाते थे और वे स्नान करते जाते थे। उसी प्रकार ईसा के उपदेश में भी इसका संकेत मिलता है—'कोई एक गाल पर थप्पड़ लगाये, तो दूसरा गाल आगे करो।' स्वयं ईसा का जीवन इसका उदाहरण है। जिसने उन्हें सूली पर चढ़ाई उसके लिए भी उन्होंने भगवान से क्षमा की प्रार्थना की। सामान्य रूप से हम एकनाथ और ईसा की इस

१ **विनोबा चिन्तन** ३४-३५ (नवम्बर दिसम्बर, १९६८), पृ० ४६४।

२ उपरिवत् पृ० ४६४।

३ उपरिवत्, पृ० ४६४।

४. **विनोबा चिन्तन**, ३४-३५ (नवम्बर दिसम्बर, १९६८) पृ० ४६४।

प्रतिक्रिया को अप्रतिकारात्मक तथा गांधी की अहिंसक क्रिया को प्रतिकारमूलक मानते हैं। परन्तु विनोबा इसे गलत मानते हैं।[१] उनके अनुसार परिपूर्ण और निर्भय पुरुष के सहज व्यवहार चाहे जिस रूप में हों वे सभी एकरूप होते हैं। हां भिन्न भिन्न महापुरुष भिन्न भिन्न ढंग से प्रतिकार कर सकते हैं, परन्तु किसी के शांत और सौम्य प्रतिकार को अप्रतिकारात्मक मानना गलत होगा। वे कहते हैं—'परिपूर्ण, निर्भय और निर्वैर पुरुष का सहज व्यवहार—चाहे उसका स्वरूप सक्रियता का हो, निष्क्रियता या प्रतिक्रिया का—एकरूप होता है। कोई दुर्जन शरीर पर थूकता है तो निर्वैर-पुरुष स्वयं भी अपने शरीर पर थूक लेगा। दूसरा निर्वैर-पुरुष कुछ न करते हुए मुस्कुराता हुआ आगे बढ़ जायगा। तीसरा निर्वैर-पुरुष एकनाथ महाराज के समान स्नान करेगा तो चौथा निर्वैर-पुरुष प्रसन्नमुख आत्मीय भावना से सामनेवाले का कान पकड़ेगा, ऐसी भी कल्पना की जा सकती है।'[२]

प्रतिकार की जो व्याख्या विनोबा ने दी है वह सन्यासवादी तथा अध्यात्मवादी व्याख्या है। ऐसे 'प्रतिकार' और 'सहकार' में कोई मौलिक भेद नहीं है। समाज-परिवर्तन की दृष्टि से इस प्रकार के प्रतिकार का महत्त्व नगण्य है। यह एक आत्म शोधन की ही पद्धति है जिसमें सत्याग्रही अपनी बुराइयों का शोधन कर सकता है परन्तु प्रतिपक्षी की बुराइयों का नहीं। फिर इस प्रकार का प्रतिकार तो कुछ इने गिने आध्यात्मिक दृष्टिकोण से श्रेष्ठ व्यक्ति ही कर सकते हैं, समूह इसमें भाग नहीं ले सकेगा। समूह के भाग लिये बिना कोई क्रांति नहीं हो सकती। समूह का दिमाग तो बच्चों की भांति स्थूल को ही ग्रहण करता है। उसे क्रांति पथ पर अग्रसर कराने के लिए आदर्श के साथ-साथ उसकी मूल प्रवृत्तियों का भी ख्याल करना चाहिए। ऐसा करने से ही आदर्श में गति तथा शक्ति आ सकती है। गांधी के आंदोलन की सफलता का कारण अहिंसा ही नहीं बल्कि "अंग्रेजो भारत छोड़ो" का नारा भी रहा है। जन साधारण के दिमाग के लिए यही बोधगम्य था। १९७१ के आम चुनाव में कांग्रेस की अद्वितीय विजय, कांग्रेसी नेताओं के आत्म शोधन की पवित्रता के कारण नहीं, बल्कि मुख्यतः इन्दिरा गांधी के "गरीबी हटाओ" के नारे तथा कार्य-क्रम के कारण हुई। अन्याय का प्रतिकार जनता के लिए सबसे बड़ा आकर्षण है। नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रयास तो सदा-सर्वदा से चलते ही

१ उपरिवत् पृ० ४६५।
२ उपरिवत् पृ० ४६५-६६।

रहे हैं किंतु अन्याय भी चलता रहा है। शायद इसका मूल कारण यह था कि हमारी नैतिक और आध्यात्मिक साधना व्यक्तिगत शुद्धि पर तो जोर देती रही लेकिन सामाजिक अन्यायों से जूझने का खूब प्रयास नहीं हुआ। इसलिए सामूहिक सामाजिक समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। अध्यात्मवाद समाज-परिवर्तन का प्रभावकारी अस्त्र नहीं बन सका। गाँधी ने इसके दोष को समझा और उसे समाज-परिवर्तन के अस्त्र के रूप में स्वीकार कर व्यावहारिक लाभ के साथ भी जोड़ दिया। यदि हम तात्कालिक परिवर्तन चाहते हैं तो समाज-परिवर्तन के सिद्धांत में प्रवृत्ति पहले तथा संस्कृति बाद में चाहिए। यदि दूरस्थ क्रान्ति चाहते हैं तो संस्कृति पहले, और प्रवृत्ति बाद में लानी होगी। अतः विनोबा की प्रतिकार-पद्धति उच्चतम कोटि की संस्कृति हो सकती है, दार्शनिक दृष्टिकोण में संगत भी हो सकती है, आगे चलकर इस विचार का असर समाज को उत्तम दिशा में लाने में भी हो सकता है, परंतु अभी समूह ऐसे प्रतिकार को समझेगा और इसमें भाग ले सकेगा—यह बात व्यावहारिक नहीं मालूम पड़ती है। अतः प्रतिकार-पद्धति में कुछ जोड़ना ही पड़ेगा।

दूसरी बात यह कि बुराई को बुराई करने वालों से अलग रखकर सोचा नहीं जा सकता। विनोबा 'दुर्जनों के प्रतिकार का अर्थ दुर्जनता का प्रतिकार' और 'दुर्जनता के प्रतिकार का अर्थ बाहरी दिखाई देनेवाली दुर्जनता को निज हृदय में ढूँढ़ना'—मानते हैं। अतः दुर्जन के प्रतिकार का अर्थ अपनी आत्मा में दुर्जन की बुराई देखना है। यह युक्ति आकारिक तथा प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के नियम के अनुकूल है। इसे इस प्रकार रखा जा सकता है (क→ख) (ख→ग) क→ग। यह उक्ति तार्किक नियमों की दृष्टि से भले सही हो किंतु व्यवहार और वास्तविक सत्यता के दृष्टिकोण से अयथार्थ है। फिर सामाजिक क्षेत्र में तो वास्तविक सत्यता में ही काम चलता है।

तीसरी बात यह कि एक ओर विनोबा दुर्जन के प्रतिकार की बात करते हैं और दूसरी ओर प्रतिपक्षी के 'सम्यक्-चिंतन में अहिंसक-सहकार' की बात करते हैं। यदि दोनों के अर्थ को एक साथ रखा जाय तो इसका अर्थ होगा 'दुर्जन की बुराई को निज आत्मा में देखने से उसके सम्यक्-चिंतन में सहयोग मिलता है तथा सम्यक्-चिंतन में सहयोग मिलने से उसकी बुराई का भी अंत होता है।' अब यहाँ प्रश्न है कि बाहरी दुर्जनता को निज आत्मा में देखने का क्या अर्थ है? इसका एक अर्थ तो यह होगा कि 'बाहरी दिखनेवाली दुर्जनता प्रतिपक्षी में नहीं है, स्वयं में है, अतः उसका शोधन करना चाहिए।'

दूसरा अर्थ होगा प्रतिपक्षी की दुर्जनता को देखकर अपने मे यह टटोलकर देखना चाहिए कि वह दुर्जनता हममे है या नही। यदि वह दुर्जनता हमम भी होती है तो फिर क्षमा भाव इत्यादि गुणो का विकास होता है। शायद विनोबा दूसरे अर्थ को ही स्वीकार करते हैं जो स्वभाव म भावात्मक है। परतु इस अर्थ को लेने से सचमुच प्रतिकार अपना पुराना अग ही नहीं छोड देता, अपना मूल्य भी खो देता है। जब सामान्य रूप से हम प्रतिकार की बात करते हैं तो इसका लक्ष्य प्रतिपक्षी की दुर्जनता का ही प्रतिकार है जो विनोबा की योजना म गौण हो जाता है और सत्याग्रही की दुर्जनता का प्रतिकार प्रमुख रूप ले लेता है। इसमे अन्य लाभ भले ही मिल सकते हैं परतु तात्कालिक लक्ष्य ही पराजित हो जाता है। फिर इसकी क्या गारटी है कि सत्याग्रही के गुण विकास से दुर्जन का भी गुण विकास हो ही जायगा? क्या सभी प्रकार की बीमारियाँ एक ही मीठी दवा से छूटती हैं? क्या कभी शल्य चिकित्सा करने की जरूरत नही पडती? क्या दवाई से शल्य चिकित्सा पर आ जाना साधन मे परिवर्तन नही है? तो फिर दुर्जनता के प्रतिकार को हम स्पष्ट रूप से क्यो न ल? प्रतिपक्षी को दुर्जनता के उन्मूलन को वस्तुवादी ढग से क्यो नही समझें? विनोबा कहते है कि सत्याग्रह मे निर्वैरता और प्रतिकार दोनो है[1] और इसमे इसकी शक्ति बढ जाती है। प्रतिकार सौम्य चल सकता है और आगे चलकर वह उग्र[2] भी हो सकता है। परतु यह उग्रता धमकी नही है। इसमे कोई दूसरा कठोर मार्ग नही अपनाकर प्रेम का ही सबल मार्ग अपनाया जाता है। वे कहते हैं— "जडता हटाने के लिए अधिक चैतन्य प्रकट करना होता है। सामनेवाला जितना जड हो, उतना चैतन्य प्रकट करना ही पडता है। सामने जितना अधकार हो, उतना प्रकाश जरूरी होता है।"[3] यहा भी विनोबा प्रतिकार की भाँति 'उग्र' का अर्थ ही बदल देते है। यह 'उग्र' 'सौम्यतर' और सौम्यतम का पर्यायवाची हो जाता है। आगे हम देखेंगे कि सत्याग्रह की प्रक्रिया के बारे मे उन्होने सौम्य, सौम्यतर और सौम्यतम की बात की है। अत सब मिला-जुलाकर विनोबा का प्रतिकार इतना अधिक सौम्य, सूक्ष्म तथा शात हो जाता है कि सामान्य अर्थ मे वह प्रतिकार रह ही नही जाता। यह उनकी आत्मस्मृति के सिद्धात के अनुकूल है जिसम केवल

१ विनोबा चितन, ३४–३५ (नवम्बर–दिसम्बर १९६८) पृ० ४७०।
२ उपरिवत्, पृ० ४६९ (बेगूसराय, १ ११ १९५२ को सबसे पहले यह कहा गया)।
३ उपरिवत् पृ० ४७०।

आत्मा के शुभ-गुणों को याद रखना ही वाछनीय माना जाता है, तथा उनकी ब्रह्म अथवा शून्य में परिणत करने की जिज्ञासा कायम रहती है। इससे शीघ्र समाज-परिवर्तन शायद संभव नहीं।

विनोबा 'प्रतिकार' के स्वरूप के आधार पर ही सत्याग्रह की प्रक्रिया का शास्त्र बनाते हैं। उनके अनुसार सत्याग्रह की प्रक्रिया हिंसा की प्रक्रिया से भिन्न है।[1] हिंसा की प्रक्रिया तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होती है अर्थात् छोटे हिंसक यंत्र से काम नहीं चलता तो हम अधिक खतरनाक यंत्र का प्रयोग करने लगते हैं। सत्याग्रह की प्रक्रिया ठीक इसके विपरीत है। यहाँ हम पहले सौम्य सत्याग्रह में प्रारंभ करते हैं उससे काम नहीं चलता है तो हमारा सत्याग्रह सौम्यतर होता है और उससे भी काम नहीं चलता तो उसे सौम्यतम बनाना पड़ता है।[2] जैसे ग्रामदान से सुलभ ग्रामदान पर आना सौम्यतर-सत्याग्रह का उदाहरण है।[3] इस प्रक्रिया के पीछे हामियोपैथी चिकित्सा-पद्धति का दर्शन लागू होता है।[4] जैसे हामियोपैथ में दवाई की मात्रा कम परन्तु घटाई या भावना की मात्रा अधिक होती है और उससे दवा की पोटेंसी बढ़ जाती है ठीक उसी प्रकार प्रतिकार कम और प्रेम की मात्रा बढ़ाते जाने से, सत्याग्रह की प्रक्रिया में ताकत आती है। जिस प्रकार विज्ञान के विकास के साथ-साथ सारी वस्तुएँ सूक्ष्म रूप धारण करती जाती हैं, उसी प्रकार सत्याग्रह भी इस हिंसा के युग में सूक्ष्म ही होना चाहिए। इसीलिए आज सौम्य, सौम्यतर तथा सौम्यतम सत्याग्रह की आवश्यकता है। वे कहते हैं—'अहिंसा की मुख्य ताकत बाहरी नहीं लेकिन सामनेवाले के और अपने हृदय में होती है।'[5] "अन्तरात्मा को जगाना[6] ही सत्याग्रह की पद्धति है। अतः इसमें हम स्थूल छोड़कर सूक्ष्म की ओर प्रवेश करते हैं।

---

१ विनोबा चिंतन ३४ ३१ (नवम्बर-दिसम्बर १९३८) पृ० ४७१।

२ उपरिवत् पृ० ४७१।

३ यदि कोई भूमिहीन किसान जमीन मालिक से न्याय नहीं पाता है तो इसके बदले वह अपनी मुफ्त की सेवा जमीन मालिक को अर्पित करने लगता है। यह भी सौम्य-सत्याग्रह का उदाहरण है —Ostergaard, Geoffrey, & Currell, Malville, *Gentle Anarchist*, p 270

४ विनोबा चिंतन पृ० ४७१।

५ शाह, कांतिभाई, सपा०, गांधी जैसा देखा समझा विनोबा ने, पृ० ६६।

६ उपरिवत्, पृ० ६७।

गांधी की सत्याग्रह प्रक्रिया विनोबा के अनुसार विशेष परिस्थिति के कारण दबावपूर्ण और निषेधात्मक थी।[1] उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता है। आज युग बदल गया है। देश आजाद हो गया है लोकतंत्र की स्थापना हुई है तथा विज्ञान काफी आगे बढ चुका है। सभी सरकारें आज अधिक शक्तिशाली हो गई हैं। अतः ऐसी परिस्थिति मे स्थूल, उग्र या तीव्र सत्याग्रह से काम नहीं चलेगा। ऐसी स्थिति मे सत्याग्रह को सौम्य सौम्यतर तथा सौम्यतम बनाना ही उसे अधिक प्रभावशाली और शक्तिशाली बनाना है।[2]

कभी-कभी ऐसा होता है कि सत्याग्रह मे दोनो विरोधी सत्य के नाम पर लडते हैं। दोनो अपने अपने सत्य का दावा करते हैं। दोनो सत्य के नाम पर उपवास करना शुरू कर देते हैं। ऐसी स्थिति मे सत्याग्रह की क्या प्रक्रिया होगी? गांधी इस प्रश्न पर केवल अहिंसक साधन की अनुमति देकर चुप हो गए। परन्तु विनोबा क्रमबद्ध रूप से इसपर विचार करते हैं। उनके अनुसार ऐसी परिस्थिति मे सत्य के निर्णय के लिए ईश्वर पर छोड देना चाहिए और अहिंसक साधन से ही प्रतिकार करना चाहिए। यदि अहिंसा भी असफल हो जाय तो समत्व का सहारा लेना चाहिए।[3] समत्व का यहा अर्थ है— सत्य, अहिंसा की बात अलग रखकर प्रतिपक्षी के साथ अपनापन का अनुभव करना। जब अपनत्व का भाव आ जाता है तो सघर्ष अधिक देर तक टिक नही पाता। सत्याग्रह की प्रक्रिया मे सत्य अहिंसा और समत्व की प्रक्रिया होती है और तीनों मिलकर वस्तुतः एक ही विचार का निर्माण करते हैं।[4] इस तरह समत्व को स्थान देकर विनोबा ने गाधी के सत्याग्रह को एक प्रमुख आलोचना से मुक्त कर दिया है। जैसा हम पहले देख चुके है कि किलटगार्ड ने बतलाया है कि सत्याग्रह मे दोनो पक्ष अपने मत पर अडा रहनेवाला (absolutist) हो तो परिणाम भयानक होगा। परतु जहाँ समत्व का स्थान आ जाता है वहाँ समाधान और सफलता स्वतः आ जाती है। फिर भी विनोबा का 'सौम्य-सत्याग्रह' सत्याग्रह शास्त्र के लिए एक अत्यत विचारणीय प्रश्न है। प्राय ऐसा प्रश्न उठता है कि गाधी ने तो स्पष्ट रूप से सविनय

---

१ विनोबा-चिंतन २८ ३०, पृ० ४७२।

२ उपरिवत् पृ० ४७२।

३ शाह, कांतिभाइ (सपा०) गांधी जैसा देखा समझा विनोबा ने, पृ० ५२।

४ उपरिवत् पृ० ५२।

कानून भंग, असहयोग आदि को स्वीकार ही नहीं किया, उसे नागरिकों का कर्त्तव्य भी माना। ऐसी परिस्थिति में यह लगता है कि उनकी सत्याग्रह की प्रक्रिया 'सौम्य प्रक्रिया'' से पूर्णतः भिन्न थी। यह भी प्रश्न उठता है कि क्या सौम्य-सत्याग्रह-सामाजिक परिवर्तन की शक्ति बन सकता है? अनुभव यही बतलाता है कि स्वतन्त्रता के बाद जो संस्था उग्र प्रतिकार करना सीखी उसकी मांगों की पूर्ति सदैव सरकार ने की और जो संस्था दिन रात काम करती रही, शांतिपूर्ण ढंग से अपने कर्त्तव्य का पालन करती रही, उसे अपने भाग्य के लिए कोसना पड़ा है। सच तो यह है कि सरकार विचार और तर्क से अधिक आंदोलन तथा शक्ति-प्रदर्शन की भाषा समझती है। इसीलिए तो उग्र-सत्याग्रह की आवश्यकता पड़ती है। सौम्य-सत्याग्रह की पहचान तो विचारवानों को ही होती है। परन्तु दुर्भाग्यवश राज्य "आत्महीन-मशीन है।" क्या यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी स्थिति में उग्र अहिंसा की ही आवश्यकता है जो सामाजिक शक्ति बन सकती है? तीसरा प्रश्न उठता है कि जब हम सत्याग्रह पर विचार करते हैं तो क्या इसमें फलवादी दृष्टिकोण का रहना आवश्यक नहीं है? संतों की प्रक्रिया में फल का विशेष स्थान नहीं रहता। परन्तु संतों का आजतक कोई समाज नहीं बना है। समाज तो सभी प्रकार के लोगों को मिलाकर बनता है। उनके लिए फलवादी दृष्टिकोण अपेक्षित है। इसलिए उपयोगिता, परिणाम, इत्यादि समाजशास्त्र के महत्त्व-पूर्ण अंग बन गए हैं। जब हम समाज-परिवर्तन की बात करते हैं तो इनका विचार करना ही होगा। सौम्य-सत्याग्रह का फल कहाँ तक समाज में मिल सकता है—यह स्वयं शोध का विषय है।

वस्तुतः उग्र या तीव्र-सत्याग्रह सामान्य व्यक्ति के लिए है जिसकी सेवा और पवित्रता का ज्ञान प्रतिपक्षी को नहीं है। यदि किसी व्यक्ति का चरित्र इतना उदात्त हो कि हर व्यक्ति उसकी आत्मा की पवित्रता से परिचित हो तो फिर उग्र-सत्याग्रह की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। वहाँ पर सौम्य-सत्याग्रह ही काम करेगा। इस संबंध में काका कालेलकर ठीक ही कहते हैं—"गांधी जी की बात बिल्कुल सही है कि सौम्य उपाय कारगर साबित न होने के बाद ही सत्याग्रह का—असहयोग या अहिंसक प्रतिकार का—उग्र उपाय काम में लाना पड़ता है। लेकिन गांधी जी स्वयं कहते थे कि मनुष्य के चारित्र्य की उन्नति होने के बाद और उनकी निःस्वार्थ सेवा के अनुभव के बाद समाज ऐसे सेवकों को पहचानने लगता है। उसकी वाणी का तेज भी बढ़ता है। इसलिए उसे

उग्र-सत्याग्रह करना ही नही पडता। विनोवा जी ने भी यही बात कही है।"[१] दूसरी बात यह कि सत्याग्रह मे फल का विचार रखना आवश्यक है यदि हम उसे समाज-दर्शन मे सदर्भ मे लेते हैं। यहाँ पर भी काका कालेल्कर का विचार ठीक लगता है। वे कहते है—"सत्याग्रह उग्र हो या सौम्य हो, या सौम्यतर हो, 'सत्याग्रही के प्रयत्न का परिणाम सामाजिक जीवन पर कितना होता है", यही तो मुख्य बात है। सत्याग्रही अपने को जैसा पहचानता है वैसा ही कार्य करेगा। सत्याग्रह की कसौटी आखिरकार उसके 'फल' पर ही हो सकती है। अगर सौम्य सत्याग्रह से पूरा फल प्राप्त हुआ तो उग्र सत्याग्रह करने कौन जायगा ?"[२]

विनोवा सत्याग्रह को इतना सात्त्विक, परिशुद्ध तथा प्रेममय बनाना चाहते हैं कि उनकी दृष्टि मे यदि "उपवास तथा कष्ट-सहन भी राजस तामस वृत्ति से प्रेरित हो तो यह सत्याग्रह के बदले दुराग्रह का लक्षण बन सकता है। यह किसी के सामने पिस्तौल दिखाने जैसा हो जाता है।"[३]

यदि किसी मे उपवास की क्षमता अधिक है तो उसे तितिक्षावान् कहा जा सकता है। परतु यह आवश्यक नही है कि सत्य का ज्ञान तितिक्षा के साथ जुडा हो। वे कहते हैं—"भूखे रहने की शक्ति पर यदि सत्य का निर्णय हो, तो फिर कुश्ती मे सत्य का निर्णय क्यो न किया जाय ?"[४]—अत "जो तितिक्षावान् है वह सत्यवान् है" यह समझना गलत है, जैसे जिसके पास शस्त्र अधिक उसके पास सत्य अधिक—ऐसा नही हो सकता।"[५] प्रजातन्त्र मे विचार प्रचार की स्वतन्त्रता है। अत इसमे उपवास के तरीके को छोडकर विचार-प्रचार के साधन को ही काम मे लाना चाहिए। उपवास से एक प्रकार का दबाव पडता है जो "खोटा काम" है।[६] "सत्याग्रह का मतलब डराना—धमकाना नही, वह तो प्रेम की पराकाष्ठा है।"[७] प्रेम के प्रकर्ष होने पर ही

---

१ कालेल्कर, काका, विनोवा और सर्वोदय क्रांति, (वाराणसी, सर्व सेवा-सघ प्रकाशन १९७०), पृ० २१५।

२ उपरिवत्, पृ० २१५।

३ शाह, कान्तिभाई, सपा०, गाँधी जैसा देखा समझा विनोवा ने, पृ० ५४।

४ उपरिवत्, पृ० ५५।

५ उपरिवत्, पृ० ५५।

६ उपरिवत्, पृ० ५५।

७ उपरिवत्, पृ० ५५।

उपवास किया जाता है।[१] गाँधी का उपवास इसी का द्योतक है। "उपवास जब प्रेम, करुणा और समत्व की निशानी रूप होगा, तब उसका असर होगा, और उस स्थिति में वह उचित भी माना जायगा'[२]—ऐसा विनोबा मानते हैं। इसलिए उपवास को अहिंसा का अंतिम अस्त्र माना गया है जिसका प्रयोग आत्यंतिक आवश्यकता होने पर किया जाता है।[३] जैसे विनोबा कहते हैं—'जब सरकार उलट मार्ग पर चल पड़ी हो, जनता कुछ सुनती ही न हो, बहक गयी हो, ऐसे समय अत्यंत व्याकुल होकर महापुरुष परमेश्वर से प्रार्थना करने के लिए उपवास कर सकता है।'[४] उनके अनुसार उपवास का अभिप्राय विवेक, बुद्धि जागृत करना है।[५] परन्तु यदि देश या परिस्थिति इसके अनुकूल नहीं हो तो उपवास नहीं करना चाहिए। बल्कि वर्तमान परिस्थिति में इस अस्त्र का प्रयोग न होना विनोबा "बेहतर" मानते हैं।[६]

इसी प्रकार सत्याग्रह शक्ति तितिक्षा में निवास नहीं करती है। इसमें क्षमा करनी पड़ती है तथा सहन करना पड़ता है। परन्तु "सहन करने के लिए तैयार होना अलग बात है लेकिन सहन करने को ही हथियार बनाना कि 'आ जाओ, अब मैं सहन ही करता हूँ यह ठीक नहीं है। सहन करना पड़े और सहन करें, यह अलग बात है, लेकिन सत्य स्थापित करने में सहन करने का कार्यक्रम नहीं होना चाहिए। सत्य स्थापित करने के लिए विचार के अलावा दूसरी कोई शक्ति नहीं है।"[७] आत्म-पीड़न विनोबा के सत्याग्रह में आवश्यक अंग नहीं है। इसे साधन के रूप में एकदम नहीं स्वीकार किया गया है। इसका क्षेत्र भी अतिसीमित कर दिया गया है। गाँधी के आत्म-पीडन में कई प्रकार की पीड़ाएँ जुड़ी हुई हैं। विनोबा आत्म-पीड़न से अधिक विचार-परिवर्तन पर बल देते हैं, अतः यहाँ भी इनकी सन्यासवादी वृत्ति का ही परिचय मिलता है।

१ उपरिवत्, पृ० ५५।

२ उपरिवत्, पृ० ५६।

३ भावे, विनोबा, शांति यात्रा, (दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, १९५३), पृ० १३२।

४ शाह, कान्तिभाई, सपा०, गाँधी जैसा देखा समझा विनोबा ने, पृ० ५६।

५ भावे, विनोबा, शांति यात्रा, पूर्ववत्, पृ० १३१।

६ उपरिवत्, पृ० १३३।

७ उपरिवत्, पृ० ५५-५६।

अहिंसक सहकार (Non violent Assistance)

सत्याग्रह और सहकार विनोबा गांधी के सत्याग्रह के रचनात्मक या भावात्मक अंश पर ही विशेष रूप से बल देते हैं। विधायक-सत्याग्रह को ये केवल अपने आंदोलन मे प्रायोगिक तौर पर स्थान ही नहीं देते बल्कि युक्तियों के आधार पर उसका दर्शन भी खड़ा करते हैं।

विनोबा के अनुसार गांधी के सत्याग्रह का प्रयोग निषेधात्मक[1] हुआ जो दबावपूर्ण था—इसे स्वयं गांधीजी ने स्वीकार किया था। अतः उनके सत्याग्रह में न्यूनता[2] रह जाती है, उसे परिपूर्ण नहीं माना जा सकता है। परन्तु गांधी के समय परिस्थिति ही ऐसी थी कि वे निषेधात्मक सत्याग्रह के प्रयोग के अतिरिक्त कुछ कर ही नहीं सकते थे। जनता अंग्रेजो के भय से सन्त्रस्त थी, उसे निर्भीक[3] बनाना था। सामान्य जनता अंग्रेजो से घृणा करती थी और अंग्रेजो को जलाने के लिए तैयार थी। ऐसी स्थिति मे विलायती वस्त्रों को जलाना एक सुन्दर विकल्प था।[4] स्वराज्य सभी व्यक्ति एक स्वर मे चाहते थे। उसकी प्राप्ति के लिए सशस्त्र हिंसक युद्ध भी आवश्यक माना जाता था। अतः निषेधात्मक सत्याग्रह ने इसकी तुलना में कम हिंसक मार्ग को हमारे सामने रखा।[5] फिर सत्याग्रह के साथ-साथ पथ्य के रूप में गांधीजी रचनात्मक कार्यक्रम को भी जोड़े हुए थे। अतः इसके कारण एक बचाव था।[6] अंतिम रूप से यह कहा जा सकता है कि अंग्रेज जाति पर उन्हें श्रद्धा थी परन्तु अंग्रेज शासको के प्रति विश्वास टूट गया।[7] यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो वे दूसरे प्रकार से सत्याग्रह किए होते। एक बार विनोबा से उन्होंने कहा था—"अगर ऐसा हुआ होता तो वे चंपारण जैसे छोटे-छोटे सत्याग्रह करते, जिनमे अन्याय स्पष्ट दीखता था और अंग्रेज भी उसे अन्याय मानते थे।"[8] परन्तु ऐसा हुआ नहीं, अतः उन्हें

---

१ **विनोबा चिंतन** ३४ ३५ (नवम्बर दिसम्बर १९६८) पृ० ४८३ दव शाह, कान्ति भाइ, (१९७०) पृ० ५८।

२ उपरिवत् पृ० ४८८।

३ शाह, कान्तिभाइ सपा० **गांधी** जैसा देखा समझा विनोबा ने, पृ० ५३१।

४ उपरिवत्, पृ० ५३१।

५ उपरिवत्, पृ० ५३१।

६ उपरिवत्, पृ० ५३१।

७ उपरिवत्, पृ० ५३२।

८ उपरिवत्, पृ० ५३२।

निषेधात्मक सत्याग्रह का सहारा लेना पड़ा और उन्हें काफी दूर तक सफलता भी मिली।

परंतु अंग्रेजी शासन के पतन के बाद लोकशाही का उदय हुआ है। हम पर किसी प्रकार का दबाव नहीं रहा है। साथ-ही-साथ विज्ञान भी काफी आगे बढ़ गया है। अतः यह युग गाँधी के युग से भिन्न है। ऐसे युग में निषेधात्मक सत्याग्रह के कार्य नहीं चल सकता। हम "अंग्रेजो भारत छोड़ो" की भाँति "पूंजीपति और व्यापारियों भारत छोड़ो" का नारा नहीं लगा सकते। ऐसी स्थिति में सत्याग्रह के नये रूप को ढूँढना होगा जो गुणयुक्त होगा तथा सह-अस्तित्व में सहायक होगा। इस प्रकार का सत्याग्रह विनोबा के अनुसार भावात्मक और रचनात्मक अधिक तथा विरोधात्मक कम होगा।

विनोबा गांधी के निषेधात्मक-सत्याग्रह को सत्याग्रह का बाहरी रूप मानते हैं। उनके अनुसार सत्याग्रह का आतंरिक रूप प्रेमस्वरूप तथा विधायक है। इसके लिए वे कई युक्तियाँ देते हैं। पहली युक्ति यह है कि यदि गाँधी की कल्पना मात्र निषेधात्मक होती तो वे सत्याग्रह के साथ साथ रचनात्मक कार्यक्रम नहीं जोड़ते।[१] दूसरी बात यह कि वे विनोबा जैसे व्यक्ति को जो राजनैतिक कार्य में विशेष रूप से भाग नहीं लेते थे—प्रथम सत्याग्रही नहीं बनाते।[२] विनोबा को प्रथम सत्याग्रही बनाने का कारण इनकी रचनात्मक बुद्धि ही थी। गांधी तो यहाँतक मानते थे कि रचनात्मक कार्यक्रम पूरा हो जाने पर बाह्य-सत्याग्रह की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।[३] फिर विनोबा ने कई बार गाँधी से चर्चा भी की तो स्पष्ट रूप में उन्होंने राजकोट और अहमदाबाद के सत्याग्रह को दबावपूर्ण मान लिया तथा वहाँ उन्होंने अपनी गल्ती स्वीकार कर ली।[४] साम्प्रदायिक निर्णय के अवसर पर किया गया उपवास भी दबावपूर्ण ही था क्योंकि इसका असर टैगोर जैसे व्यक्ति के मन पर भी पड़ा। यद्यपि इसपर गाँधी से विनोबा की कोई बातचीत नहीं हुई फिर भी विनोबा यह मानते हैं कि यह उपवास गलत हुआ, इसमें हृदय-परिवर्तन की क्रिया कुंठित हुई।[५] इस प्रकार विनोबा इस निष्कर्ष पर आते हैं कि "किसी के द्वारा भी किए गए अहिंसा के प्रयोग परम निर्दोष नहीं होते। उनमें

१ उपरिवत् पृ० ५०१।
२ उपरिवत्, पृ० ५०१।
३ उपरिवत्, पृ० ५०१।
४ उपरिवत्, पृ० ५०२।
५ उपरिवत्, पृ० ५०२।

कुछ-न-कुछ गलतियाँ या दोष रहेंगी ही।" इसलिए गाँधी के सत्याग्रह में भी कुछ अनुचित दबाव आये परन्तु उनके पूरे विचार निषेधात्मक थे—ऐसा मानना गलत होगा।[१] वास्तव में वे विधायक-सत्याग्रह के उपासक थे।

विनोबा विधायक-सत्याग्रह को ही सत्याग्रह का वास्तविक रूप मानकर नई परिस्थिति में इसका प्रयोग करते हैं। वे समाज-रचना को ही अहिंसक बनाकर इसमें आमूल परिवर्तन लाना चाहते हैं।[२] छोटे-छोटे प्रतिकार में व्यर्थ अपनी शक्ति बर्बाद करना उचित नहीं समझते। वे सामाजिक बुराइयों के लक्षण से अधिक कारण पर ही प्रहार करते हैं। समाज-रचना में परिवर्तन के लिए ये गाँधी की भाँति छोटे-मोटे कार्यक्रम नहीं रखते। ये समस्त समाज के परिवर्तन के लिए या सर्वोदय समाज की स्थापना के लिए एक ही प्रकार के *व्यापक कार्यक्रम को समाज के सामने रखते हैं।* इसके अन्तर्गत भूदान, ग्राम-दान, सम्पत्ति-दान, श्रम-दान, प्रखण्ड-दान, जिला-दान, राज्य-दान तथा राष्ट्रिय और अन्तराष्ट्रिय समाज-रचना के कार्य आते हैं। इन्हें विनोबा सत्याग्रह ही मानते हैं।[३] इनपर हम आगे विशेष रूप से विचार करेंगे।

परन्तु *विधायक-सत्याग्रह में इस आस्था का यह अर्थ नहीं कि विनोबा* निषेधात्मक-सत्याग्रह का प्रयोग कभी उचित मानते ही नहीं। खास परिस्थिति में ये निषेधात्मक सत्याग्रह के प्रयोग को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार—"जो बात कानून के द्वारा मान्य हो और जिसके लिए जनमत अनुकूल हो, फिर भी उसपर अमल न होता हो तो ऐसे मौके पर सत्याग्रह किया जा सकता

---

१ उपरिवत्, पृ० ५०३।

2 It is futile to treat the symptom if you do not remove the cause Similarly, the injustice, exploitation, oppression, that you see around you are all but symptoms. The cause is the structure of the present day society As long as society is in the grip of market forces, and is run by fear, you may fight injustices here and there for your self-satisfaction but you will fail to end them the thing to do is, change the society and make it non-violent This is what Vinoba is doing "

—Majumdar, Dhirendra, *People's Action*, (New Delhi, Gandhi Peace Foundation), Vol 6, No 4 (April 1972), p 3.

३. विनोबा-चिंतन, २४-२५ (१९६८), ४८४।

है।[१] इसीलिए तमिलनाड और विदर्भ के कार्यकर्त्ताओं को उन्होंने बेदखली के विरुद्ध सत्याग्रह करने की अनुमति दे दी थी। उन्होंने उत्तर प्रदेश और बिहार में एक बार कहा कि यदि कोई बेदखल करने के लिए आवे तो जान गँवाकर भी किसान को अपनी जमीन नहीं छोड़नी चाहिए।[२] यदि कार्यकर्त्ताओं को लगे कि लोग इस प्रकार मरने को तैयार हैं, विचार समझे हुए हैं और वातावरण पर भी पूरा काबू है, आंदोलन से हिंसा फूट निकलने की संभावना नहीं है तो बेदखली के विरुद्ध सत्याग्रह कर सकते हैं।"[३] विनोबा ने स्वयं १९६० के नवंबर महीने में इंदौर शहर में अशोभनीय सिनेमा के पोस्टरों के विरुद्ध सत्याग्रह किया था और उसे उचित माना।[४] फिर भी वे निषेधात्मक-सत्याग्रह को अपने कार्यक्रम का अंग नहीं मानते हैं। इसके लिए विनोबा निम्न युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं—

सत्याग्रह तभी किया जा सकता है जब जनमत तैयार हो। यदि जनमत का निर्माण नहीं हुआ हो तो सत्याग्रह करना केवल व्यूह-रचना की दृष्टि से ही नहीं, नैतिक[५] दृष्टि से भी बुरा होगा। भूदान और ग्रामदान के पक्ष में अबतक न तो जनमत तैयार हुआ है, न भूमिपति मालिकी विसर्जित करने के लिए तैयार हैं, दूसरी ओर कानून है। ऐसी परिस्थिति में सत्याग्रह करना उचित नहीं।[६]

---

१ विनोबा चिन्तन, ३४–३५ (१९६८), पृ० ५१७।

२ उपरिवत्, पृ० ५२४।

३ उपरिवत्, पृ० ५२४।

४ "मैं सिनेमा उद्योग के खिलाफ सत्याग्रह नहीं कर रहा हूँ। मैं तो विज्ञान का कायल हूँ। उसके अंतर्गत सिनेमा का विकास हो, ऐसा चाहूँगा। लेकिन आँखों पर अशोभनीय पोस्टरों का आक्रमण नहीं होना चाहिए। इसके लिए सत्याग्रह योग्य है। इसके खिलाफ मैंने जिहाद जाहिर किया है।" सुरेशराम, विनोबा की साम्ययोगी साधना, (इलाहाबाद, लोक-शक्ति प्रकाशन, १९७१), पृ० ५९।

5 "In the absence of a favourable public opinion, Satyagraha, would be unjustified in promoting the movement's programme, because it would be an attempt to compell the unpersuaded majority to adopt the principle of the minority", Ostergaard, Geoffrey, & Currell, Malville—*Gentle Anarchist*, p 267.

६ विनोबा-चिन्तन, ३४–३५ (१९६८), पृ० ५१७।

सत्याग्रह तभी किया जा सकता है जब कोई चीज सर्वमान्य हो और मोहवश उनका पालन नही होता हो।[१] परन्तु जमीन की मालकियत सामूहिक हो यह विचार अभीतक बहुमान्य नही है। स्वतत्र पार्टी, जनसघ और काग्रेस—सभी इसके विरोधी है। ऐसी परिस्थिति मे यदि विरोधात्मक-सत्याग्रह से काम लिया जाय तो इससे समाज के एक बडे हिस्से की सहानुभूति समाप्त हो जायगी तथा आदोलन को जबरदस्त धक्का लगेगा। अत वर्तमान परिस्थिति मे लोक-शिक्षण के द्वारा जनमत तैयार करना ही उचित है। यह सत्याग्रह की परिस्थिति नही है।

यदि परिस्थिति पर नियन्त्रण होता[२] तो बेदखली के विरुद्ध सत्याग्रह किया जा सकता था। परतु ऐसा भी नही है। इस युग मे प्रेस किसी भी चीज का गलत चित्रण करते है। यदि कोई कुछ नया कदम उठायेगा तो प्रेस वाले उसे कम्युनिस्ट कह देगे। ऐसी स्थिति मे जनता की सारी सहानुभूति समाप्त हो जायगी।[३] यदि आस-पास के गावो मे बेदखली के विरुद्ध सत्याग्रह किया भी जाय तो इसमे कानून तथा मुकदमा इत्यादि के चक्कर मे फँसना पडेगा। तब सृजनात्मक कार्य पीछे पड जायगा। अत विनोबा प्रतिकार के बदले विधायक-कार्यक्रम के रूप मे ग्रामदान आदि को ही प्रस्तुत करते है।"[४]

निषेधात्मक सत्याग्रह तब किया जा सकता है जब प्रतिपक्षी से विश्वास उठ जाय। यदि करोडों लोगो की नीयत पर से विश्वास उठ जाय तो इसका अर्थ होगा मानवता पर से विश्वास उठना। परतु मानवता पर अविश्वास नही किया जा सकता है। अत सभी की अच्छी नीयत पर विश्वास कर ही आगे बढना चाहिए। विनोबा ने इसे इस प्रकार कहा है—"मान लें कि सरकार और कांग्रेस की नीयत पर मेरा विश्वास न रहे, मैं समझने लगूँ कि पडित नेहरू वास्तव मे गरीबो का कल्याण नही चाहते, भूमि सुधार आदि जितने भी काम वे चला रहे है, सारा ढोग है, फिर जमीन मालिको की नीयत पर से विश्वास उठ जाय कि वे अपना कब्जा नही छोडेंगे, तो मैं सरकार के विरुद्ध निषेधात्मक-सत्याग्रह करने के लिए तैयार हो जाऊँगा। पर इस प्रकार करोडो लोगो की नीयत पर से विश्वास उठ जाने का अर्थ है मानवता पर से भी विश्वास उठ

१ उपरिवत्, पृ० ५१८।
२ उपरिवत्, पृ० ५२४।
३ उपरिवत्, पृ० ५२४।
४ उपरिवत्, पृ० ५२५।

जाना। इसलिए जबतक उल्टी बात साबित नहीं होती तबतक मुझे सबकी नीयत पर विश्वास रखकर आगे बढ़ना होगा।"[१]

विनोबा सत्याग्रह-जीवन पद्धति और सत्याग्रह-प्रतिकार-पद्धति में भेद करते हैं। प्रतिकार-पद्धति के रूप में सत्याग्रह में हम प्रतिपक्षी पर संघर्ष की स्थिति में विजय प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। निश्चय ही यह हिंसक-पद्धति से उत्तम है फिर भी इसे दबावमुक्त नहीं कहा जा सकता। यह एक प्रकार का अहिंसक दबाव है। परन्तु सत्याग्रह दबाव की प्रक्रिया से अपना तेज खो बैठता है।[२] यह दुराग्रह के समानार्थक हो जाता है। वास्तव में सत्याग्रह सबको का वह रचनात्मक परिवर्तन है जिसमें केवल नीति-परिवर्तन ही नहीं बल्कि उस परिस्थिति का भी परिवर्तन हो जाता है जिसके कारण संघर्ष होता है।[३] अतः विनोबा अपने आंदोलन में निषेधात्मक सत्याग्रह का स्थान नहीं देकर भावात्मक सत्याग्रह का ही प्रयोग करते हैं जिसमें प्रतिपक्षी शस्त्रविहीन हो जाता है तथा वह स्वयं प्रेम करने लगता है।

परन्तु विनोबा नैतिक दबाव को सत्याग्रह का एक अंग मानते हैं।[४] यह विनोबा-दर्शन में एक प्रकार से आत्मविरोध उत्पन्न करता है। यदि सत्याग्रह में नैतिक दबाव स्वीकार्य है तो फिर गाँधी के द्वारा किए गए उपवास के दबाव को गलत साबित करना उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि वहाँ भी तो नैतिक दबाव ही है। परन्तु विनोबा ने उसे गलत ठहराया है। भूदान और ग्राम-दान भी नैतिक दबाव से मुक्त नहीं है। वास्तव में जब अहिंसा का प्रयोग वास्तविक जीवन में होता है तो उसमें कुछ दोष आना स्वाभाविक है। इसे विनोबा स्वयं स्वीकार करते हैं।

(ग) सत्याग्रह के रचनात्मक प्रयोग

सत्याग्रह केवल अन्याय के प्रतिकार का एक नैतिक और आध्यात्मिक उपकरण ही नहीं बल्कि साथ-साथ नवीन समाज-रचना का समर्थ साधन भी है।

१ विनोबा चिंतन, २४ २५ (१९६८), पृ० ५३३ ३४।

२ उपरिवत् पृ० ४८७।

३ "Satyagraha is not coercive It is a constructive transforming of relationships in a manner which not only *effects a change of policy, but also assures a restructuring* of the situation leading to the conflict"

Ostergaard, Geoffrey, & Currall, Malville, *The Gentle Anarchist*, p 269

४ विनोबा-चिंतन, २४-२५ (१९६८), पृ० ४५९।

इसलिए इसमे एक और अनपेक्षित, दूषित व्यवस्था टूटती है तो दूसरी ओर नवीन तथा स्वस्थ व्यवस्था बनती भी जाती है। इसीलिए जिस प्रकार गांधी ने अंग्रेजी सरकार के खिलाफ अवज्ञा, असहयोग आदि आदोलन के अनेक रूप खड़े किय लेकिन साथ-साथ खादी ग्रामोद्योग की स्थापना आदि अनेक रचनात्मक कार्यक्रमो को लागू करत हुए भावी समाज व्यवस्था की नीव भी दी। सत्याग्रह की यही विधायक-शक्ति है। एक तरफ उन्होने मिल के कपडो का बहिष्कार किया, यही नही उसकी होली जलाई ताकि विदेशी शोषण समाप्त हो लेकिन दूसरी ओर चर्खे कर्घे तथा कुटीर उद्योगो को चालू कर उन्होने इस क्षेत्र मे देशी पूंजीवाद के राक्षस को भी नाश करने के लिए मीठी जहर दी। जनता को स्वावलबन का पाठ मिला। जनतान्त्रिक विकेंद्रित आर्थिक प्रगति का मार्ग खुला और पूंजीपतियो से सघर्ष की आवश्यकता नही हुई।

ठीक उसी प्रकार विनोबा ने भूदान, ग्रामदान आदि आदोलनो के द्वारा प्रचलित अन्यायपूर्ण भू-व्यवस्था के विरुद्ध न केवल उपयुक्त वातावरण बनाया बल्कि कुछ दूर तक उसे दूर भी किया। भूदान-ग्रामदान आदोलन वस्तुत जमीन की भिक्षा का आदोलन नहीं बल्कि यह तो अन्यायपूर्ण प्रचलित भू-व्यवस्था के विरुद्ध अहिंसक सत्याग्रह है। इसमे हम जनमानस को समाजवाद के प्रति अभिमुख करते हैं ताकि समाज मे शातिमय परिवर्तन हो सके। यहाँ समाजवाद की शुरुआत हम स्वय अपने जीवन से करते हैं। इस प्रकार समाजवाद की सच्ची नीव पडती है। इसी सदर्भ मे हम विनोबा के भूदान-ग्रामदान आदोलनो पर विचार करेंगे।

१ **भूदान-यज्ञ का दर्शन** भूदान-यज्ञ का बीजतत्त्व गांधी के ट्रस्टीशिप के सिद्धात मे है तथा यह उनकी इन उक्तियो मे भी अतभूत मालूम पड़ता है कि "सच्चा समाजवाद तो हमे अपने पूर्वजो से प्राप्त हुआ है, जो हमे यह सिखा गये हैं कि "सबै भूमि गोपाल की", इसमे कही मेरी और तेरी की सीमाएँ नही हैं। ये सीमाएँ तो आदमियो ने बनाई हैं और इसलिए वे इन्हें तोड भी सकते हैं। गोपाल अर्थात् ईश्वर। आधुनिक भाषा मे गोपाल अर्थात् राज्य, या जनता। आज जमीन जनता की नही है, यह बात सही है। पर इसमे दोष उस सिखावन का नही है। दोष तो हमारा है जिन्होंने उस शिक्षा के अनुसार आचरण नही किया। मुझे इसमे कोई सदेह नही कि इस आदर्श के जिस हद तक रूस या और कोई देश पहुँच सकता है उसी हद तक हम भी पहुच

सकते हैं और वह भी हिंसा का आश्रय लिये बिना।"[१] विनोबा ने गाँधी की इन उक्तियों के आधार पर अपने भूदान-यज्ञ के सिद्धांत में भूमि के समान वितरण की समस्या का अहिंसक समाधान ढूँढ निकाला है जो वास्तव में सत्याग्रह का ही अंग है। भूदान-यज्ञ के अंतर्गत खेती करने की इच्छा रखने-वाले कृषि-कुशल भूमिहीनों के लिए भूमिदान माँगा जाता है। इसके पीछे मूल प्रेरणा भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रवृत्ति का उन्मूलन करना है तथा सभी व्यक्तियों में जमीन का समान-वितरण करना है।[२]

विनोबा के अनुसार भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार पर कुछ लोगों को भूमिहीन रखना एक प्रकार का अन्याय है। उनके अनुसार ईश्वर ने पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश जैसे पंचभूतों का निर्माण सभी प्राणियों के लिए किया है। अतः प्रकृति की चीजों पर सभी को समान अधिकार प्राप्त है। जल, तेज, वायु और आकाश का उपभोग सभी जीव स्वाभाविक रूप से करते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी के उपभोग का भी सभी को समान अवसर मिलना चाहिए। यदि किसी को कुछ क्षण के लिए वायु से अलग कर दिया जाय तो उसके प्राण निकलने लगेंगे, और ऐसा करना अन्याय होगा, उसी प्रकार जमीन पर मनुष्य को भोजन, वस्त्र तथा आवास की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति निर्भर है, अतः उसमें कुछ मानव समुदाय को वंचित रखना अन्याय है। विनोबा ने कहा है—"सूर्य घर-घर आ पहुँचता है। उसकी जितनी रश्मि एक राजा पाता है, उतना ही एक मेहतर भी। भगवान् कभी भी अपनी चीज का असमान रूप से वितरण नहीं करता। यदि ईश्वर ने हवा-जल, प्रकाश और गगन के वितरण में भेद-भाव नहीं किया है, तो यह कैसे संभव है कि उसने भूमि का सब लोगों में बराबर-बराबर वितरण न कर केवल कुछ लोगों के हाथ में उसे छोड़ दिया ?"[३] भूमि का मालिक ईश्वर है, यह हमारी माता है, हम इसकी संतान हैं। अतः कोई व्यक्ति भूमि का मालिक नहीं

१ हरिजन, २५-८-४०, उद्धृत, रामसूर्ति, राज्यदान के बाद क्या ? ग्रामदान से ग्राम स्वराज्य, (वाराणसी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६९, प्रथम संस्करण), पृ० ५५।

२ भंडारी, श्री चारुचंद्र, भूदान यज्ञ क्या और क्यों, (वाराणसी, सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, १९५६, प्रथम संस्करण), १-२।

३ भंडारी, श्री चारुचंद्र, भूदान-यज्ञ क्या और क्यों, (वाराणसी, सर्व सेवा-संघ प्रकाशन, १९५६, प्रथम संस्करण), पृ० २-३।

हो सकता। यदि वह अपने को मालिक मानता है तो वह उसी प्रकार का अन्यायी है जिस प्रकार कोई अपनी माता का दासी बना लेता है तथा उसकी अन्य संतान को गोद में छीन कर सदा के लिए अलग कर देता है।[१] आज की समाज की आर्थिक सामाजिक विषमता के मूल में यही अन्याय व्याप्त है। हमने बल प्रयोग के आधार पर अथवा अपनी शक्ति के दुरुपयोग से कुछ मानव समुदाय को भूमि के अधिकार से वंचित कर दिया है। भूदान यज्ञ इस पाप की प्रायश्चित्त[२] का एक सुअवसर देता है तथा इस अन्याय के प्रतिकार का एक अहिंसक तरीका है। विनोबा के शब्दों में— भूदान यज्ञ से बेजमीनों को जमीन मिलती है एक मसला हल होता है। इस काम का जितना महत्त्व है, उससे बहुत ज्यादा महत्त्व इस बात का है कि एक तरीका हाथ में आया। अहिंसा की शक्ति निर्माण करने की एक युक्ति हमारे हाथ लगी।"[३]

भूदान यज्ञ के पीछे दूसरी मूल दृष्टि यह है कि जमीन पाने का वही अधिकारी है जो इसे जोत सके तथा इसमें उपार्जन कर सके। जो अपने हाथों खेती नहीं करता है उसे जमीन पाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है,[४] ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार भूखे और प्यासे को ही अन्न जल प्राप्त करने का अधिकार है, सन्तुष्ट व्यक्ति को नहीं। वेद में कहा गया है कि पृथ्वी माता है और हम उसके पुत्र हैं। 'माता भूमि पुत्रो हं पृथ्वीव्या।" हम उसकी सेवा करने का ही अधिकार है। उसकी मालकियत का नहीं। परंतु वर्तमान समाज-व्यवस्था में खेती करनेवाले गरीबों के पास या तो जमीन नहीं है या है भी तो बहुत ही कम मात्रा में प्राप्त है। लेकिन जो व्यक्ति खेती करना कौन कहे, खेत पर जाना भी अपनी इज्जत के खिलाफ समझते हैं उनके पास हजारों एकड़ जमीन बेकार पड़ी है। यह ठीक है कि दूसरे की जमीन में भूमिहीन खेती करते हैं परंतु उसमें उनमें वह कार्य कुशलता नहीं आ पाती है जो अपनी जमीन में होती है। भाड़े के मकान को कोई कितना सजा सकता है? विश्व के पैमाने पर भी जहाँ आस्ट्रेलिया कनाडा और अमेरिका जैसे देशों में आबादी की तुलना में जमीन अधिक है वहीं चीन तथा अन्य घनी आबादीवाले देशों में खेती करने के लिए बहुत कम जमीन प्राप्त है। अतः जहाँ पर अतिरिक्त

१ उपरिवत् पृ० ६७।

२ उपरिवत् पृ० ७।

३ ढढ्ढा, सिद्धराज भूदान से ग्रामदान, (वाराणसी सर्व सेवा संघ प्रकाशन १९५७, प्रथम संस्करण), पृ० ८।

४ भंडारी, चारुचन्द्र, भूदान क्या और क्यों, पृ० ६।

जमीन वाले देशो मे जमीन वेकार पडी रहती है वहाँ दूसरे देशो मे जीने के लिए तथा आवास के लिए भी जमीन नही है। विनोवा भूदान-यज्ञ के द्वारा इस समस्या का समाधान ढूँढते हैं। जमीन के वितरण की समस्या का समाधान हिंसा और कानून के द्वारा भी लोग सोचते हैं। परतु विनोवा के अनुसार हिंसा के द्वारा तो इसका समाधान हो ही नहीं सकता। जहातक कानून का प्रश्न है, अनुभव यह सिद्ध करता है कि जनमत और जन-शक्ति के निर्माण के बिना कानून कागज के पन्नो पर ही रह जाता है। कानून के द्वारा भी जमीन का समान वितरण तभी हो सकता है जब जनता स्वत वैचारिक स्तर पर इसके लिए तैयार हो जाय। बिना जन-समूह के हृदय-परिवर्तन के कोई भी कानून लागू नहीं हो सकता है। अत भूदान-यज्ञ के माध्यम से शाति और प्रेम के द्वारा ही भूक्राति हो सकती है—ऐसा विनोवा का विश्वास है।

भूदान-यज्ञ के परिणामस्वरूप दूसरी धारणा का विकास विनोवा ने 'सपत्ति-दान', 'श्रम-दान' तथा 'बुद्धिदान' के रूप मे किया है। इन धारणाओ के पीछे भी यही तत्त्व छिपा है कि जिस रूप मे हमे जो शक्ति प्राप्त है वह ईश्वर का ही दिया हुआ है।[१] दूसरे शब्दो मे समाज के द्वारा हमे अनेक प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। अत इसके बदले समाज को भी हमे अपनी शक्ति का कुछ भाग अर्पित करते रहना चाहिए। जिनके पास सपत्ति है वे सपत्ति के द्वारा समाज की सेवा करेंगे और जिनके पास बुद्धि तथा श्रम-शक्ति है वे इनके द्वारा समाज की सेवा करेंगे। इस प्रकार जब धन, बुद्धि और शक्ति का समाज के कार्यों मे आपसी सहयोग होगा तभी सहयोग पर आधारित अहिंसक समाज की स्थापना हो सकेगी। अत 'श्रम-दान', 'सपत्ति-दान', 'बुद्धि-दान' इत्यादि विभिन्न प्रकार की शक्तियो का सामाजिक हित मे सहयोग का सूचक है।

ग्रामदान का दर्शन 'ग्राम-दान' भू-दान आदोलन का ही अतिम चरण है जिसमे केवल भूमिहीनो के लिए भूमिदान की ही कल्पना नही है बल्कि इसमे जमीन के सपूर्ण मालकियत को समाज या गाव पर सौंप कर सेवावृत्ति अपनाने का विचार है।[२] भूदान मे वस्तुत भूमिहीनो की समस्या के समाधान

१ भावे, विनोवा, **ग्राम दान**, (वाराणसी, सर्व-सेवा सघ प्रकाशन, १९५७, प्रथम सस्करण), पृ० १।

२ भावे, विनोवा, **सुलभ-ग्रामदान**, (वाराणसी, सर्व-सेवा-सघ प्रकाशन, १९६०, पाँचवाँ सस्करण), पृ० १५।

का विचार है। परतु ग्रामदान एक पूर्ण विचार है और गांधीजी के रामराज्य अथवा ग्राम-स्वराज्य की कल्पना का आधारस्तम्भ है। यह एक जटिल प्रत्यय है जिसमे कई प्रकार की प्रतिमाओ का एक साथ अनुपम सगठन हुआ है। धर्म की दृष्टि से यह करुणा और सेवा का,[१] विज्ञान की दृष्टि से सहयोग का,[२] समाज की दृष्टि मे टूटे हुए हृदय को रोकने का,[३] आर्थिक दृष्टि से स्वावलबी ग्रामीण कुटीर उद्योग तथा खादी का,[४] राजनैतिक दृष्टि से शासनमुक्त समाज, वास्तविक लोकशक्ति और लोकनीति का, प्रतिरक्षा की दृष्टि से शाति-सेना[५] का, और अहिंसक क्राति के मार्ग के रूप मे यह नयी तालीम,[६] हृदय परिवर्तन तथा विचार परिवर्तन के आधार पर शातिमय क्राति का सूचक है। दूसरे शब्दो मे यह राज्यमुक्त अहिंसक समाज की स्थापना को प्रथम इकाई है तथा नये समाज के सगठन का नवीन विचार है जिसमे शासन व्यवस्था की पूर्ण इकाई ग्राम को माना गया है। इसलिए ग्राम दान को विनोबा एक समग्र विचार मानते है।[७]

ग्रामदान मे एक ओर गाधी के ट्रस्टीशिप[८] की योजना है तो दूसरी ओर सपूर्ण समाज मे आत्म दर्शन[९] का भाव है और दोनो मिलाकर ग्राम-समाज के पारिवारीकरण की योजना है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के सुख-दुःख मे सहज

१ भडारी श्रीचारुचद्र, ग्राम दान क्यो, अनुवा०) मदनलाल जैन (वाराणसी सर्व सेवा सघ प्रकाशन, १९५९, दूसरा सस्करण), पृ० ३० एव विनोबा ग्राम-दान पृ० १२६।

२ उपरिवत् पृ० ३२।

३ उपरिवत्, पृ० २६।

4 Narayan, Shriman Vinoba His Life And Work, p 254

5. Narayan, Shriman Vinoba His Life And Work, p 254

6. Ibid, p 254

7 Ibid, p 254

८ राममूर्ति राज्य-दान के बाद क्या? ग्राम दान से ग्राम स्वराज्य, पृ० ३१।

९ "आत्मा में आत्मा को देखना बहुत बड़ा काम है। उसके माने है, दुनिया में हमारे सामने जितने प्राणी प्रकट हैं, जितनी मूर्तियाँ दिखती हैं उन सब में हम अपना ही रूप देखें। भू-दान और ग्राम दान उसी का एक नम्र और छोटा-सा प्रयत्न है"—भावे विनोबा, ग्राम-दान, पृ० १३८।

भाव से समान हक समझ कर हाथ बँटाता है।[1] समग्र-ग्रामदान के विचार में केवल जमीन के दान से काम नहीं चलता है। इसमें जमीन, शक्ति, बुद्धि और संपत्ति सभी का दान संगठित रूप में होता है। चूँकि ग्राम-दान धर्म का विचार है अतः इसे सार्वभौम बनाने का प्रयास किया गया है। सामान्यतः दान की क्रिया में एक दाता और दूसरा ग्रहणकर्ता होता है। परंतु ग्रामदान में सभी व्यक्ति दाता और ग्रहणकर्ता दोनों होते हैं। विनोबा की दृष्टि में समाज का कोई भी व्यक्ति नास्तिमान् (have nots) नहीं है। सभी व्यक्ति आस्तिमान् (haves) हैं। परन्तु सभी के पास एक समान वस्तु नहीं है। अतः सभी को अपनी अपनी वस्तुओं का त्याग समाज के निमित्त करना ग्राम-दान में आवश्यक माना गया है। विनोबा कहते हैं— लोगों ने कल्पना कर रखी है कि समाज में कुछ आस्तिमान् हैं और कुछ नास्तिमान्। पर एक दिन मेरे ध्यान में आया कि इस दुनिया में कुल-के-कुल लोग आस्तिमान हैं। परमेश्वर की कृपा से दुनिया में नास्तिमान् कोई नहीं है। किसी के पास भूमि है, किसी के पास संपत्ति है, किसी के पास प्रेम। हर किसी के पास कोई न कोई चीज पड़ी है लेकिन उस चीज का उपयोग वह सीमित रूप से करता है।[2] ग्राम-दान का अभिप्रेत अर्थ है कि जिसके पास जो हो वह उसे ग्राम को समर्पित करे। नहीं तो यह होगा कि कुछ लोगों का धर्म देने का है और कुछ का धर्म लेने का। ऐसा नहीं हो सकता। धर्म वही है जो सबको लागू होता है। जैसे सत्य धर्म है तो वह सब पर लागू है, करुणा धर्म है, तो वह सब पर लागू है।[3] विनोबा के अनुसार मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपनी आवश्यकता के लिए एक दूसरे पर निर्भर है। अतः कोई भी व्यक्ति परमाणुओं की भांति एक दूसरे से अलग नहीं रह सकता। अतः उसमें सामुदायिक संवेदनशीलता का होना आवश्यक है। ग्राम दान में इसी सामुदायिक भावना के विकास का एक प्रयास है।[4]

ग्राम दान का आधार विनोबा का साम्य-योगी दर्शन है।[5] जैसा हम देख चुके हैं कि साम्ययोग में विभिन्न प्रकार के अपर साम्यों की स्थापना के बाद

१ उपरिवत्, पृ० १४७।

२ भावे विनोबा सुलभ ग्रामदान पृ० २६।

३ उपरिवत् पृ० १६।

4 Doctor, Adih, *Sarvodaya A Political And Economic Study* p 124

5 *Ibid*, p 124.

परम साम्य की अनुभूति होती है। ग्राम दान के द्वारा समाज में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा मानव व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के बीच सन्तुलन कायम करने का प्रयास किया जाता है। इन क्षेत्रों में सन्तुलन आने और वैषम्य मिटने पर ही व्यक्ति आध्यात्मिकता को प्राप्त कर सकता है। इसलिए ग्राम-दान के द्वारा समाज की विभिन्न प्रकार की शक्तियों के बीच सन्तुलन स्थापित किया जाता है। व्यक्ति समाज के लिए अपने को अर्पित करता है और समाज व्यक्ति को संरक्षण तथा विकास का सुअवसर प्रदान करता है। इनमें व्यक्ति और समाज के बीच सन्तुलन कायम रहता है। व्यक्ति में नित्य भोग की क्रिया चलती रहती है परन्तु समाज के लिए भोग और योग—दोनों चाहिए। भोग से सामाजिक शक्ति का क्षय होता रहता है। ग्रामदान में दोनों के द्वारा इन शक्तियों की क्षतिपूर्ति होती रहती है तथा सामाजिक सन्तुलन कायम रहता है।[१]

ग्राम-दान स्वभाव में रचनात्मक होने हुए भी इसकी प्रतिज्ञा नहीं करता कि वर्तमान समाज को यह तात्कालिक सुख दे देगा।[२] तात्कालिक सुख मिलना विचार क्रांति के उपयोग पर निर्भर है।[३] इसका मुख्य उद्देश्य समाज में मूल्य-परिवर्तन के द्वारा क्रांति लाना है।[४] यों रचनात्मक काम सरकार के द्वारा भी हो सकते हैं और उसमें तात्कालिक सुख भी मिल सकता है, परन्तु सरकार से मूल्य-परिवर्तन और विचार परिवर्तन का काम नहीं हो सकता। अतः विनोबा कहते हैं कि सुख प्राप्त करना एक चीज है और मूल्य-परिवर्तन दूसरी चीज। हां, शाश्वत सुख और मूल्य-परिवर्तन में कोई भेद नहीं है।[५] ग्राम दान में मूल्य-परिवर्तन का काम होता है क्योंकि इसमें सभी लोग समाज को अपने व्यापक परिवार का एक अंग मानकर अपना एक हिस्सा अर्पित करते हैं। यह उसी प्रकार होता रहता है जिस प्रकार नित्य भोजन का काम होता है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वामित्व को मिटाकर समाज पर सौंपते हैं। ये सभी मूल्य परिवर्तन के लक्षण हैं।[६] केवल कुछ कोश देना मूल्य परिवर्तन नहीं है। अतः दान में कितना मिलता है उसका महत्त्व नहीं है।

१ भावे विनोबा ग्राम दान, पृ० ८६ ८७।
२. उपरिवत्, पृ० १३९।
३ उपरिवत्, पृ० १४१।
४ उपरिवत्, पृ० १४०।
५ उपरिवत्, पृ० १४०।
६ भावे, विनोबा, ग्राम दान, पृ० १४०।

के विस भाव से मिलता है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें विचार-परिवर्तन का तत्त्व छिपा है। विनोबा का यह दृढ़ विश्वास है कि मूल्य परिवर्तन के द्वारा ही शान्तिमय तरीके से क्रांति हो सकती है। वे कहते हैं—'किसी भी प्रकार के बदल को क्रांति नहीं कहा जाता। क्रांति में तो बुनियादी या मूलभूत फर्क होना चाहिए, मूल्य बदलना चाहिए। मूल्य का जो बदल होता है वह शान्तिमय ही होता है, विचार से ही होता है। मार-पीट कर, आग लगाकर या धमका कर जो परिवर्तन किया जायगा, वह विचार परिवर्तन न होगा। चाहे वह बड़ा परिवर्तन हो तो भी वह क्रांति न होगा।''[1] क्रांति के लिए वे सिर्फ 'शीघ्रवाद'[2] को आवश्यक नहीं मानते हैं। यह ठीक है कि विचार-क्रांति जितना शीघ्र हो उतना अच्छा है। परन्तु 'शीघ्रवाद' के नाम पर गलत विचार को प्रश्रय नहीं दिया जा सकता ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अत्यन्त भूखे रहने पर भी हम रोटी के बदले जहर खाना पसन्द नहीं करते। ग्रामदान इसी अर्थ में क्रांति का विचार है। यह मात्र रचनात्मक कार्यक्रम का सूचक नहीं।

ग्राम दान एक नैतिक विचार है। विनोबा का यह विश्वास है कि भूमि और संपत्ति की मालकियत समाप्त होते ही समाज से झगड़-फसाद, मामला मुकदमा, चोरी डकैती आदि बुरे आचरण समाप्त हो जाएँगे। वे कहते हैं—'कोई क्या अपने घर में चोरी करता है? मनुष्य ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए ही पृथक परिवार और पृथक संपत्ति की सृष्टि की है। इसी व्यक्तिगत मालिकी के बोझ से समाज का नैतिक ह्रास हुआ है। एक भिखारी दो चार पैसे और कुछ साबुन के टुकड़े एक फटी थैली में जतन से बांधे रखता था। इसी प्रकार कोई कई आने, कोई कई रुपये और किसी ने हजारों रुपये अपनी अपनी थैली में रखे हैं। इस प्रकार मनुष्य ने अपना मन संकीर्ण किया है और अपना मकान भी संकीर्ण बनाया है। अर्थात् उसने अपने परिवार की धारणा को बहुत ही संकीर्ण कर रखा है। यही दुनिया के तमाम झगड़ों की जड़ है। जैसे ही भूमि और संपत्ति की मालिकी खतम हो जायगी तभी लोगों की और समाज के नैतिक मान की उन्नति होगी इसमें संदेह नहीं।'[3] इस प्रकार ग्राम-दान मानव के नैतिक विकास की उचित परिस्थिति के निर्माण का एक विनम्र प्रयास है।

---

१ उपरिवत्, पृ० १४०।
२ उपरिवत्, पृ० १८१।
३ भंडारी श्री चान्दमल ग्राम दान क्यों, पृ० २३।

ग्राम-दान एक मुक्ति का विचार है। जैसे पहले हम देख चुके हैं कि विनोबा के अनुसार "मैं" और "मेरा" का भाव ही बंधन का मूल है। व्यक्तिगत स्वामित्व के समाप्त होने से "मैं" और "मेरा" का भाव धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है तथा हमारे लिए मुक्ति का रास्ता साफ हो जाता है। सामान्यतः मुक्ति के लिए प्राचीन ऋषि-मुनियों ने गृहत्याग और सर्वस्व त्याग कर समाज से दूर जाकर रहने का उपदेश दिया। विनोबा इसे गलत मानते हैं क्योंकि गृहत्याग करने पर भी किसी न-किसी रूप में वासना रह सकती है चाहे वह लंगोटी या कमंडल पर ही क्यों न हो। अतः निषेधात्मक रास्ते से मुक्ति लाभ असंभव है। विनोबा कहते हैं—"साधारण रूप से जिसे घर कहते हैं उसे यदि हम अपना घर मानने को राजी न हों, तभी हमारी मुक्ति का रास्ता सुगम होगा। हमारा यह ज्वलंत विश्वास होना चाहिए कि सारा गांव हमारा घर है और जिस घर में हम साधारणतः वास करते हैं वह केवल हमारे अकेले के लिए नहीं है, बल्कि सबके लिए है। "मैं किसी के लिए नहीं हूं' और 'कोई मेरे लिए नहीं है'—इस भ्रांत धारणा के कारण मुक्तिलाभ संभव नहीं है। 'मैं सबका और सब मेरे"—यह बोध होगा तभी मुक्तिलाभ होगा।"[1] यह तो आध्यात्मिक मुक्ति की बात हुई। परंतु यदि सांसारिक रूप से भी विचार किया जाय तो ग्राम-दान के द्वारा "सरकार के दमन तंत्र", "पूंजी के शोषण" और "बंदूक के दमन"—तीनों से मुक्ति का मार्ग खुल जाता है।[2] ग्राम दान होने पर गाँव के प्रत्येक परिवार के बालिग सदस्य के द्वारा ग्राम-सभा की स्थापना होती है और ग्राम-सभा आपस में कुछ लोगों को चुन कर ग्राम-समिति का निर्माण करती है। गांव का सारा कार्य इन्हीं ग्राम-सभा और ग्राम-समिति के आधार पर होता है। फिर ग्राम-सभा से बढ़कर पंचायत सभा, प्रखंड सभा, जिला सभा, राज्य-सभा, राष्ट्र-सभा और विश्व-सभा की स्थापना का विचार आता है। इस प्रकार की व्यवस्था में जनता साक्षात् रूप से शासन में हाथ बटाने लगती है और धीरे धीरे उस सरकार के शासन और कानून से मुक्ति मिलने लगती है। दलगत राजनीति का स्वार्थवाद समाप्त होने लगता है तथा लोक शक्ति और लोक नीति का उदय होने लगता है। इस प्रकार शासन मुक्त समाज की स्थापना होने लगती है। इसी प्रकार ग्राम-दान होने पर ग्राम-कोश की स्थापना की जाती है, गांव की जमीन गाँव में ही

१ भंडारी, श्री चारुचंद्र, ग्राम दान क्यों पृ० २४।

२ रामपूर्ति, राज्य दान के बाद क्या ? ग्राम दान से ग्राम स्वराज्य, पृ० २३ २४।

रहती है गाँव की अपनी विकास योजना होती है, श्राद्ध, शादी-ब्याह आदि के अवसर पर सबका सहयोग मिलता है जमीन बेचने का अधिकार[1] ग्राम-सभा की अनुमति के बिना नहीं रहता है, गाँव के उत्पादकों के लिए गाँव में ही बाजार मिल जाता है—इन सब कारणों से किसी को कर्ज के लिए सेठ-साहूकारों के चंगुल में फँसने का मौका नहीं आता है और पूँजीपति के आर्थिक शोषण से मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार ग्राम शान्ति-सेना की व्यवस्था से लाठी और बन्दूक से मुक्ति मिल जाती है।

ग्राम-दान वस्तुतः आदर्श जनतन्त्र की नींव है। यहाँ जनतन्त्र केवल ढांचा के रूप में नहीं वल्कि जीवन व्यवस्था के रूप में रहता है। जनतन्त्र की नींव यदि हम परस्पर सहयोग मानें तो उसका प्रत्यक्ष दर्शन हम यहाँ मिलेगा। आज जनतन्त्र के क्षेत्र में प्रतिनिधि सत्तात्मकवाद के बदले भागीदारी की चर्चा चल रही है। ग्रामदान की व्यवस्था में हर व्यक्ति गाँव की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था में साझेदार होता है। यह साझेदारी केवल प्रशासनिक स्तर पर नहीं है वल्कि वास्तविक रूप में है। हर व्यक्ति अपनी जमीन का बीसवां हिस्सा अपनी फसल का ४० वाँ हिस्सा, अपनी नौकरी की आमदनी का तीसवां हिस्सा गाँव के विकास के लिए ग्राम-कोश में देने की प्रतिज्ञा करता है और ग्राम सभा ही उसके सार प्रबन्ध का भार लेती है। भला जनतन्त्र के लिए इससे सुन्दर कौन-सा वातावरण मिलेगा ? राजनैतिक-जनतन्त्र आर्थिक-जनतन्त्र के बिना ढकोसला है। यहाँ न केवल राजनैतिक और आर्थिक जनतन्त्र है बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक जनतन्त्र भी है।

ग्राम दान वर्तमान समाज की जातिनिष्ठा, सम्प्रदायनिष्ठा और क्षेत्रनिष्ठा के स्थान पर ग्राम निष्ठा की स्थापना करता है।[2] यह समाज की त्रिविध शक्ति—स्त्री शक्ति श्रम शक्ति और युवक शक्ति को वर्तमान समाज रचना की गुलामी से मुक्त करने का विचार देता[3] है क्योंकि ग्राम सभा में सभी को समान रूप से भाग लेने का अधिकार रहता है। आचार्य राममूर्ति कहते हैं—"स्त्री की शक्ति से समाज चलता है, मजदूर की शक्ति से पलता है और युवक की

१ ग्राम-दान को व्यावहारिक बनाने के लिए विनोबा ने सुलभ ग्राम-दान में उत्तराधिकार और खेती करने के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार किया है—देखें विनोबा का सुलभ ग्राम दान, प० ११।

२ भावे, विनोबा सुलभ ग्रामदान, प० ३१।

३ उपरिवत्, पृ० ३९।

शक्ति से बदलता है। लेकिन हमारी रचना में इनमें से कोई शक्ति मुक्त नहीं है। स्त्री की गुलामी पर परिवार चल रहा है मजदूर का गुलामी पर सत्ता चल रही है और युवक की गुलामी पर समाज चल रहा है। इन तीनों शक्तियों के मुक्त हुए बिना समाज परिवर्तन की बात सम्भव नहीं है।[1] ग्राम सभा की व्यवस्था होने पर इन तीनों का निर्णय का अधिकार मिलता है। सभी प्रकार की सामाजिक विषमता मिटती है और सब को सभी प्रकार के बन्धन से मुक्ति मिलती है। भूदान और ग्राम-दान के ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि ये भावात्मक सत्याग्रह के उदाहरण हैं। इनमें राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक पुनर्गठन के लिए प्रयास है। परन्तु सबमे अधिक बल समाज के मूल्य-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन पर है। ये सभी कार्य वर्तमान युग के सत्य हैं। विनोबा इसी सत्य की स्थापना का प्रयास अपने भूदान-ग्राम दान आंदोलन के द्वारा करते हैं। यहाँ हम संकीर्ण निष्ठाओं से ऊपर उठते हैं। इसमें एक ओर 'ग्राम स्वराज्य' की कल्पना तो दूसरी ओर 'जयजगत्' का आदर्श है।

(घ) निष्कर्ष गाँधी और विनोबा के सत्याग्रह सम्बन्धी विचारों के तुलनात्मक अध्ययन करने पर निम्न निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है—

१ गाँधी के सत्याग्रह में प्रतिकारात्मक और भावात्मक दोनों पक्ष सन्तुलित हैं। प्रतिकार का यहाँ अर्थ है अन्याय और बुराई का प्रतिकार। भावात्मक सत्याग्रह का अर्थ है समाज रचना के कार्य। गाँधी ने क्रान्तिकारी रूप से सत्याग्रह का प्रयोग राजनैतिक और सामाजिक बुराइयों के प्रतिकार में किया। परन्तु उनका मूल उद्देश्य सामाजिक रचना का था। विनोबा के सत्याग्रह में प्रतिकारात्मक पक्ष को गौण और रचनात्मक पक्ष को प्रधान माना गया है। इन्होंने व्यक्तिगत रूप में सत्याग्रह का प्रयोग विशेष रूप से आर्थिक सामाजिक क्षेत्र में किया है जिसने गाँधी के स्वतन्त्रता आंदोलन के बदले भूदान-ग्रामदान आंदोलन का रूप लिया है। गाँधी के समय में भी इनकी अभिरुचि रचनात्मक कार्य में अधिक और राजनैतिक कार्य में कम था।

२ गाँधी प्रतिकार का अर्थ तात्कालिक अन्याय का प्रतिकार या विरोध मानते थे। इसलिए उन्होंने अन्याय के प्रतिकार के लिए सत्याग्रह की व्यापक व्यूहरचना पर विशेष रूप से विचार किया। विनोबा प्रतिकार का अर्थ प्रतिपक्षी की बुराई को अपने हृदय में ढूँढना मानते हैं। अतः प्रतिकार के

१ भावे, विनोबा सुलभ ग्रामदान, पृ० ३९।

लिए अपनी ही आत्म-शुद्धि पर विशेष बल देते हैं। प्रतिपक्षी के अन्याय से जूझने के लिए किसी प्रकार की व्यूहरचना तैयार नहीं करते। चूंकि इन्होंने सत्याग्रह का प्रयोग रचनात्मक कार्यक्रम के रूप में किया है, इसलिए नवीन आर्थिक-सामाजिक रचना के लिए इन्होंने भूदान-ग्रामदान की व्यूहरचना पर विशेष रूप से विचार किया है।

३ गांधी के प्रतिकारात्मक सत्याग्रह में उपवास, कष्ट सहन और असहयोग मुख्य अंग हैं। विनोबा ने उपवास और कष्ट-सहन को सत्याग्रह के कार्यक्रम में उपयुक्त नहीं समझा है तथा इन्हें दबावपूर्ण माना है। इसलिए स्पष्ट रूप से इन्होंने बतलाया है कि यदि उपवास करना ही पड़े तो अंतिम अस्त्र के रूप में इसका प्रयोग करना चाहिए। कष्ट-सहन की नौबत आवे तो सहना चाहिए परन्तु सत्याग्रह के अस्त्र के रूप में इसका प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार उन्होंने अपने स्वराज्यशास्त्र (१९४१) में असहयोग का समर्थन किया है तथा निर्दोष शासन-पद्धति में इसका ज्ञान आवश्यक मानते हैं, परन्तु बाद के चिंतन में इन्होंने असहयोग के बदले अहिंसक-सहयोग की बात की है, भले ही असहयोग और अहिंसक सहयोग में कोई मौलिक अंतर न हो। इस प्रकार विनोबा ने गांधी के अन्याय के प्रतिकार पक्ष को क्षीण बना दिया है और अन्याय के मूल कारण के उन्मूलन पर विशेष रूप से बल दिया है। शायद इसीलिए स्वतंत्रता के बाद विनोबा ने कांग्रेसी सरकार के अन्याय के विरुद्ध कभी भी सत्याग्रह नहीं किया, भले ही सरकार की शिक्षा-नीति और राष्ट्रीय योजना की नीति में इनका विरोध रहा। ग्राम-दान कार्य में भी उन्होंने अन्याय के प्रतिकार के पक्ष पर परहेज की ही दिशा में अभिरुचि दिखलाई है। शायद ऐसा करना विनोबा जैसे व्यक्ति के लिए उचित भी है जो मुख्य रूप से रचनात्मक कार्य में विश्वास रखते हैं। रचनात्मक कार्य करनेवालों का समाज के सभी वर्गों और पक्षों का सहयोग मिलना आवश्यक होता है। यदि विनोबा सरकार के विरुद्ध असहयोग करते तो फिर दूसरी पार्टी वाले इसकी व्याख्या अपने मनमानी ढंग से करते। सत्ताधारी पार्टी का भी रचनात्मक कार्य में समर्थन नहीं मिलता। ऐसी परिस्थिति में सत्याग्रह आंदोलन सर्वोदय का आंदोलन नहीं हो सकता था। परन्तु इस नीति से एक घाटा भी हुआ कि अहिंसा के साथ वास्तव में शक्ति का संयोग नहीं हुआ। अहिंसा यूटोपिया बनकर रह गई, समाज का उचित मात्रा में परिवर्तन नहीं हो सका।

४ गांधी के सत्याग्रह की प्रक्रिया का विकास सौम्य से तीव्र और तीव्र से तीव्रतर एवं तीव्रतम रूप में हुआ है जिसके कारण उनके आंदोलन में कई जगह

हिंसा ने स्थान ले लिया जिसे गांधी ने स्वयं स्वीकार किया था। अपने जीवन के अंतिम काल में उन्होंने विशेष रूप से सौम्य सत्याग्रह का ही समर्थन किया। विनोबा ने सैद्धांतिक रूप से यह माना है कि सत्याग्रह की प्रक्रिया सौम्य, सौम्यतर और सौम्यतम होती है जिसमें विरोध कम एवं प्रेम तथा सहयोग उत्तरोत्तर रूप से बढ़ता जाता है। सत्याग्रह की इस प्रक्रिया में प्रतिपक्षी के ऊपर दबाव नहीं पड़ता और उसे सम्यक्-चिंतन में सहयोग मिलता है। यह ठीक है कि सौम्य, सौम्यतर और सौम्यतम सत्याग्रह का विनोबा कोई स्पष्ट रूप में शास्त्र नहीं बना पाये हैं। इसका आधार मुख्यतः 'अकर्म में-कर्म' की अनुभूति का सिद्धांत रहा है जो सचमुच संन्यासियों का ही अस्त्र हो सकता, सामान्य व्यक्ति का नहीं। परंतु सैद्धांतिक दृष्टि से गांधी की सत्याग्रह की प्रक्रिया से यह अधिक संगत और पूर्ण अहिंसा के नजदीक है।

५. जहाँ तक विधायक-सत्याग्रह का प्रश्न है, गांधी को इसके लिए विशेष मौका नहीं मिला। उन्होंने छिटफुट ढंग से कुछ समाज सेवा के काम को अपने रचनात्मक कार्य-क्रम में स्थान दिया। परंतु भावी समाज-रचना के अनुकूल रचनात्मक कार्य क्रम की न तो योजना दी और न दर्शन दिया। विनोबा ने छिटफुट रूप से होने वाले रचनात्मक और सेवा के कार्यों को संपन्न करनेवाली संस्थाओं को संगठित कर 'सर्व-सेवा-संघ' का रूप दिया तथा सभी प्रकार के रचनात्मक कार्यों को भूदान-ग्रामदान योजना में संगठित कर उनका दर्शन तैयार किया जिसमें गांधी की कल्पना के समाज का निर्माण और शोषण तथा अन्यायपूर्ण संस्थाओं का अन्त हो सके।

६. अंतिम रूप से यह कहा जा सकता है कि गांधी का ध्यान विशेष रूप से प्रतिकार और रचनात्मक कार्य क्रम की ओर गया था। परंतु सत्याग्रह की प्रक्रिया में विनोबा का ध्यान मूल्य-परिवर्तन पर अधिक है जो विचार परिवर्तन से ही संभव है। इन्होंने अपने भूदान-ग्रामदान के कार्य क्रम को भी मूल्य-परिवर्तन का काम ही माना है। इसके अनुसार मूल्य-परिवर्तन का निरपेक्ष मूल्य है। इसलिए विनोबा सत्याग्रह कार्यक्रम में त्वरित फलवादी दृष्टिकोण को कम और शाश्वत सत्य का विशेष विचार रखते हैं। इस प्रकार विनोबा के समस्त सत्याग्रह सिद्धांत को देखने से यह लगता है कि गांधी के सत्याग्रह को अधिक आध्यात्मिक, संगत, सूक्ष्म और रचनात्मक बनाने का श्रेय विनोबा को है। इस संबंध में यहाँ यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि विनोबा का विचार डॉ० राम मनोहर लोहिया के विचार से मौलिक रूप में भिन्न है। डॉ० राम

मनोहर लोहिया अन्याय के प्रतिकार पर विशेष बल देते हैं।[1] उनके लिए सत्याग्रह शांतिपूर्ण वर्ग संघर्ष है।[2] वर्ग संघर्ष और सत्याग्रह शक्ति-प्रयोग के दो भिन्न भिन्न रूप हैं।[3] केवल विचार-प्रचार और तर्क उनके अनुसार नपुंसक होता है इनमें शक्ति तभी आती है जब इनके साथ सिविल नाफरमानी जुट जाती है।[4] विचार प्रचार तो अमीरों के द्वारा हो सकता है जिनके पास प्रचार के साधन हैं। सामान्य जनता तो सत्य के लिए कष्ट उठाकर ही दूसरे के मन को बदल सकती है। वे गांधी के सत्याग्रह को इच्छापूर्ण नहीं मानते तथा विनोबा के इस विचार का खण्डन करते हैं कि 'सत्याग्रह का मतलब है विरोधी के दिल को बदलना और उसको नम्र करना तथा उसके अविकार को हटाना।'[5] इनके अनुसार सत्याग्रह का लक्ष्य 'सिविल-नाफरमानी करनेवाले और उनके दोस्त, जान-पहचानी पड़ोसी और आसपास के रहनेवाले लोगों का दिमाग बदलना है।[6] सिविल-नाफरमानी का एक अर्थ विरोधी के दिल से क्रोध को दूर करना है तो दूसरा अर्थ जनता के दिल की कमजोरी को भी दूर करना है।[7] डा० लोहिया के अनुसार गांधी के सत्याग्रह का एक पहलू प्रेम था तो दूसरा पहलू 'तर्जम्वत्ता का गुस्सा या गरीबी बेईमानी बदमाशी और जुल्म से गुस्सा करो और उसमें "लड़ो" का भी था।[8] विनोबा अपने

---

1 Jha Narmadeshwar "Satyagraha Growth of An Idea" *Relevance of Satyagraha For Modern Times*, (ed) Dr Ramjee Singh, p 10

2 Lohia Dr R m Manohar, *Marx Gandhi and Socialism*, p 385

3 Jha, Narmadeshwar Satyagraha Growth of An Idea', *op cit* p 10

४ लोहिया, राम मनोहर सिविल नाफरमानी : सिद्धांत और अमल, हैदराबाद, हिमायतनगर सोशलिस्ट पार्टी प्रकाशन, (६ जून १९५७ का भाषण), पृ० ८ ।

वही, पृ० ८ ।

६ लोहिया, राम मनोहर सिविल नाफरमानी सिद्धांत और अमल, पृ० ८ ।

७ उपरिवत् पृ० ८ ।

८ उपरवत्, पृ० ५२ ।

विचार मे दूसरे पहलू का स्थान नही देते है। वे सत्याग्रह का अर्थ सत्य को ग्रहण करने से लेते हैं। डा० राम मनोहर लोहिया सत्याग्रह का अर्थ सत्य के आग्रह से लेते है। उनके अनुसार वह सत्य सत्य नहीं है जिसमे "यह ताकत नहीं है कि वह अपने प्रभुत्व को जमा सके।'[१] उनके शब्दो मे— "क्या फायदा कि अगर हम अपने कमरे मे बैठ खुश हो लें कि हमने तो सच कह दिया, या लिख दिया, अगर उसके खिलाफ सारी कार्यवाही होती रहती है। फायदा तो तब होगा है जब सच के मुताबिक सरकार और समाज की कार्यवाही होती रहती है। इसलिए ताकतवर सच को ही सच कहा जाता है। यह सही है कि ताकतवर बनने के लिए संभव है काफी अरसे की मेहनत हो, तकलीफ उठाएँ और तपस्या करनी पड़े।'[२] सत्याग्रह वस्तुत उनके अनुसार सशक्त तर्क है जिसमे शक्ति और बुद्धि का समन्वय है।[३] इस प्रकार जहा पर विनोबा की व्याख्या मे सत्याग्रह की आध्यात्मिक शक्ति को प्रकट करने का विशेष प्रयास है वहा पर डा० राम मनोहर लोहिया की व्याख्या मे अन्याय के विरुद्ध जन शक्ति का आवाहन है। परन्तु दोनो ही व्याख्या वस्तुत अपूर्ण मानी जायगी। सत्याग्रह मे अन्याय का प्रतिकार और रचनात्मक कार्य दोनो सतुलित ढग से चलना चाहिए। परतु यह सत्य है कि दोनो ही बनार विचारक के व्यक्तित्व और मनोवृत्ति के प्रभाव मे अछूता नहीं रहता है। विनोबा की व्याख्या उनकी सन्यासवादी दृष्टि का परिणाम है तो डा० लोहिया की व्याख्या राजनैतिक दृष्टि का परिणाम है। विनोबा की व्याख्या सैद्धान्तिक है, राम मनोहर लोहिया की व्याख्या वस्तुवादी है। यदि दोनो ही व्याख्या का अविरोधी समन्वय हो तो सचमुच गाधी का विचार पूर्ण माना जायगा।

३ क्रांति-तन्त्र

(क) विषय प्रवेश पहले हम देख आये है कि स्थायी और प्रभावशाली क्रांति के लिए अहिंसा और प्रेम आवश्यक है। क्रांति की प्रक्रिया जोर-जबरदस्ती और दमन की प्रक्रिया नहीं है। यह विचार परिवर्तन और मूल्य-परिवर्तन के साथ अवियोज्य रूप मे जुड़ी हुई है। अत क्रांति के लिए मूल प्रश्न हिंसा और अहिंसा का नहीं बल्कि अहिंसा के सगठन का है। यदि क्रांति

१ उपरिवत्, पृ० ११।
२ उपरिवत्, पृ० ११।
3 Lohia, Dr Ram Manohar, *Marx, Gandhi and Socialism*, *Preface*, p 17

की प्रक्रिया अहिंसक प्रक्रिया है तो इसके तंत्र को भी अहिंसक ही होना चाहिए। परंतु प्रचलित प्रजातांत्रिक समाज व्यवस्था में भी क्रांति के तंत्र अहिंसक नहीं हो पाये हैं। राज्य जनतांत्रिक है परंतु उसके शासन-तंत्र राजतांत्रिक है। प्रयास क्रांति की होती है परंतु इसके साधन के रूप में हम सेना, पुलिस और संगठित दल का सहारा लेते हैं जिसका आधार ही हिंसा है। गाँधी और विनोबा ने इस विचार को चुनौती दी है। उन्होंने बतलाया है कि संगठन ही अहिंसा की वास्तविक कसौटी है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि क्रांति और समाज परिवर्तन के नाम पर क्रांतिकर्त्ता ही जनता पर हावी हो जाते हैं तथा उसका स्वत्व छीन लेते हैं। अतः क्रांति की प्रक्रिया के साथ साथ उसके संगठन को भी अहिंसक होना अनिवार्य है।

इसीलिए गाँधी और विनोबा ने किसी दल विशेष का निर्माण नहीं कर 'लोक सेवक संघ' और 'सर्वोदय-समाज' की स्थापना की जहाँ बहुमत के स्थान पर सर्वसम्मति का विधान है तथा सत्ता अधिग्रहण के बदले सेवा करने की भावना है। सर्वोदय-समाज वस्तुतः एक आध्यात्मिक भाईचारा है। इस आध्यात्मिक भ्रातृत्व के संदेशवाहक के रूप में हम शांति सेना, आचार्यकुल तथा नई तालीम को पाते हैं। ये तीनों अहिंसा के संगठन हैं। नई-तालीम के बिना नया समाज नहीं बन सकता। आचार्य-कुल के बिना नई तालीम नहीं चल सकती। शांति सेना के बिना शांतिमय समाज नहीं बन सकता।

हम अगले खण्ड में इन तीनों के आधारभूत दार्शनिक पक्षों पर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश डालेंगे—

(क) शांति सेना : सत्याग्रह इत्यादि धारणाओं के समान 'शांति सेना' शब्द भी गाँधी की अपनी मौलिक देन है। इस धारणा का विकास वर्तमान हिंसक राज्य की सेना तथा पुलिस-व्यवस्था के विकल्प रूप में हुआ है जिसके द्वारा समाज में अहिंसक तरीके से शांति की स्थापना की जा सकती है। गाँधी ने शांति-सेना को केवल विचार ही नहीं रखा बल्कि हिंदू-मुस्लिम दंगों में उसका प्रयोग भी किया था। वे स्वयं शांति सैनिक की तरह जिए और मरे। बिहार के साम्प्रदायिक दंगे तथा नोआखाली के दंगों में उन्होंने शांतिदूत की तरह कार्य किया। हिंसा के विरोध में अहिंसक नागरिक शांति का संगठन ही शांति सेना का उद्देश्य है। शांति सेना सेवा और शांति सृजन और रचना का संगठन है। हिंसक सेना से तुलना करते हुए गाँधी ने कहा है—'हिंसक-सेना सिर्फ उपद्रवों के समय ही कार्य प्रवृत्त रहती है। लेकिन

शांति-सेना उपद्रवों के समय के अतिरिक्त शांति के समय भी कार्य प्रवृत्त रहती है। शांतिकाल में शांति-सेना रचनात्मक कार्यों में लगी रहती है जिससे दंगों का होना ही असंभव हो जाता है। वह एम मौके की खोज में रहती है कि दोनों लड़ने-झगड़ने वाली जातियां सम्पर्क में लाई जाएं जिससे हर व्यक्ति, पुरुष और स्त्री, प्रौढ़ और बच्चे आपस में एक दूसरे के संपर्क में शांति से रहें। ऐसी शांति-सेना को किसी भी खतरे का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए और जनता के क्रोध को शांत करने के लिए आवश्यक परिमाण में उन्हें अपनी जान तक जोखिम में डाल देनी चाहिए। इस प्रकार के कुछ सौ या कुछ हजारों का ही शुद्ध बलिदान इन दंगों को हमेशा के लिए खत्म देगा।"[1] गांधी के निजी सचिव प्यारेलाल ने लास्ट फेज नामक पुस्तक में शांति सेना के व्यापक वैचारिक आधार को प्रस्तुत किया है। शांति सेना केवल हिंदू-मुसलमानों के झगड़े को शांत करने के लिए ही नहीं है इसका ध्येय तो शांतिमय समाज का निर्माण करना है। समाज की जड़ों में आज हिंसा समाई हुई है। चाहे वह परिवार हो या पाठशाला शासन हो या न्यायालय, सब का आधार हिंसा ही है। जनशक्ति ही सर्वोपरि है। दंडशक्ति वस्तुत हिंसा शक्ति ही है। हम यह सोचने को अभ्यस्त हो गये हैं कि हिंसा ही सब रोगों की दवा है। लेकिन इसका प्रतिफल क्या हुआ नागरिक शक्ति कमजोर पड़ती गई और वह दंड तथा सैन्य शक्ति के आगे झुकती गई। जनतंत्र भी वस्तुत दंड तंत्र बन गया। संसद में कानून भले ही बनते हैं लेकिन उनका परिपालन पुलिस और फौज ही कराती है। इसलिए गांधी ने अपनी आखिरी वसीयत में अपनी मृत्यु के ठीक एक दिन पूर्व लिखा था कि भारत के आजाद होने के बाद नागरिक शक्ति और सैन्य शक्ति के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी है। नागरिक शक्ति यदि कमजोर हुई तो फिर फौजी तानाशाही ऊपर आवेगी ही। इसलिए शांति सेना के संगठन के माध्यम से गांधी नागरिक-जीवन में पुलिस तथा सेना का कम से कम प्रयोग करना जनतंत्र और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए आवश्यक मानते थे। वे शांति सेना के माध्यम से समाज में शांति का मूल्य प्रतिष्ठित करना चाहते थे तथा समाज में भ्रातृत्व, सौहार्द्र और सेवा की भावना का प्रचार करना चाहते थे।

प्रश्न है शांति सैनिक की योग्यता क्या होनी चाहिए? चूंकि शांति-सैनिक समाज का आदर्श लोक शिक्षक है अतः उसके लिए अहिंसा में जीवित विश्वास,

---

१ शांति स्वर, (भागलपुर गाँधी शांति प्रतिष्ठान, १९७०), पृ० १२।

सर्व धर्म-समभाव, आस्तिक विश्वास, निस्पृह-सेवा, निष्पक्ष तथा आदर्श चरित्र, हर समय सजग, सचेष्ट और तत्पर तथा मैत्री स्थापित करने की क्षमता को आवश्यक माना है।[1] परन्तु जिस परिस्थिति में गाँधी ने 'शांति सेना' शब्द का निर्माण किया उस समय उतना गहरा अर्थ लोगों के समक्ष नहीं आ सका था। अतः न तो गांधी शांति सेना का व्यापक संगठन ही कर सके और न इसके बारे में कोई विशेष दर्शन दे सके। इस विचार को मूर्त और व्यापक रूप देने का श्रेय सन्त विनोबा भावे को ही है। जब केरल में विनोबा थे तब वहां की सामाजिक आर्थिक-राजनैतिक क्षेत्रों में व्यापक अशांति को देखकर उन्हें शांति सेना के संगठन की आवश्यकता का अनुभव हुआ और उन्होंने इसका विशाल दर्शन प्रस्तुत किया। कहना नहीं होगा कि इसका बीज गांधी के विचार में स्पष्ट रूप में विद्यमान था। विनोबा ने वर्तमान युग की समस्या को शांति की स्थापना की समस्या के रूप में देखा है। विज्ञान के भयानक अस्त्र शस्त्रों के आविष्कार ने विश्व-मानव को शांति-स्थापना की दिशा में प्रयास करने के लिए बाध्य किया है। अणु-युग में शांति की आकांक्षा मानव-सभ्यता की सबसे पवित्र धरोहर है क्योंकि विज्ञान ने हमारे सामने शांति का एकमात्र विकल्प सर्वनाश ही रख छोड़ा है। अतः आज समस्त विश्व में शांति की लहर देखने को मिल रही है। फ्रांस में आवेपियरे, नार्वे में प्रो० गालटुंग, जापान में फूजी गुरुजी, योरप में अनेकानेक शांतिवादी कार्यकर्ता, अमेरिका में मार्टिन लूथर किंग, इटली में डोलची तथा इंगलैंड में रसल आदि नेताओं ने शांति स्थापना की दिशा में अपना कदम उठाया। विनोबा ने भी इस दिशा में अपना प्रयास किया है तथा यह विश्वास प्रकट किया है कि विश्व में शांति की स्थापना युग की सबसे बड़ी अनिवार्यता है। शांति की स्थापना शांति के संगठन से ही होगी और शांति के इस संगठन को ही शांति सेना कहते हैं। शस्त्र के द्वारा शांति की स्थापना होना असंभव है।[2]

सामान्य रूप से 'शांति' और 'सेना' विरोधी पद माने जाते हैं क्योंकि एक अहिंसा और दूसरा हिंसा के सूचक हैं। परन्तु विनोबा 'सेना' के वैदिक अर्थ को स्वीकार करते हैं जिसमें इसका प्रयोग 'शक्ति' और 'संगति' के रूप में हुआ है।[3]

---

१ उपरिवत् पृ० ५८।

२ भावे, विनोबा शांति सेना (वाराणसी सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६५, सातवाँ संस्करण) पृ० ३१ ३२।

३ उपरिवत्, पृ० २६।

अत विनोबा के अनुसार मर-मिटने का तयारी से इकट्ठे लोग जिसमे सगति हो—सेना है।[1] सेना का स्वरूप आक्रमणकारी, गतिशील तथा प्रगतिशील है।[2] इस प्रकार सब मिलाकर यह 'शक्ति' सूचक है। विनोबा ने 'शाति सेना' म शाति और शक्ति का आपस म समन्वय किया है। शक्ति का यहाँ अर्थ है प्रेम और करुणा की नैतिक शक्ति। अत 'शाति-सेना' की धारणा म प्रेम और करुणा क आधार पर शाति स्थापित करने का विचार आता है।

विनोबा, प्रेम को शक्ति का रूप देना चाहते है। सभी प्रकार क प्रेम को शक्ति का रूप नही माना जा सकता है। कुछ प्रेम 'अनुगेधी प्रेम' होते हैं। अर्थात् यदि कोई हमसे प्रेम करता है तो हम उस पर प्रेम करते हैं। दूसरे शब्दो म यह भी कहा जा सकता है कि जिससे हमे लाभ होता है उसपर हम प्रेम करते हैं। इस प्रकार के प्रेम को बुरा नहा कहा जा सकता, फिर भी इसमे शक्ति की उम्मीद नही की जा सकती। यह एक प्रकार से बदले का बदला है। दूसरे प्रकार का प्रेम 'प्रतिरोधी प्रेम' होता है। अर्थात् कोई हमारी निंदा, शिकायत करता रहे, अहित करने के लिए तैयार हो, फिर भी हम उससे प्रेम करते हैं। इस प्रकार के प्रेम मे शक्ति होती है[3] तथा इसे जाग्रत करने के लिए क्षमाशीलता और सहनशीलता आवश्यक है। क्षमा को भी विनोबा न एक स्वतत्र शक्ति माना है[4] परन्तु यह रूप इसे तभी प्राप्त होता है जब इसम सहजता[5] होती है तथा चदन और स्पर्शमणि की भाँति काटनेवाले मे भी सुगध प्रदान करने तथा स्वर्ण बनाने की तत्परता रहती है।[6] क्षमा का अर्थ ही है 'द्वन्द्व-सहिष्णुता'[7] या सहनशीलता। सामाजिक कार्यों को करते समय दूसरे के द्वारा अनेक प्रकार की गलतियो का जाने-अनजाने होना सभव है। इस हालत मे उसे माफ करना और उसका अपने चित्त पर कोई बोझ नही रखना ही वास्तविक अर्थ मे क्षमा है। अपराधियो को दड नहीं देना, उनपर नही चिढना तथा अपराध को भूल जाना, नुकसान करनेवालो का भी गुण ग्रहण करना तथा मौका आन पर उसका उपकार करना तथा

१ भावे, विनोबा, शाति सेना, पृ० २६।
२ उपरिवत्, पृ० २७।
३ उपरिवत्, पृ० ३७ ३८।
४ उपरिवत्, पृ० ४१।
५ उपरिवत्, पृ० ४२।
६ उपरिवत्, पृ० ४२।
७ उपरिवत्, पृ० ४३।

उपर्युक्त क्रियाओं का सहज भाव में होना—क्षमा के विभिन्न सोपान हैं।[१] ऐसी ही क्षमा-शक्ति का रूप लेती है। शांति सैनिक की धारणा में समाज-परिवर्तकों के लिए ऐसे ही प्रेम और क्षमा की अपेक्षा की गई है जिससे समाज-परिवर्तन हो सके।

शांति-सेना के साथ करुणा-शक्ति भी जुड़ी है। विनोबा के अनुसार करुणा कभी भी जड़ नहीं होती है, वह आक्रामक होती है। इस प्रकार की करुणा के तीन गुण है—वह किसी की राह नहीं देखती, स्वयं दौड़ जाती है, वह भेद नहीं जानती, तथा स्वय-प्रेरणा (initiative) अपने हाथ में रखती है।[२] इस प्रकार की करुणा के आधार पर जो कार्य होते हैं उसका उत्तम रूप माता की करुणा में मिलता है।[३] विनोबा के अनुसार करुणा का रूप जो युद्ध के समय में मिलता है वह उसका दासी रूप है। करुणा का सच्चा रूप तो वह है जिसमें वह युद्ध को समाप्त कर देती है।[४] इस प्रकार की शक्तिमान करुणा की स्थापना के लिए ही शांति-सैनिक का विचार आया है। आज लाचारी की शांति नहीं आक्रामक-शांति की जरूरत है।[५] आक्रामक-शांति के लिए प्रेम, क्षमा और करुणा का होना अनिवार्य है। तभी समाज में वास्तविक, शांति की स्थापना हो सकती है। विनोबा के अनुसार समाज का पुराना रूप बदल गया है और विज्ञान का युग आया है। तरह-तरह के घातक अस्त्रों का निर्माण हो चुका है जिसके द्वारा घर बैठे ही समस्त विश्व का विनाश किया जा सकता है। अतः इस विज्ञान के युग में छोटे-छोटे शस्त्रों के आधार पर शांति की स्थापना की कल्पना ही बेकार है। ऐसे युग में मानव-हृदय के सूक्ष्म-परिवर्तन की आवश्यकता[६] है जो सत्य, प्रेम और करुणा के आधार पर ही हो सकता है। दूसरे शब्दों में आज शांति की स्थापना के लिए 'भाव समृद्धि' की आवश्यकता है। विनोबा ने बहुत ही रोचक ढंग से उदाहरण के सहारे इसे स्पष्ट किया है। वे कहते हैं—"मान लीजिए सौ क्रोधी पुरुष हैं। दूसरी ओर पचास ऐसे हैं जिन्हें क्रोध तो आता है, पर अहिंसा

१ भावे, विनोबा, शांति-सेना, पृ० ४४-४५।
२ शांति स्वर, पूर्ववत्, पृ० ११।
३ भंडारी, चारुचंद्र, ग्राम दान क्यों, पृ० २०७।
४ शांति स्वर, पृ० ११।
५ उपरिवत्, पृ० १२।
६ भावे, विनोबा, शांति सेना, पृ० ४०।

मे निष्ठा होने से वे उसे दबाये रहते है। बताइये इनके बीच किसमे हृदय परिवर्तन की शक्ति अधिक है ? फिर मान लीजिये कि पाच आदमी ऐसे है जिन्हे क्रोध तो आता ही नही बल्कि उनके हृदय मे सबके प्रति प्रेम और करुणा भरी है। बताइये इन तीनो मे किनका बल अधिक है ? स्पष्ट है कि पाच व्यक्ति सख्या मे कम होगे फिर भी उनके हृदय-परिवर्तन की शक्ति अधिक होगी। फिर यदि कोई ऐसा एक व्यक्ति हो जिसका सबके साथ तादात्म्य हो, और जो सबको अपना मित्र ही मानता हो तो वह उन पाचो से भी अधिक शक्तिशाली होगा। होमियोपैथी की दवा जितनी अधिक पीसी जाती है और मात्रा सूक्ष्म होती जाती है उतनी अधिक शक्तिशाली होती है। अहिंसा की प्रक्रिया भी ठीक ऐसी ही है। जितनी भावशुद्धि बढायेंगे उतनी ही हमारी शाति-सेना बलवान होगी। उसी से वह अधिक मजबूत होगी।[१]

शाति सेना मे विनोबा शाति और क्राति के समन्वय का दर्शन करते हैं। प्रचलित मत यह रहा है कि क्रातिवादी शातिवादी नही और शातिवादी क्रातिवादी नही होते। परन्तु वर्तमान समाज की आर्थिक रचना बदलने के लिए ऐसे शाति सैनिको की जरूरत है जो शातिवादी और क्रातिवादी—दोनो एक साथ हो।[२] जैसा हम पहले देख चुके है कि क्राति का अर्थ शातिमय क्राति है। इसके लिए विनोबा भूदान-ग्रामदान आदोलन खडा करते है। अत भूदान और ग्रामदान मालकियत समाप्त करने का क्रातिकारी कदम है। सर्वोदय कार्यकर्त्ता इसके लिए प्रयत्न करते है। परन्तु वे वर्तमान समाज मे असमता और विषमता के कारण उत्पन्न होनेवाली अशाति के प्रति भी उदासीन नही रह सकते। यदि वे शाति के कार्य के प्रति उदासीन रहते है तो वास्तव मे जनता के हृदय मे उनके प्रति विश्वास नही जम सकेगा और क्राति नही हो सकेगी। जनता के हृदय को जीतने के लिए यह आवश्यक है कि वह यह समझे कि विषमता की स्थिति मे भी सर्वोदय कार्यकर्त्ता उनके रक्षक है।[३] अत शाति-सेना नित्य रूप से सेवा और समाज रचना का कार्य करती है और आवश्यकता पडने पर नैमित्तिक रूप से जान की बाजी लगाकर भी शाति की स्थापना करती है।[४] इसलिए उसमे क्राति और शाति का सगम है। वर्तमान

१ उपरिवत् पृ० ४१
२ भावे, विनोबा, शाति सेना पृ० ६
३ उपरिवत् पृ० ५
४ उपरिवत्, पृ० १७

राज्य-व्यवस्था का आधार सेना और पुलिस है। अहिंसक समाज का लक्ष्य राज्य की शक्ति को कम कर लोक शक्ति का निर्माण करना है। ऐसे समाज में भी आन्तरिक सुरक्षा की आवश्यकता रह ही जाती है। यदि ग्राम दान के बाद ग्राम-स्वराज्य की स्थापना हो जाती है तो भी गाँव की आंतरिक सुरक्षा के लिए पुलिस के स्थान पर विकल्प चाहिये। अतः इस बात की आवश्यकता हो जाती है कि जनता अपनी शांति, सुरक्षा का भार भी स्वयं अपने हाथों ले तथा इसके लिए शांति-सेना का निर्माण जगह जगह पर हो। विनोबा ने कहा है—"जबतक लोग अपना भार न उठायें तबतक सरकार की शक्ति कम नहीं हो सकती"[1]

शांति सेना हिंसक-सेना से कई बातों में भिन्न है। शांति सेना की कार्य-क्षमता जनता के बीच परिचय और भ्रातृत्व भाव बढ़ाने में बढ़ती है।[2] परन्तु हिंसक सेना की कार्य दक्षता दूरी रखने में ही है। हिंसक-सेना का कार्य प्रायः तब होता है जब देश के आन्तरिक भाग या सीमा पर अशान्ति होती है। शान्ति की स्थिति में यह सेना बेकार बनी बैठी रहती है। अशांति के कारणों को दूर करने से इसका कोई भी मतलब नहीं रहता है परन्तु शांति सेना अशांति का प्रतिषेधक तथा प्रतिकारक दोनों प्रकार के कार्यों को करती है। अशांति का मूल कारण है विषमता, व्यक्तिगत मालिकी, ऊँच नीच का भेद-भाव जातिभेद, धर्म भेद तथा दलगत राजनीति इत्यादि। शांति सेना सदैव इन अशांति के कारणों को दूर करने का प्रयत्न करती रहती है जिसके कारण देश की चित्त शुद्धि होती है, स्नेहभाव बढ़ता है, भीतरी रक्षा के लिए कम खर्च करना पड़ता है, नैतिक शक्ति का विकास होता है तथा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभाव बढ़ता है, संघर्ष तथा युद्ध का खतरा टलता है।[4] इसी प्रकार अनवरत शांति के लिए प्रयत्न करने पर भी अशांति उत्पन्न हो जाती है तो उस समय शांति सेना उसका प्रतिकार करती है। इस प्रकार शांति सेना बेकार कभी नहीं बैठती। हिंसक-सेना के द्वारा अशांति का जड़मूल से पूर्ण और शाश्वत उपचार होता है। हिंसक सैनिकों के हाथों बन्दूक, तोप इत्यादि खतर नाक अस्त्र रहते हैं। शांति-सैनिक के पास एकमात्र प्रेम और सेवा का

१　उपरिवत्, पृ० १६
२　भावे, विनोबा, शांति सेना, पृ० १६
३　भंडारी चारुचन्द्र, ग्रामदान क्यों ? पृ० २०४
४　उपरिवत्, पृ० २०४

अस्त्र रहता है। हिंसक-सैनिक सेवाविहीन होते है। अत उनकी तुलना म शांति-सैनिक अधिक शक्तिशाली होते है। हिंसक-सैनिको को नाना प्रकार के अनुशासनो को मानकर चलना पडता है। शांति-सैनिक एकमात्र सत्य अहिंसा के अनुशासन से ही परिचालित होते है।[2] इसलिए जहा प्रथम में यांत्रिकता होती है वहाँ दूसरी पूरी स्वतंत्रता तथा स्वेच्छा से काय करती है। साधारण-सैनिको के पीछे वोट का तत्त्वार्जित आध्यात्मिक तथा वतन का वैषयिक आधार प्राप्त होता है।[3] अत इच्छा या अनिच्छा से कर के माध्यम से इसको सम्मति जनता द्वारा मिल जाती है। शांति-सेना म भी सेवा के लिए जनता के सम्मति-दान की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति 'सर्वोदय-पात्र'[4] के द्वारा होती है। सर्वोदय-पात्र शांति-सेना के लिए आध्यात्मिक और वैषयिक—दोनो आधार प्रदान करता है। इसके द्वारा घर घर मे प्रत्येक व्यक्ति की सम्मति मिल जाती है तथा दान की रकम से खर्च का निर्वाह भी होता है। सर्वोदय-पात्र के अतिरिक्त सूताजलि तथा सपत्ति-दान से भी रकम को प्राप्ति होती है। इस प्रकार शांति सेना का आधार पूरा नैतिक है।

शांति-सेना के प्रत्यय द्वारा विनोबा ने समाज-परिवर्तको के आवश्यक गुणो पर भी प्रकाश डाला है। शांति-सैनिको के चरित्र के सबंध म उन्होने लिखा है—(वह) 'सबके साथ समान नम्र मृदु, स्वच्छ निर्मल और शीतल होगा। पानी क्या करता है, ज्ञानेश्वर ने उसका सुन्दर वर्णन किया है। पानी तो इतना मृदु होता है कि आँखो म जाने पर भी तकलीफ नहा देता है। फिर भी सत्यनिष्ठ इतना कि पत्थर को फोडता है। वह सामने वाले पर प्रहार नही करता। पानी पत्थर पर गिरता है तो स्वय ही बूद बूद बनकर बिखर जाता है और पत्थर को फोडता है। वह बिन्दु बनता है जब नम्र होता है और उसकी मृदु, नम्र शक्ति म पत्थर टूटता है'[5] इसके अतिरिक्त निष्कामता, निःस्वार्थता। निष्पक्षता, निरपेक्ष-सेवा, दल-मुक्तता इसके आवश्यक लक्षण है।[6] वस्तुत जिन गुणो की विनोबा ने शांति-सैनिको के लिए अपेक्षा की है उसका पुलिस तथा सैन्य शक्ति म अधिक शक्तिशाली होना स्वाभाविक

१ उपरिवत्, पृ० २०४
२ मझारी, चारुचन्द्र, ग्राम दान क्यो ? पृ० २०४
३ उपरिवत् पृ० २०३
४ उपरिवत्, पृ० २०५
५ शांति स्वर पृ० १२
६ शांति स्वर, पृ० १०

है। पुलिस शक्ति तो विशेष दल या पार्टी से निर्मित सरकार के आदेश पर काम करती है। अतः उसमें निष्पक्षता, निःस्वार्थता की उम्मीद रखना ही बेकार है। इसलिए शांति-स्थापना में उसकी शक्ति प्रभावकारी नहीं हो सकती है। अनुभव भी इस बात को सिद्ध करता है। वर्तमान समाज में ऐसी स्थिति आयी है कि कोई भी व्यक्ति अपने वरिष्ठ अधिकारियों की न तो उपस्थिति से प्रभावित होता है और न उनके उपदेशों से। ऐसा इसलिए कि वे अनेक प्रकार की ग्रंथियों से ग्रस्त होते हैं। निष्पक्षता और अहिंसा की बात तो अलग है। वे बिना किसी हिचकिचाहट के अपने कुकृत्यों के नग्न नृत्य प्रस्तुत करते हैं। एक ओर भाषण में जातिवाद का विरोध करते पाये जाते हैं, दूसरी ओर जाति के नाम पर नियुक्ति तथा दल के टिकट का वितरण करते हैं। शायद यही कारण है कि प्रतिरक्षा और शांति पर अधिक खर्च करने पर भी अपेक्षाकृत अशांति बढ़ी है, अपराध बढ़े हैं, अनुशासनहीनता बढ़ी है और ऐसी स्थिति आती जा रही है जिसमें कहीं एक दिन राष्ट्रीयता, मानवता, सामाजिकता, धर्म तथा आध्यात्मिकता क्षुद्र स्वार्थ तथा विभिन्न प्रकार के वादों की भट्ठी में जल न जायें। इस प्रकार के सरकारी यंत्रों में दलगत सरकारों में यथास्थिति रखना तो कठिन है, समाज-परिवर्तन की बात ही दूर है। इसीलिए विनोबा ने एक दलमुक्त तथा निष्पक्ष सेवा वृत्ति-सम्पन्न शांति सैनिकों की अपेक्षा की है जो वास्तव में सामाजिक अशांति को दूर कर सकें। सर्वोदय की प्रतिष्ठा भी वस्तुतः शांति सेना के कार्य पर निर्भर है।[1] यदि शांति-सैनिक भी सेवा के स्थान पर स्वार्थ और सत्ता के पुतले होंगे तो शायद इनकी स्थिति सामान्य सैनिक से भी बदतर होगी। परिवर्तन सत्ताधारियों से नहीं सेवकों से होता है।

(ग) नई-तालीम

१ गाँधी विचार :

(क) विषय प्रवेश—समाज में क्रांति लाने के लिए शिक्षा में क्रांति लाना आवश्यक है। किसी भी राज्य व्यवस्था में चाहे वह जनतांत्रिक राज्य हो अथवा सर्वाधिकारी राज्य शिक्षा ही क्रांति का वाहन बनती है। गाँधी के सर्वोदय समाज की कल्पना में भी शिक्षा को समाज परिवर्तन का एक सक्षम यंत्र माना गया है। परंतु इनकी शिक्षा नीति सिद्धांत और व्यवहार दोनों दृष्टि से तथाकथित प्रजातांत्रिक और सर्वाधिकारी राज्य की शिक्षा नीति से भिन्न है। सर्वाधिकारी राज्य में तानाशाह अथवा राज्य नेता अपने

१ भावे, विनोबा : शांति सेना, पृ० २५

अभिप्राय की सिद्धि हेतु ही शिक्षा का जाल बुनता है। यहां शिक्षा जनमानस को प्रबुद्ध बनाने की अपेक्षा उसे राजनेताओं की स्तुति और प्रशंसा का यंत्र बना देती है। इसस राजा का हित भले ही हो जनसमूह का कल्याण होना अनिवार्य नहीं। प्रजातांत्रिक राज्य व्यवस्था में सिद्धांततः व्यक्ति के विचार-स्वातन्त्र्य का स्वीकारा जाता है और शिक्षा मुक्ति दायिनी प्रतीत होती है, परन्तु यथार्थतः इसमें कई प्रकार की परतन्त्रता उत्पन्न होती है जिसमें शोषण के लिए पर्याप्त रूप से स्थान रह जाता है। जहाँ प्रजातंत्र का आधार दलगत राजनीति मानी जाती है वहाँ शिक्षा को दलविशेष की नीति से जोड़ दिया जाता है। ऐसी शिक्षा सत्य से बहुत दूर हट जाती है तथा व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता के अनुभव से वंचित रखती है। इन राज्य व्यवस्थाओं में शिक्षा को विशेषकर विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों की चहारदिवारी में कैद रखा गया है। संपूर्ण समाज में शिक्षा का विस्तार नहीं होता। परन्तु यदि शिक्षा सबके लिए है और संपूर्ण जीवन के लिए है, तो इसे विद्यालयों और महाविद्यालयों की सीमा को पार कर समाज और जीवन के सच्चे परिवेश में प्रवेश करना होगा। यदि शिक्षा सचमुच जीवन के लिए है, तो हम पुस्तकों और पुस्तकालयों के कृत्रिम तथा सांकेतिक अभियंत्रों तक ही सीमित नहीं रखकर प्रकृति और परिस्थितियों के सच्चे संदर्भ में लाना पड़ेगा। प्रचलित शिक्षा पद्धतियों के द्वारा मिलने वाली शिक्षा निस्तेज, जड, यांत्रिक तथा कुंठित होती है जिससे मानव के समग्र व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो पाता है। यह समाज में बेकारी उत्पन्न करती है तथा अंतिम रूप से राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दासता को उत्पन्न कर समाज की सभी प्रगति को अवरुद्ध कर देती है। गांधी ने यह अनुभव किया कि प्रचलित शिक्षा में परिवर्तन लाये बिना नये समाज की कल्पना करना व्यर्थ है। अतः उन्होंने एक नई शिक्षा का आविष्कार किया जिससे शोषण, परतन्त्रता और विषमता को दूर कर अहिंसक समाज का निर्माण किया जा सके और वह है बुनियादी शिक्षा या नई-तालीम।

(ख) अंग्रेजी शिक्षा की समीक्षा —बुनियादी शिक्षा का जन्म प्रचलित अँग्रेजी शिक्षा की अर्थहीनता से होती है। गाँधी ने हिन्दस्वराज्य में अँग्रेजी शिक्षा की कटु आलोचना की तथा अँग्रेजी पाठ्य-ग्रन्थों के आधार पर मिलने वाली आकारिक और सांकेतिक शिक्षा को शिशु मनोविज्ञान के विरुद्ध पाया। उन्होंने यह अनुभव किया कि अँग्रेजी शिक्षा में उन वस्तुओं के लिए स्थान नहीं है जिन्हें बच्चे अपने घरेलू जीवन के साहचर्य से जानते हैं। पुस्तकों की

सारी चीजें उनके लिए अपरिचित होती हैं अत इनसे न तो वातावरण की वस्तुओं का ज्ञान मिल पाता है और न घरेलू जीवन के औचित्य और अनौचित्य को ही समझा जा सकता है। ज्यों-ज्यों बच्चे उच्च शिक्षा की ओर बढते जाते है वे घरेलू जीवन से दूर भागने जाते हैं। जीवन के अत मे ऐसी स्थिति आती है कि ग्रामीण जीवन म उन्हें कोई आनद नही मिलता। ग्रामीण जीवन की प्राकृतिक छटाओं से मिलने वाला ज्ञान सदा के लिए तिरोहित हो जाता है। बच्चे ऐसा समझने लगते हैं कि उनकी सभ्यता और सस्कृति क्रूर और अधविश्वासपूर्ण है जो व्यावहारिक रूप म बेकार है। इस प्रकार अँग्रेजी शिक्षा उन्हें पारपरिक सस्कृति से अलग कर स्वदेशी तथा राष्ट्रिय भावना का अत कर देती है। अत गाधी ने यह स्वीकार किया कि अँग्रेजी पाठ्य-ग्रथो के स्थान पर नये पाठ्य ग्रथो का निर्माण हो जिसमे बच्चो को घरेलू जीवन के वातावरण की वस्तुओ द्वारा ज्ञान प्राप्त हो।

गाधी शिक्षा को मात्र साक्षरता नही मानते। साक्षरता न तो शिक्षा का आरभ है और न अत। इसके प्रशिक्षण म नैतिक ऊँचाई मे एक इच की भी वृद्धि नही होती है। चरित्र निर्माण साक्षरता म बिल्कुल स्वतत्र वस्तु है। अँग्रेजी शिक्षा भारत जैसे कृषि प्रधान देश के नागरिको को केवल अक्षर-ज्ञान देकर तथा शरीर-श्रम की न्यूनता बतलाकर उन्हे भावी जीवन मे बेकार बना देती है।[1] इस प्रकार की शिक्षा से व्यक्ति पौरुषहीन असहाय तथा नास्तिक बन जाता है। वह लिपिक और भाष्यकार के अतिरिक्त कुछ भी नही बन सकता। उसकी स्वतत्र वृत्ति का विकास नही हो पाता। वास्तविक शिक्षा म शरीर-श्रम और स्वावलम्बन का समुचित स्थान मिलना चाहिए। अत शिक्षा को स्वावलबी तथा व्यावहारिक बनाने के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि उसमे छात्र अपनी शिक्षा का आशिक भार ही सही, उठा सकें तथा शिक्षण के माध्यम से ही वे भविष्य की आजीविका मे निपुणता प्राप्त कर सकें।

गाधी के अनुसार शिक्षण कोई बुद्धि विकास की एकागी प्रक्रिया नही है। इसमे बुद्धि विकास के साथ-साथ भावानुभूति और सौंदर्यानुभव के लिए भी उचित स्थान होना चाहिए। अँग्रेजी शिक्षा मे व्यक्तित्व के भाव और क्रिया पक्ष के लिए समुचित स्थान नही है। व्यक्तित्व के विकास के लिए पुस्तक से अधिक चरित्रवान तथा आस्थावान शिक्षकों की आवश्यकता होती

---

१ यग इंडिया, १९-१९२१, पृ० २७६।

है।[1] परन्तु निम्न कक्षाओ मे वैसे शिक्षक को नियुक्त किया जाता है जो समाज मे अन्य किसी कार्य के करने योग्य नही रह जाते। ऐसे शिक्षको से बच्चो मे राष्ट्रियता की भावना का विकास होना तथा उनका हृदय-परिवर्तन करना असभव है।

शिक्षण स्मरण और अनुकरण की भी यान्त्रिक प्रक्रिया नही है। गाधी के अनुसार अँग्रेजी शिक्षा से रटने तथा अनुकरण करने की प्रवृत्ति का विकास होता है। इसमे मस्तिष्क पर अनावश्यक रूप से तनाव पडता है तथा व्यक्ति की स्वतन्त्र चिंतन शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। इस प्रकार की शिक्षा का उपयोग न तो व्यक्तिगत जीवन म हो पाता है और न सामाजिक जीवन म ही। यह अपनी ही भूमि पर बच्चो को विदेशी बना देती है।[2] इससे मातृभाषा का विकास नही हो पाता। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि गाँधी अँग्रेजी शिक्षा का भारत भूमि से उन्मूलन करना चाहते है। वे अँग्रेजी भाषा के उचित महत्त्व को स्वीकार करते हैं। अतरराष्ट्रिय व्यापारो तथा राजनैतिक सबधो के ज्ञान के लिए तो इसका अध्ययन अनिवार्य मानते हैं। उनका केवल इतना ही कहना है कि अपनी स्वदेशी भाषा और सस्कृति के मूल्य पर अँग्रेजी को नही सीखना चाहिए। विश्वसस्कृति के विकास के लिए केवल अँग्रेजी ही क्यो, रूसी चीनी, अरबी, फ्रेंच आदि भाषाओ को सीखना भी अनिवार्य है।

गाँधी के अनुसार मानव की विचार-शक्ति का विकास समाज के सहज और बहुमुखी जीवन के सदर्भ मे होता है। अग्रेजी शिक्षा कृत्रिम, आकारिक तथा एकागी शिक्षा है। यहाँ ज्ञान को कर्म से अलग कर दिया गया है जिससे समाज मे अनावश्यक दरारें उत्पन्न होती हैं तथा उनसे शोषण और विषमता को पोषण मिलता है। ज्ञान को कम से अलग करने के कारण यह शिक्षा कई प्रकार के भेदभाव को उत्पन्न करती है। इससे श्रमिक और ज्ञानी, शिक्षित और अशिक्षित, वर्ग और समूह, धनी और गरीब इत्यादि के बीच अनावश्यक रूप से ऊँच-नीच का भेद भाव उत्पन्न होता है।[3] शिक्षा की भेदमूलक नीति से आर्थिक और सामाजिक विषमता का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जब तक व्यक्ति आर्थिक, सास्कृतिक, बौद्धिक, राजनैतिक तथा सामाजिक शक्तियो के

१ उपरिवत्, पृ० २७६।
२ उपरिवत् पृ० २७६।
3 Mukherjee, S N, *Education in India, Today and Tomorrow*, (Baroda, Acharya Book Depot, 1969) p 43

विकास के लिए समान सुअवसर प्राप्त नहीं करता तब तक अहिंसक समाज की स्थापना असम्भव है।

इस प्रकार गांधी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा भारतीयों के लिए अनुपयोगी है। वे कहते हैं—"यह भूल से धारणा किया गया और भूल से इसका जन्म हुआ क्योंकि अंग्रेजी शासक ईमानदारी से यह विश्वास करते हैं कि स्वदेशी पद्धति बेकार से भी बदतर है। इसका पोषण भी पाप में हुआ है, क्योंकि इसके पीछे भारतीय शरीर, मस्तिष्क और आत्मा को बौने बनाने का उद्देश्य रहा है"।[१]

गांधी की अंग्रेजी-शिक्षा-पद्धति की आलोचना को कई समसामयिक शिक्षा-शास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से स्वीकार कर बुनियादी शिक्षा का समर्थन किया है। पाउलो फ्रायरे के अनुसार शिक्षा स्वतन्त्रता के लिए सांस्कृतिक कार्य है, अतः यह ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया है न कि स्मरण की क्रिया। परन्तु, खेद की बात है कि शिक्षा की निर्यातवादी और यान्त्रिक पद्धति में ज्ञान की प्रक्रिया को इसकी पूर्णता में नहीं लिया जाता है। इसके बदले यहाँ शिक्षा की तटस्थता का दावा रखते हुए इसे जटिल पद्धतियों में परिणत कर दिया जाता है जिससे हमारी शिक्षा बाँझ हो जाती है।[२] प्रचलित शिक्षा मानव की स्वतन्त्रता के लिए सांस्कृतिक कार्य नहीं बल्कि उनपर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सांस्कृतिक कार्य रह गया है।[३]

वास्तविक स्वतन्त्रता तो मानव के कार्यों और चिंतन के संयोग में सन्निहित है जिसके द्वारा वह विश्व व्यवस्था में परिवर्तन लाता है।[४] वर्तमान शिक्षा

---

१ यंग इण्डिया, १७-८-१९२१।

2 "Education is cultural action for freedom and therefore, an act of knowing and not of memorization This act can never be accounted for in its complex totality by a mechanistic Theory Instead it reduces the practice of education to a complex of techniques, naively considered to be neutral, by means of which the educational process is standardized in a sterile and beaurocratic operation"
—Freire, Paulo, *Cultural Action for Freedom*, (Panguin books, 1972), introduction, p 13

3 Ibid p 76

4 "Liberation is a praxis, the action and reflection of men upon their world in order to transform it those

पद्धति तो एक बैंकिंग व्यापार है।[1] जिसमे कुछ इने गिने शिक्षक विद्यार्थी समूह के मतिष्क रूपी खाते म अपने संचित शब्दो, वाक्यो और अन्य सिद्धांता के स्मरण रूपी ज्ञान को जमा करते है। अत आधुनिक शिक्षा कथना के हस्तातरण व्यापार के बुखार से पीडित है।[2] इसमे न तो विद्यार्थियो की आलोचनात्मक[3] और सर्जनात्मक[4] शक्ति का विकास होता है और न उनका व्यक्तित्वीकरण[5] (Conscientization) ही हो पाता है। यह वास्तव मे एरिख फ्राम के शब्दो मे मानसिक संतुलन[6] समाप्त करने और अमानवीकरण[7] का यन्त्र रह गया है इस प्रकार अन्य कई युक्तियो के आधार पर फ्रायरे ने वर्तमान शिक्षा-पद्धति की आलोचना की है जो गांधी की आलोचना स बहुत कुछ साम्य रखता है।

इसी प्रकार इवान नी इलिच तथा अलविन टाफलर ने भी वतमान शिक्षा पद्धति की आलोचना की है। इलिच ने अपनी पुस्तक **डीस्कूलिंग सोसाइटी** मे वतमान शिक्षा की आलोचना की है जिसका आधार स्कूल और कॉलिज की आकारिक शिक्षा है। इनके अनुसार शिक्षा का अनिवार्य संबध स्कूल और कॉलिजो से ही नहा होना चाहिए बल्कि समाज के हर पहलुओ म पारस्परिक सहयोग के आधार पर शिक्षा व्यवस्था चलनी चाहिए। अनिवार्य स्कूली शिक्षा से वास्तविक जीवन की शिक्षा नही मिलती है, यह नागरिको को भविष्य के लिए तैयार नही करती तथा कई प्रकार की विषमताओ को जन्म देती है।

---

truely Committed to the cause of liberations can accept neither the mechanistic Concept of consciousness as an empty vessel to be filled, nor the use of banking methods of dominations (propganda slogans deposits) in the name of liberations"—Freire Paulo *Pedagogy of the Oppressed*, (Penguin Books, 1972) p 52

1 Ibid, p 46
2 Ibid, p 43
3 Ibid, p 48
4 Ibid, p 51
5 Ibid, p 48
6 Ibid, p 51
7 Ibid, p 52

उन्होंने कहा है—"Obligatory schooling inevitably polarizes a society, it also grades the nations of the world according to an international caste system"[1] अल्विन टॉफ्लर के अनुसार वर्तमान शिक्षा एक ही प्रकार के नागरिकों को तैयार करने का कारखाना है जिसकी उपयोगिता भावी समाज के लिए नहीं है। भावी समाज में जीने के लिए पराऔद्योगिक शिक्षा[2] का विकास होना चाहिए। आज यदि गांधी जिंदा होते तो शायद इन अमेरिकन विचारकों की शिक्षा-संबंधी सभी आलोचनाओं के प्रति सहमत होते। अब इनके शिक्षा संबंधी विचारों पर भावात्मक रूप से विचार करना अपेक्षित है।

(ग) बुनियादी शिक्षा के आधारभूत तत्त्व

१ सांस्कृतिक आधार—बुनियादी शिक्षा का मूल आधार मानव संस्कृति का निर्माण है। गांधी के अनुसार संस्कृति मानव आत्मा का एक गुण है जो उसके समस्त व्यवहारों में व्याप्त रहता है।[3] अतः शिक्षा का अर्थ है—मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में से उत्तम तत्त्वों का विकास करना।[4] सच्ची शिक्षा में व्यक्ति के शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक-सभी प्रकार की शक्तियों का विकास होता है।[5] यदि शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है तो साक्षरता इसके लिए केवल एक पहलू के रूप में रह जाती है, मात्र साक्षरता के आधार पर ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए कर्म के माध्यम से शिक्षा देना अनिवार्य है जिसमें मानव के हस्तकौशल के विकास के साथ-साथ बुद्धि और आत्मा का भी विकास होता है। उन्होंने कहा है—

---

1 Illich, Ivan D., *De Schooling, Society*, (Penguin Books, 1973), p 17

2 Toffler, Alvin, *Future Shock* (London, Pan Books Ltd, 1973) p 361

3 Patel, M S, *The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi*, (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1958) p 31

४ हरिजन, २१७ ३७, पृ० १९७

५ उपरिवत्, पृ० १९७

'मैं यह मानता हूं कि मस्तिष्क और आत्मा का सर्वोच्च विकास शिक्षा की इस व्यवस्था (हस्तकर्म) से सम्भव है। जरूरत यह है कि हस्तकर्म की शिक्षा को आज की भाँति यान्त्रिक तरीके से न देकर वैज्ञानिक पद्धतियों से दी जाय। अर्थात् बच्चे को 'क्यों' और 'कैसे' का ज्ञान प्रत्येक प्रक्रिया के लिए मालूम होना चाहिए।'[१] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गांधी के अनुसार शिक्षा में शारीरिक कार्य का होना गौण कार्य नहीं है बल्कि वह बौद्धिक प्रशिक्षण का मुख्य साधन है।[२] उन्होंने कहा है— आपको बच्चों को एक उद्योग या दूसरे प्रकार के उद्योग में प्रशिक्षित करना है। इस विशेष उद्योग के इर्द गिर्द ही आप उसके मस्तिष्क, शरीर, हस्त लेखन, तथा कलात्मक अभिरुचि इत्यादि को प्रशिक्षित कर सकोगे।[३]

गांधी के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य चरित्र निर्माण करना है। उन्होंने बतलाया है कि महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति में साहस, शक्ति, सद्गुण तथा अपने को भूलने की क्षमता का विकास होना आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा बच्चों में इस भावना का विकास होना चाहिए। इसी महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शास्त्रीय शिक्षा दी जाती है।[४] चरित्र निर्माण होने पर समाज में किसी के बीच आपस में विरोध नहीं रह जाता। किसी सामाजिक संगठन की आवश्यकता नहीं पड़ती। राज्यमुक्त समाज की स्थिति आ जाती है। चरित्र निर्माण का एकमात्र उपाय शिक्षक की आध्यात्मिक शक्ति है जो उनके जीवन और चरित्र के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।[५] आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत शिक्षक मीलों दूर रह कर भी शिष्यों के हृदय को जगा सकते हैं तथा उनकी जीवन पद्धति को बदल सकते हैं।[६] परन्तु चरित्र निर्माण तथा शारीरिक मानसिक विकास शिक्षा का अंतिम उद्देश्य नहीं है। अंतिम उद्देश्य तो मोक्ष की प्राप्ति करना है— सा विद्या या विमुक्तये।' अतः आत्मानुभव तथा ईश्वरानुभव ही शिक्षा का सर्वोपरि लक्ष्य है। आत्मानुभव तथा ईश्वर साक्षात्कार के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता साधनमात्र हैं। ईश्वर की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन दीन-दुखियों

१ उपरिवत् पृ० १०७
२ उपरिवत् पृ० २६१
३ उपरिवत्, पृ० २६१
4 Bose N K *Selections From Gandhi*, p 287
5 Gandhi M K *Towards New Education* p 22
6 Ibid, p 22

की सेवा है।[1] सच्ची शिक्षा मे आत्मानुभव और सेवा की भावना का विकास किया जाता है। अतः मानव की पूरी संस्कृति बदल जाती है।

समवाय पद्धति :

गांधी के शिक्षा सिद्धांत की सबसे प्रमुख विशेषता समवाय-पद्धति का समर्थन है। नई-तालीम मे समवाय-पद्धति के द्वारा शिक्षा का विधान किया जाता है। समवाय-पद्धति शिक्षण और जीवन की प्रक्रिया को दो नहीं मानकर एक अखंड प्रक्रिया मानता है। अतः जब इस पद्धति के द्वारा शिक्षा दी जाती है तो बच्चा शुरू से ही पूर्ण एवं अखंड जीवन जीना सीखता है। गांधी ने यह अनुभव किया कि वह शिक्षा कैसी जिसका जीवन के किसी भी पहलू के साथ अनुबंध न हो। इसलिए उन्होने शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति का प्रकृति पड़ोस पेट तथा परमात्मा के साथ अनुबंध स्थापित करने का प्रयास किया। इस प्रकार की शिक्षा मे व्यक्ति का सीधा संबंध व्यक्तिगत सामाजिक प्राकृतिक और आध्यात्मिक जीवन से होता है। अतः शिक्षा समग्र जीवन का रूप ले लेती है। समवाय-पद्धति मे ज्ञान और कर्म का आपस मे मेल स्थापित किया जाता है। गांधी के अनुसार मानव व्यक्तित्व शरीर मस्तिष्क और आत्मा का सामंजस्यपूर्ण संगठन या समवाय है।[2] जिस प्रकार मानव चैतन्य के चिंतन भावना तथा इच्छा त्रिविध रूप है, उसी प्रकार प्रत्येक कार्य के संपादन मे भी उसके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पहलू होते हैं। मनुष्य जब अपने चैतन्य के त्रिविध पहलुओ के साथ क्रिया के तीनों पहलुओं का संतुलन कर पाता है, तभी उसका व्यक्तित्व उन्नत होता है। अर्थात् क्रिया से अलग न तो बुद्धि का विकास संभव है और न बुद्धि विवेक के बिना कर्म ही संपन्न हो सकता है। उन्होने कहा है—'वास्तविक बौद्धिक शिक्षा शारीरिक अंगों जैसे हाथ पैर, आँख, कान नाक इत्यादि के समुचित अभ्यास तथा प्रशिक्षण के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। दूसरे शब्दों मे शारीरिक अंगों के विवेकपूर्ण व्यवहार से बच्चा मे सबसे तीव्र और सर्वोत्तम बौद्धिक विकास होता है। परंतु जब तक शरीर मस्तिष्क और आत्मा का विकास एक साथ नहीं हो जाता तब तक केवल बौद्धिक विकास एकांगी ही माना जायगा।'[3] यह सोचना कि शरीर बुद्धि और हृदय का विकास अलग अलग होगा, गलत है।

1 Ibid, p 39
2 Gandhi, M K *Towards New Education*, p 52
3 Ibid, p 50

गांधी के अनुसार मानव व्यक्तित्व के अनुकूल शिक्षा प्रणाली को भी समग्र होना चाहिए जिसमें आचरणवान शिक्षक हस्तकर्म और वैज्ञानिक दृष्टि का आपस में समन्वय हो। अत शिक्षण का माध्यम वातावरण की प्राकृतिक वस्तु तथा उत्पादक कर्म होना अनिवार्य है। वे अपनी शिक्षा नीति में विद्यालय तथा उद्योग शाला का समन्वय करना चाहते हैं। शिक्षण की यह पद्धति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अनुकूल है। कार्यों के माध्यम से शिक्षा देने से बच्चों के लिये यह एक प्रकार के खेल का आनंद देता है तथा उनके संवेगों, व्यवहारों तथा प्रवृत्तियों को तुष्ट करता है।[१] बच्चा विशुद्ध शैक्षणिक तथा सैद्धांतिक प्रशिक्षण के दबाव से मुक्त हो जाता है तथा उसके अनुभव के बौद्धिक और व्यावहारिक तत्त्वों में संतुलन स्थापित हो जाता है।

गांधी के इस समवाय पद्धति का समर्थन न केवल प्राचीन काल में जैन दार्शनिकों ने किया है[२] बल्कि कुछ अमेरिकन शिक्षा शास्त्रियों ने भी किया है। पाउलो फ्रायरे अलविन टाफ्लर तथा इमान इलिच शिक्षण-पद्धति में जीवन परिस्थितियों के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा पर विशेष रूप से बल दिया है। इस सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से शिक्षण पद्धतियों का विकास किया है।

आत्म-निर्भर शिक्षा

गांधी के अनुसार स्वावलंबन बुनियादी शिक्षा की सच्ची कसौटी है।[३] इसके बिना शोषण मुक्ति का काम नहीं हो सकता अत शुरू से ही बच्चों में इस भावना का विकास होना आवश्यक है। क्रियात्मक शिक्षण में आत्मनिर्भरता की भावना का विकास होता है। इसमें जीविका भी मिलती है और जीवन भी बनता है तथा बच्चों में आत्मविश्वास की भावना जाग्रत होती है। सचमुच बेकारी की समस्या को दूर करने का यह बहुत बड़ा बीमा है। समाज में

1 Patel M S *The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi*, P 177

२ "हय नाणं कियाहीन, हया अन्नाणओ किया। पासंतो पंगुलो दड्‌ढो धाव मानो य अंधओ"—उद्धृत विनोबा **जैन धर्मसार** (वाराणसी सर्वसेवा संघ प्रकाशन १९७३) पृ० १९

३ मजुमदार, धारेन्द्र **बुनियादी शिक्षा पद्धति** (वाराणसी, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, १९६२) पृ० ६३

निष्पक्ष और स्वतन्त्र शिक्षण के विकास के लिए शिक्षण संस्थाओं को अर्थ के संबंध में आत्मनिर्भर होना अनिवार्य है। स्कूल और उद्योग का आपस में संयोग होने से शिक्षण संस्थाएँ सरकार तथा सम्पत्ति वालों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होकर स्वाश्रयी बन सकती हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गांधी बुनियादी शिक्षा के द्वारा केवल आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। वास्तव में इसके अंतर्गत एक क्रांतिकारी विचार का बीज तत्त्व भरा है जो सामाजिक परिवर्तन का वाहन बन सकता है। आचार्य कृपलानी ठीक ही कहते हैं—"प्रस्तावित नई तालीम का लक्ष्य विद्यार्थियों में हस्तकर्म के द्वारा यांत्रिक तरीके से आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करना नहीं है। यहाँ जो प्रस्तावित किया गया है वह इससे भिन्न तथा क्रांतिकारी है जिसमें श्रम के उचित महत्त्व और विनम्र ईमानदारी पर आधारित आजीविका का विधान तो किया ही गया है, परन्तु यह इससे भी आगे जाता है जिसका प्रयोग पहले नहीं हुआ था"।[1] वास्तव में गांधी शिक्षा के निदेशन का माध्यम बदलना चाहते हैं। वे संपूर्ण शिक्षण के चरित्र और भाषा को बदलकर शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन लाना चाहते हैं।[2]

शिक्षा का सामाजिक पहलू

बुनियादी शिक्षा का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व इसका सामाजिक पहलू है। गांधी ने इसका अन्वेषण ही नए शोषण मुक्त विषमता-रहित अहिंसक समाज की रचना के लिये किया था। उद्योग के आधार पर शिक्षा देने से समाज से ऊँच नीच का भेद समाप्त हो जाता है। समाज की यह रूढ़ भावना कि बौद्धिक काम श्रेष्ठ और शारीरिक काम हीन है—समाप्त हो जाती है।[3] बौद्धिक काम करने वाले भी शारीरिक श्रम करते हैं और शारीरिक श्रम करने वालों को भी बौद्धिक कार्य करने का अवसर मिलता है जिससे समाज में एक प्रकार की क्रांति आ जाती है। ज्ञान और कर्म को अलग अलग करने से समाज में अनावश्यक वर्ग भेद उत्पन्न होते हैं। परन्तु जब ज्ञान और शरीर-श्रम को आपस में जोड़ दिया जाता है तो सम्मान और सुविधा की दृष्टि से सभी बराबर हो जाते हैं। ऐसे समाज में शोषण के लिए स्थान नहीं रह जाता।

---

१ Kribalani, J B, *The Latest Fad Basic Education*, (Sevagram Hindustani Talimi Sangha, 1954, 3rd edn) p 14

2 Ibid, P 14

3 Patel M S, *The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi*, p 24

आधुनिक शिक्षा शास्त्री-गण भी शिक्षा को सामाजिक क्रांति के परिप्रेक्ष्य मे अधिक देखते हैं। फ्रायरे अपने समस्या समाधान कारक शिक्षण के सिद्धांत मे तथा इवान इलिच अविद्यालयीकरण के सिद्धान्त मे शिक्षा मे सामाजिक समस्या पर विशेष रूप से विचार करते है तथा इसमे से अल्पमत के द्वारा बहुमत के शोषण को मुक्त करने का प्रयास करते हैं। यहां हम यह विचार करना है कि विनोबा ने गांधी के शिक्षा सबधी विचार को किस प्रकार आगे बढाया।

(२) विनोबा की देन विनोबा ने गांधी के शिक्षा सिद्धान्त को मूलत स्वीकार किया है और गाँधी की स्वावलम्बी शिक्षा को मूर्त रूप प्रदान किया हैं।[1] गांधी ने शिक्षा को समग्र व्यक्तित्व के विकास के साथ जोडा था और उन्होंने शिक्षा के माध्यम के रूप मे वातावरण की परिचित वस्तुओ के ऊपर विशेष ध्यान दिया था। ज्ञान के अतर्गत व्यक्ति के आतरिक परिवर्तन तथा उसके बाह्य उपकरण दोनो को उन्होंने स्वीकार किया। ऐकांतिक रूप मे बाह्य शिक्षा का उन्होंने निषेध किया। विनोबा इसके आधार पर शिक्षण की उचित परिभाषा करते हैं तथा आतरिक और बाह्य शिक्षण के बीच उचित सम्बन्ध का निरूपण करते हैं। उनके अनुसार शिक्षण का अर्थ जानकारी नष्ट होने पर बचे हुए संस्कार मे ही है, जो हमारे भीतर नही है उसका बाहर मे मिलना असंभव है।[2] इसका आधार साख्य का सत्कार्यवाद भी कहा जा सकता है। जिसमे जो तत्त्व नही है उसमे वह तत्त्व उत्पन्न भी नही हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि वास्तविक अर्थ मे शिक्षण भीतर ही भीतर होनेवाला शारीरिक मानसिक बौद्धिक या आत्मिक विकास का अत -शिक्षण है।[3] प्रकृति या पाठशाला मे मिलनेवाला बाह्य शिक्षण एक प्रकार से अभावात्मक है, उसका कोई स्वतत्र मूल्य नही है।[4] सभी प्रकार के शास्त्र सद्गुण और कलाये बीज रूप मे मानव मे स्वयसिद्ध हैं। उसमे पूर्णता की सारी सभावनाए है। शिक्षा का कार्य सकशक्ति के विकास के लिये बीच-बीच मे खाद्य पदार्थ देना अर्थात् उसके लिये अवसर प्रदान करना है।[5] यह 'उत्तेजक दवा न

---

1 Narayan Shriman *Vinoba His Life and Work* p 117

२ भावे *विनोबा, शिक्षण विचार* पृ० ११,

३ उपरिवत् पृ० ६

४ उपरिवत् पृ० ११

५ उपरिवत् पृ० ११

होकर प्रतिबन्ध निवारक उपाय है।[१] अत बाह्य शिक्षण आत्मविकास के लिए उपयोगी है परन्तु आत्मविकास की तुलना में वह अभावात्मक है। आत्म विकास सहज भाव से होता है।[२] यही वास्तव में शिक्षण है। इसमें हम बाहर से कुछ लादते नहीं हैं अत शिक्षण आनन्द का स्वाभाविक विषय है।[३] परन्तु वर्तमान शिक्षा-पद्धति में बाह्य शिक्षण का मूल्य आवश्यकता से अधिक बढ़ा दिया गया है जिसमे शिक्षा अस्वाभाविक विपरीत तथा हास्यास्पद हो गयी है।[४] बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर बेकार का बोझ लाद दिया जाता है जिससे बौद्धिक पेचिश होती है तथा उसकी नैतिक मृत्यु हो जाती है।[५]

विनोबा के अनुसार, सहज शिक्षण के लिए सच्चे शिक्षक की आवश्यकता पड़ती है जिसके पास रहने पर स्वयं शिक्षा मिलती रहती है।[६] इसके लिए जीवन और शिक्षण का कार्य साथ-साथ चलना अनिवार्य है जिसमें जीने की क्रियाओं में ही शिक्षा का विधान हो। सहज शिक्षण के लिए शिक्षा-पद्धति, पाठ्यक्रम' ये सब अर्थ शून्य शब्द हैं। विनोबा के अनुसार—'जब जीने की क्रिया से भिन्न शिक्षण नाम की कोई स्वतन्त्र क्रिया बन जाती है तब किसी विजातीय द्रव्य के शरीर में प्रविष्ट होने पर सभाव्य दुष्परिणाम की तरह शिक्षा का भी मन पर विषैला प्रभाव पड़ता है। कर्म की कसरत किये बगैर ज्ञान की भूख नहीं लगती और वैसी स्थिति में जो ज्ञान विजातीय रूप से भीतर घुस पड़ता है पचनेन्द्रिय में उसे पचाने की ताकत नहीं रहती'।[७] अत घरेलू वातावरण में शिक्षा मिलना आवश्यक है। उनकी राय में विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार शून्य बन जाता है।[८] इस प्रकार विनोबा गाँधी के शिक्षा सम्बन्धी मूल

---

१ भावे विनोबा, **शिक्षण विचार**, पृ० १४
२ उपरिवत् पृ० २१
३ उपरिवत्, पृ० १६
४ उपरिवत्, पृ० १४ १५
५ उपरिवत् पृ० २३
६ उपरिवत्, पृ० २४
७ उपरिवत् पृ० ६२
८ उपरिवत्, पृ० ६२

विचार का दार्शनिक आधार रखते हैं। इसी आधार पर नई-तालीम की शिक्षा-पद्धति का निर्माण होता है।

विनोबा के अनुसार शिक्षण और ज्ञान का मूलभूत विचार अनादि और अनन्त है जिसे नया नहीं कहा जा सकता। परन्तु समय-समय पर विचार मन्द पड जाता है, अत नये युग के अनुरूप उसे उस रूप म प्रकाशित करना पडता है।[१] इसी अर्थ मे 'नई-तालीम' शब्द सार्थक है। नई-तालीम को वे "नित्य नई-तालीम"[२] की सज्ञा देते हैं जो अनुभव के आधार पर रोज बदलनेवाली तालीम है। नये समाज की रचना के लिए नई-नई तालीमो की भी आवश्यकता पडती है। नई तालीम नय समाज की रचना करनेवाली तालीम है।[३] यह विद्रोह की दीक्षा है।[४] यह कोई तन्त्र नहीं बल्कि विचार है तथा एक प्रकार का जीवन-दर्शन है।[५] नई-तालीम का दार्शनिक आधार यह है कि वर्तमान जीवन मे जिस वस्तु की आवश्यकता हो केवल उसी वस्तु का ज्ञान उस समय देना चाहिए।[६] जिस प्रकार आगे की भूख मिटाने के लिए एक ही दिन सब खाना नहीं खाते, उसी प्रकार आगे के जीवन म काम आनेवाले ज्ञान के प्रशिक्षण की आवश्यकता भी वर्तमान म नही होती है। अत नई-तालीम एक ओर वर्तमान की आवश्यक वस्तुओ के ज्ञान की उपासना करता है, तो दूसरी ओर अनावश्यक वस्तुओ के अज्ञान का भी सग्रह करता है। इस प्रकार के ज्ञान और अज्ञान के सग्रह को यह आत्म-दर्शन के लिए आवश्यक मानता है।[७] नई-तालीम के त्रिविध कार्यक्रम हैं—प्रकृत ज्ञान, ज्ञान शक्ति सम्पादन तथा आत्मज्ञान।[८] प्रकृत-ज्ञान का अर्थ है स्वाभाविक आवश्यकतानुरूप ज्ञान। ज्ञान शक्ति-सपादन का अर्थ है आगे समय-समय पर आवश्यक

---

१ उपरिवत् पृ० २२८

२ उपरिवत्, पृ० १२४

३ उपरिवत्, पृ० ८४

४ नई तालीम १९, १२ (जुलाई १९७१) पृ० ५३२

५ भावे विनोबा, शिक्षण विचार, पृ० ९९

६ उपरिवत्, पृ० ७०

७ उपरिवत्, पृ० ७४

८ उपरिवत्, पृ० ७६

होनेवाले ज्ञान के लिए शक्ति सपादित करना तथा आत्मज्ञान का अर्थ है अन्दर छिपे हुए स्वयभू ज्ञान को व्यक्त करना।

नई-तालीम केवल शिक्षार्थी की अवस्था विशेष मे ही नही लागू होती बल्कि यह शुरू से अन्त तक के शिक्षण मे लागू होती है।[१] इसके अन्तगत सभी व्यक्तियो के लिए शिक्षण का विधान है चाहे वह देहात म रहनेवाला हो या शहर मे, चाहे वह बुद्धिजीवी हो या कृषक, चाहे वह धनी हो या अमीर। अत नई-तालीम एक समग्र विचार है। गाँधी ने अपने शिक्षण सिद्धान्त म विशेष रूप से ७ १४ वर्षो तक के शिक्षण का ही विचार किया था। विनोबा सपूण जीवन के शिक्षण का विचार करते हैं। विनोबा के अनुसार नई-तालीम एक प्रकार का आध्यात्मिक शिक्षण है। इसम देह से भिन्न आत्मा के ज्ञान का विचार रहता है[२] तथा ज्ञान से कम, कम से ज्ञान और दोनो से चित्त विकास तथा समाधान'[३] के विचार म इसकी दृढ आस्था है। अत इस प्रकार के शिक्षण मे केवल ज्ञान और कम शक्ति के विकास का ही विधान नही है बल्कि चित्त की सपूण शक्ति और गुणो के विकास की अपेक्षा है।[४] सेवा के द्वारा ज्ञान और ज्ञान के द्वारा सेवा[५]—इसका अपना आदश है। उद्योग के द्वारा ब्रह्मविद्या की सिद्धि इसका लक्ष्य है।[६] साम्ययोग और स्वावलम्बन—दोनो की इसम प्रतिज्ञा है।[७] चूँकि शिक्षा मुक्ति-दायिनी है अत इसमे चित्त विकार का उन्मूलन, तथा स्वतत्र स्वावलम्बी स्वयभू प्रज्ञा का भाव है।[८] राजनीतिक-सत्ता स शिक्षा को स्वतत्र रखने का प्रयास है।[९] सामाजिक क्रान्ति के वाहक के रूप म यह वर्तमान समाज की आर्थिक रचना का विरोधी है तथा उसके परिवतन का प्रयास करता है। यह हमेशा अपने को अहिंसक-क्रान्ति के अनुकूल बनाता है,[१०] अत इसमे किसी प्रकार की रुढता नही है। यहा विनोबा का गाँधी से मतभेद है। गाँधी नई

१ उपरिवत्, पृ० ९४
२ उपरिवत् पृ० ८९
३ उपरिवत्, पृ० १२२
४ उपरिवत् पृ० ८७
५ उपरिवत् पृ० २६५
६ उपरिवत् पृ० २१५
७ उपरिवत् पृ० २२९
८ उपरिवत् पृ० २६६ ६७
९ उपरिवत् पृ० २८३
१० उपरिवत्, पृ० १५१.

तालीम को ग्रह और चर्खे को सूय के समान मानते थे।[१] अर्थात् उनके लिए चर्खे की प्रधानता थी। परन्तु विनोबा नई-तालीम की प्रधानता को स्वीकार करते है। वे इसकी तुलना शेषनाग मे करते है जिसपर सारे रचनात्मक कार्य टिके है। फिर नई-तालीम मे साम्ययोग का दर्शन तथा इसके आध्यात्मीकरण पर जोर, विनोबा की देन है।

विनोबा के अनुसार नई-तालीम और पुरानी-तालीम में वस्तुत मूल्य का भेद है।[२] पुरानी-तालीम केवल चोरी को पाप समझती थी, नई-तालीम मे सग्रह को भी पाप माना जाता है। उसमें शारीरिक और मानसिक परिश्रमो के मूल्य मे अन्तर है। नई-तालीम दोनो के नैतिक मूल्यो को समान मानती है और ऐसा समझकर दोनो का समन्वय करती है। पुरानी-तालीम क्षमता की उपासना करती है, नई-तालीम "क्षमता" को "समता" की दासी मानती है। पुरानी-तालीम लक्ष्मी, सरस्वती तथा शक्ति की उपासना अलग-अलग देवता के रूप मे करती है, नई-तालीम मानवता की सेवा के लिए इन्हे साधन मानती है।[३] इस प्रकार विनोबा के लिए नई-तालीम वस्तुत मूल्य-परिवर्तन का वाहक है जिससे समाज में वास्तविक क्रान्ति आती है। गाँधी की बुनियादी-शिक्षा के पीछे भी यही भाव था। परन्तु गाँधी इस प्रकार से अपने मतव्यों को स्पष्ट नही कर सके थे जिस काय को विनोबा ने किया है।

विनोबा ने नई-तालीम के सम्पूर्ण विचार को चार बिन्दुओ के अन्तगत रखा है जिसपर विचार करना अनिवार्य है। ये हैं—(१) शिक्षा की स्वायत्तता, (२) योग, (३) उद्योग, और (४) सहयोग। शिक्षा की स्वायत्तता के ऊपर हम आगे आचार्यकुल के सदर्भ मे विचार करेंगे। अत यहाँ पर उसके ऊपर विचार करना अपेक्षित नही है। बाकी तीनो पर हम एक-एक कर विचार करें।

(क) योग विनोबा के अनुसार वतमान शिक्षा-पद्धति मे योग, उद्योग तथा सहयोग—तीनो की नितान्त आवश्यकता है। योग का अर्थ आसन और

---

१ उपरिवत्, पृ० २३५-३६

२ उपरिवत्, पृ० १४६

३ उपरिवत्, पृ० १४७

व्यायाम नहीं है। योग इन्द्रिय मन, जिह्वा तथा चित्त पर अंकुश रखने की कला है।[१] दूसरे शब्दों मे स्थितप्रज्ञता की सिद्धि ही योग का लक्ष्य है। विनोबा वर्तमान युग में इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता मानते हैं। आज विज्ञान के युग मे इन्द्रिय, मन तथा विचारों पर अनेक प्रकार के आक्रमण होते हैं। इस स्थिति मे चित्त को शान्त और स्थिर रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। योग की सिद्धि के लिए वे आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन सर्व धर्म-समभाव की दृष्टि से आवश्यक मानते हैं।[२] धर्म निरपेक्षता के नाम पर धार्मिक-ग्रंथो के निखिल ज्ञान का लाभ नहीं लेना उनके अनुसार गलत है। यह ठीक है कि इन ग्रंथो मे कुछ अंश युग के लायक नहीं है। उन अंशो को निकाल कर उपयोगी अंशो का अध्ययन किया जा सकता है। विनोबा का यह विश्वास है कि पुराने धर्म-ग्रंथो का महत्त्व आधुनिक युग मे भी अधिक है क्योंकि होमियोपैथ की दवाई की भाँति उनकी "पोटेन्सी बढ़ी हुई है।"[३] "काल पुरुष की परीक्षा" मे ये स्पष्ट हो चुके है जिस कारण इन ग्रंथो की उपयोगिता आज रह गई है। अत योग की साधना मे इनका अद्भुत लाभ मिल सकता है। दूसरे शब्दों मे यह कहा जाए कि अध्यात्म का ज्ञान जो आधुनिक युग की आवश्यकता है इन ग्रंथो मे मिल सकता है। अत आधुनिक शिक्षा मे इनका स्थान रहना अनिवार्य है।

(ख) उद्योग उद्योग का अर्थ केवल चरखा या तकली नहीं है। इसके अन्तर्गत आधुनिक यन्त्र वर्कशाप इत्यादि भी आते हैं। परन्तु उद्योग मे कृषि-तत्त्व अनिवार्य वस्तु है।[४] अत विनोबा ज्ञानी, पण्डित, बुनकर, यहाँ तक कि प्रधान मन्त्री के लिए भी कुछ समय तक खेती का कार्य करना आवश्यक मानते हैं।[५] उनका यह विश्वास है कि खेती के द्वारा प्रकृति के साथ सम्पर्क होने से दिमाग सदैव ताजा बना रहता है तथा मनुष्य की सूझ बढ़ती है। वे नेहरू के 'नेशनल स्टैण्डर्ड होने की दूज काटेक्ट विथ नेचर' मे दृढ़ विश्वास रखते हैं। इसलिए प्रत्येक शिक्षा संस्थान मे कुछ एकड़ जमीन रहना

१ भावे विनोबा शिक्षा के आधार योग उद्योग, सहयोग' सर्वोदय साप्ताहिक १९,८ (नवम्बर १९७२) पृ० १२१

२ उपरिवत् पृ० ५०६

३ उपरिवत्, पृ० ५०६

४ उपरिवत् पृ० ८४०

५ उपरिवत् पृ० १८०

अनिवार्य मानते हैं जिसमे शिक्षक और विद्यार्थी दोनो का कार्य कर सकें। सृष्टि के सौन्दर्य और समाज के सौजन्य (अभियोजन का स्वभाव) दोनो के मिलने से जीवन पूर्ण बनता है।[१] उद्योग और कृषि के पीछे यही दर्शन है। वस्तुत उद्योग के द्वारा विनोबा विज्ञान की उपासना करना चाहते हैं जो आधुनिक युग के लिए अनिवार्य है।

(ग) सहयोग सहयोग मे विभिन्न प्रकार की विषमताओ के बीच भी सहजीवन[२] की शिक्षा आती है। आज के शिक्षण म हर व्यक्ति को यह अनुभव करना आवश्यक है कि वह विश्वमानव है। कम-से-कम भारतीयत्व का भी अनुभव करना अपेक्षित है। उसे यह मानना है कि सारी सृष्टि एक है, विश्व के सभी मानव, पशु-पक्षी एक हैं। अत विश्व के साथ एकरूपता स्थापित करने का विधान आधुनिक शिक्षा मे होना चाहिए। सहयोग की वृत्ति के विकास के लिए वे गुण ग्रहण तथा दोष नही देखना दोनो आवश्यक मानते हैं। वे इसे "गुण चुम्बक-वृत्ति"[३] की सज्ञा देते है। अर्थात् दूसरो के गुणो को ही चुम्बक की भांति खीच लेने म सहयोग की वृत्ति का विकास हो सकता है, छिद्रान्वेषण म नही। दूसरो के दोषो पर ही विचार करने पर जाति, धर्म, रंग और भाषा के नाम पर समाज टूटेंगे, जिसमें सहयोग स्थापित नही हो सकेगा। विज्ञान के युग के लिए सहयोग की नितान्त आवश्यकता है। इसके बिना समाज कायम ही नही रह सकता है। अत विनोबा इसके अन्दर मानते समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान का देखते हैं। —

निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि गांधी ने बुनियादी शिक्षा का विचार दिया, विनोबा ने उसका ढाचा भी तैयार किया। विनोबा ने गांधी के बिखरे हुए शिक्षा-सम्बन्धी विचारो को शास्त्रीय रूप प्रदान किया। गांधी की शिक्षा मे देहाती जीवन का ही एक प्रकार से समर्थन है। विनोबा ने आधुनिक यत्रो, वैज्ञानिक आदि का स्थान देकर शिक्षा को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। गांधी की शिक्षा-पद्धति मे हस्तकर्म और आत्मनिर्भरता पर अधिक बल दिया गया है। विनोबा के शिक्षण मे खेती, चित्त सयम तथा सहयोग

१ भावे, विनोबा, "शिक्षा के आधार योग, उद्योग, सहयोग", सर्वोदय, साप्ताहिक, १९,९ (नवम्बर, १९७२), पृ० १४०

२ उपरिवत्, पृ० १४०

३ उपरिवत्, पृ० १४१

का विशेष रूप म स्थान तो दिया ही गया है, शिक्षा संस्थानों मे अध्यात्म के साथ उद्योग और विज्ञान का योग इनकी मौलिक देन है।

गाँधी ने नई-तालीम मे विशेषकर बाल-शिक्षण को ही अपना केन्द्र विन्दु माना था। व सामूहिक शिक्षण पर विशेष रूप स विचार नही कर सके थे। विनोबा ने नई-तालीम के अन्तगत बाल शिक्षण से अधिक लोक शिक्षण पर विचार किया है। वे हृदय-परिवतन के द्वारा समाज-परिवतन करना चाहते है जिसके लिए विचार-परिवतन अनिवाय है। विचार-परिवर्तन तथा नये मूल्यो के प्रतिष्ठापन के लिए लोकशिक्षण ही एकमात्र उपाय है। उनका यह दावा है कि लोकशिक्षण के द्वारा ही ग्राम स्वराज्य की स्थापना की जा सकती है। अपने ग्रामदान के काय को वे लोकशिक्षण का काय ही मानते हैं। यदि गाँधी के स्वातत्र्य आदोलन को लोकशिक्षण के रूप मे मान लिया जाय, तो उनके जीवन-दर्शन मे उत्तम विचारो के प्रचार के साथ-साथ गलत विचारो और व्यवस्थाओ के प्रति सक्रिय प्रतिकार भी सन्निहित है। जे० पी० अपन लोक-शिक्षण विचार म ऐसा ही मानत हैं। विनोबा, विचार को ही सामाजिक शक्ति का रूप दना चाहत हैं। समाज मे नय चित्त का निर्माण कर अक्षोभ मन की स्थिति उत्पन्न करना चाहत है। इसलिए आलोचनात्मक प्रवृत्ति तथा असहयोगी प्रतिकार मे इनकी अपनी विशेष अभिरुचि नही है, यद्यपि वैचारिक रूप से असहयोग के महत्त्व को अस्वीकार नही करते। शायद इसीलिए वर्तमान शिक्षा को बेकार मानते हुए भी इस व्यवस्था के प्रतिकार के लिए उन्होने अपनी ओर से कोई कदम नही उठाया।

गाँधी ने शिक्षा को अधिक-से-अधिक जनतान्त्रिक बनाने का प्रयास किया अवश्य परन्तु उन्होंने अपनी नई-तालीम मे उन व्यक्तियो की शिक्षा के प्रश्न पर विचार नही किया जो अपनी-अपनी आजीविका मे लगे हैं। विनोबा ने एक घटे का स्कूल तथा दो घटो के महाविद्यालय की कल्पना देकर आकारिक शिक्षा को भी अधिक जनतान्त्रिक बनाने का प्रयास किया।

गाँधी और विनोबा के शिक्षण सिद्धान्त का प्रभाव आधुनिक शिक्षण सिद्धा त पर विशेष रूप से पड़ा है। एडगर फाउरे ने १८ मई, १९७२ को अपने पत्र में यूनेस्को के महानिदेशक को लिखते हुए शिक्षा की आवश्यक मान्यताओ मे अन्तर्राष्ट्रियता, राष्ट्रिय अखडता, समग्र व्यक्तित्व का विकास, जनतान्त्रिक पद्धति, तथा जीवन-पर्यं त मिलनेवाली विकासशील और प्रगतिशील शिक्षा को स्वीकार

किया।[1] पाउलो फायरे, अलविन टॉफ्लर, तथा इवान इल्चि ने भी अपने-अपने शिक्षा सिद्धान्तों में आकारिक शिक्षा से अधिक जीवन में मिलने वाली वास्तविक शिक्षा पर बल दिया है, यद्यपि बुनियादी शिक्षा के नाम पर उन्होंने कुछ नहीं कहा है। फायरे ने तो "बेसिक एडुकेटर" शब्द का प्रयोग भी किया है।[2] फिर भी तुलनात्मक रूप में विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि गांधी की अपेक्षा विनोबा के शिक्षण सिद्धान्त में आध्यात्मिकता पर अधिक बल दिया गया है। आधुनिक अमेरिकन शिक्षा शास्त्रियों ने बुनियादी शिक्षा से, औद्योगिक, सामाजिक, जनतांत्रिक एवं प्राकृतिक तत्त्वों को लिया है अवश्य परन्तु इसके आध्यात्मिक पहलू पर समुचित रूप में विचार नहीं किया है।

(घ) आचार्य कुल

१ प्राक्कथन —सर्वोदय-समाज की स्थापना के विषय में गांधी का यह विचार अत्यन्त महत्त्व का है कि यह काम सत्ता के माध्यम से नहीं होगा। इसके लिए एक ऐसी जमात खड़ी करनी होगी जो राजनीति से अलग रहकर लोक-सेवा का काम करे। इसीलिए गांधी ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कांग्रेस का विघटन कर लोक-सेवक-संघ की स्थापना अपनी वसीयत में कर दी थी। यह अलग बात है कि इसको कांग्रेस द्वारा मनवाने में वे असफल रहे। वास्तव में वे सत्ता की राजनीति के बदले सेवा की लोकनीति, पुलिस-फौज की हिंसा-शक्ति के बदले सज्जनों की विचार-शक्ति और राज्य की दण्ड-शक्ति के बदले जनता की लोक-शक्ति चाहते थे। शिक्षण अन्त संस्कार है। जितनी मात्रा में हमारा संस्कार सम्पुष्ट होता है उतनी मात्रा में प्रशासन कम होता है। प्रशासन की कठोरता अनियमितता दूर करने के लिए अनुशासन नहीं, क्रान्ति की जरूरत पड़ती है। क्रान्तियों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनुशासन के भय से जो क्रान्ति हुई उसमें प्रशासन अधिक आया। इसका अंग

1 Faure, Edgar, ed *Learning To Be* (Paris, Unesco Publication, 1972, Sterling Delhi, 1973), Letter of Edgar Faure to Director General Unesco

2 "The first task of the basic-education teachers is to persent the general programme of the educational campaign. The people will find themselves in this programme, it will not seem strange to them since it originated with them"

—*Freire, Paulo, Pedagogy of the oppressed.* p 94

है कि यदि समाज मे शिक्षक तथा शिक्षण का महत्त्व नही बढा तो हमारे समाज को दण्ड-सत्ता और दण्ड-शक्ति के भीतर रहना पडेगा। शासन-मुक्ति की ओर समाज को आगे बढाते चलने मे ही अधिनायकवाद का सकट टल सकता है। समाज मे यह अनुशासन टालनेवाला व्यक्ति ही शिक्षक है। उसका ध्यान आतरिक सस्कार पर रहता है। आन्तरिक सस्कार मे जब अभाव रहता है तब शासन और प्रशासन आता है। इसलिए प्राथमिक महत्त्व का काम सचमुच वे करते है जो अपने-अपने स्थान पर रहकर भी सजनात्मक कार्य करते रहते है। प्रशासन का काम तो आनुषगिक है। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच जब विग्रह तथा प्रतिस्पर्धा का प्रश्न रहता है तभी प्रशासन आता है। लेकिन आज तो मगलकारी राज्यवाद के नाम पर शासन का काम फैलता चला जा रहा है। यही सत्ता के हाथों हो सब कुछ रहेगा—शैक्षिक, नैतिक, सास्कृतिक, निर्देशन तथा निर्माण सभी प्रकार के कार्य राज्य की ओर से ही सम्पन्न किये जायँगे। इस स्थिति म शासक और शिक्षक के बीच अधीनता का सम्बन्ध बनता चला जायगा। इसलिए आज शिक्षक-समाज पर एक विशेष सास्कृतिक दायित्व है। अभी वह अपने मे ही कैद है। लेकिन आचार्य के लिए अवसर नही है कि वह स्वकेन्द्रित बने। शिक्षण का काम ही स्वकेन्द्रित नही है। शिक्षक-वर्ग वह है जो स्वार्थ से अधिक जीवन को परमार्थ मे लगा हुआ देख सकता है। वास्तव म प्रश्न स्वार्थ की क्षति अथवा हानि का नही है। प्रश्न स्वार्थ के साथ परमार्थ के समन्वय का है। शिक्षक पर औरो से समाज के प्रति अधिक जिम्मेवारी केवल इसलिए है कि वह शिक्षक है। उसके ऊपर जिम्मेवारी आयगी ही। वह इससे अपने को अलग नही कर सकता। उसका क्षेत्र केवल पाठशाला या विद्यालय का प्रागण नही बल्कि सपूर्ण समाज है। वह तो स्वस्थ तथा जाग्रत लोकमत का प्रहरी बनेगा और उसके निर्देशक तथा अकुश के रूप मे रहेगा। वह समाज मे एक ऐसी नैतिक सत्ता का उपकरण होगा जो आज के समाज को दुरुस्त कर सके। आज राजनीति केवल शिक्षा के लिए ही खतरा नही है वह स्वातत्र्य के लिए खतरा बना है। यदि आचार्य जगते है, सगठित होते है तथा समाज के उत्तरदायित्व को समझने लगते है तो इससे न केवल समाज स्वस्थ होगा बल्कि शिक्षा को स्वायत्तता मिलेगी और गुरु तथा आचार्य का सम्मान बढेगा। शिक्षक केवल विद्यार्थी को ही सस्कार प्रदान नही करेगा बल्कि वह समाज का भी सस्कार-परिष्कार करेगा। इसी को समाज-परिवर्तन भी कहते है। विचार प्रचार तथा समाज-परिवर्तन के लिए आधुनिक युग मे अनेक माध्यम है—सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, सभा

चार-पत्र इत्यादि । परन्तु इन साधनो के द्वारा जो विचार समाज में प्रस्तुत किये जाते हैं उनमे सरकार की नीति की प्रशसा, विशेष दल की नीति की स्तुति व्यावसायिक स्वार्थोत्तेजक तथा वासनात्मक सामग्रियो के विज्ञापन, तथा समाज के सारे कूडे-कचडे अर्थात् चोरी डकैती व्यभिचार इत्यादि के समाचार भरे पडे रहते है । इनके द्वारा सत्य का प्रभावोत्पादक ढग से प्रचार होना असभव है। दूसरी बात यह कि ये सभी के-सभी निर्जीव साधन हैं जिनके माध्यम से आये हुए विचार भी निर्जीव होते हैं । विचार मे सजीवना तब आती है जब यह व्यक्ति के आचरण के साथ जुड जाता है। सामान्य जनता न तो सगुण और न निर्गुण की भाषा समझती है वह तो साकार चाहती है जिसको देखकर अनुकरण कर उसके विचार और जीवन मूल्य बदलते हैं । इसीलिए तो गीता मे आत्मा की अमरता के तत्त्वज्ञान के उपदेश के बाद भी कृष्ण को स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के लक्षणो का वर्णन करना पडा । साकार रूप से विचार प्रचार के माध्यम वर्तमान समाज के शिक्षक तथा आचार्यगण है। पालने (नर्सरी) से लेकर पाठशाला विश्वविद्यालय तक के समस्त युवा-वर्ग शिक्षको के नैतिक अधिकार के अतर्गत होते है। शिक्षको तथा आचार्यों की नैतिकता और निष्पक्ष ज्ञान पर समाज का पोषण निर्भर करता है। परन्तु आज कल्याणवाद के युग मे शिक्षा-पद्धति और शिक्षण-नीति का निर्धारण समाज को टुकडे-टुकडे करनेवाली कुटिल राजनीति और उसका प्रतीक सरकार करती है। शिक्षक भी दलगत सत्तात्मक राजनीति मे अपने को डालकर अपना नैतिक मूल्य खोते जा रहे है। ऐसी परिस्थिति मे समाज को नैतिक निर्देशन मिलना तो दूर रहा शुद्ध तथा तटस्थ ज्ञान का मिलना भी दुष्कर हो गया है । अत विनोबा ने शिक्षको के एक अहिंसक सगठन की आवश्यकता का अनुभव किया और वह है आचार्यकुल ।

आचार्यकुल विनोबा के स्वतत्र चिंतन का परिणाम है । इसमे दो शब्द खण्ड है— आचार्य और कुल । आचार्य शब्द चर धातु से बना है। आचरण 'विचरण 'विचार सचार और प्रचार —इन सभी शब्दो मे 'चर' धातु ही हैं। अत आचार्य शब्द आचरण विचरण विचार प्रचार करनेवाले तपपूत शिक्षको का ही सूचक है। कुल का अर्थ है परिवार । अत आचार्यकुल आचार्यों के परिवार का सूचक है। विनोबा के अनुसार 'हम सभी आचार्यों का एक ही परिवार है । ज्ञान की उपासना करना, चित्त शुद्धि के लिए प्रयत्न करना, विद्यार्थियो के लिए वात्सल्य भावना रखकर उसके विकास के लिए सतत प्रयत्न करते रहना, सारे समाज के सामने जो

समस्याएँ आती हैं उनपर तटस्थ भाव से चिन्तन करके सर्व-सम्मति का निर्णय समाज के सामने रखना और समाज को उस प्रकार का मार्ग-दर्शन देते रहना इत्यादि कार्य जो हम करने जा रहे हैं, वह एक परिवार की स्थापना का ही काम है।[१] इसलिए उन्होंने शिक्षकों के इस भ्रातृत्व का नाम आचार्य-कुल रखा। आचार्यकुल में सभी-के-सभी आचार्य होते हैं, उनमें कोई भी ऊँचा-नीचा, छोटा-बड़ा नहीं होता है। सभी समान रूप से सम्माननीय होते हैं।[२]

आचार्यकुल का अभीष्ट स्वयं आचार्यकुल है। यह किसी अदात्त प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं है। इसमें किसी प्रकार की पराधीनता नहीं। अतः यह अन्य शिक्षक-संघों से भिन्न है जिनका उद्देश्य मुख्यतः अपनी रोजी रोटी की समस्याओं को हल करना तथा अधिकारों की सुरक्षा प्रदान करना है। 'आचार्य कुल केवल अधिकार और रक्षण प्राप्त करनेवाली संस्था नहीं है। यह तो अपने कर्तव्य के प्रति जागृति के लिए' संस्था है जिसमें शिक्षक-समाज अपना खोए हुए सम्मान को पुनः प्राप्त कर सकें।[३] आज बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में काफी विकास हुआ है। परन्तु हृदय के स्तर पर हम अपने परिवार का दायरा छोटा कर लेते हैं। यदि आचार्यों का परिवार भी इसी प्रकार के छोटे दायरे का होगा तो फिर इसका यह अर्थ होगा कि अभी हम बहुत पीछे हैं और शिक्षक समाज का मार्ग-दर्शन नहीं कर सकते हैं जिनसे समाज मार्ग-दर्शन की अपेक्षा रखता है। अतः अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए आचार्यों को अपने हृदय को व्यापक बनाना होगा। उन्हें विश्वमानव होने के अधिकार से सोचना होगा।[४] तथा सभी प्रकार की संकीर्णताओं से ऊपर उठना होगा। आचार्यकुल के पीछे यही उद्देश्य छिपा है। प्रश्न है आचार्य अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इसके लिए विनोबा का यह सुझाव है कि पहले तो उन्हें अपना गुण विकास करना चाहिए तथा दूसरे यह कि उन्हें समाज-सेवा का दायित्व लेकर अपने कार्य क्षेत्र का विस्तार करना चाहिए। जबतक आचार्य समूचे समाज की ओर करुणा की दृष्टि से नहीं देखते तबतक समाज की ओर से उन्हें प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकती।

---

१ भावे विनोबा, आचार्यकुल, (वाराणसी, सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, १९६९, तीसरा संस्करण), पृ० ५३-५४

२ उपरिवत्, पृ० ५४

३ उपरिवत् पृ० ५४-५५

४ उपरिवत्, पृ० ५८

२ आचार्यों के तीन गुण विनोबा के अनुसार शिक्षक के लिए तीन गुणो का होना अति आवश्यक है। विद्यार्थियो पर प्रेम, वात्सल्य और अनुराग, निरन्तर अध्ययनशीलता और तटस्थता तथा दलगत राजनीति से मुक्ति।

१ प्रेम, वात्सल्य और अनुराग[१] विद्यार्थियो के प्रति प्रेम, वात्सल्य और अनुराग शिक्षको का बहुत बडा गुण है, जिसके बिना कोई शिक्षक नही बन सकता। अनेक विद्वान और पडित ऐसे होते है जो "वाग्वैखरी शब्द झडी" तथा "शास्त्र व्याख्यान कौशल्म" होते हैं। किन्तु ऐसे विद्वानो का वैदुष्य किस काम का यदि इनका लाभ विद्यार्थियों तथा इनके चरित्र को न मिले। विद्या तो वह है जो मुक्ति दिलाती है—"सा विद्या या विमुक्तये"। लेकिन आज तो विपरीत स्थिति है—"मुक्तये, न तु मुक्तये"। इसलिए करुणा की अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिए स्वामी शकराचार्य को "श्रुतिस्मृति पुराणानामलय" के साथ-साथ करुणालयम्" भी कहा जाता है। भगवान बुद्ध को भी "कारुण्यावतार" कहा गया है। आज अनुशासनहीनता, शिक्षा के स्तर मे गिरावट आदि की जड मे अन्य सब बातो के अतिरिक्त शिक्षको का विद्यार्थियो के प्रति अनुराग का अभाव है। आचार्य की सार्थकता शिष्य की गुरुता मे है। "शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्।" यदि शिक्षको के हृदय मे विद्यार्थियो के लिए यह वात्सल्य पैदा हो जाय, तो शिक्षा मे बहुत सारा असतोष समाप्त हो जायगा और शिक्षक का सम्मान काफी बढ जायगा। हम अनुराग देंगे नही और आदर खोजेंगे—यह सचमुच एक विडम्बना है। अत शिक्षण कार्य भी एक करुणा-कार्य है। इसीलिए तो आचार्य शकर ने भगवान से प्रार्थना की थी—"भूतदया विस्तारय"। ज्ञानी को भी भूतदया अपनी जीवन-निष्ठा के साथ जोडनी चाहिए।

२ नित्य-निरतर अध्ययनशीलता[२] प्रेम, वात्सल्य तथा अनुराग के साथ शिक्षको मे नित्य-निरतर अध्ययनशीलता आवश्यक है। प्रेम और वात्सल्य तो माता के भी पास हैं, वह साक्षात् करुणामूर्ति भी है किन्तु यह कोई जरूरी नही कि उसको विद्यानुराग भी हो। सामान्यत हम माताओ से ज्ञान की अपेक्षा नही करते, प्रेम और वात्सल्य की करते हैं। निरन्तर चिंतनशीलता गुरु का आवश्यक लक्षण है। ज्ञान की वृद्धि प्रतिदिन होती रहे, सतत स्वाध्याय चले, यह आवश्यक है। इसीलिए उपनिषद् ने मनुष्य के सभी

१ भावे, विनोबा, आचार्यकुल, पृ० ६

२ उपरिवत्, पृ० ६

कर्तव्यों के साथ स्वाध्याय को आवश्यक रूप से जोड़ दिया है—"सत्य च स्वाध्याय-प्रवचने च"। "शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च"। "दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च"। "अतिथिश्च स्वाध्याय-प्रवचने च"। आचार्य ज्ञान का उपासक है। वह ज्ञान का समुद्र है। जिसे ज्ञान की भूख और प्यास नहीं वह आचार्य कैसे बन सकता है ?

३ **तटस्थता[1] दलगत राजनीति से मुक्ति[2]** . ज्ञान की सच्ची साधना राग-द्वेष से ऊपर उठकर ही हो सकती है। सत्य न तो प्राची का होता है, न प्रतीचि का। इसका कोई पक्ष नहीं होता, यह स्वतः सिद्ध निष्पक्ष न्यायाधीश है। यह किसी का पक्ष नहीं लेता। आचार्य इस सत्य के वाहक हैं इसलिए उन्हें किसी संकुचित सम्प्रदाय या दलगत राजनीति में अपने को कैद नहीं करना चाहिए। ऐसा करने पर उन्हें समझना चाहिए कि वे कर्त्ता नहीं हैं बल्कि कर्म हैं।[3] आज की राजनीति जो केवल नीतिशून्य ही नहीं बल्कि पक्ष विशेष की बेड़ियों में फंसी है, सार्वभौम सत्य की साधना में सहायक सिद्ध नहीं हो सकती। यदि शिक्षक ऐसी राजनीति से अपने को ऊपर नहीं उठाते तो वे शायद युक्तिसम्मत वचन के अधिकारी भी नहीं हो सकते।

शिक्षाशास्त्र यदि सत्य की साधना है तो इसके लिए "वीतराग" की भूमिका आवश्यक है। यह इसकी नैतिक शर्त है। राग-वृत्तियों से परे होकर सोच बिना तटस्थ-दर्शन सम्भव नहीं। इसीलिए पतंजलि ने "चित्तवृत्ति निरोध," श्री अरविन्द ने "अतिमानस" और विनोबा ने "अक्षोभ वृत्ति" प्राप्त करने पर बल दिया है। विनोबा के अनुसार गुरु को कोई भी ज्ञान अत्यन्त तटस्थ होकर सिखाना चाहिए।[4] यदि गुरु पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर अपनी विशेष चीज लादने की कोशिश करता है तो वह निश्चय ही शिक्षा के साथ व्यभिचार करता है। शिक्षक-मानस का हर प्रकार की साम्प्रदायिकताओं और संकीर्णताओं से ऊपर उठना ही श्रेयस्कर है। यदि वह स्वयं दल के दलदल में फँसा रहेगा, तो उसका विचार भी उसी दलदल में डूबा रहेगा। उसकी दृष्टि दलीय दृष्टि रहेगी, वह दूर-दृष्टि का रूप नहीं ले सकती।

---

१ भावे, विनोबा, **आचार्यकुल**, पृ० ४

२ उपरिवत्, पृ० ६

३ उपरिवत्, पृ० ७

४ उपरिवत्, पृ० ४५

इसलिए शिक्षकों के लिए अन्तिम अनिवार्य गुण है सत्तात्मक, दलगत और सकीर्ण राजनीति से मुक्त होकर विश्व और मानव की व्यापक राजनीति से सयुक्त होना। विनोबा ने इस बात पर खेद प्रकट किया है, कि जो आचार्य सत्ता पर अकुश रखकर उस सयमित, नियमित और नियत्रित रखते थे, आज स्वय सत्ता के अधीन है। यही कारण है कि उनका तेज भी प्रकट नही होता। जब शिक्षा सत्ता और राजनीति की दासी रहेगी तो वह निस्तेज और बध्या होगी। स्वय किसी के अधीन रहकर वह दूसरे को कैसे मुक्त कर सकती है। विनोबा के अनुसार जहा पहल सरकार पर गुरुओं की सत्ता चलती थी वहा आज गुरुओं पर सरकार की सत्ता चलती है। जहाँ गुरुओं को समूचे देश का मार्ग-दर्शक बनना था, वहाँ उनका मार्ग-दर्शन सरकार मे रहने वाले व्यक्ति करते हैं। जो अधिकार प्राचीन काल मे समाज ने बुद्ध महावीर, शकर रामानुज कबीर आदि जैसे सिद्ध पुरुषो को नहीं दिया वह अधिकार आज राजनीतिज्ञो को प्राप्त है।[१] शिक्षा की स्वायत्तता के साथ रोज रोज का खिलवाड सचमुच विनाश की ओर ले जाने वाला है। शिक्षक आज एक नौकर की हैसियत मे काम करते हैं। अपनी सारी स्वतन्त्रता वे खोये हुए है राष्ट्र के मार्ग-दर्शन करने की तो बात ही दूर है।

३ **शिक्षा की स्वायत्तता** विनोबा के अनुसार शिक्षा और शिक्षकों की स्वायत्तता को अखण्ड रूप मे कायम रखना अति आवश्यक है। उन्होंने कई बार इस बिन्दु को दुहराया है कि शिक्षा को पूरी स्वायत्तता मिलनी चाहिए। १९७२ के राष्ट्रिय शिक्षा-सम्मेलन वर्धा के अवसर पर भी कहा—जो मूलेकुठार" है वह यह कि शिक्षा सरकारी तन्त्र से मुक्त होनी चाहिए। शिक्षा पर सरकार का कोई वरदहस्त नही होना चाहिए शिक्षकों को तनख्वाह सरकार जरूर दे वह सरकार का कर्त्तव्य है। परन्तु जैसे न्याय विभाग स्वतन्त्र है और सुप्रीम कोर्ट म सरकार के खिलाफ भी फैसले दिये जा सकते है और दिये जाते है वैसे शिक्षा विभाग स्वतन्त्र होना चाहिए।[२] शिक्षकों की स्वतन्त्र हस्ती होनी चाहिए और शिक्षक देश के मार्ग दर्शक है ऐसा होना चाहिए।[३] लेकिन इस स्वायत्तता को सच्चे अर्थ मे उपलब्ध करने के लिए पहल शिक्षकों को योग्य बनना पडेगा। उन्हे अपनी

---

१ भावे, विनोबा, "शिक्षा के आधार योग उद्योग सहयोग सर्वोदय १९ (८) २० नवम्बर, १९७२ पृ० १२५

२ उपरिवत् पृ० १२४

३ भावे, विनोबा, आचार्यकुल प्रावक्थन पृ० २

स्वतंत्र शक्ति का विकास करना होगा। अर्थात् उन्हें अपने को राजनीति से ऊपर रखना होगा। विनोबा ने कहा है "परन्तु शिक्षा विभाग की स्वायतता को सच्चे अर्थ में उपलब्ध और कार्यान्वित करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक सत्ता के पीछे न भाग कर स्वयं अपनी स्वतंत्र शक्ति का विकास करें। इसलिए शिक्षकों को पक्ष एवं भेदभाव, सत्ता एवं संघर्ष की कलुषित राजनीति से मुक्त होकर, संकीर्ण मतवादों से ऊपर उठकर विश्व-व्यापक मानवीय राजनीति तथा जनशक्ति पर आधारित लोक-नीति को अपनाना चाहिए। राजनीति से अलग हुए बिना राजनीति पर असर नहीं पड़ेगा। लेकिन राजनीति से अलग रहकर भी शिक्षकों को जनता से सम्पर्क रखना चाहिए। अगर शिक्षक ऐसा मानते हैं कि हमने स्कूल-कॉलेजों में पढ़ा दिया, अब हमारा कोई कर्त्तव्य नहीं है, तो चलेगा नहीं। शिक्षकों का जनता से सम्पर्क होना चाहिए। जनता के साथ सम्पर्क न हो तो राजनीति पर असर नहीं पड़ेगा"।[1] आगे भी उन्होंने बहुत ही सुन्दर उदाहरणों के साथ शिक्षकों को राजनीति से अलग रहने का उल्लेख किया है। उनके अनुसार "यदि शिक्षक ही पॉलिटिक्स में रंगे हों और पॉलिटिक्स का वरदहस्त उनके सिर पर पड़ा हो तो समझना चाहिए कि गंगा मैया समुद्र की शरण गई, लेकिन समुद्र ने उसको स्वीकार किया नहीं। तो जो हालत गंगा की होगी, वही हालत विद्या की होगी। विद्या शरण गयी प्रोफेसरों की, आचार्यों की और शिक्षकों की, और उन्होंने उसको स्वीकार नहीं किया। राजनीति के ख्याल से ही सोचा"।[2]

अतः जिस प्रकार अस्पताल का सेवक बिना किसी भेद-भाव के सभी रोगियों की समान भाव से सेवा करता है उसी प्रकार शिक्षकों को दलमुक्त रहकर समाज के सभी वर्गों की समान रूप से सेवा करनी चाहिए। न्यायाधीश और एसेम्बली के स्पीकर की भाँति निष्पक्ष और दलमुक्त होना चाहिए।[3]

४ अशांति शमन शिक्षा से शांति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। बल्कि यदि हम शिक्षा को शांति का पर्याय मान लें तो विशेष हर्ज नहीं। शिक्षण की प्रक्रिया ही हिंसा की प्रक्रिया के विरुद्ध है। अतः जहाँ जोर-जबदस्ती है, दबाव है, वहाँ शिक्षण है नहीं। आचार्य का काम ही विचार-परिवर्तन तथा हृदय-परिवर्तन का है। नागरिक शांति से चलें, अपने

१ भावे, विनोबा, आचार्यकुल, प्राक्कथन, पृ० ३-४

२ उपरिवत्, पृ० ६-७

३ उपरिवत्, पृ० ७

अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक रहें, जो कुछ भी करें ठीक ढंग से करें तो हिंसा क्यों फूटेगी ? विचार-शक्ति के दमित करने पर ही हिंसा फूट पड़ती है। दुर्भाग्य से आचार्यों ने विचार-प्रचार का अपना क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर लिया है। विश्वविद्यालय को उन्होंने अपना अहाता भर मान लिया है। उधर हिंसक तत्त्वों ने सम्पूर्ण समाज को, विद्यालय और विश्व-विद्यालय को भी अपना क्षेत्र घोषित कर दिया है। यही कारण है कि हिंसा जीतती है, शिक्षा हारती है। इसलिए शिक्षकों को वैचारिक और नैतिक स्तर पर भी अशान्ति-शमन का कार्य उठाना ही चाहिए। विनोबा के अनुसार आचार्यकुल के सदस्यों को एक प्रकार का शान्ति-सैनिक होना चाहिए।[1] उनके पास शान्ति स्थापित करने का सर्वोत्तम शस्त्र प्राप्त है और वह है 'शिक्षा'। शिक्षा से बढ़कर शान्ति-स्थापना का कोई दूसरा अस्त्र है ही नहीं। गलत विचारों के कारण ही समाज में अशान्ति फैलती है। यदि शिक्षक अपने ऊपर सही विचार-प्रचार करने का दायित्व ले लेते हैं, तो अशान्ति का शमन हो जाता है। पुलिस के द्वारा उसके दमन की आवश्यकता नहीं रहती है। *आचार्यों के शुद्ध-चरित्र के कारण उनकी उपस्थिति मात्र में शान्ति स्थापित* हो जाती है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शान्ति स्थापित करने का क्षेत्र केवल कालेज-प्रांगण ही नहीं, समूचा समाज है। "आचार्य लोगों को विचार समझाते हैं, विचार-परिवर्तन करते हैं, हृदय-परिवर्तन करते हैं और जीवन-परिवर्तन की दिशा दिखाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन करनेवाली शिक्षकों की जमात पुलिस-विभाग की आवश्यकता भारत में रहने दे, यही लाछन है। भारत का नागरिक शान्ति से चलता है, परन्तु यदि समाज में *कहीं अशान्ति हुई तो शिक्षक अपने विचार* और नैतिक शक्ति द्वारा अशान्ति-शमन करें, ताकि सरकार की दण्ड-शक्ति को अशान्ति दमन के लिए मौका ही न मिले। इस प्रकार भारत भर में दमन का अवसर ही न आये, केवल शमन से काम हो। अतः शिक्षकों को अशान्ति-शमन के लिये कृतसंकल्प होना चाहिए।[2]

शान्ति-स्थापना के अतिरिक्त शिक्षकों के अन्य सामाजिक दायित्व भी हो हो सकते हैं जैसे, ग्राम-संगठन का[3] दायित्व। प्रयोग के रूप में शिक्षकों को

---

१ भावे, विनोबा, **आचार्यकुल**, पृ० ४०,

२ उपरिवत, प्राक्कथन, पृ० ४

३ उपरिवत, पृ० ४७

किसी जिला या गाँव या शहर को लेकर उसकी कार्य-योजना अपने हाथ मे लेनी चाहिए। उसकी पूरी जानकारी प्राप्त करने के बाद उसकी समस्याओ को समझना चाहिए तथा उसके सुधार पर विचार करना चाहिए। उन इलाको की शान्ति का भी दायित्व लेना चाहिए। इस प्रकार के कार्यों के सचालन के लिए जिले के स्तर पर सभी कोटि के शिक्षको का सगठन कायम करना चाहिए तथा समय-समय पर विचार विमर्श होते रहना चाहिए। इस प्रकार शिक्षक जन-जीवन से भी जुडेगे और वास्तविक समस्याओ स भी अवगत होंगे।

विनोबा न आचार्यकुल के द्वारा शिक्षा मे अहिंसक-क्रान्ति के अतिरिक्त समूचे समाज में क्रान्ति लाने की अपेक्षा की है। वास्तव मे बिना शिक्षको के तप पूत चरित्र और विचार के समाज-परिवर्तन असम्भव है। परन्तु यह भारत के लिए दुर्भाग्य है कि स्वतत्रता के पश्चात् सबसे अधिक उपेक्षित शिक्षा विभाग रहा है। शिक्षको की स्वाभाविक अध्ययन-निष्ठा और चरित्र निष्ठा पर पदलोलुप राजनीति हावी रही है। भारत की स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति पनप नही सकी। आज ऐसी स्थिति है कि जो चरित्रनिष्ठा शिक्षको मे स्वाभाविक रूप से प्राप्त थी, वह कल्पना लोक का प्रत्यय बनती जा रही है। बाध्य होकर शिक्षको को मजदूरो की भाति हडताल करना पडता है। फिर भी केवल राजनीतिज्ञो की आलोचना म ही सुधार होनेवाला नही है। पहले गुण विकास करना तथा उसके बाद समाज का आशीर्वाद प्राप्त करना आवश्यक है। तभी शिक्षको के द्वारा अहिंसक क्रान्ति हो सकती है। अतएव समाज के विकास के लिए कुछ पक्षमुक्त तथा कर्त्तव्यनिष्ठ शिक्षको का सगठन अनिवार्य है। गाधी न इस प्रकार के सुसगठित शिक्षको के भ्रातृत्व की कल्पना नही की थी। गाधी विचार को विनोबा की यह महत्त्वपूर्ण देन है।

गाधी न केवल पाठ्यक्रम की दृष्टि से ही शिक्षको के शैक्षणिक दायित्व पर विशेष रूप म विचार किया था। सामाजिक दायित्व का विचार स्पष्ट रूप म उन्होन नही रखा। आचार्य राममूर्त्ति कहते हैं—'शिक्षण को सामाजिक शक्ति के रूप मे देखा जाय तो उसके तीन आयाम प्रस्तुत होत है—समाज-परिवर्तन की गत्यात्मकता, निर्माण की प्रक्रिया एव क्रमिक पाठन की पद्धति। गाँधी क जमान स लेकर आजतक तीसरे पर विचार, शोध और प्रयोग हुए है परन्तु पहला दो अछूत पड हैं। जब राजनीति अपनी गत्यात्म-

कता खो चुकी हो, तो शिक्षण की गत्यात्मकता का शोध और प्रयोग समाज के विकास के लिए अत्यंत और तत्काल आवश्यक है। विचार को पक्ष और आग्रह से मुक्त कर उसकी शक्ति प्रकट करने का प्रयास हितो के संघर्ष के धरातल मे ऊपर उठाकर समान हित की भूमिका का विकास, संघर्षो के शांतिपूर्ण हल के मार्गों की शोध, तरुणो का विद्रोह—ये सभी शिक्षण के डायनेमिक्स के अंतर्गत हैं। निर्माण का कोई भी कार्य क्यो न हो शैक्षणिक ढंग से यदि चलाई जाय तो काम अच्छा होगा एवं श्रम शक्ति तथा संस्कृति का विकास होगा। अतः गांव को विद्यालय मानकर निर्माण के किसी कार्य को शिक्षण प्रोजेक्टस माना जा सकता है।"[1] विनोबा ने शिक्षको के सामाजिक दायित्व एवं शिक्षा के सामाजिक पहलुओ पर विशेष रूप से बल दिया है। उन्होने यह अनुभव किया है कि जब तक शिक्षक या विद्वान ज्ञान की ऊँचाई से उतर कर सामाजिक जीवन की यथार्थ समस्याओ में प्रवेश नहीं करते तब तक न तो उनके संचित और सारगर्भित ज्ञान का लाभ समूह को मिल सकता है और न वे समाज के विश्वास को ही प्राप्त कर सकते है। उनकी वाणी को अमोघता भी प्राप्त नहीं हो सकती। उनकी वाणी का समाज और सरकार पर असर हो इसके लिए उन्हे सत्यशील, मौनशील, शमशील और चित्तशील होने के अतिरिक्त यथार्थता की चुनौती को स्वीकार कर जनसमूह को सही दिशा मे बढ़ाने के लिए अनुप्रेरित करना होगा। वेदो और महात्मा बुद्ध के विचारो मे भी ज्ञानियो से कुछ इसी प्रकार की अपेक्षा रखी गई है। महात्मा बुद्ध ने कहा था—"पर्वत के शिखर पर बैठा हुआ आदमी भूमि पर क्या चल रहा है, देखता रहता है और गाइडेंस देता है।"[2] इसी प्रकार वेदों मे भी कहा गया है—"जो पर्वतो के शिखर पर चढ गये है, वे सेवको की संकल्प शक्ति बढाते रहते है, जिनकी प्रेरणा क्षीण हो गई है, उनकी प्रेरणा बढाते रहते हैं। स्वयं आचरण करने की दृष्टि से ऊपर चढने की वृत्ति हुई लेकिन लोगो के स्तर पर आकर सोचते है और लोगों को ऊपर चढाने की कोशिश करते हैं।"[3]

१ राममूर्ति "आचार्यकुल संरचना और कार्यक्षेत्र" नई तालीम, १९, ५ (दि० १९७०) पृ० २१८-१९

२ विनोबा की चातु सूत्री, (वाराणसी, सर्वसेवा संघ प्रकाशन १९७३), पृ० १७

३. उपरिवत्, पृ० १७

विनोबा ने व्यक्तिगत और सामाजिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए पंचशक्तियों के सहयोग की अपेक्षा की है।[१] उनके अनुसार जन, सज्जन, विद्वज्जन, महाजन और शासन शक्तियों के आपसी सहयोग और विश्वास पर ही समाज आगे बढ़ सकता है। आचार्यकुल विद्वज्जन शक्ति का सूचक है जिसे पंचायतन में गणपति का रूप प्रदान किया गया है।[२] उनके अनुसार विद्वज्जन का मुख्य कार्य है पक्षमुक्त होकर सामाजिक समस्याओं पर तटस्थ रूप से चिंतन करना तथा वस्तु को सही परिप्रेक्ष्य में समझना। अतः समाज परिवर्तन की दिशा में विद्वज्जन शक्ति मार्ग निर्देशक का काम करती है।

उन्होंने आचार्यकुल के सदस्यों के कर्तव्यों के सम्बन्ध में कहा है— "दुनियाँ में क्या ठीक चल रहा है, क्या बेठीक चल रहा है, उसका अध्ययन तटस्थ वृत्ति से करना, उसपर अपना निर्णय, अपना विचार दुनियाँ के सामने रखना। सरकार की क्या गलती हो रही है, जनता की क्या गलती हो रही है विश्व में क्या गलती हो रही है, इन सब का अध्ययन करना और पक्षमुक्त होकर तटस्थ दृष्टि से निर्णय सब के सामने रखना। धीरे धीरे यह तटस्थ शक्ति, पक्षमुक्त शक्ति बढ़ेगी जिसका वजन सरकार पर पड़ेगा, जनता पर पड़ेगा और महाजन पर भी पड़ेगा।"[३] गाँधी ने विद्वज्जन शक्ति को एक तटस्थ शक्ति के रूप में नहीं लिया था। उनके चिंतन में पंचशक्तियों के सहयोग के विचार थे अवश्य परन्तु उनका सुव्यवस्थित रूप हमारे सामने नहीं आया था। विनोबा ने उसे सुसबद्ध रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

०

---

१ विनोबा की चतु:सूत्री, (वाराणसी सर्वसेवा संघ प्रकाशन, १९७३), पृ० ६

२ उपरिवत्, पृ० १६

३ नई तालीम, आचार्यकुल विशेषांक, ७ (२,१९७४), पृ० ३३८